मार्क्स से वर्तमान तक

धर्म नारायण मिश्र
एम. ए., पी-एच. डी.
राजनीति विज्ञान विभाग
गवर्नमेन्ट कॉलिज, अजमेर

स्वतन्त्र प्रकाशन, अजमेर

अनुक्रम

आमुख

राजनीति विज्ञान के प्रगति क्रम मे आधुनिक युग विचारधाराओं का युग । उन्नीसवी शताब्दी से अब तक कई महत्त्वपूर्ण विचारधाराओं का प्रवर्तन हुआ जो अपने अपने ढग से मानव कल्याण तथा सामाजिक व्यवस्था के लगभग समस्त ो को नये सिरे से सर्जन करने के प्रयास एव सुझाव हैं। इन विचारधाराओं के ाथ कई महान चिन्तकों के नाम जुड़े हुए हैं। मार्क्सवाद के प्रादुर्भाव से राजनीतिक न्तन मे एक नया मोड आया। यद्यपि मार्क्स एव ऐन्जिल्स के पूर्व अन्य समाजवादी न्तक जैसे सेन्ट साइमन, चार्ल्स फोरियै, राबर्ट ओवन आदि हुए हैं किन्तु समाज-दी चिन्तन को एक आन्दोलन, क्रांति, दर्शन तथा वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने का य मार्क्सवाद को है। कुछ अपवादों को छोड कर समस्त आधुनिक विचारधाराए तो समाजवाद के विभिन्न सम्प्रदाय हैं या किसी न किसी रूप मे वे समाजवाद सम्बद्ध हैं।

गाधीवाद के उपरान्त नवीन विचारधाराओं के विकास एव प्रादुर्भाव का म रुक सा गया है, दूसरी ओर राजनीतिशास्त्र के स्वभाव, क्षेत्र तथा अध्ययन द्धतियों मे आमूल परिवर्तनों का प्रारम्भ हुआ है। यद्यपि 'विवेक के विरुद्ध विद्रोह' इस परिवर्तन की प्रवृत्ति निहित है किन्तु व्यवहारवादी अध्ययन के समावेश से ाजनीति शास्त्र एक नया स्वरूप ग्रहण करता जा रहा है, वह शास्त्र से विज्ञान ी ओर अग्रसर हो रहा है। अब व्यवहारवादी तथा इससे सम्बद्ध अध्ययन के बिना ाजनीति विज्ञान का अध्ययन अपूर्ण तथा असामयिक लगने लगा है।

प्रस्तुत पुस्तक मे मार्क्स से लेकर अब तक की विभिन्न समाजवादी विचार-ाराओं, प्रमुख राजनीतिक अवधारणाओं (जैसे सम्प्रभुता और बहुलवाद) कुछ प्रमुख न्तकों (जैसे हेरॉल्ड लास्की आदि) तथा राजनीति विज्ञान मे नवीन प्रवृत्तियों का ्लेषण प्रस्तुत किया गया है। यह अध्ययन सामान्यत मूल स्रोतों पर आधारित है। द्यपि यह पुस्तक स्नातकोत्तर बुद्धिजीवियों के स्तर को ध्यान मे रखते हुए लिखी ई है, पर सामान्य पाठक भी इससे लाभान्वित हो सकेंगे।

इस पुस्तक की रचना मे मुझे अपने गुरु प्रोफेसर ए० बी० माथुर से सर्वा-प्रोत्साहन मिला है। इस पुस्तक के विभिन्न पक्षों की जटिलताओं को समझने मुझे उनसे समय समय पर मार्गदर्शन मिलता रहा, इसके लिये मैं उनके प्रति और आभार व्यक्त करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

धर्मनारायण मिश्र

, 1974

1
मार्क्सवाद

Karl Marx (1818–1883), Frederick Engels (1820-1895)

कार्ल मार्क्स का जन्म 5 मई, 1818 को ट्रीव्ज (Treves) में, जर्मनी के एक औसतन धनी परिवार में हुआ। मार्क्स के माता-पिता यहूदी थे किन्तु जिस समय मार्क्स की आयु 6 वर्ष की थी, इनके माता-पिता ने प्रोटेस्टेन्ट (ईसाई धर्म की शाखा) धर्म अंगीकार कर लिया। 17 वर्ष की आयु में मार्क्स ने बोन (Bonn) विश्व-विद्यालय में कानून तथा बाद में दर्शन शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया। बर्लिन (Berlin) तथा जेना (Jena) विश्वविद्यालयों में भी मार्क्स ने अध्ययन किया। विद्यार्थी जीवन से ही ये हीगल के विचारों से बड़े प्रभावित हुए। 1841 में मार्क्स ने जेना विश्व विद्यालय से डॉक्टरेट (Doctorate) प्राप्त की। मार्क्स के शोध-ग्रन्थ का विषय था—The Difference Between the Natural philosophy of Democritus and of Epicurus. दो वर्ष के उपरान्त 1843 में, मार्क्स का विवाह प्रशा (Prussia) के एक उच्च घराने की लड़की जेनी (Jenny Von Westphalen) के साथ हुआ। मार्क्स के साहित्यिक तथा क्रान्तिकारी जीवन का सबसे अधिक विपरीत प्रभाव उनकी पत्नी जेनी पर पड़ा जिसने जीवन भर एक महान व्यक्ति की तरह समस्त व्यथाओं को सहन किया। लगभग इसी समय मार्क्स उग्रवादी विचारक तथा क्रान्तिकारी बनता जा रहा था। उसके इस प्रकार के विचारों से उसे विश्व-विद्यालय में कार्य नहीं मिल सका। यदि मार्क्स को उस समय विश्व-विद्यालय में शिक्षक का कार्य मिल जाता तो सम्भवतः इस समय इतिहास कुछ और ही होता। तदुपरान्त मार्क्स उग्रवादी पत्रकारिता के क्षेत्र में उतर पड़ा। परिणामस्वरूप उसे प्रशा (Prussia) से निर्वासित किया गया। इसके बाद मार्क्स ने 1848 तक क्रान्तिकारी जीवन व्यतीत किया तथा उसे यूरोप में निरन्तर इधर से उधर भागना पड़ा। 1848 से अपनी मृत्यु तक मार्क्स इंग्लैंड में लगभग निर्वासित होकर रहा।

कार्ल मार्क्स मार्क्सवाद का एक प्रमुख आधार भाग है। मार्क्सवादी प्रशंसा का दूसरा भाग फ्रेडरिक ऐन्जिल्स है। ऐन्जिल्स का जन्म बार्मेन (Barmen), जर्मनी में, 1820 में एक धनी परिवार में हुआ। ऐन्जिल्स इंगलैंड में अपनी पिता के व्यवसाय की देख-रेख

करता था। मार्क्स और ऐन्जिल्स का मिलन एक पत्र के माध्यम से हुआ। पेरिस मे प्रकाशित एक पत्र–Deutch Franzosische Fahrbucher—के अ क मे मार्क्स और ऐन्जिल्स दोनो के ही लेख प्रकाशित हुए। दोनो ही एक दूसरे के लेखो से बड़े प्रभावित हुए तथा 1842 से ये ऐसे घनिष्ट मित्र हुए कि साहित्यिक जगत मे इस प्रकार की युगलबन्दी का उदाहरण मिलना सम्भव नही है।

मार्क्सवाद को इन दोनो व्यक्तियो के योगदान का अलग अलग मूल्याकन सम्भव नही। ये दो व्यक्ति किन्तु एक साहित्यिक आत्मा थे। 1847 मे मार्क्स तथा ऐन्जिल्स ने लन्दन मे कम्युनिस्ट लीग (Communist League) की स्थापना की। इस लीग के उद्देश्य एव कार्यक्रम के रूप मे मार्क्स तथा ऐन्जिल्स द्वारा 1848 मे कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो (The Manifesto of the Communist party) की रचना हुई। यही से वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) का युग प्रारम्भ होता है।[1] ऐन्जिल्स ने कई ग्रन्थ मार्क्स के साथ लिखे तथा कुछ का सम्पादन किया। मार्क्स की 'केपिटल' (Capital) के द्वितीय तथा तृतीय खण्डो का सम्पादन ऐन्जिल्स ने ही किया था। ऐन्जिल्स ने मार्क्स की साहित्यिक क्षेत्र मे ही सहायता नही की किन्तु उसके परिवार के भरण-पोषण मे भी धन राशि की मदद देता रहा। 1860 के पश्चात् तो वह मार्क्स के परिवार को 350 पौन्ड वार्षिक नियमित रूप से देने लगा। इतना सब होते हुए भी ऐन्जिल्स को मार्क्स का चिडचिडा स्वभाव सहन करना पडता था। ऐन्जिल्स मार्क्स को सदैव ही आगे रख स्वय पृष्ठभूमि मे रहा। ऐन्जिल्स के विषय मे ऐलेग्जेन्डर ग्रे ने लिखा है —

> "इतिहास म इस प्रकार के कई दृष्टान्त हैं जहाँ मनुष्य ने औरत के लिये तथा औरत ने मनुष्य के लिये सब कुछ न्यौछावर कर दिया है। लेकिन ऐन्जिल्स जैसा उदाहरण इतिहास मे मिलना मुश्किल है, बिना किसी रक्त-सम्बन्ध के एक सामान्य उद्देश्य के लिये उसने मार्क्स के लिये अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पण कर दिया। ऐन्जिल्स ने स्वतन्त्र रूप से महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु उसने मार्क्स के अनुचर के रूप में ही रहना उचित समझा।"[2]

मार्क्स तथा ऐन्जिल्स ने यूरोप मे क्रान्तिकारी आन्दोलनो को सगठित करने का काफी प्रयत्न किया तथा 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' की स्थापना की। 1883 मे मार्क्स की मृत्यु के पश्चात् ऐन्जिल्स अपनी मृत्यु तक मार्क्सवाद का प्रमुख अग्रणी प्रवक्ता रहा। इतिहास मे मार्क्स को ही अधिक सम्मान दिया है किन्तु मार्क्स को ऐन्जिल्स के बिना नहीं समझा जा सकता।

---
1 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 263
2 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p 298

मार्क्स तथा ऐंजिल्स के निम्नलिखित प्रमुख ग्रन्थों में मार्क्सवाद की पूर्ण व्याख्या मिलती है:—

Engels, F., Condition of the Working Classes in England, 1844.
Marx and Engels, The Holy Family, 1844.
Karl Marx The Poverty of Philosophy, 1847.
Marx and Engels, The Manifesto of the Communist Party, 1848.

साम्यवादी घोषणा पत्र छोटी किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना है। वास्तव में इनकी बाद की रचनाएँ इसी घोषणा पत्र की व्यापक टीकाएँ हैं।[3]

Karl Marx, The Critique of Political Economy, 1859.
Karl Marx, Value, Price, Profit, 1865.
Engels, F., Anti Duhring.
Karl Marx, Das Kapital (Capital) Vol. I., 1867.
Engels, F., Socialism, Utopian and Scientific, 1880.
Karl Marx, Das Kapital, Vol II edited by Engels, 1885.
Karl Marx, Das Kapital, Vol. III, edited by Engels, 1895.

वैज्ञानिक समाजवाद

मार्क्स अपने सहयोगी ऐन्जिल्स के साथ श्रमिक-वर्ग आन्दोलन के लिए वैज्ञानिक समाजवाद का जन्मदाता माना जाता है। मार्क्सवाद को प्राय: सर्वहारा समाजवाद (Proletarian Socialism), क्रान्तिकारी समाजवाद (Revolutionary Socialism) तथा वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) भी कहा जाता है। कार्ल मार्क्स का दावा था कि जिस समाजवाद का वह प्रतिपादन कर रहे थे वह वैज्ञानिक था। इसके लिए उसने उस समय के यूटोपियायी विचारों को आलोचना ही नही की, उसने न तो उनके कोई काल्पनिक आदर्श ही अपनाये तथा न उनसे अपना कोई विचार सम्बन्ध रखा। मार्क्स के अनुसार यूटोपियायी समाजवादी सर्वहारा वर्ग के विषय मे अनभिज्ञ थे; समाजवाद लाने के लिए उन्होंने समस्त समाज, विशेषत: उच्च वर्ग से अपील की; उन्होंने भविष्य के बड़े आदर्शवादी-कल्पनावादी स्वप्न देखे; वे नैतिकता तथा मनुष्य की अच्छाई को स्वीकार कर समाजवाद लाना चाहते थे। मार्क्स के अनुसार कल्पनाओं और सद्भावनाओं के आधार पर आदर्श समाज के स्वप्न को पृथ्वी पर साकार नहीं किया जा सकता क्योंकि उनका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिए यूटोपियायी वैज्ञानिक समाजवादी नही हो सकते थे। मार्क्स तथा प्रुधों के विचार संघर्ष के परिणामस्वरूप मार्क्स के विचारों में बड़ी प्रगति हुई। प्रुधों की पुस्तक–Philosophy of Poverty– के प्रत्युत्तर में मार्क्स ने

3. Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 263.

1947 म – Poverty of Philosophy – लिखी । यह ग्रन्थ ही मार्क्स ऐंजिल्स द्वारा लिखित साम्यवादी घोषणा पत्र की भूमिका तैयार करता है।[4] इसी घोषणा पत्र म सर्वप्रथम वैज्ञानिक समाजवाद का विवेचन किया गया है। साम्यवादी घोषणा पत्र म मार्क्स–ऐन्जिल्स न लिखा है —

> "साम्यवाद अपन शाब्दिक अर्थ म अवश्य ही एक विधि का सिद्धान्त है। यह उन नियमो को स्थापित करता है जिनके द्वारा पूँजीवाद को समाजवाद म बदला जा सकता है।"[5]

ऐलग्जन्डर ग्रे न वैज्ञानिक समाजवाद को स्पष्ट करते हुए लिखा है —

> "जैसा कि मार्क्स न प्रस्तुत किया है शास्त्रीय अर्थ म वैज्ञानिक समाजवाद कम स कम इतिहास का दर्शन है, वर्ग-संघर्ष का मूर्तरूप, आर्थिक तर्कों पर आधारित शोषण का सिद्धान्त तथा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का स्वप्न है।'[6]

ऐसी अवस्था म मार्क्स ही पहला समाजवादी लेखक है जिसके कार्यों को वैज्ञानिक माना जा सकता है। "उसने न केवल उस समाज का चित्र अंकित किया जिसे वह वाञ्छनीय समझता था, अपितु उसन विस्तारपूर्वक उन दशाओं का वर्णन किया जिनमे होकर उस आदर्श समाज को विकसित होना चाहिए।"[7] मार्क्स ने अपने समाजवाद को वैज्ञानिक बतलाते हुए कहा है कि यह इतिहास के विकास का परिणाम है न कि मस्तिष्क की कल्पना, यह उस विधि विधान पर आधारित है जिसके द्वारा मानव इतिहास प्रगति करता है। लेन लंकास्टर (Lane Lancaster) के अनुसार मार्क्सवाद के वैज्ञानिक समाजवाद होने के दो प्रमुख आधार थे। प्रथम, यह वास्तविकता (realissm) पर आधारित है न कि कल्पना पर। द्वितीय, यह पूर्व तथा प्राचीन व्यवस्था को ही वैज्ञानिक तरीके से नही समझाता किन्तु नई व्यवस्था प्राप्त करने के लिए भी वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाता है।[8] वास्तव म मार्क्स के समाजवाद का वैज्ञानिक होना तत्कालीन युग की भी देन तथा उनका स्वय का दृष्टिकोण था। इस सम्बन्ध म मिलोवन जिलास (Milovan Djilas) लिखत हैं—

---

4 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 253

5 Preface to the Communist Manifesto

6 " in its classic form as presented by Marx (1818 1883) scientific socialism comprises at least a philosophy of history, embodying the class struggle, a theory of exploitation, based on presumed economic reasoning and a vision of the dictatorship of the proletariat "
Gray, Alexander, The Socialist Tradition, p 5

7 जोड आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रवेशिका, पृ 36.

8 Lancaster, L. W, Masters of Political Thought, vol III, p 163

"मार्क्स के विचार उस समय के वैज्ञानिक वातावरण से प्रभावित हुए, विज्ञान के प्रति उनका स्वयं का अध्ययन तथा अपनी क्रान्तिकारी आकांक्षाओं से वे श्रमिक-वर्ग आन्दोलन को वैज्ञानिक आधार देना चाहते थे।"[9]

हैरॉल्ड लास्की (Herold Laski) का मत है कि मार्क्स ने समाजवाद को एक कार्यक्रम एवं एक दर्शन दिया जो वास्तविक तथ्यों पर आधारित था। इसके पहले ऐसा कोई विकल्प नहीं था।[10] प्रसिद्ध इतिहासकार टेलर (A J P Taylor) का मत है कि मार्क्सवाद में सामाजिक परिवर्तन करने वाली शक्तियों की जो व्याख्या है वह उसे वैज्ञानिकता प्रदान करती है। इसके अलावा इन परिवर्तन करने वाली शक्तियों का विवेचन मानव मनोविज्ञान (Human Phychology) पर आधारित है।[11]

मार्क्स के ग्रन्थों में ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि का परिचय तो प्राप्त होता ही है, उसने जो कुछ भी लिखा है तथा जो वह सिद्ध करना चाहता था वह तथ्यों पर आधारित है। उसके विचारों में कल्पना की उड़ान नहीं है। उसके ग्रन्थ तथ्य सम्बन्धी ज्ञान के अपूर्व भण्डार हैं। उसने उस समय प्रचलित ऐतिहासिक लेखन प्रवृति का ही अनुसरण किया है। मार्क्स जब अपने सिद्धान्तों की विवेचना करता है तो वह आदम युग से प्रारम्भ करता है तथा यह स्पष्ट करता है कि मनुष्य किन किन युगों से निकल चुका है। मनुष्य जब एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाता है इसका कारण समाज की अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन होना है। यह ऐतिहासिक विवेचन भी वैज्ञानिक पद्धति का एक प्रमुख अंग है। मार्क्सवाद के कई सिद्धान्त इसी ऐतिहासिक विवेचन के परिणाम हैं। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, पूंजीवादी से सम्बन्धित अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मार्क्स के प्रमुख अन्वेषण हैं। ऐन्जिल्स के शब्दों में —

"इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या तथा अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त द्वारा पूंजीवादी उत्पादन का रहस्योद्घाटन करना, इन दो महान अन्वेषणों के लिए हम मार्क्स के ऋणी हैं। इन दो खोजों से समाजवाद विज्ञान बन गया। इनके बाद तो सिर्फ इनके सम्बन्ध और विस्तार का ही कार्य रह गया।"[12]

9. "Marx's ideas were influenced by the scientific atmosphere of his time, by his own leanings towards science and by his revolutionary aspiration to *give to the working class movement a more or less scientific basis.*" Milovan Djilas, The New Class, p. 5.
10. Laski, H J, Marxism after Fifty Years, Current History, March, 1933.
11. Taylor, A J P, Manifesto of the Communist Party, Introduction by A. J P. Taylor, Penguin Book Co, Middlesex, 1970, pp. 10–11.
12. "These two great discoveries, the materialistic conception of history and the revelation of the secret of capitalist production through surplus value, we owe to Marx With these discoveries socialism became a science. *The next thing* was to work out all its details and relations" Engels, F., Socialism: Utopian and Scientific, p 44

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है मार्क्स के पूर्व समाजवादियों ने कोई ऐसा वैज्ञानिक सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जिसके आधार पर एक सुनिश्चित तर्क-संगत सामूहिक कार्यक्रम खड़ा किया जा सकता। मार्क्स ने अपने ग्रन्थों, पुस्तकों, लेखों आदि में इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीति के सम्बन्ध में जो भी विचार प्रकट किये हैं वे मुख्यतः परस्पर अनुरूप तथा विरोध रहित थे। दूसरे, मार्क्स ने अर्थशास्त्र से सम्बन्धित आर्थिक नियतवाद (Economic Determinism), मूल्य के निर्धारण में श्रम का महत्व, समाज का विकास आदि का अध्ययन, **क्रमबद्धता या क्रमिक विकास** (logical development) **पर आधारित उसकी विवेचना में कारण और परिणाम** (causes and effects) **प्रत्येक जगह विद्यमान है।**[13] मार्क्स अपने निष्कर्षों को निश्चित समझता था, उदाहरणार्थ—

(i) सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारण होते हैं।

(ii) पूंजीवादी व्यवस्था परिपक्वता को प्राप्त करते ही पतन की ओर अग्रसर होती है।

(iii) पूँजीवादी अवस्था में पूँजीपतियों और श्रमिकों का संघर्ष अनिवार्य है।

(iv) केवल श्रमिक वर्ग ही क्रांतिकारी होता है क्योंकि उसके पास अपने श्रम को छोड़कर कुछ नहीं है और न ही उसे विद्यमान सामाजिक व्यवस्था से मोह है।

(v) पूँजीवादी व्यवस्था के बाद समाजवाद का आना अवश्यम्भावी है, तथा

(vi) श्रम मूल्य का निर्धारक तत्व है।

इसके अतिरिक्त वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को 'अकाट्य विज्ञान' मानता था। उसके अनुसार इतिहास के जो नियम उसने ढूंढ निकाले थे वे वैज्ञानिक सिद्धान्त की तरह निश्चित और निर्मम थे। मार्क्सवाद को वैज्ञानिकता प्रदान करने वाले सभी तत्वों के बारे में हेरमन जड (Heromon Judd) ने इस प्रकार उल्लेख किया है—

> 'मार्क्स का दावा था कि उसका समाजवाद यूटोपियायी या ईसाई समाजवाद नहीं किन्तु वैज्ञानिक था। उसे विश्वास था कि किसी भी कार्य-क्रम को स्थाई रूप से सफलता के लिए वैज्ञानिक सत्य सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिये। उसके अनुसार सहयोग सिद्धान्त तथा पूँजी वर्ग से उदार स्वभाव की अपील करना व्यर्थ था। क्योंकि किन्हीं कारणों से *वे उस व्यवस्था में परिवर्तन नहीं लायेंगे जिससे उन्हें लाभ होता है।* मार्क्स का विश्वास था कि उस समय की दशा के कारणों को जानने के लिए दूरगामी सुधार करने पड़ेंगे तथा उन शक्तियों को खोजना पड़ेगा जो इतिहास को गतिशील बनाती हैं। इसे केवल वैज्ञानिक अन्वेषण द्वारा

13 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 398

ही समझना सम्भव हो सकता है कि क्या गुजर चुका है तथा भविष्य में क्या होगा। कोई अन्य पद्धति उसे चाहे कैसे भी अच्छे विचारों द्वारा अपनायी जाय, व्यर्थ है।"[14]

मार्क्स पर प्रभाव तथा उनका वैज्ञानिक विवेचन

कार्ल मार्क्स के विचारों मे मौलिकता (originality) के अभाव की बात सभी विद्वान कहते हैं। यह सत्य अवश्य है। समाज विकास का सिद्धान्त, पूँजीवाद के विकास और सामाजिक परिणाम, अतिरिक्त-मूल्य का सिद्धान्त (theory of surplus value), श्रम सिद्धान्त, सर्वहारा-वर्ग (prolatariate) के प्रति हित कामना, श्रमिकों के लिए संगठित रूप से राजनीतिक कार्य एवं आन्दोलन करने के लिए आह्वान आदि की पूर्व-ध्वनि मार्क्स के पहले ही गूँज रही थी।

हीगलवाद (Hegalism) उस समय का विचार फैशन (जैसा कि आजकल भारत में समाजवाद है) था। हीगल से कार्ल मार्क्स ने ग्रहण किया कि विकास सिद्धान्त विरोधी तत्वों के संघर्ष मे निहित रहता है। फ्यूरबाख (Feurbach) से मार्क्स ने भौतिकवादी (materialism) विचार प्राप्त किये। सम्भवतः वर्ग संघर्ष (class war) की प्रेरणा उसे फ्रांस के समाजवादियों से मिली हो क्योंकि कुछ समय जब मार्क्स फ्रांस मे था वहाँ के समाजवादियों के सम्पर्क मे रहा।[15] उसके अर्थशास्त्र सम्बन्धी विचार अट्ठारहवी शताब्दी के मरकेन्टाइलिस्ट अर्थशास्त्रियों, विशेषतः रिकार्डो (David Ricardo), फिजियोक्रेट विद्वानों (Physiocrats) तथा अन्य लेखकों के ग्रन्थों मे मिलते हैं।[16]

यह निःसंदेह सत्य है कि मार्क्सवाद के विभिन्न तत्व कई स्रोतों से ढूँढे जा सकते हैं। उसने ईंट-पत्थरों की भाँति सब स्थलों से विचारों को एकत्रित किया। किन्तु जिस विचार-भवन का निर्माण किया वह स्वयं उसकी ही इच्छानुसार था।[17]

14. "Marx claimed that his was a scientific rather than a utopian or Christian socialism He was convinced that any programme which was *to be permanently* successful would have to be based upon scientifically valid *principles* It was, he thought, totally useless to preach the doctrine of co-operation and to appeal to the benevolent nature of a *capitalist class which, for reasons ......was unable consciously to alter the system from which it benefited.* Reformers, Marx believed, would need to delve more deeply into the causes of the existing situation to investigate *the forces that move* history itself. Only through such a scientific investigation is possible to *understand* what has happened, what is happening, and what will happen Any other approach *no matter how altruistically motivated,* is useless" Judd Hermon M., Political Thought from Plato to the Present, McGrow Hill, New York, 1964, p. 392.
15. Gray, Alexander., The Socialist Tradition, p. 300
16. गोरर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ० 44-47.
17. उपरोक्त पृ० 299.

मार्क्स ने इन सभी विद्वानों के विचारों के तथ्यों की व्यवस्था, उनकी विवेचना आदि स्वयं ही की थी। मार्क्स ने अपने मत की पुष्टि के लिए इन चिन्तकों एवं विद्वानों के विचारों का सार ग्रहण किया तथा अपने विचारों को तार्किक दृष्टि से सिद्ध करने के लिए उनका प्रयोग किया। उदाहरणार्थ, हीगल के दर्शन में विचार (idea) और राष्ट्र (nation) की प्रमुखता थी। मार्क्स के अनुसार हीगल का दर्शन ठीक सिर के बल उल्टा खड़ा हुआ था। मार्क्स ने इस नया रूप देकर पैरों पर खड़ा किया।[18] हीगल के विचार और राष्ट्र के तत्वों को मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष के रूप में प्रस्तुत किया,[19] तथा इस नियम को एक राष्ट्र तक ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में लागू होने वाला बतलाया।[20]

मार्क्स का यही विवेचन समाजवाद और क्रान्ति का प्रमुख आधार है जो उसके विचारों को वैज्ञानिकता प्रदान करता है। प्रो. लास्की (Harold Laski) के अनुसार उस समय समाजवाद एक अस्त-व्यस्त स्थिति में था किन्तु मार्क्स ने उसे एक आन्दोलन बना दिया। यही नहीं उसे तर्क संगत बनाकर एक नया दर्शन और एक नई दिशा प्रदान की। कई विद्वान मार्क्स के विचारों से सहमत नहीं हैं किन्तु वे भी उसके अध्ययन विश्लेषण और सूक्ष्मता को स्वीकार करते हैं।

मार्क्सवाद की वैज्ञानिक संदिग्धता

उपरोक्त अध्ययन से यह लगभग स्पष्ट है कि मार्क्सवाद वैज्ञानिक समाजवाद है। क्योंकि मार्क्सवाद विचार तथ्यों पर आधारित है, इसमें ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया गया है, यह विवेचनात्मक अध्ययन है तथा इसे तर्कसंगत बनाकर 'कारण और परिणाम' के संबन्ध को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। मार्क्सवाद के अन्तर्गत नये सिद्धान्त तथा नये निष्कर्षों को स्थापित किया गया है। इतना सब कुछ होते हुए भी मार्क्सवाद के पूर्णरूप से वैज्ञानिक होने में सदेह व्यक्त किया जाता है। टेलर (A J P Taylor) ने मार्क्सवाद को सही वैज्ञानिक अध्ययन नहीं माना है।[21] मिलोवन जिलास (Milovan Djilas), जो यूगोस्लेविया (Yugoslavia) के एक विद्रोही साम्यवादी चिन्तक हैं, का मत है कि मार्क्सवाद का विज्ञान के रूप में कभी भी महत्व नहीं रहा है। मार्क्स ने हीगल के विज्ञान को ही आगे बढ़ाया। इसमें उसका भूल योगदान कुछ भी नहीं था।[22] कोल (G D H Cole) का विचार है कि मार्क्सवाद वैज्ञानिक समाजवाद कम तथा सिद्धान्त शास्त्र या आध्यात्म-शास्त्र (Metaphysics) अधिक है। यह उसके

18 Engels, F, Socialism Utopian and Scientific, p 37

19 Sabine, H S, A History of Political Theory, p 628

20 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 261

21 Taylor, A J, P, The Manifesto of the Communist Party, pp 10-11

22 Djilas, Milovan, The New Class, p 6

अतिरिक्त-मूल्य सिद्धान्त (Theory of Surplus Value) से स्पष्ट हो जाता है।[23]

मार्क्सवाद के वैज्ञानिक समाजवाद के रूप मे सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि मार्क्स का अध्ययन निष्पक्ष नहीं था। उसने जो भी तथ्य एकत्रित किये, उनका जो विवेचन किया, उसका मुख्य उद्देश्य क्रान्ति द्वारा सर्वहारा-वर्ग की सत्ता की स्थापना करना था। इसके समर्थन मे उसे जो तथ्य मिले उनका उसने प्रयोग किया तथा जो तथ्य उसके निष्कर्ष के विपरीत जाते थे उनकी अवहेलना की। इस प्रकार एक पक्षीय अध्ययन को पूर्ण विज्ञान कहना उपयुक्त नही होगा। आगे के पृष्ठों मे मार्क्सवादी सिद्धान्तो के अध्ययन से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है।

कार्ल मार्क्स तथा ऐन्जिल्स वैज्ञानिक समाजवाद के प्रमुख प्रवक्ता है, किन्तु कुछ ऐसे भी समाजवादी हैं जो मार्क्स-ऐन्जिल्स के विचारो के कुछ तत्वो को स्वीकार करते हैं तथा कुछ को अस्वीकार। किन्तु उन्हे भी वैज्ञानिक समाजवाद का समर्थक माना जाता है। इनमे कार्ल रॉडबर्टस (Karl Rodbertus, 1805–1875) तथा फर्डीनेन्ड लासल (Ferdinand Lassale, 1825–1864) के नाम प्रमुख हैं। मार्क्स ऐन्जिल्स तथा इनमे मतभेद इस बात पर है कि समाजवाद लाने के लिये तुरन्त क्या कार्यक्रम हो तथा राज्य के विषय मे वास्तव मे क्या दृष्टिकोण होना चाहिये। वैज्ञानिक समाजवाद के विषय मे इन्होंने मार्क्स-ऐन्जिल्स की मान्यताओं का लगभग समर्थन किया है हालांकि उनके कारण एवं परिणाम कुछ भिन्न ही है।[24]

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

Dialectical Materialism

कार्ल मार्क्स की विचारधारा का आधारभूत सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। द्वन्द्व का अर्थ तर्कसम्मत विचार–विमर्श है। किसी भी तथ्य की वास्तविकता के ज्ञान की प्राप्ति तर्क-सम्मत विचार-विमर्श से ही सम्भव होती है। सामाजिक विकास-क्रम का ज्ञान करने के लिये सर्वप्रथम द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को हीगल ने ग्रहण किया था। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि ऐतिहासिक घटना–क्रम कुछ निश्चित नियमो के अनुसार चलता है। इन्ही नियमो के आधार पर सामाजिक परिवर्तनों को समझा जा सकता है।

हीगल ने समाज को गतिमय तथा परिवर्तनशील बतलाते हुए विश्व–आत्मा (World Spirit) को उसका नियामक कारण माना है। हीगल ने द्वन्द्वात्मकता

23. Cole, G D H , A History of Socialist Thought, Vol II, pp 289 89 ,
Jay, Douglas, Socialism in the New Society, pp 57–58 ,
इस सम्बन्ध मे देखिये—
Mayo, Henry B , Introduction to Marxist Theory, pp. 211-18.
24. Gray, Alexander., The Socialist Tradition, pp. 332, 334, 343–44

के अन्तर्गत होने वाले बौद्धिक क्रम का 'अस्तित्व में होना' (being), 'अस्तित्व में न होना' (non being) और 'अस्तित्व में आना' (becoming) के रूप में देखा। हीगल ने इन तीनों क्रमों को 'वाद' (thesis), 'प्रतिवाद' (anti-thesis) और सम्वाद' (synthesis) से सम्बोधित किया है। कोई भी 'अमूर्त' (abstract) 'विचार' (idea) से प्रारम्भ होता है। विचार में विरोध' (contradiction) उत्पन्न होता है जिसे प्रतिवाद कहा जाता है। वाद और प्रतिवाद में द्वन्द्व के परिणामस्वरूप एक नये विचार का प्रादुर्भाव होता है जिसे हीगल सम्वाद कहता है। यही सम्वाद आगे चलकर वाद फिर प्रतिवाद और सम्वाद के द्वारा पुनः नये विचार के रूप में उत्पन्न होता है। यह क्रम-चक्र निरन्तर चलता रहता है।

हीगल परिवार को वाद के रूप में, समाज को परिवार के प्रतिवाद के रूप में, तथा राज्य को सम्वाद के रूप में एक विचार मानता था। इस प्रकार हीगल का द्वन्द्ववाद आदर्शात्मक था। हीगल के द्वन्द्ववाद के सार को कोल (G D H. Cole) ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है —

"हीगल ने विश्व को दैविक न्याय की एक अभिव्यक्ति के रूप में देखा जो निरन्तर विरोध और संघर्ष की प्रक्रिया द्वारा अपने को प्रसारित करता है। सम्पूर्ण मानव इतिहास—और केवल उसी से हमारा यहां सम्बन्ध है—उसके समक्ष विचारात्मक संघर्ष की एक लम्बी प्रक्रिया के रूप में फैल गया जिसका निश्चित परिणाम विश्व-भावना की पूर्ण सहानुभूति में विरोध का अन्तिम रूप से विनाश होगा। भौतिक स्तर पर समाज का विकास उसके लिये इस विचारात्मक प्रक्रिया की एक निषेधात्मक अभिव्यक्ति मात्र थी। मानव इतिहास में जो घटित हो रहा है वह यह नहीं है जिसकी प्राप्ति होती है बल्कि हर निरपेक्ष विचार में निहित वास्तविकता का क्रमिक तथा प्रगतिशील यथार्थीकरण है। प्रत्येक वस्तु विकास की सम्पूर्ण लौकिक प्रक्रिया में बीज रूप में विद्यमान थी परन्तु बीज यथार्थ का रूप विचार के लम्बे संघर्ष द्वारा ही धारण कर सकता था। यह संघर्ष, जैसा कि इतिहास में दिखाई पड़ता है अपूर्ण विचारों के संघर्ष में होकर स्वानुभूति की ओर अग्रसर होता है।"[25]

हीगल के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को मार्क्स ने सामाजिक विकास के सम्बन्ध में लागू किया। किन्तु मार्क्स भौतिकवादी था। भौतिकवादी सिद्धान्त का तात्पर्य है कि विश्व में परम तत्व पदार्थ (matter) है जिसके मूल में कोई ईश्वरीय अथवा सार्वभौम चेतना नहीं होती। पदार्थ ही प्रथम व प्रधान है। मार्क्स के द्वन्द्ववाद का आधार पदार्थ है, हीगल की भांति विचार (idea) नहीं, भौतिक पदार्थ ही इस जगत का आधार है। मार्क्स के भौतिक द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को

25 Cole, G D H, Meaning of Marxism, p 207.

निम्नलिखित ढंग से व्यक्त किया जा सकता है—

(i) सावयविक एकता:—विश्व एक भौतिक जगत है जिसमे वस्तुएँ तथा घटनाएँ एक दूसरे से पृथक न होकर पूर्णतया सम्बद्ध रहती हैं। अर्थात् प्रकृति के सभी पदार्थो मे सावयविक एकता रहती है।

(ii) गतिशीलता:—विश्व अथवा उसकी कोई भी वस्तु स्थिर अथवा अपरिवर्तनशील नही है। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ – रेत के छोटे दाने से लेकर सूर्य पिण्ड तक - गतिशील है।

(iii) परिवर्तनशीलता:—भौतिकवादी होने के कारण मार्क्स आर्थिक नियतिवाद (economic determinism) का समर्थक है। वह सामाजिक विकास की प्रेरक शक्तियों के रूप मे आर्थिक परिस्थितियो को ही महत्त्व देता है। चूँकि भौतिक जगत मे निरन्तर परिवर्तन होता रहता है इसलिये सामाजिक जीवन मे भी परिवर्तन होता रहता है। द्वन्द्ववाद विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया है।

(iv) भावात्मक-गुणात्मक परिवर्तन —परिवर्तन भावात्मक (quantitative) तथा गुणात्मक (qualitatitive) दोनो प्रकार के होते हैं। गेहूँ के एक अंकुर का कई दानों मे परिणित हो जाना भावात्मक परिवर्तन है। पानी का हिम या भाप मे परिवर्तन गुणात्मक कहलाता है।

परिवर्तन-क्रम मे एक अवस्था ऐसी आती है जब परिमाणगत से गुणात्मक परिवर्तन एकाएक हो जाता है। उदाहरणार्थ, जब पानी सामान्य गर्म होता है उसमे कोई परिवर्तन मालूम नही होता। लेकिन जैसे ही उसका तापमान 100° सेन्टीग्रेड पर पहुचता है वह उबलने लगता है तथा एकाएक उसके गुण मे परिवर्तन हो भाप बनने लगता है। पानी का भाप मे परिवर्तन ही गुणात्मक परिवर्तन है। इसी प्रकार सामाजिक विकास क्रम पहिले धीरे-धीरे चलता है लेकिन एक स्थिति ऐसी आती है कि उसमे एक दम गुणगत परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तन मे आर्थिक तत्त्व प्रधान है न कि हीगल की तरह विचार तत्त्व।

(v) क्रांतिकारी प्रक्रिया:—वस्तुओं मे गुणात्मक परिवर्तन धीरे-धीरे नही बल्कि सहसा और झटके के द्वारा होता है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक जाने की यह प्रक्रिया क्रान्तिकारी होती है।

(vi) सकारात्मक-नकारात्मक संघर्ष:—प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष होते हैं—सकारात्मक (positive) और नकारात्मक (negative)। इनमे निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। संघर्ष के परिणामस्वरूप पुराना तत्त्व मिट जाता है तथा नवीन तत्त्व उत्पन्न होता है। यह निरन्तर संघर्ष विकास-क्रम निर्धारण करता है।

मार्क्स के इस विचार को कोल (G. D. H. Cole) ने व्यक्त करते हुए लिखा है कि इतिहास के प्रत्येक युग मे उत्पादन शक्तियो से मनुष्यों मे आर्थिक सम्बन्ध पैदा

होते हैं। मानव इतिहास में इन सम्बन्धों के फलस्वरूप मनुष्य आर्थिक वर्गों में विभाजित रहे हैं। प्राचीन ग्रीस में स्वतन्त्र नागरिक व दास, रोम में पेट्रीशियन व प्लेबियन, मध्य युग में भूमिपति और दास-किसान, तथा वर्तमान युग में पूँजीपति व मजदूर-वर्ग के मध्य हुए संघर्ष से समाज आगे बढ़ता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सिद्धान्त से मार्क्स ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर साम्यवादी समाज की स्थापना कैसे होगी। मार्क्स ने अपने द्वन्द्ववाद में जिस तीव्र गति से परिवर्तन की ओर संकेत किया उससे उसने क्रान्ति के औचित्य को सिद्ध किया है। पूँजीवाद में शोषित वर्ग उन्नति नहीं किन्तु *क्रान्ति द्वारा परिवर्तन करेगा।* इस *प्रकार मार्क्स द्वन्द्ववादी व्याख्या द्वारा वर्ग* संघर्ष को अवश्यम्भावी बना देता है। मार्क्स के द्वन्द्ववादी भौतिकवाद का वाद, प्रतिवाद और सम्वाद आर्थिक वर्ग है। इनमें संघर्ष के परिणामस्वरूप एक ऐसे समाज की स्थापना होगी जिसमें शोषण एवं वर्ग-भेद सदैव के लिए समाप्त हो जायेगा। वर्गरहित समाज की स्थापना अन्तिम सम्वाद होगा जिसके बाद प्रतिवाद का जन्म नहीं होगा। यही पर वर्ग-संघर्ष की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया रुक जायेगी।

हीगल तथा मार्क्स के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त में अन्तर

हीगल तथा मार्क्स ने द्वन्द्ववाद सिद्धान्त की सामाजिक विकास के संदर्भ में व्याख्या की है किन्तु दोनों विचारकों के निष्कर्ष भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम, हीगल के द्वन्द्ववाद का आधार विचार (idea) है। इसके विपरीत मार्क्स पदार्थ (matter) को प्रमुखता देता है। हीगल का द्वन्द्ववाद रहस्यात्मक-आदर्शात्मक है, मार्क्स भौतिकवादी है। **द्वितीय,** हीगल का विचार था कि यूरोपीय इतिहास की चरम परिणति जर्मन राष्ट्र के विकास में हुई है तथा जर्मनी यूरोप का आध्यात्मिक नेतृत्व ग्रहण करेगा। कार्ल मार्क्स ने सामाजिक इतिहास की चरम परिणति सर्वहारा वर्ग के उत्थान के रूप में स्वीकार की है। **तृतीय,** हीगल के समाज दर्शन में प्रेरक शक्ति एकस्व-विकासशील आध्यात्मिक सिद्धान्त है। मार्क्स के दर्शन में यह प्रेरक तत्त्व स्व-विकासशील उत्पादक शक्तियाँ हैं जो अपने लिए सामाजिक वर्गों में व्यक्त करती हैं। **चतुर्थ** हीगल के लिए प्रगति राष्ट्रों के संघर्ष में निहित है। किन्तु मार्क्स के लिए प्रगति सामाजिक वर्गों के विरोधाभाव में निहित थी।[26]

अनुदार हीगलवादियों ने हीगल के दर्शन का प्रतिक्रियावादी ढंग से प्रयोग किया। किन्तु इसी सिद्धान्त को मार्क्स ने क्रान्ति का उपकरण बना दिया। *'सोवियत संघ के साम्यवादी दल के संक्षिप्त इतिहास'* में *इस सम्बन्ध में लिखा है* कि द्वन्द्ववाद की सहायता से साम्यवादी दल प्रत्येक स्थिति के प्रति सही दृष्टिकोण बना सकता है सामाजिक घटनाओं के आन्तरिक सम्बन्धों को समझ सकता है

26 Sabine, H S, A History of Political Theory, p 651

तथा उनकी दिशा को जान सकता है। वह न केवल यह जान सकता है कि वर्तमान में घटनाएँ किस दिशा में चल रही है, किन्तु यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि भविष्य में उनकी दिशा क्या होगी।[27]

मूल्यांकन—द्वन्द्ववादी भौतिकवाद मार्क्सवाद का मूल आधार है किन्तु **इस विचार को मार्क्स ने पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं किया है।** जगह जगह पर मार्क्स ने द्वन्द्ववादी भौतिकवाद की विवेचना की हैं, वे अपनी रचनाओं में इसे अत्यधिक महत्वपूर्ण दर्शाते हैं, सभी स्थानों पर इसे लागू करने का प्रयत्न करते है, लेकिन विस्तृत रूप से वे इसका कहीं भी विवेचन नहीं करते।

कार्ल मार्क्स सामाजिक तथा राजनीतिक गतिविधियों को समझने के लिये एक मात्र भौतिक तत्त्व को प्रधानता देता है। वह पदार्थ को चेतना की अपेक्षा प्रमुखता देता है। यह समझ में आना असम्भव है कि किसी चेतन-सत्ता के बिना यह विश्व उत्पन्न और सचालित कैसे हो सकता है। यह मानना सही नहीं है कि सामाजिक जीवन में चेतना का योगदान नहीं है तथा भौतिक तत्त्वों द्वारा ही समस्त सामाजिक गतिविधियों का नियमन होता है। **भौतिक तत्त्व को एकमात्र निर्णायक तत्त्व मानना भूल है।**

यद्यपि द्वन्द्ववादी हमें मानव विकास के इतिहास में मूल्यवान क्रान्तियों का दिग्दर्शन कराता है किन्तु **मार्क्स का यह दावा स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सत्य का अनुसंधान करने के लिए यही एकमात्र वैज्ञानिक पद्धति है।** सामाजिक घटनाओं को द्वन्द्व की सहायता के बिना भी भली भांति समझा जा सकता है।

द्वन्द्ववाद के अध्ययन से यह बात समझ में आना कठिन है कि पदार्थ जो स्वभाव से चेतनाहीन है, एक स्वयं विकसित होने वाला सिद्धान्त बन सकता है। इसमें आंतरिक शक्तियों को यथार्थ करने की शक्ति नहीं होती और न उसमें विराम की सामर्थ्य होती है। जो भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं वे बाह्य शक्ति द्वारा किये जाते है। सामाजिक जीवन इतना जटिल होता है कि उसमें होने वाले परिवर्तनों में से वाद, प्रतिवाद तथा संवाद किसे कहा जाय यह बताना अत्यन्त ही दुष्कर कार्य है। केरयू हन्ट (Carew Hunt) ने द्वन्द्ववादी भौतिकवाद की आलोचना निम्नलिखित शब्दों में की है—

"मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद के विरुद्ध एक गम्भीर आपत्ति उठायी जा सकती है। द्वन्द्ववाद को विरोधी तत्त्वों के बीच संघर्ष के द्वारा विचारों के विकास पर लागू करना उचित है, और हीगल उस विकास की एक बुद्धि सगत व्याख्या देता है। यद्यपि द्वन्द्ववादी भौतिकवाद के भौतिक जगत में कुछ विरोधों के दृष्टान्त केवल एकदम मनमाने है परन्तु यदि वे ऐसे न भी होते तो फिर भी यह तो एक रहस्य ही बना रहता है कि भौतिक जगत में

27 Hunt, Carew, (quoted) Theory and Practice of Communism, p. 28.

वे दिखाई क्या पड़ने चाहिये। द्वन्द्ववादी भौतिकवाद वास्तव में यह कहता है कि पदार्थ पदार्थ है किन्तु इसका विकास विचारों की भाँति होता है जब कि हम यह तो देख सकते हैं कि विचार उस प्रकार विकसित क्यों होते हैं जिस प्रकार कि वे होते हैं, जैसा कि, उदाहरण के लिये, वाद-विवाद में, हम किसी ऐसे कारण की कल्पना नहीं कर सकते कि भौतिक वस्तुओं को भी उसी ढंग से विकसित क्यों होना चाहिये।"[28]

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या या ऐतिहासिक भौतिकवाद
Materialistic Interpretation of History

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को समझने से पहिले कुछ सम्बन्धित बातों का उल्लेख आवश्यक है। प्रथम, मार्क्स तथा ऐन्जिल्स के **इस सिद्धान्त का नाम ही भ्रममूलक है।** जिसे वे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या कहते हैं वास्तव में वह भौतिकवादी न होकर आर्थिक व्याख्या है। इस सिद्धान्त को भौतिकवाद नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'भौतिक' शब्द का अर्थ चेतनाहीन पदार्थ से होता है। उन्होंने सार्वजनिक परिवर्तनों की बात करते हुए कहा है कि यह परिवर्तन आर्थिक कारणों से होता है। अतः इस सिद्धान्त का नाम 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' होना चाहिए था।[29] कोल (G D H Cole) ने भी इस सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है कि इस सिद्धान्त में मार्क्स ने व्यवहारवादी दृष्टिकोण अपनाया था इसलिए इसका नाम 'इतिहास का व्यवहारवादी सिद्धान्त' (Realist Conception of History) होना चाहिए था।[30] द्वितीय इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या मार्क्सवाद का एक प्रमुख तथा मूल सिद्धान्त है लेकिन उनके किसी भी ग्रन्थ में कहीं भी **इस सिद्धान्त का पूर्ण तथा व्यवस्थित वर्णन नहीं मिलता।** यह उनके ग्रन्थों, लेखों में इधर उधर बिखरा हुआ है। तृतीय, इस सिद्धान्त के विषय में मार्क्स की अपेक्षा ऐन्जिल्स का योगदान अधिक एवं महत्वपूर्ण है। मार्क्स की पुस्तक—Critique of Political Economy—की प्रस्तावना में इस सिद्धान्त की जो व्याख्या की गई है, इसके बाद एन्जिल्स ने ही इसकी समय समय पर विवेचना की है।

सिद्धान्त की व्याख्या

द्वन्द्ववादी भौतिकवाद के आधार पर मार्क्स ने मानव इतिहास की विवेचना की है। तदनुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त केवल प्राकृतिक जगत में ही लागू नहीं होते, मानव समाज का विकास भी इन्हीं नियमों के अनुसार होता है। ऐतिहासिक

---

28 Hunt, Carew, Theory and Practice of Communism, p 33

29 Lancaster, Lane W, Masters of Political Thought, Vol III, Hegal to Dewey, 1959, p 167

30 Gray, A, The Socialist Tradition, p 301

भौतिकवाद का अर्थ द्वन्द्ववादी भौतिकवाद के सिद्धान्तों को समाज के विकास के लिए लागू करना है।

मानव समाज निरंतर बदलता रहता है। जो समाज आज से एक हजार या एक सौ वर्ष पहले था वैसा आज नहीं है। उसमें कई ऐसे परिवर्तन हुए है जिन्होंने समाज की काया पलट दी है। लेकिन प्रमुख प्रश्न यह है कि इस प्रकार के सामाजिक परिवर्तन क्यों होते हैं।

सामाजिक परिवर्तन के विषय मे मार्क्स और ऐन्जिल्स की दो प्रमुख धारणाएँ हैं। प्रथम प्रकृति के नियम की तरह सामाजिक विकास के नियम भी निश्चित है। सामाजिक परिवर्तन न तो आकस्मिक होते हैं और न ही कुछ मनुष्यों की इच्छा पर निर्भर करते हैं। ये विकास नियम वस्तुगत हैं तथा उनका स्वतन्त्र अस्तित्व है। द्वितीय, सामाजिक विकास में भौतिक परिस्थितियां ही प्रधान हैं; मन, विचार, भावनाएं आदि गौण हैं। समाज की जिस प्रकार की भौतिक परिस्थितियां होती हैं उन्ही के अनुरूप सामाजिक एव राजनीतिक सगठन, धर्म नैतिकता मूल्य और मान्यताएँ होती हैं। अन्य शब्दों में, भौतिक परिस्थितियां ही सामाजिक जीवन का आधार है। उनमें परिवर्तन होने का तात्पर्य सम्पूर्ण सामाजिक जीवन में परिवर्तन होना है। बोसाके ने इस सिद्धान्त को इस प्रकार व्यक्त किया है—

> "सूक्ष्म मे इस दृष्टिकोण का यह तात्पर्य है कि सभ्यता का मूल ढांचा, उदाहरण के लिए परिवार का स्वरूप, समाज मे वर्ग विकास और उनके सम्बन्धों का निर्धारण मानव अस्तित्व की आवश्यकताओं, जलवायु और भोजन दशायें जिनके अन्तर्गत इन आवश्यकताओं की प्राप्ति होती है, से होता है। केवल आर्थिक तथ्य ही वास्तविक या आकस्मिक है, अन्य वस्तुएँ तो इनका बाहरी रूप या प्रभावमात्र है।"[31]

भौतिक परिस्थितियों से क्या अभिप्राय है? मार्क्स और ऐन्जिल्स के अनुसार 'उत्पादन के उपादान' ही भौतिक परिस्थितियाँ हैं। वे यह मानकर चलते है कि व्यक्ति को जीवित रहने के लिए भोजन, वस्त्र, ईंधन, मकान आदि प्राप्त करने पड़ते हैं इनके बिना जीवन सम्भव नहीं हो सकता। इन सब की उपलब्धि उत्पादन के द्वारा होती है। अतः समस्त मानवीय क्रिया-कलापों की आधारशिला

31. In sum, the point of view amounts to this-that the fundamental structure of *civilisation*, the type of the family, for example, and the order relations and development of classes in society, have been and must be *determined* by the primary necessities of human existence and the conditions of climate and nutrition under which these necessities are met. Economic facts alone, it is Suggested, are real and casual; every thing else is an appearance and an effect." Bosanquet, B; The Philosophical Theory of State, Macmillan & Co Ltd London, 1958, p. 25

उत्पादन प्रणाली है। वस्तुओं का उत्पादन प्राकृतिक साधन, मशीन, यन्त्र, उत्पादन कला, मनुष्य के मानसिक और नैतिक गुणों पर आधारित होता है। इस प्रकार उत्पादन के साधन और उत्पादन के तरीके 'उत्पादन के उत्पादन' के अन्तर्गत आते है। इन समस्त परिवर्तनशील उत्पादन शक्तियों का सामाजिक सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक युग की सभ्यता संस्कृति, राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था दर्शन कानून और मनुष्यों का समाज के विभिन्न वर्गों में स्थान का निर्धारण उत्पादन और वितरण की प्रणाली के द्वारा होता है। आर्थिक व्यवस्था या उत्पादन के सम्बन्धों में परिवर्तन आते ही उन्हीं के अनुरूप सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन आते हैं।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या कार्ल मार्क्स ने निम्नलिखित शब्दों में की है–
"सामाजिक सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों से घनिष्टतम सम्बन्धित हैं नवीन उत्पादन शक्तियों को प्राप्त करने के लिये मनुष्य अपने उत्पादन तरीकों में परिवर्तन करते है, और अपने उत्पादन तरीकों में तथा जीवन उपार्जन के ढंग में परिवर्तन करने से वे अपने समस्त सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन करते हैं। हस्तचालित मशीन से सामन्तवाद तथा चालित यन्त्रों से औद्योगिक पूँजीवादी समाज की स्थापना हुई।" (The Poverty of Philosophy, p 12)

फ्रेडरिक ऐन्जिल्स ने प्रथम रूप से इस सिद्धान्त की व्याख्या की है। ऐन्जिल्स के शब्दों में—

> "इतिहास का भौतिकवादी विचार इस सिद्धान्त से प्रारम्भ होता है कि उत्पादन तथा उत्पादन के साथ वस्तुओं के विनिमय, प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था का आधार है प्रत्येक समाज जिसका इतिहास में अभ्युदय हुआ है वस्तुओं के वितरण तथा इसके साथ समाज का वर्ग-विभाजन का निर्धारण इस बात से होता है कि क्या और किस प्रकार उत्पादन तथा वस्तुओं का विनिमय किया जाता है। इस विचार के अनुसार सामाजिक परिवर्तनों और राजनीतिक क्रान्तियों के अन्तिम कारणों को, मनुष्यों के मस्तिष्क सत्य और न्याय आदि में नहीं किन्तु उत्पादन और विनिमय के तरीकों में देखा जा सकता है, वे दर्शन (Philosophy) में नहीं किन्तु उस युग से सम्बन्धित अर्थशास्त्र में दृष्टिगोचर होते हैं।' 32

ऐन्जिल्स ने सामान्यतः इस प्रकार के ही विचार अन्यत्र व्यक्त किये हैं। इस विषय में लेनिन के विचार भी महत्वपूर्ण हैं। लेनिन ने लिखा है —

> 'यह व्यक्त करके कि बिना किसी अपवाद समस्त विचार और सभी प्रवृत्तियों की जड़ उत्पादन की भौतिक शक्ति सम्बन्धी दशाएँ हैं, मार्क्सवाद

23 Anti Duhring, p 294, quoted by Gray, A, The Socialist Tradition, p *(4

ने सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओं के उत्थान, विकास और पतन प्रक्रिया के सर्व-समावेश तथा व्यापक अध्ययन के मार्ग को दर्शाया है।"[33]

किसी भी समाज की भौतिक परिस्थितियां एक सी नहीं रहती, उनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। मनुष्य द्वारा उत्पादन के नये-नये तरीके अपनाये जाते हैं तथा नये नये औजारों का आविष्कार होता है। उत्पादन के भौतिक तत्व बदल जाते हैं और उनका स्थान नये तत्व ले लेते हैं किन्तु उत्पादन के सम्बन्ध पुराने ही स्थिर रहते हैं। पुराने उत्पादन के सम्बन्धों के मध्य उत्पादन के नये भौतिक तत्वों का विकास एवं समुचित समन्वय नहीं हो पाता। अन्य शब्दों में, पुराने उत्पादन तत्व नये तत्वों के विकास में बाधा डालने लगते है। अतः दोनों के बीच संघर्ष प्रारम्भ होता है। इस बात की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है कि पुराने उत्पादन साधनों का अन्त करके नये सम्बन्ध स्थापित किये जायें जो उत्पादन के नये तत्वों के अनुरूप हों और उनके विकास को आगे बढ़ा सकें। मार्क्स-ऐन्जिल्स के अनुसार यही सामाजिक क्रान्तियों का आधार है तथा इन्हीं कारणों से समाज एक युग से दूसरे युग में पदार्पण करता है।

सामाजिक विकास की महत्वपूर्ण अवस्थाएँ

उत्पादन प्रणाली के परिवर्तन के साथ साथ सामाजिक संगठन, वर्ग विभाजन तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन होता है। परिणामस्वरूप एक अवस्था से दूसरी अवस्था आती है। मार्क्स ने उत्पादन सम्बन्धी परिवर्तनों के आधार पर इतिहास में युग परिवर्तनों का उल्लेख किया है, प्रत्येक युग के उद्भव एवं पतन को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर समझाया है।

आदिम साम्यवादी युग (Age of Primitive Communism)—यह मानव जाति का प्रारम्भिक युग था। इस युग में मनुष्य शिकार और फल-फूल खाकर अपना जीवन निर्वाह करता था। मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित थी। न परिवार स्थायी और न ही व्यक्तिगत सम्पत्ति संचय करने का प्रश्न था। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु पर सबका समान अधिकार था। यह युग सब प्रकार के शोषण से मुक्त था। मार्क्स इसे आदिम साम्यवादी व्यवस्था कहता है।

दासता का युग (Age of Slavery)—कृषि का आविष्कार होने पर प्रथम अवस्था में परिवर्तन आने लगा। इस युग में खेती और पशुपालन का रिवाज प्रारम्भ हुआ। कृषि तथा पशुपालन प्रथा से उत्पादन प्रणाली में नया परिवर्तन आया। अधिक उत्पादन और माल का संचय किया जाने लगा। अधिक कृषि उत्पादन के लिये मजदूरों की भी आवश्यकता महसूस हुई। युद्ध में पराजित लोगों को इस कार्य के लिये लगाया गया। इस प्रकार दास प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। व्यक्तिगत

33 Lenin, The Teachings of Karl Marx, p. 11.

सम्पत्ति विकसित हुई। भूमि के स्वामित्व तथा स्थायी निवास की आवश्यकता प्रतीत हुई। दास का काम उत्पादन करना और स्वामी का काम उसके श्रम से उत्पन्न की हुई वस्तुओं से आनन्द उठाना था। मालिक वर्ग दासों के श्रम के उपभोक्ता बन गये। यहीं से स्वामी और दासों के दो वर्गों की सृष्टि हुई।

सामन्तवादी युग (Age of Feudalism) –कालान्तर में उत्पादन के उपादानों में अधिक प्रगति एवं परिवर्तन हुए। लोहे के हल तथा करघे का प्रचलन हुआ। कृषि के क्षेत्र में वृद्धि हुई। भूमि उत्पादन का मुख्य साधन बन गई। समाज का मुखिया भूमि का मालिक बन गया। वह भूमि का विभाजन सामन्तों के मध्य करता था। ये सामन्त धीरे-धीरे भूमि के मालिक बनने लगे और राजा को कर के रूप में सैनिक सेवा या अन्य सेवाएँ प्रदान करने लगे। ये सामन्त कृषि खण्ड कृषकों तथा कृषक अर्ध-दासों को भूमि दिया करते थे। यही सामन्तवादी संगठन था। कृषि उत्पादन का अधिकांश भाग सामन्तों को प्राप्त होता था। अर्ध-दास वर्ग, जो वास्तव में भूमि पर कार्य करता था का शोषण किया जाने लगा। यही सामन्ती व्यवस्था थी। इस युग में किसान दास की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र था और निजी सम्पत्ति रख सकता था। किन्तु इस युग में सामन्तों ने अपने आश्रितों का भयंकर शोषण किया। इस व्यवस्था में सामन्तों और शोषितों के बीच संघर्ष चलता रहा।

पूँजीवादी युग (Age of Capitalist Society) –अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक क्रान्ति हुई जिसने उत्पादन के उपादानों में आमूल परिवर्तन किये। मशीनों का आविष्कार हुआ तथा बड़ी बड़ी मिलों और कारखानों की स्थापना हुई। खेती के तरीकों में भी परिवर्तन हुआ। इस युग में कारखानों के स्वामी तथा श्रमिकों के मध्य नये सम्बन्ध स्थापित हुए। पूँजीपति उत्पादन के साधनों का स्वामी होता था किन्तु श्रमिकों के पास उत्पादन के साधन नहीं होते थे, उन्हें पूँजीपतियों को अपनी श्रम शक्ति बेचनी पड़ती थी। फलस्वरूप श्रमिकों और पूँजीपतियों के मध्य वर्ग संघर्ष भी तीव्र हुआ। पूँजीवादी युग के अन्तर्गत राजनीतिक संस्थाएं कानून, नैतिकता, कला, साहित्य,दर्शन आदि सब पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के ही अनुरूप व्यवस्थित हुए। पूँजीपतियों का शासन व्यवस्था पर भी धीरे-धीरे नियन्त्रण बढ़ने लगा। मार्क्स-ऐन्जिल्स के अनुसार यहीं से आधुनिक ढंग से पूँजीपति तथा श्रमिकों में संघर्ष प्रारम्भ होता है। यही संघर्ष पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त कर समाजवाद तथा आगे चलकर साम्यवाद के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा।

मूल्यांकन

मार्क्सवाद की ऐतिहासिक भौतिकवादी व्याख्या एकपक्षीय, अपूर्ण तथा अतिशयोक्तियों से परिपूर्ण है। इतिहास की आर्थिक व्याख्या के साथ साथ और भी अन्य व्याख्याएं हैं। नीतिशास्त्र सम्बन्धी, राजनीतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक आदि सभी ऐतिहासिक व्याख्याएं हैं। भौतिकवादी व्याख्या महत्त्वपूर्ण होते हुए भी सब

[illegible] नहीं है। न इसे समाज की सम्पूर्ण व्याख्या कहा जा सकता है। विभिन्न युगों मे आर्थिक उत्पादन और वितरण प्रणाली से सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धित रहे हैं। किन्तु समस्त इतिहास को आर्थिक तत्वों की पृष्ठभूमि के आधार पर नहीं समझा जा सकता। कार्ल मार्क्स के इस कथन में अतिशयोक्ति है कि परिवर्तन केवल आर्थिक तत्वों के कारण ही होते हैं।

इतिहास मे इस प्रकार के कई उदाहरण हैं कि राजप्रासादों में होने वाले षड्यन्त्र, व्यक्तिगत द्वेष, धार्मिक विरोध आदि ने भी इतिहास के क्रम मे बड़े बड़े परिवर्तन किये हैं। मध्ययुगीय योरोप का इतिहास वास्तव मे धर्म संघर्ष का इतिहास रहा है। भारत मे मुस्लिम काल मे कई बादशाहों ने जज़िया कर लगाया। इसका कारण आर्थिक कम किन्तु धार्मिक कट्टरता तथा धार्मिक विरोध अधिक था। भारत विभाजन तथा पाकिस्तान का निर्माण आर्थिक कारणों से नहीं, धार्मिक आधार पर हुआ था।

विश्व समाज मे कुछ ऐसे महान व्यक्ति भी हुए हैं जैसे बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि जिन्होंने सामाजिक जीवन, सामाजिक मूल्यों एवं धारणाओं मे मूलभूत परिवर्तन किए। ऐसा भी कहा जाता है कि मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी है। वह केवल भौतिक आवश्यकताओं से ही प्रेरित नहीं होता। गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वामी ने, इसके विपरीत, भौतिक सुख को त्याग आध्यात्मिक मार्ग को अपना कर धार्मिक क्रान्तियों को जन्म दिया। इन सब परिवर्तनों की व्याख्या भौतिकवाद के आधार पर नहीं की जा सकती है।

मार्क्सवाद मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक तथ्यों की उपेक्षा करता है। मनुष्य केवल सम्पत्ति प्राप्ति की भावना से ही नहीं किन्तु अहंकार, प्रतिस्पर्द्धा, लोभ, आनन्द, नारी आदि की भावना से भी काम करते हैं। फ्राइड ने काम वासना को ही मनुष्य जीवन मे सब से अधिक प्रेरक-तत्व माना है।

हेलोवेल (W. H. Hallowell) के अनुसार महान वैज्ञानिक आविष्कारकों में भी शायद ही कोई आर्थिक कारणों से प्रेरित हुआ हो। "जितनी भी सौन्दर्य सृष्टा-कृतियाँ है, वह अर्थशास्त्र से उतनी ही दूर हैं जितना अर्थशास्त्र से विज्ञान दूर है।"[34]

कार्ल मार्क्स ने आर्थिक परिवर्तनों के आधार पर समाज को जिन अवस्थाओं में विभाजित किया है उसकी ऐतिहासिकता सन्दिग्ध है। आदिम साम्यवादी अवस्था, दास अवस्था आदि के बारे में विषय मे कुछ नहीं कहा जा सकता है। मानवशास्त्र (Arthopology) आदिम साम्यवाद के विवरण का समर्थन नहीं करता। मार्क्स यह भी कहता है कि समाज इन तमाम अवस्थाओं से निकल कर समाजवादी एवं साम्यवादी अवस्थाओं में प्रवेश करेगा। समाज विकास का यह विश्लेषण यूरोपीय समाज के सन्दर्भ में सही हो सकता है। अफ्रीका मे अभी भी कई ऐसी जातीय सभ्यताएँ

[34] उद्धृत, आशीर्वादम्., राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 613.

है जो जनजातीय युग के बाहर ही नहीं निकल पाई है। जो भी अर्थात् राष्ट्र श्रम तक इस अवस्था में है व पूँजीवादी अवस्था को लाँघ कर समाजवादी या प्र अवस्था की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकार समाज विकास प्रक्रिया एवं क्रम भी असत्य होता जा रहा है। मार्क्सवाद के अनुसार साम्यवादी अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था पर आकर विकास क्रम रुक जायेगा। यह विचार व्यक्त कर मार्क्स स्वयं ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आक्रमण करता है। द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के अनुसार विकास क्रम अवरुद्ध नहीं होता विकास प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

इस सम्बन्ध में मार्क्सवाद में और भी अन्तर्विरोध दिखाई देता है। एक ओर तो मार्क्स एवं एन्जिल्स नियतिवादी हैं और उनके अनुसार जो कुछ भी होता है वह भौतिक परिस्थितियों के कारण होता है। वे मनुष्य को परिस्थितियों का दास बनने देते हैं। दूसरी ओर वे मानव प्रयत्नों को महत्त्व देते हैं। उनके शब्द "अब तक दार्शनिक ने विश्व का विभिन्न प्रकार से निर्वचन किया है, वास्तविक कार्य उसको बदलना है"— कार्यशीलता को प्रोत्साहित करते हैं। इस प्रकार मार्क्सवाद दो विरोधी धारणाओं में उलझा प्रतीत होता है।

यह कहना भी सत्य नहीं है कि किसी भी प्रकार के परिवर्तन में आन्तरिक परिस्थितियों का ही प्रभाव पड़ता है। बाह्य परिस्थितियाँ भी आन्तरिक परिवर्तनों को प्रभावित करती हैं। भारतीय समाज में जो भी परिवर्तन हुए हैं उनमें कुछ बाहरी आक्रमणों का परिणाम हैं। मुसलमानों तथा अंग्रेजों के भारत में आने से देश में कई प्रकार के समन्वय दृष्टिगोचर होते हैं।

मार्क्स का कहना था कि जिनके पास आर्थिक शक्ति होती है वे ही राजनीतिक सत्ता का उपभोग करते हैं, उन्हीं का राज्य सत्ता पर नियन्त्रण रहता है। यह विचार सही नहीं है। वर्तमान युग में सैनिक क्रान्तियों द्वारा परिवर्तन भी हुए हैं तथा सैनिक शक्ति के आधार पर राज्य सत्ता पर नियन्त्रण किया गया है। इस प्रकार मार्क्सवाद का यह सिद्धान्त भ्रान्तियों से पूर्ण किन्तु आंशिक सत्य है।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त
Theory of Surplus Value

कार्ल मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का विवेचन अपनी पुस्तक 'दास कैपिटल' (Das Capital) में किया है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि, प्रथम, मूल्य निर्धारण का आधार क्या है। द्वितीय, इसके द्वारा वह यह भी बतलाना चाहता था कि पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिक का शोषण किस प्रकार किया जाता है। उपरोक्त तथा कुछ अन्य आर्थिक कारणों से कार्ल मार्क्स के आर्थिक विचारों में अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का महत्त्व-पूर्ण स्थान है।

मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मूल्य सिद्धान्त (Theory of Value) पर आधारित है। इसलिये 'अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त' समझने के लिए मूल्य से सम्बन्धित कुछ सह-सिद्धान्तों को समझना आवश्यक है। सर्वप्रथम, मार्क्स उपयोग-मूल्य (Value in Use) तथा विनिमय-मूल्य (Value in Exchange) के अन्तर को स्पष्ट करता है। उपयोग-मूल्य किसी वस्तु की उपयोगिता है जो मानव आवश्यकता की संतुष्टि करती है। विनिमय-मूल्य वस्तुओं का अन्य वस्तुओं से विनिमय का अनुपात है। यह विनिमय का अनुपात वस्तुओं की भिन्न-भिन्न उपयोगिता पर निर्भर करता है। किन्तु विनिमय-मूल्य, उपयोग मूल्य पर *निर्भर नहीं करता। उपयोगिता* द्वारा मूल्य का निर्धारण नहीं होता। प्रकृति द्वारा दी गई पेड़ की लकड़ी की उपयोगिता तथा उपयोग-मूल्य तो हैं, विनिमय-मूल्य नहीं। किन्तु पेड़ पर श्रम का प्रयोग होने ही उसका विनिमय-मूल्य प्रारंभ हो जाता है। किसी भी वस्तु के विनिमय मूल्य के लिए श्रम का प्रयोग आवश्यक है। वस्तुओं का विनिमय इसलिये होता है क्योंकि सभी वस्तुओं में श्रम लगा है।

किसी वस्तु के उत्पादन में कितना श्रम कितने समय तक लगाया गया, इस आधार पर ही मार्क्स अपने अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त का विकास करता है। श्रम-समय से मार्क्स का अभिप्राय उस अवधि से है जो समाज की परिस्थितियों में औसतन वस्तु उत्पादन के लिए आवश्यक हो। वस्तु उत्पादन में श्रम-समय की न्यूनता या अधिकता से ही वस्तु का कम या अधिक मूल्य होता है।

अतिरिक्त मूल्य-सिद्धान्त की व्याख्या निम्नलिखित कई ढंग से की जा सकती है:—

(i) श्रमिक के पास स्वयं के उत्पादन साधन नहीं होते। वह अपने श्रम और सेवाओं को बेचता है। इस प्रकार श्रम अन्य वस्तुओं की ही तरह खरीदा और बेचा जाता है। श्रम का क्या मूल्य है? कार्ल मार्क्स श्रम का उपयोग-मूल्य (Use-Value) और विनिमय-मूल्य (Exchange-Value) में अन्तर बतलाता है। उपयोग-मूल्य का तात्पर्य श्रम द्वारा निर्मित वस्तु का मूल्य है। श्रम का विनिमय-मूल्य श्रमिक का उतना भोजन, कपड़ा, रहने की जगह है जो सिर्फ उसके जीवन अस्तित्व को बनाये रखने के लिये पर्याप्त हो। मार्क्स ने इसे मजदूरी का कठोर नियम (Iron Law of Wages) कहा है। *मार्क्स के अनुसार पूँजीपति श्रमिक को सिर्फ उसका* विनिमय-मूल्य ही देता है और स्वयं उपयोग-मूल्य लेता है। श्रम का विनिमय-मूल्य और उपयोग-मूल्य का अन्तर ही अतिरिक्त-मूल्य (Surplus Value) है।[35]

(ii) अन्य शब्दों में, श्रमिक को अपने मामूली जीवन निर्वाह के लिए थोड़ी बहुत जो कुछ भी मजदूरी दी जाती है जब वह उससे अधिक उत्पादन करता है, वही अतिरिक्त मूल्य है। उदाहरणार्थ, एक मजदूर एक दिन 10 घंटे कार्य करता है लेकिन जितनी मजदूरी उसे दी जाती है उतना कार्य

35 Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, pp. 418-21.

वह 4 घण्टों में ही कर लेता है। शेष छः घण्टे के कार्य का मूल्य उसे नहीं मिलता। यह पूँजीपति ले लेता है। यही अतिरिक्त मूल्य है।

(iii) या, एक मजदूर दिन भर में अपनी श्रम शक्ति के विनिमय-मूल्य से कहीं अधिक मूल्य उत्पन्न करता है। इन दोनों का ही अन्तर अतिरिक्त मूल्य है।

(iv) इसी सिद्धान्त को एक अन्य प्रकार से और प्रस्तुत किया जा सकता है। श्रमिक को अपने श्रम और कला का समुचित मूल्य नहीं मिलता। उसे सिर्फ जीवित रहने के लिए थोड़ी सी मजदूरी ही मिलती है। इस श्रम का बहुत बड़ा भाग ब्याज, किराया और लाभ के रूप में पूँजीपति को मिलता है। वास्तव में ये तीनों तत्व—*ब्याज किराया और लाभ ही अतिरिक्त मूल्य है।*[36]

डा० आशीर्वादम् द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार जितना मूल्य श्रमिकों के निर्वाह के लिए आवश्यक है उसके अतिरिक्त जो मूल्य उन्होंने उत्पादित किया वह अतिरिक्त मूल्य है। पूँजीपति श्रमिकों को केवल निर्वाह के लिए मजदूरी देकर उनसे इतना श्रम करवाते हैं कि उनके द्वारा उत्पन्न वस्तुओं का बाजार मूल्य उनकी मजदूरी से अधिक होता है। इस अतिरिक्त मूल्य को पूँजीपति हड़प लेते हैं। संक्षेप में पूँजीपति लाभ किराया ब्याज के रूप में अतिरिक्त मूल्य का स्वयं ले लेते हैं और उसका उपयोग उत्पादन बढ़ाने, अधिक श्रमिकों को काम पर लगाकर निरन्तर अधिक से अधिक अतिरिक्त मूल्य की प्राप्ति करने में करते हैं।[37]

मार्क्स के अनुसार पूँजी के द्वारा कोई भी वस्तु निर्मित नहीं की जा सकती। पूँजी स्वयं ही श्रम के द्वारा निर्मित होती है। इसलिए पूँजीपति का अतिरिक्त मूल्य पर कोई अधिकार नहीं होता। पूँजीपतियों द्वारा अतिरिक्त मूल्य को हड़प जाना एक प्रकार की चोरी और श्रमिकों का शोषण है।

अतिरिक्त मूल्य पूँजी या मशीन से प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह सिर्फ श्रम को लगाकर ही सम्भव होता है। अधिक अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करने के लिए पूँजीपति कई उपाय काम में लेते हैं जैसे—प्रथम, श्रमिकों के कार्य अवधि में वृद्धि कर, भोजन समय में कमी करना। *इस प्रकार एक दिन की मजदूरी देकर उससे* अधिक कार्य लेना। द्वितीय, मशीन का प्रयोग करना। मशीन के प्रयोग से श्रमिक अधिक कार्य कर सकता है। इसका तात्पर्य अधिक उत्पादन और अधिक अतिरिक्त मूल्य। तृतीय, श्रमिक परिवार की औरतों और बच्चों को भी काम पर लगाकर तथा उस परिवार के लिए जीवनयापन योग्य मजदूरी देकर अतिरिक्त मूल्य के अनुपात में वृद्धि की जाती है। वास्तव में पूँजीपति अतिरिक्त मूल्य श्रमिक के

36 Burns, E M., *Ideas in Conflict*, Metheun & Co., London, 1963, p. 151
37 आशीर्वादम् राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 610

शोषण द्वारा ही प्राप्त करता है।[38] जब पूँजीपति अधिक से अधिक अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करते हैं उससे उनकी पूँजी में वृद्धि होती है। यान्त्रिक साधनों के प्रयोग से श्रम में बचत तथा श्रमिकों की बेकारी में वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप श्रमिकों और पूँजीपतियों में संघर्ष प्रारम्भ होता है।

मूल्यांकन

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त में पूर्ण सत्यता नहीं है। मार्क्स ने केवल श्रम को ही मूल्य निर्धारक तत्व माना है। पूँजीपतियों के लाभ का स्रोत केवल मजदूरों का श्रम ही नहीं है। वह पूँजी लगाता है, जोखिम उठाता है तथा अपनी व्यावसायिक बुद्धि एवं कौशल का प्रयोग करता है। मूल्य निर्धारण में तथा इससे मिलने वाले लाभ में इन सभी का हिस्सा होता है।

मूल्य का निर्धारण एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त के द्वारा होता है जिसे 'मांग एवं पूर्ति का सिद्धान्त, (Theory of Demand and Supply) कहते है। यह सिद्धान्त इतना सर्वव्यापी है कि मजदूर इससे प्रभावित रहे बिना नहीं रह सकते।

इसमें सन्देह नहीं कि मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त की एक बड़े ही तार्किक एवं वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या की है। वास्तव में यह अतिरिक्त श्रम का सिद्धान्त, न्यूनतम वेतन का सिद्धान्त, शोषण का सिद्धान्त आदि सब कुछ है। किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री अतिरिक्त मूल्य-सिद्धान्त को आंशिक रूप में ही सत्य मानते हैं।

वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त
Theory of Class War

मार्क्सवादी विचारधारा का एक और प्रमुख आधार वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त है। वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की आर्थिक व्याख्या तथा अन्य आर्थिक सिद्धान्तों का विस्तार एवं परिणाम है। कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो के प्रथम अध्याय में वर्ग-संघर्ष के कारण, विकास आदि की व्याख्या की गयी है। इस सिद्धान्त के द्वारा मार्क्स-एंजिल्स ने यह दर्शाया है कि सम्पूर्ण मानव जाति का इतिहास वास्तव में वर्ग संघर्ष का ही इतिहास है। इतिहास में युग-परिवर्तन तथा विकास-क्रम में भौतिक तत्वों की प्रधानता के साथ साथ मार्क्स ने प्रत्येक युग में दो परस्पर विरोधी सामाजिक वर्गों के अस्तित्व को स्वीकार किया है। किन्तु इतिहास राष्ट्रों के युद्ध, व्यक्तियों, सेनापतियों या राजाओं के कारनामों का लेखा जोखा नहीं है। मार्क्स वर्ग-संघर्ष से मानव इतिहास को समझने की कुंजी पाता है। इतिहास के प्रमुख मोड़ तथा परिवर्तन आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति के लिए विरोधी वर्गों में संघर्ष को सूचित करता है। कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो में इस सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख किया गया है:—

38 Gray, A., The Socialist Tradition, p. 331.

आज तक के सम्पूर्ण समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।

स्वतन्त्र व्यक्ति और दास, कुलीन और जनसाधारण, सामन्त और कृषि दास, संघपति और श्रमिक, सूक्ष्म में, शोषक और शोषित सदा एक दूसरे के विरोध में खड़े होकर कभी प्रत्यक्ष व कभी परोक्ष रूप से लगातार युद्ध करते रहे हैं।' 39

उपर्युक्त शब्दों में मार्क्स एवं एन्जिल्स वर्ग-संघर्ष के विचारों की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक काल और देश में समाज दो प्रमुख विरोधी वर्गों में विभक्त हो जाता है। *एक तो विशेषाधिकार प्राप्त और उत्पादन के साधनों के स्वामित्व* का छोटा सा वर्ग और दूसरी ओर एक बड़ा सर्वहारा वर्ग। दास युग में स्वतन्त्र व्यक्ति एवं दास, सामन्त काल में कुलीन तथा जन-साधारण, मध्य युग में सामन्त तथा अर्ध-दास, औद्योगिक युग में संघपति और श्रमिक तथा पूँजीवादी युग में पूँजीपति और श्रमिक वर्ग आदि का अस्तित्व एवं संघर्ष रहा है। यह संघर्ष प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में चलता ही रहा है। परिणामस्वरूप या तो समाज का क्रान्तिकारी पुनः निर्माण हुआ है अथवा संघर्षरत वर्गों का विनाश।

वर्ग-संघर्ष के सन्दर्भ में मार्क्स-ऐन्जिल्स का मुख्य उद्देश्य पूँजीवादी व्यवस्था तथा इसके अन्तर्गत पूँजीवर्ग और श्रमिक वर्ग के संघर्ष का व्यापक विवेचन करना है। *पूँजीवर्ग के विषय में उनका कहना है कि इनके पास पूँजी, कारखाने, उद्योग* आदि सब होते हैं। पूँजीवर्ग के पास समाज की सम्पूर्ण पूँजी एकत्रित रहती है। इनका ही उत्पादन के साधनों आदि पर नियन्त्रण रहता है। यह अपने को पूँजी, श्रम, लाभ आदि का स्वामी समझता है और अपनी इच्छानुसार इनका प्रयोग एवं समन्वय करता है।

दूसरी ओर श्रमिक वर्ग होता है जो उत्पादन के साधनों से वंचित है और एकमात्र अपने श्रम का स्वामी है। यह वस्तुओं का उत्पादन अपने लिये नहीं बल्कि *अपने मालिकों के लिये करता है, जिन्हें बेचकर वह लाभ कमाता है। श्रमिक अपने* श्रम को बेच कर आजीविका कमाता है, वह भूमिपति की भूमि पर काम करता है या पूँजीपति के कारखाने में वस्तु-निर्माण में सहायता देता है। जीवनयापन के लिये उसके पास अपना श्रम न्यूनतम मूल्य पर पूँजीपति के हाथ बेचने के अलावा कोई विकल्प नहीं रहता।

पूँजीवादी व्यवस्था में दोनों वर्ग एक दूसरे के पूरक एवं आवश्यक हैं। यदि श्रमिक न हों तो काम कौन करे और यदि पूँजीपति न हों तो काम एवं मजदूरी कौन दे। *किन्तु दोनों वर्गों को एक दूसरे की चाहे कितनी ही आवश्यकता क्यों न हो उनके हित* परस्पर विरोधी हैं। क्योंकि एक वर्ग का लाभ दूसरे वर्ग को हानि पहुँचा कर ही हो

39 Marx and Engels, *Manifesto of the Communist Party*, pp 40—41

सकता है। पूंजीपति मजदूर को कम से कम मजदूरी देकर अधिक से अधिक काम लेकर लाभ प्राप्त करना चाहते हैं। इसके विपरीत श्रमिक अपने श्रम का अधिकतम मूल्य प्राप्त करना चाहता है। इस संघर्ष में श्रमिक ही नुकसान मे रहता है क्योंकि श्रम नाशवान होता है, श्रम को संग्रह करके नहीं रखा जा सकता, इसलिये या तो उसके श्रम का खरीददार मिलना चाहिये अन्यथा उदर-पोषण की समस्या प्रतिदिन सामने बनी रहती है। लेकिन पूंजीपति के सामने इस प्रकार की कठिनाई नही होती। वह पूंजी लगाने के लिये प्रतीक्षा कर सकता है। चूंकि पूंजी नाशवान नही होती इसलिये वह श्रमिकों को अपने सामने झुकने के लिये विवश कर सकता है। पूंजीपतियों के हाथों से श्रमिकों का दमन एवं शोषण होता है। इस प्रकार एक वर्ग शोषक और दूसरा शोषित हो जाता है।

कार्ल मार्क्स की यह धारणा थी कि पूंजीवर्ग और सर्वहारावर्ग में वर्ग-संघर्ष अनिवार्य है तथा अन्त मे पूंजीवर्ग का विनाश और सर्वहारावर्ग की विजय निश्चित है। मार्क्स पूंजीवर्ग का विनाश और वर्ग-संघर्ष के दो पक्षो पर प्रकाश डालता है। प्रथम, पूंजीवादी व्यवस्था इस प्रकार का है कि इसमे स्वयं ही इसके पतन एवं विघटन के तत्त्व निहित है। इसकी आन्तरिक दुर्बलताएं तथा कार्यप्रणाली स्वयं के विनाश की ओर अग्रसर करेगी। द्वितीय, पूंजीवादी प्रणाली किस प्रकार वर्ग-संघर्ष की ओर अग्रसर करती है तथा सर्वहारावर्ग किस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकता है।

पूंजीवादी अर्थतन्त्र के स्वयं-विघटन की व्याख्या करते हुए मार्क्स इसके विनाश कारणों पर प्रकाश डालता है जैसे—

(i) पूंजीवादी व्यवस्था मे उत्पादन व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से होता है।
(ii) पूंजीवादी व्यवस्था स्पर्द्धा पर आधारित है परिणामस्वरूप छोटे-छोटे पूंजीपतियों का उन्मूलन हो जाता है। ये छोटे-छोटे पूंजीपति बड़े-बड़े पूंजीपतियों के विरोधी और सर्वहारा वर्ग के समर्थक हो जाते है।
(iii) यह बड़े-बड़े पूंजीपतियों के एकाधिकार को स्थापित करता है।
(iv) पूंजीपति अपनी पूंजी का देश विदेश मे प्रसार कर अधिकाधिक लाभ और पूंजी-संचय का निरन्तर प्रयत्न करते है।
(v) पूंजीवादी अर्थतन्त्र मे समय-समय पर आर्थिक संकट उत्पन्न होते है। मशीनों के प्रयोग तथा अति-उत्पादन संकट से श्रमिकों मे बेकारी तथा असन्तोष फैलता है।
(vi) पूंजीपति अधिक अतिरिक्त मूल्य का सृजन कर श्रमिक का शोषण करता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है।

जब भी श्रमिकों को अपने शोषण का ज्ञान हो जाता है वे इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं करेंगे। इस शोषण प्रक्रिया के परिणामस्वरूप श्रमिकों मे वर्ग-चेतना

का प्रादुर्भाव होता है। वे अपने अधिकारों और मांगों के प्रति जागरूक होते हैं। जैसे ही उनमे यह चेतना आयेगी वैसे ही मजदूर संगठित रूप से अपनी मांगें पूरी करने को प्रवृत्त होंगे।

चूंकि पूंजीपति अधिक लाभ कमाने के लिए देश-विदेशों में अपने उद्योग, कारखाने खोलते हैं, पूंजीवादी व्यवस्था एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बन जाती है। इससे व्यापक रूप से श्रमिकों का शोषण होता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय वर्ग-चेतना और संगठन को प्रोत्साहन मिलता है। श्रमिकों की संख्या में वृद्धि होती है और शोषण के परिणामस्वरूप वे अधिक संगठित होते हैं। कोकर के शब्दों में—

"पूंजीवादी प्रणाली मजदूरों की संख्या बढ़ाती है, उन्हें वह सुसंगठित समुदायों में एकत्र कर देती है, उनमें वर्ग-चेतना का प्रादुर्भाव करती है, उनमें परस्पर सम्पर्क तथा सहयोग स्थापित करने के लिए विश्वव्यापी पैमाने पर साधन प्रदान करती है, उनकी क्रय-शक्ति को कम करती है, और उनका अधिकाधिक शोषण करके उन्हें संगठित प्रतिरोध करने के लिए प्रोत्साहित करती है।"[40]

श्रमिकवर्ग की चेतना और संगठन को पूंजीपति दबाने का प्रयत्न करेंगे, इससे वर्ग-चेतना आन्दोलन का रूप लेगी। श्रमिकों को संगठित होने व क्रांति का आह्वान करते हुए कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो के अन्तिम वाक्यों में मार्क्स एवं ऐंजिल्स ने लिखा है,—

'साम्यवादी अपने विचारों व लक्ष्यों को छुपाने से घृणा करते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि उनके उद्देश्य तभी प्राप्त हो सकते हैं जब कि वर्तमान सामाजिक दशाओं को शक्तिपूर्वक समाप्त किया जाये। शासक वर्ग को साम्यवादी क्रान्ति के समक्ष कांपने दो। सर्वहारा वर्ग को अपनी जंजीरों के अलावा और कुछ नहीं खोना है। उन्हें विश्व पर विजय पाना है। समस्त देशों के मजदूरो एक हो।"[41]

मूल्यांकन

मार्क्स-ऐंजिल्स प्रत्येक समाज को दो वर्गों पूंजीवर्ग तथा सर्वहारावर्ग-मे विभाजित करते हैं। उनके ये विचार सही नहीं हैं। प्रथम, वर्ग-भेद उतना स्पष्ट नहीं होता जितना कि मार्क्स आदि ने माना है। प्रत्येक समाज में कई वर्ग होते हैं जिनका वर्गीकरण करना भी दुष्कर रहता है। वर्गों के निर्माण और पुन निर्माण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। दूसरे, यह भी सही नहीं है कि सिर्फ आर्थिक आधार पर पूंजीवर्ग और सर्वहारावर्ग ही हों। आजकल धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक बुद्धिजीवी, कृषि आदि कई वर्ग होते हैं।

40 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 55

41 Marx and Engels, Manifesto of the Communist Party, p 69

वर्ग-संघर्ष केवल आर्थिक वर्गों तक ही सीमित नहीं रहता है। धर्म, जाति, नस्ल के आधार पर कई संघर्ष हुए हैं। नात्सी और यहूदियों का मूलतः नस्ल सम्बन्धी संघर्ष था। अमेरिका में नीग्रो व्यक्तियों के साथ भेदभाव का कारण मुख्यतः आर्थिक नहीं है। मार्क्स की यह धारणा कि मनुष्य के सारे संघर्षों का स्रोत वर्ग-संघर्ष है, अमान्य है।

वर्ग-संघर्ष के अवसर अब कम होते जा रहे हैं। आजकल अनेक समाजवादी देश वैज्ञानिक कदम उठा कर श्रमिक वर्ग की अवस्था को सुधारने का प्रयत्न कर रहे हैं तथा सफल भी हुए हैं। न्यूनतम मजदूरी, श्रमिकों को आवास व्यवस्था, पेन्शन व्यवस्था, शिक्षा एवं स्वास्थ्य सुविधाएँ जुटाने से श्रमिकों का शोषण तो दूर रहा उनके मन में वर्ग संघर्ष की भावना ही घर नहीं कर पाती।

आधुनिक युग में एक नवीन शक्तिशाली वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ है। यह है मध्यम वर्ग। इसी वर्ग में प्रबन्धक, कुशल कारीगर, अफसर, वकील, डॉक्टर, इंजीनियर आदि सम्मिलित हैं। मध्यम वर्ग किसी भी राज्य में बहुमत में रहता है। इसकी मनोवृत्ति भी सामान्यतः मध्यमार्गीय रहती है जो पूँजीवादी और सर्वहारावादी प्रतिवादिता का समन्वय करने का प्रयत्न करती है। इस वर्ग ने दो वर्ग सिद्धान्त को ही गलत कर दिया है तथा पूँजीपति और श्रमिक वर्ग में संघर्ष के अवसर भी लगभग समाप्त कर दिये हैं।

वर्ग-संघर्ष के लिये कार्ल मार्क्स विश्व के श्रमिकों को एक होने का आह्वान करता है ताकि समूचे विश्व से पूँजीवाद को उखाड़ फेंका जाय। इस सम्बन्ध में मार्क्स राष्ट्रीय भावना के महत्त्व को बड़ा ही कम आंकता है। प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्ध सहित कई युद्ध पूँजीवर्ग ने अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए लड़े हैं लेकिन फिर भी विश्व के श्रमिक वर्ग ने एक एवं संगठित होकर भाग नहीं लिया। यही नहीं मजदूरों ने अपनी-अपनी सरकारों को पूर्ण सहयोग दिया। प्रत्येक देश का व्यक्ति सामान्यतः मातृभूमि और राष्ट्रीय भावना से अधिक प्रभावित होता है न कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिकवाद से। आजकल साम्यवादी राज्यों में भी जितनी राष्ट्रीयता की प्रबल भावना है उतना अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद सहयोग नहीं। चीन, युगोस्लाविया, उत्तरी वियतनाम के साम्यवादी अपने राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के लिये न्यौछावर नहीं कर सकते। यही नहीं, इस समय साम्यवादी राज्यों में ही संघर्ष चल रहा है। चीन तथा रूस का संघर्ष इस बात का प्रमाण है। ये विचारधारा को नहीं, राष्ट्रीय हितों को ही प्राथमिकता देते हैं।

इसके विपरीत तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में पूँजीवादी राज्य, जैसे अमेरिका तथा उग्र साम्यवादी राज्य, जैसे चीन एक दूसरे के प्रति सहयोग के लिये हाथ बढ़ा रहे हैं। इन परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूँजी-

वादी और साम्यवादी राज्यों का वर्ग-संघर्ष न तो कुछ मतलब ही रखता है और साथ ही साथ असम्भव भी होता जा रहा है।

वर्ग-संघर्ष एक खतरनाक और हानिकारक सिद्धान्त है। यह वर्ग घृणा की शिक्षा देता है। किसी भी देश के अन्दर यह राष्ट्रीय एकता एवं सुरक्षा के लिये स्थाई खतरे के रूप में अस्तित्व ग्रहण कर लेता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शांति, सहयोग, भाई-चारे के मार्ग में वर्ग-संघर्ष एक बाधा है।

सर्वहारा अधिनायकत्व (Dictatorship of the proletariat)

मार्क्स तथा ऐन्जिल्स के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था को क्रान्ति द्वारा नष्ट करने के तुरन्त बाद ही राज्य-विहीन, वर्ग-विहीन, शोषण-रहित साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना होना असम्भव है। इसके उद्देश्य की उपलब्धि में कुछ समय लग जायेगा। **इसलिए पूँजीवाद की समाप्ति के बाद एक नई व्यवस्था की स्थापना होगी जिसे 'सर्वहारा अधिनायकत्व' कहा गया है।** इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज तथा राज्य की समस्त शक्ति श्रमिकों के हाथों में आ जायेगी। सर्वहारा वर्ग राज्य के समस्त उपकरणों, अभिकरणों तथा उत्पादन के साधनों आदि को अपने नियंत्रण में करेगा।

सर्वहारा अधिनायकत्व स्थाई नहीं किन्तु एक संक्रमणकालीन (transitional) व्यवस्था होगी। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व तब तक बना रहेगा जब तक पूँजीवादी व्यवस्था के समस्त अवशेषों को समाप्त नहीं कर दिया जाता तथा साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना का कार्यक्रम पूरा नहीं हो जाता। यह व्यवस्था अन्तिम साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए अग्रगामी होगी।

सर्वहारा अधिनायकत्व में राज्य संस्था का अस्तित्व बना रहेगा। श्रमिक वर्ग द्वारा राज्य के माध्यम से पूँजीवर्ग के अवशेषों का पूर्ण उन्मूलन किया जायेगा ताकि पूँजीवादी व्यवस्था का भविष्य में किसी भी रूप में प्रादुर्भाव न हो सके।

संक्रमणकालीन सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत केवल समाजवाद की (साम्यवाद की नहीं) स्थापना होगी जिसके अन्तर्गत—

प्रथम, उत्पादन तथा वितरण आदि के साधन सम्पूर्ण समाज की सम्पत्ति होंगे। इनका प्रयोग किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष के हित में नहीं किन्तु सम्पूर्ण समाज के लिए किया जायेगा।

द्वितीय, उत्पादन नियोजित (planned) ढंग से होगा जिसके अन्तर्गत उत्पादन के साधन तथा मानव श्रम का योजनाबद्ध प्रयोग किया जायेगा।

तृतीय, आर्थिक जीवन प्रतियोगिता की समाप्ति तथा इससे उत्पन्न अपव्यय का उन्मूलन किया जायेगा।

चतुर्थ, इस व्यवस्था में पूर्ण समानता या वस्तुओं का समान वितरण नहीं होगा। समाजवादी समाज 'प्रत्येक से उसकी योग्यतानुसार काम और प्रत्येक को उसके काम के अनुसार वेतन', सिद्धान्त पर आधारित होगा। कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो में इस कार्यक्रम की कुछ विस्तृत रूपरेखा दी गई है।

साम्यवादी व्यवस्था (The Communist Order)

सर्वहारा वर्ग अधिनायकत्व और समाजवादी व्यवस्था सिर्फ संक्रान्ति काल के लिए ही रहेगी। यह पूंजीवादी ढांचों के विनाश और अन्तिम साम्यवादी व्यवस्था के बीच का युग रहेगा। सर्वहारा समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादन शक्तियों का विकास, भौतिक परिस्थितियों तथा वातावरण में परिवर्तन के साथ-साथ समाज, राज्य, परिवार, सम्पत्ति, धर्म आदि के विषय में मनुष्य के दृष्टिकोण एवं चरित्र में परिवर्तन होगा। इसके बाद मनुष्य एक नई सामाजिक अवस्था में प्रवेश करेगा। मार्क्स के अनुसार यह साम्यवादी व्यवस्था होगी। साम्यवाद ही मनुष्यों का अन्तिम उद्देश्य और समाज के विकास की अन्तिम अवस्था होगी। मार्क्स और ऐंजिल्स के अनुसार साम्यवादी व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ होंगी—

(i) राज्य का लोप (Withering away of the State)—साम्यवाद के अन्तर्गत राज्य लुप्त हो जाएगा। राज्य द्वारा पूंजीवर्ग तथा भू-स्वामी वर्ग अन्य वर्गों का शोषण करते हैं। राज्य एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर दबाव डालने तथा शोषण करने का साधन रहा है। यह उच्च वर्ग की सम्पत्ति और विशेषाधिकारों की रक्षा करता रहा है। राज्य वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति है। किन्तु साम्यवाद में वर्ग-भेद तथा शोषण का अन्त हो जायेगा, इसलिए इस स्थिति में राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी। राज्य का उन्मूलन करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी वह स्वयं ही मर जायेगा।

(ii) यह वर्ग-विहीन व्यवस्था होगी। समाज में सभी वर्गों की समाप्ति हो जाएगी।

(iii) यह शोषण-विहीन व्यवस्था होगी। जब समाज में शोषण करने वाले वर्गों का विनाश होगा तब एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण का अन्त स्वतः ही हो जायेगा।

(iv) परिवार, सम्पत्ति तथा धर्म का लोप—वैयक्तिक परिवार और सम्पत्ति का उदय साथ ही साथ हुआ था। साम्यवादी व्यवस्था में इनका लोप हो जायगा। परिवार की समाप्ति के साथ धर्म का भी लोप हो जायेगा। पूंजीवादी एवं मध्य-वर्गीय नैतिकता के स्थान पर सर्वहारा वर्ग की नैतिकता होगी।

(v) राज्य का स्थान एक ऐसा सामाजिक उपकरण लेगा जो उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण और उसकी व्यवस्था कर सके। साम्यवाद में समाज एक

परिवार की भांति होगा। इस व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन इतना होगा कि वस्तुओं का वितरण काम के अनुसार नहीं आवश्यकता के आधार पर होगा मार्क्स ने साम्यवादी अवस्था का चित्रण करते हुए लिखा है—

> साम्यवादी समाज की अन्तिम अवस्था मे जब कि श्रमविभाजन की व्यवस्था से उत्पन्न व्यक्ति की दासतापूर्ण पराधीनता नष्ट हो जाएगी, शारीरिक परिश्रम तथा बौद्धिक परिश्रम का पारस्परिक विरोध समाप्त हो जायगा, परिश्रम जीवन का साधन ही नहीं बल्कि जीवन की उच्चतम आवश्यकता बन जायेगा। जब व्यक्ति की सभी शक्तियों के विकास के साथ-साथ उत्पादन की शक्तियो में भी तदनुरूप वृद्धि हो जायेगी और सामाजिक सम्पत्ति के स्रोत पहिले से अधिक प्रचुरता के साथ बहने लगेंगे, तब कही पूंजीवादी अधिकारों का सीमित दृष्टिकोण पूर्णतः नष्ट होगा और समाज अपने ध्वज पर इन शब्दों को अंकित कर सकेगा—"प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यतानुसार काम, प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार उपभोग की सामग्री।"[42]

मूल्यांकन—मार्क्स ने प्रारम्भ में यूटोपियायी समाजवादियो की कटु आलोचना की है। किन्तु मार्क्स की यह कोरी कल्पना है कि राज्य स्वयं ही समाप्त हो जायगा। वास्तविकता यह है कि मार्क्स जिसे संक्रमण-काल बतलाता है उसी का अन्त होना असम्भव है। आजकल साम्यवादी राज्यों मे, विशेषतः क्रान्ति के आधी सदी के बाद भी रूस में संक्रमण-युग का अन्त नजर नहीं आता।

समस्त साम्यवादी राज्यों मे जिस प्रकार दिन-प्रतिदिन सत्ता का केन्द्रीकरण होता जा रहा है जिस तरह सत्ता का अधिनायकवादी उद्देश्यों की वृद्धि के लिये उपयोग हो रहा है, तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में साम्यवादी राज्य निरन्तर अपनी शक्ति मे अभिवृद्धि करते जा रहे हैं, इन परिस्थितियों मे राज्य के शनै शनै लोप होने की बात सोची भी नहीं जा सकती। साम्यवादी राज्य इस मार्क्सवादी सिद्धान्त का अन्धा अनुसरण कर रहे हैं तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये वे सच्चे एवं श्रद्धायुक्त प्रतीत नहीं होते। सर्वहारा अधिनायकवाद के तत्वावधान में न तो राज्य की सत्ता और शक्ति में कमी आयेगी और न राज्य की ही समाप्ति होगी। इस प्रकार जिस साम्यवादी समाज की स्थापना की बात मार्क्सवाद में कही जाती है वह स्वयं ही कोरी कल्पना है।

इस सम्बन्ध में मार्क्स मानव स्वभाव की कमजोरियों की अवहेलना करता है *शक्ति का प्राकृतिक स्वभाव है कि जो उसे प्राप्त कर लेता है वह उसे बढ़ाने और* अधिक समय तक बनाये रखने का भरसक प्रयत्न करता है। सर्वहारा-वर्ग जब

42 Marx-Engels, Selected Work, vol II, p 23

त्ता प्राप्त कर लेता है तो उसे फिर सत्ता से वंचित करना असम्भव एव अव्यावहारिक है।

मार्क्सवाद के अन्तर्गत परिवार उन्मूलन का अनुमोदन किया गया है। परिवार की समाप्ति की बात पूर्णत अव्यावहारिक तथा मानव स्वभाव की मूल प्रवृत्ति के विपरीत है। स्वय मार्क्स भी एक पारिवारिक व्यक्ति थे तथा उनके जीवन मे उनकी पत्नी के महत्व की अवहेलना नही की जा सकती। इनके अतिरिक्त लेनिन जैसे शीर्षस्थ मार्क्सवादी साम्यवादी व्यक्ति का अपनी पत्नी, परिवार तथा सम्बन्धियो के प्रति प्रगाढ़ प्रेम एवं श्रद्धा सर्वविदित हैं।

वैसे आजकल राज्य सत्ता मे वृद्धि को खतरनाक भी नहीं माना जाता। राज्य मनुष्य का शत्रु नही वह उसका सबसे अच्छा मित्र है। साम्यवादी अगले दरवाजे से राज्य को बाहर निकालता है और पिछले दरवाजे से उसे किसी अन्य रूप मे वापस ले आता है।

शक्ति-संघर्ष द्वारा विरोधी वर्गों का उन्मूलन कर जो भी व्यवस्था स्थापित की जाती है उसे शक्ति से ही कायम रखा जा सकता है। ऐसी अवस्था को प्रत्येक क्षेत्र से विरोध का आभास बना रहता है। विरोधियों का उन्मूलन करते करते राज्य का रूप धारण कर लेता है। इस कारण संक्रमण-युग की समाप्ति तथा उसके वर्ग-विहीन, सहयोगपूर्ण साम्यवादी समाज की स्थापना एक भ्रान्ति ही लगती है।

मार्क्सवाद का सामान्य मूल्यांकन

मार्क्सवाद का विश्व भर मे बड़ा व्यापक विवेचन हुआ है। आधुनिक युग का कोई भी ऐसा विद्वान् एवं चिन्तक न होगा जिसने मार्क्सवाद के समर्थन या विपक्ष मे कुछ टीका टिप्पणी न की हो। पिछले पृष्ठों मे जब विभिन्न मार्क्सवादी सिद्धान्तों का विवरण दिया है उन्ही स्थलो पर उन सिद्धान्तो से सम्बन्धित आलोचना का भी समावेश किया गया है। यहां मार्क्सवाद का सामान्य मूल्यांकन प्रस्तुत है।

पुनर्विचारवादियों या संशोधनवादियों (Revisionists) द्वारा मार्क्सवाद की आलोचना

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण तथा बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे मार्क्सवाद विचार एव विवाद का प्रमुख केन्द्र बन गया। दिन-प्रतिदिन इसकी आलोचना करने वालों की संख्या मे वृद्धि हो रही थी। बहुत से समाजवादियों ने यह स्वीकार किया कि मार्क्सवाद की जो आलोचना हो रही है उनमें कुछ तथ्य भी हैं। इसके अलावा परिस्थितियों मे भी परिवर्तन होता जा रहा था। इन बदलती हुई परिस्थितियों के सदर्भ मे मार्क्सवाद कुछ पिछड़ी हुई सी विचारधारा प्रतीत होने लगी। इसे परिस्थितियों के अनुकूल या परिस्थिति-सगत बनाना आवश्यक था। इसलिए कुछ समाजवादियों ने मार्क्सवाद पर पुनः विचार करने, उसकी त्रुटियों को दूर करने पर बल दिया। वास्तव मे इसने एक छोटे मोटे आन्दोलन का रूप

धारण कर लिया। वे जो मार्क्सवाद में पुनः विचार कर संशोधन करना चाहते थे उन्हें पुनर्विचारवादी या संशोधनवादी (Revisionist) कहते हैं तथा यह आन्दोलन (या इसे विचारधारा कहने की जोखिम ली जाय) पुनर्विचारवाद या संशोधनवाद (Revisionism) कहलाता है। यूरोप के विभिन्न देशों में इस प्रकार के संशोधनवादी थे जिनमें जर्मनी के एडुअर्ड बर्नस्टीन (Eduard Bernstein 1850 1932) प्रमुख थे। मार्क्सवादी समर्थकों ने संशोधनवादियों को बड़ी घृणात्मक दृष्टि से देखा। वे संशोधनवादियों की एक बड़ी सूची प्रस्तुत करते हैं। संशोधनवादियों ने मार्क्सवाद में निम्नलिखित दोषों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए बतलाया कि—

(i) पूंजीवाद का अन्त निकट नहीं है। इसलिए अनिश्चित काल तक क्रांति की प्रतीक्षा में बैठ रहना उचित नहीं,

(ii) वर्ग संघर्ष में वृद्धि नहीं हुई किन्तु पूँजीवाद के विकास के साथ साथ वर्ग संघर्ष में कमी होती जा रही है

(iii) मार्क्स के इतिहास की एक युग से दूसरे युग पर आकस्मिक छलांग की धारणा विश्वसनीय नहीं है,

(iv) इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या संकीर्ण है इतिहास निर्धारण के अन्य तत्त्व भी होते हैं

(v) मूल्य सिद्धान्त में सत्यता नहीं है केवल श्रम ही मूल्य निर्धारण का तत्त्व नहीं है तथा

(vi) उन्होंने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का भी खण्डन किया।

संशोधनवादी तत्कालीन सुधारों में विश्वास करते थे। वे मार्क्स की क्रांति साधन के स्थान पर विकासवादी-जनतान्त्रिक साधनों में विश्वास करते थे।

डग्लज जे (Douglas Jay) द्वारा मार्क्सवाद की आलोचना

प्रसिद्ध समाजवाद-शास्त्री डुगलस जे, जो लोकतान्त्रिक समाजवाद के प्रबल समर्थक हैं ने अपनी पुस्तक—Socialism in the New Society (1970) में मार्क्सवाद की कई स्थलों पर कटु आलोचना की है तथा मार्क्सवादी सिद्धान्तों का खण्डन किया है। डुगलज जे के अनुसार मार्क्सवादी सिद्धान्तों में जहां जहाँ त्रुटियां दृष्टिगोचर होती हैं उसके कुछ मूल कारण थे जिनके जाल में मार्क्स उलझा रहा। डुगलस जे के अनुसार—

(i) मार्क्स ने विज्ञान का अपने अध्ययन का जो आधार बनाया वह उस समय शैशव अवस्था में था तथा उसने कोई प्रगति नहीं कर पाई थी।

(ii) मार्क्स दूरद्रष्टा नहीं था वह अपने युग की आर्थिक, सामाजिक परिस्थिति से ही प्रभावित हुआ। इन परिस्थितियों में बाद में जैसे-जैसे परिवर्तन हुए मार्क्स के सिद्धान्त भी सत्य से दूर होते चले गये।

(iii) जिस युग में मार्क्स ने अपने विचार व्यक्त किये उस समय आर्थिक और राजनीतिक चिन्तन में बड़ा असमंजस था। उसके तथ्यों एवं नैतिक अनुमान मे बड़ी अस्पष्टता रही है।[43] मार्क्स पर बड़ा ही तीव्र प्रहार करते हुए डग्लस जे लिखते हैं:—

"मार्क्स ने कई बातों को कई तरह से त्रुटिपूर्वक ग्रहण किया जिन पर इतने लम्बे समय तक विश्वास किया गया। यह कोई विशेष आश्चर्य-जनक नही है। उसके विचार सत्य और असत्य का मिश्रण थे। यहा यह स्पष्ट करना है कि सभी बड़े धर्मों की तरह मार्क्सवाद के असाधारण अधकचरे सिद्धान्तो पर करोड़ो लोग इतने लम्बे समय तक विश्वास करते रहे।"[44]

मार्क्सवाद के अन्तर्गत धर्म की कटु आलोचना की गई है। वे धर्मविरोधी हैं तथा धार्मिक मान्यताओ पर कटु प्रहार करते है। यद्यपि मार्क्सवाद धर्म पर निर्दयतापूर्वक प्रहार करता है पर वह स्वयं मनुष्य का एक धर्म बन जाता है। हेलोवेल लिखते हैं:—

"मार्क्सवाद सिद्धान्तः धर्म को अस्वीकार करता है पर व्यवहारतः जो तीव्र भावना मार्क्सवाद के पीछे काम करती है, उसकी प्रकृति धार्मिक ही है।"[45]

एक दूसरे स्थान पर हेलोवेल ने लिखा है कि—

"मार्क्सवाद न तो दर्शन, न आर्थिक सिद्धान्त, न आर्थिक कार्यक्रम है किन्तु धर्म के रूप मे श्रमिकों को आकर्षित करता है। मार्क्स ईश्वर के बदले ऐतिहासिक आवश्यकता को, धर्म प्रिय लोगो के स्थान पर सर्वहारा वर्ग को, धर्म राज्य के स्थान पर साम्यवादी राज्य को स्थानापन्न करता है।"[46]

डा० आशीर्वादम् इसे आगे बढ़ाते हुए व्यंग लिखते हैं कि "मार्क्सवाद के अपने सिद्धान्त हैं, अपना पुरोहित वर्ग, अपने कर्मकाण्ड तथा अपने पापमोचक अनुष्ठान है।"[47] सर्वहारा-वर्ग तथा इसके अन्य समर्थक इसे विवेचनात्मक और तार्किक सत्यता

43. Jay, Douglas, Socialism in the New Society. p. 34
44. "Marx got so many things so wrong, and that so much error has been so long believed This is not really strange, if we reflect first that there was much truth mixed up with the errors which have had to be exposed here; that in all great religions, doctrines of extraordinary crudity have been believed by millions for very long periods."
Jay, Douglas, Socialism in the New Society, p 57.
45. Hallowell, J. H, Main Currents in Modern Political Thought, p 443.
46. Ibid, p 445.
47. आशीर्वादम्., राजनीति शास्त्र, द्वितीय खंड, पृ. 614.

के आधार पर नही किन्तु एक धर्मान्ध और विश्वास के रूप मे स्वीकार करते हैं। सर्वहारा-वर्ग मार्क्सवादी धर्म का बड़ा ही कट्टर अनुयायी समझा जाता है।

मार्क्सवाद की बहुत-सी धारणाएँ गलत सिद्ध हो चुकी हैं। औद्योगिक प्रगति एव वर्ग व्यवस्था को ध्यान मे रखते हुए मार्क्स ने कहा था कि साम्यवादी क्रांति पहिले अमेरिका तथा इग्लैंड मे होगी। लेकिन इसके विपरीत सर्वप्रथम साम्यवादी क्रांति रूस जैसे पिछड़े देश मे हुई। मार्क्स का यह कहना कि साम्यवादी क्रान्ति केवल औद्योगिक दृष्टि से विकसित राज्यो मे ही सम्भव है सही नही रहा। रूस तथा चीन साम्यवादी क्रान्तियो के समय औद्योगिक युग म नही आ पाये थे; वे उस समय व्यापक रूप से कृषि युग मे ही थे, लेकिन फिर भी वहाँ क्रान्तिया सम्भव हो सकी। यही नही, साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना बिना क्रान्तियो के भी हो चुकी है। पूर्वी यूरोप मे रूस द्वारा थोपी गयी साम्यवादी व्यवस्था क्रान्तियो का परिणाम नही है। भारत मे केरल म कई बार साम्यवादी शासन की स्थापना हो चुकी है जो वर्ग-सघर्ष का नही मत-सघर्ष का परिणाम है। इसने यह सिद्ध कर दिया है कि साम्य-वाद की स्थापना ससदीय प्रणाली के अन्तर्गत भी सम्भव है। एक और अन्य उदाहरण लेटिन अमरीकी राज्य चिली का दिया जा सकता है जहाँ 1970 म बिना क्रांति के साम्यवादी सत्ता ग्रहण कर चुके हैं।

मार्क्स की यह भविष्यवाणी भी सही सिद्ध नही हुई कि निर्धन अधिक निर्धन होते जायेंगे। अमेरिका तथा अन्य पूँजीवादी राज्यो मे गरीबो की हालत म काफी सुधार हुआ है। उन्हे जीवनयापन के लिये ही नही बल्कि सुख सुविधा योग्य वेतन मिलता है।

मार्क्स का पुन आगमन (The second-coming of Marx)

मार्क्सवाद की जो इतनी आलोचना हुई है तथा मार्क्स के बाद सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियो मे जो व्यापक परिवर्तन हुए हैं, बहुत से लोगों की मान्यता है कि यदि मार्क्स पुन वापस आये तो उसे अपने सिद्धान्तो तथा निष्कर्षों मे बड़े परिवर्तन एव सशोधन करने के लिये बाध्य होना पड़ेगा। इस प्रकार के विचारो को व्यक्त करने का उद्देश्य केवल मार्क्सवाद की आलोचना को अधिक गम्भीरता प्रदान करना तथा उसम सशोधन की बात को और अधिक तूल देना है। मार्क्स-वाद का जो विवेचन हुआ है इस महान विचारधारा का जो भी औचित्य है वह पहले ही स्पष्ट है।

योगदान—

कार्ल मार्क्स तथा ऐन्जिल्स न अपनी मार्क्सवादी विचारधारा से ससार को झकझोर दिया। मार्क्स एक विचारक, दार्शनिक तथा इन सबके अधिक युग-प्रवर्तक थे। उनके विचारो ने राजनीतिक चिन्तन को नया मोड़ दिया। यहाँ यह प्रश्न नही है कि

उनकी विचारधारा कहां तक सही है, किन्तु यह निर्विवाद है कि समाजवाद के सभी सम्प्रदाय मार्क्स से किसी न किसी रूप में प्रेरणा लेते हैं। आज विश्व की आधी से भी अधिक जनसंख्या मार्क्सवादी प्रभाव के अन्तर्गत है। हन्ट (R. N. Carew Hunt) के अनुसार ईसाई धर्म के अभ्युदय के पश्चात् मार्क्सवाद सबसे महान आन्दोलन था।[43]

मार्क्स ने अपने विचार कई स्रोतों से ग्रहण किए लेकिन इन सब को मार्क्स ने अपना आवरण पहनाया। मार्क्स का सबसे अधिक महत्वपूर्ण योगदान यह था कि दूसरों से उसने जो भी विचार ग्रहण किये उन्हें क्रान्तिकारी रूप प्रदान किया।

मार्क्सवाद को वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है। समाजवाद को वैज्ञानिक आधार प्रदान करना मार्क्स-ऐन्जिल्स का महत्वपूर्ण योगदान है। मार्क्स के पूर्व समाजवाद का विवेचन करने वाले दार्शनिकों ने कपोल-कल्पित धारणाओं के आधार पर यूटोपियायी आदर्श खड़े किए। किन्तु मार्क्स का दृष्टिकोण यथार्थवादी था। उसने ऐतिहासिक तथा आर्थिक अध्ययन के आधार पर वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया। उसने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उन्हें क्रमबद्ध ढंग से सम्बद्ध कर, कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित कर अपने विचारों को दर्शन का रूप प्रदान किया।

मार्क्सवाद की अन्य प्रमुख देन या जिनने व्यक्तियों को प्रभावित और आकर्षित किया निम्नलिखित हैं—

(i) इस विचारधारा ने पूँजीवाद के दोषों को विश्व के समक्ष रखा।

(ii) उन्होंने समाजवाद को श्रमिक आन्दोलन का रूप दिया।

(iii) मार्क्स-ऐन्जिल्स ने निम्न-वर्ग को समाज में एक महत्वपूर्ण स्थान दिया। मार्क्स के पहले कोई भी ऐसा विचारक नहीं हुआ जिसने समाज के पद-दलित एवं शोषित-वर्ग को इतना महत्व दिया हो। मार्क्स पहिला व्यक्ति था जिसने श्रमिक-वर्ग को समाज का आधार स्वीकार किया।

(iv) मार्क्सवाद ने यह सिद्ध कर दिया कि समाज सुधार उच्च वर्ग की देन नहीं, ये क्रान्ति द्वारा सर्वहारा–वर्ग द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं।

(v) उन्होंने मनुष्य के ईश्वरीय अङ्ग होने का खण्डन कर यह बतलाया कि मनुष्य पृथ्वी का है, इस लोक का जीवन ही उसके लिए सब कुछ है।

मार्क्सवाद के अध्ययन को एन्ड्रयू हेकर के शब्दों में समापन करना अधिक उपयुक्त लगता है। हेकर ने लिखा है :—

"मार्क्सवादी सिद्धान्त जब तक साम्यवादी विचारधारा को आधार प्रदान करता है मनुष्यों के दिल और दिमागों में भावनाएँ उभारता रहेगा। यदि आधा विश्व मार्क्स तथा ऐन्जिल्स के विचारों को सीने से लगाए हुए है तथा आधा विश्व इसके

43. Hunt, R. N. Carew., The Theory and Practice of Communism, p. 3.

अस्तित्व से ही घृणा करता है इससे दोनों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि कम से कम ये सिद्धान्तकार जो कुछ कहना चाहते हैं उसे समझें।"[49]

पाठ्य-ग्रन्थ

1 Cole G D H, A History of Socialist Thought, Vol II, Socialist Thought Marxism and Anarchism Chapter XI, Marx and Engels

2. Engels F, Socialism Utopian and Scientific

3 Gray, Alexander, The Socialist Tradition, Chapter XII, Scientific Socialism

4 Hacker Andrew, Political Theory, Chapter 13, Karl Marx and Friedrich Engels

5 Hallowell, J. H, Main Currents in Modern Political Thought Chapter 12, Karl Marx and Rise of 'Scientific Socialism'

6 Hunt, R N Carew, The Theory and Practice of Communism-An Introduction, Part I, The Marxist Basis

7 Jay Douglas, Socialism in the New Society, Part I, Ch 4, Where Marx Went Wrong Ch 5, Marxist and the Second Coming

8 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका अध्याय 5, साम्यवाद तथा अराजकतावाद

9 Kilzer and Ross, Western Social Thought, Chapter 15, Marx and 'Scientific Socialism

10 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, अध्याय 2, कार्ल मार्क्स

11 Laski, H J Karl Marx An Essay, London, 1922

12 Marx and Engels Manifesto of the Communist Party Moscow 1967

13 Mayo Henry B, Introduction to Marxist Theory

14 Sabine G H, A History of Political Theory, Chapter 33, Marx and Dialectical Materialism

15 Taylor, A J P., Introduction to the Manifesto of the Communist Party

49 Hacker, Andrew, Political Theory, p 570

2

अराजकतावाद

आधुनिक अराजकतावाद अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तथा उन्नीसवीं शताब्दी की विचारधारा है। 'अराजकता' शब्द का उद्‌भव एक ग्रीक शब्द 'अनार्किया (Anarchia) से हुआ है जिसका अर्थ 'शासन का अभाव' है। इस प्रकार शाब्दिक आधार पर अराजतावाद ऐसी विचारधारा की ओर संकेत करता है जो राज्य एवं शासन का उन्मूलन कर उसके स्थान पर राज्य-विहीन एवं वर्ग-विहीन समाज (Stateless and Classless Society) की व्यवस्था करता है, जिसमें सभी प्रकार के शोषण का अन्त और बल प्रयोग का लोप हो।

कोल (G.D.H Cole) ने अराजकतावाद को परिभाषित करते हुए लिखा है:—

> "एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में अराजकतावाद समाज के संगठन के उन सब रूपों के पूर्ण विरोध से प्रारम्भ होता है जो बाध्यकारी सत्ता पर आधारित होते हैं। एक आदर्श के रूप में अराजकतावाद का अभिप्राय उस स्वतन्त्र समाज से है जिसमें से बाध्यकारी तत्त्वों का लोप हो चुका हो।"[1]

फ्रान्सिस कोकर के शब्दों में:—

> "अराजकतावाद का सिद्धान्त यह है कि राजनीतिक सत्ता, किसी भी रूप में, अनावश्यक एवं अवांछनीय है। आधुनिक अराजकतावाद में राज्य के सैद्धान्तिक विरोध के साथ वैयक्तिक सम्पत्ति की संस्था का विरोध और संगठित धार्मिक संस्था के प्रति शत्रुता का भी समावेश है।"[2]

प्रसिद्ध अराजकतावादी क्रोपाट्किन (Peter kropotkin) ने अराजकतावाद की व्याख्या करते हुए लिखा है:—

गाडविन पंथी पादरी के पुत्र और स्वयं पादरी थे को प्रथम आधुनिक अराजकतावादी कहा जाता है। इन्होंने अपनी पुस्तक—An Enquiry Concerning Political Justice and its Influence on General Welfare and Happiness—में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए लिखा है कि यदि पूंजीवाद और मनुष्य के शोषण का अन्त कर दिया जाये तो मनुष्य आपस में प्रेम से रहेंगे, क्योंकि मनुष्य स्वभाव

"अराजकतावाद जीवन तथा आचरण का ऐसा सिद्धान्त अथवा नियम है जिसमे शासन-विहीन समाज की कल्पना की जाती है—ऐसे समाज मे *सामजस्य न तो विधि के समक्ष आत्म-समर्पण कर और न किसी अन्य शक्ति* की आज्ञा पालन कर प्राप्त किया जाता है, अपितु वह उन विभिन्न प्रादेशिक और व्यावसायिक समूहो के मध्य किये गये स्वतन्त्र सविदाओं द्वारा प्राप्त किया जाता है जिनकी रचना स्वतन्त्र रूप से उत्पादन और उपभोग के लिए तथा सभ्य जीवन की अनन्त इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति *के लिए की जाती है।*"[3]

विकास एव परम्परा

यदि राज्य-विहीन, वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन शक्ति-विहीन विचारो का ऐतिहासिक अध्ययन किया जाए तो आधुनिक अराजकतावाद अपने आप मे कोई नवीन विचारधारा नही है। चीन म लगभग ढाई हजार वर्ष पूव एक विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ जिसे टाओवाद (Taoism) कहत है। इस विचारधारा को नियन्त्रण या प्रतिबन्ध विरोधी तथा स्वतन्त्रता समर्थन की सबसे पुरानी विचारधारा माना जाता है। प्राचीन चीन म कई विचारधाराओ मे इस प्रकार के विचार मिलते है। लगभग ईसा के छ सौ वर्ष पूर्व लाओत्स (Laotse) और लगभग ईसा के 300 वष पूव चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक च्वाग-त्सु (Chuang-tzu) ने कहा था कि एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य पर शासन करना मानव स्वभाव के प्रतिकूल है। प्राचीन ग्रीक मे स्टाइक विचारधारा (Stoicism) के अग्रणीय जेनो (Zeno) ने भी एक राज्य-विहीन समाज का प्रतिपादन किया था।

पाश्चात्य विद्वानो ने अक्सर यह मत व्यक्त किया है कि पूर्व के देशो मे राजनीतिक दर्शन का अभाव रहा है। इसका वास्तविक कारण यह था कि पूर्व की विचारधाराओ मे राज्य का कम तथा स्वतन्त्रता का अधिक महत्त्व रहा है। प्राचीन भारत मे इस प्रकार की विचारधारा का प्रचलन था। शान्ति पर्व मे उल्लेख है कि प्राचीन समाज गुण (virtue) और स्वतन्त्रता (freedam) का आदर्श था। इसी ग्रथ मे एक स्थल पर उद्धृत है कि—

'न तो राज्य था और न राजा हो, न विधि था न विधान निर्माता। व्यक्ति अपनी आन्तरिक चेतना के कर्त्तव्य से एक दूसरे की रक्षा करते थे।'[4]

1 ... Marx and Dialectical Materialism

15 Taylor, A J P., Introduction to the Manifesto of the Communist Party

49 Hacker, Andrew, Political Theory, p 570.

मध्य युग में ईसाई सम्प्रदायों में भी अराजकतावाद की अभिव्यक्ति मिलती है। धर्म सुधार (Reformation) युग में पीटर शेलेस्की ने धर्म और राज्य के विषय में अराजकतावादी सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए राज्य को एक शक्ति पर आधारित संस्था मान कर उसकी निन्दा की है। पुनर्जागरण (Renaissance) युग में मानवतावादियों (Humanists) में रेबले (Rebelais) ने भी उस आदर्श जीवन का वर्णन किया है जिसमें शक्ति एवं सत्ता का कोई नियन्त्रण या प्रतिबन्ध न हो। अट्ठारहवीं शताब्दी के साहित्य-विकास में, दीदरो (Diderot) साहित्यकार का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिन्होंने व्यक्ति की स्वतन्त्रता और प्राकृतिक अधिकारों को विशेष महत्व दिया है।

कुछ आधुनिक अराजकतावादियों ने अपने विचारों का प्रतिपादन काले मार्क्स से भी पहले किया है। लेकिन इस विचारधारा को आधुनिकता की ओर ले जाने में मार्क्सवादी विचारधारा से विशेष प्रोत्साहन मिला। अराजकतावाद को भी समाजवाद की एक अलग और विशिष्ट शाखा के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। इस विचारधारा को आधुनिक ढंग से प्रतिपादित, व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध करने का श्रेय कई चिन्तकों को है।

अराजकतावाद के प्रतिपादकों को मोटे रूप से दो शाखाओं में विभाजित किया जाता है। प्रथम, व्यक्तिवादी अराजकतावादी, जो राज्य का ही विरोध नहीं करते, यथा सम्भव हर प्रकार के सामाजिक संगठन के बिना काम चलाना चाहते हैं। इसके अन्तर्गत जर्मनी के मैक्स स्टर्नर (Max Stirner, 1806–1856) तथा अमेरिका के बेन्जामिन टकर (Benjamin Tucker, 1854-1908) के नाम उल्लेखनीय हैं।

दूसरी श्रेणी में समष्टिवादी अराजकतावादी अथवा अराजकतावादी साम्यवादी आते हैं जो बाध्यकारी सत्ता का विरोध करते हैं किन्तु पारस्परिक सहयोग के आधार पर समाज व्यवस्था में विश्वास करते हैं। बाकुनिन (Bakunin, 1814-76) तथा पीटर क्रोपाट्किन (Petor Kropotkin, 1842-1921), के नाम इससे सम्बन्धित हैं। लेकिन कुछ अराजकतावादी जैसे गॉडविन (William Godwin, 1756-1836), प्रूधों (Proudhon, 1809-1865) आदि व्यक्तिवादी और समष्टिवादी अराजकतावादियों के मध्य की स्थिति अपनाते हैं।

विलियम गॉडविन (William Godwin, 1756-1836), जो कि एक काल्विनिस्ट पादरी के पुत्र और स्वयं पादरी थे को प्रथम आधुनिक अराजकतावादी कहा जाता है। इन्होंने अपनी पुस्तक—An Enquiry Concerning Political Justice and its Influence on General Welfare and Happiness—में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए लिखा है कि यदि पूँजीवाद और मनुष्य के शोषण का अन्त कर दिया जाये तो मनुष्य आपस में प्रेम से रहेंगे, क्योंकि मनुष्य स्वभाव

से विवेकशील है। इनके अनुसार राजनीतिक शक्ति अथवा सरकार एक आवश्यक बुराई है। यह शक्ति और हिंसा पर आधारित है। गॉडविन ने राज्य, सरकार, कानूनों न्यायालयों, सम्पत्ति और परिवार के उन्मूलन का समर्थन किया है।

गॉडविन ने सम्पत्ति को बहुत सी सामाजिक और नैतिक बुराइयों का मूल माना है, जो समाज में आर्थिक विषमता पैदा करती है। सम्पत्ति धनिकों में मिथ्याभिमान और गरीबों में हीनता की भावना को प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार गॉडविन ने कई सामाजिक और राजनीतिक बुराइयों की कटु निन्दा कर उनका उन्मूलन चाहा है। किन्तु इसका उद्देश्य एक ऐसी उच्च सामाजिक रचना था जिसमें विभिन्न समुदाय स्वायत्त हो।[5]

टॉमस हॉजस्किन (Thomas Hodgskin, 1787-1869) को व्यक्तिवादी अराजकतावादी की श्रेणी में सम्मिलित करते हैं। वैसे इनका अराजकतावादी होना सदिग्ध है। ये राज्यसत्ता के तीव्र आलोचक थे। उनके अनुसार कानून निर्माण की समाज में कोई आवश्यकता नहीं है। वे ऐसी व्यवस्था के समर्थक थे जिसमें कोई राजनीतिक शक्ति विद्यमान न हो तथा व्यक्तियों को स्वाभाविक अधिकार प्राप्त हो।

हॉजस्किन का विश्वास था कि 'अखिल ब्रह्माण्ड का नियमन स्थाई एवं अपरिवर्तनीय नियमों द्वारा होता है। मानव इस महान व्यवस्था का ही एक अंग मात्र है। अत: प्रति पल, प्रति क्षण उसका आचरण स्थाई तथा अपरिवर्तनीय नियमों द्वारा उसी प्रकार प्रभावित, नियन्त्रित तथा नियमित है जिस प्रकार वनस्पति का बढ़ना अथवा नक्षत्र-मण्डल की गति नियमित और नियन्त्रित है। फलत: किसी प्रकार के नियोजन अथवा व्यवस्थापन की कोई आवश्यकता नहीं। यदि व्यक्ति को बंधन मुक्त छोड़ दिया जाय तो आत्म-हित का पूर्व प्रतिष्ठित सामंजस्य प्राप्त हो जाता है।'[6]

मैक्स स्टर्नर (Max Stirner, 1806-1856) जर्मनी के रहने वाले थे। इनकी न तो ईश्वर में श्रद्धा थी, न राज्य में विश्वास। ये राज्य द्वारा निर्मित नियमों के विरोधी थे। ये एक दार्शनिक की तरह स्वयं की वास्तविकता में विश्वास करते थे।

जोसेफ प्रोधों (Pierre Joseph Proudhon, 1809–1865) सम्भवत पहला दार्शनिक था जिसने स्वयं को अराजकतावादी कहा। प्रोधों स्वतंत्रता तथा मुक्ति का प्रबल समर्थक तथा शोषण का विरोधी था। उसके विचार में "मनुष्य के द्वारा मनुष्य पर शासन प्रत्येक रूप में अत्याचार है। समाज की सर्वोच्च पूर्णता अराजकता-वादी एकता एवं व्यवस्था में ही उपलब्ध होती है।"

5 Gray, A. The Socialist Tradition p 130
6 कोकर, आधुनिक राजनीति चिन्तन, पृ० 208

प्रधों ने जनता बैंक (Bank of the People) के सम्बन्ध मे एक योजना प्रस्तुत की, जिसका कार्य 'श्रम नोट' (Labour Notes) जारी करना था। इन नोटो मे श्रम की इकाइयो का उल्लेख रहता था जिनकी माप उनकी अवधि अथवा कार्य काल से ज्ञात हो सकती थी।

प्रधो के अराजकतावादी विचारो में भी सम्पत्ति को कोई स्थान नहीं है; वह सम्पत्ति को चोरी कहता था तथा उसे शोषण से उत्पन्न मानता था। सम्पत्तिवान व्यक्ति अन्यायपूर्वक सम्पति का अर्जन करते हैं जिससे श्रमिको का शोषण होता है। राज्य इन्हीं सम्पत्तिवान व्यक्तियो के हित साधन का यंत्र है। प्रधो ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहता है जिसमे व्यक्ति सब प्रकार के राजनीतिक तथा आर्थिक बन्धनों से मुक्त होकर सहयोग तथा ऐच्छिक सघो के द्वारा सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था का प्रबन्ध करें।

अराजकतावाद को क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन तथा विचारधारा का रूप प्रदान करने का श्रेय बाकुनिन तथा पीटर क्रोपॉट्किन को है।

माइकल बाकुनिन (*Michael Bakunin, 1814–76*) के जीवनकाल मे मार्क्सवादी विचारधारा का काफी प्रचार हो चुका था और वह इस विचारधारा से किसी सीमा तक प्रभावित हुआ। बाकुनिन मानव विकास-क्रम का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करता है तथा यह बतलाता है कि प्रारम्भ काल से धर्म, सम्पत्ति और राज्य का अभ्युदय किस प्रकार हुआ। उसने धर्म, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा राज्य को मनुष्य के स्वतन्त्र विकास मार्ग मे बाधक माना है। धर्म मनुष्य की स्वतन्त्र चेतना के मार्ग मे बाधक है तथा स्वतन्त्रता को नियमित एवं सीमित रखता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति शोषण तथा असमानता पर आधारित है, राज्य शक्ति का प्रतीक और व्यक्तिगत सम्पत्ति का संरक्षक होने के नाते वर्ग संगठन का पोषक है। इन तीनों संस्थाओ का क्रान्ति द्वारा ही अन्त किया जा सकता है। इनकी समाप्ति के पश्चात् ही मनुष्य वास्तविक स्वतन्त्रता का अनुभव तथा स्वय का विकास कर सकता है।

बाकुनिन ने राज्य की समाप्ति के पश्चात् भविष्य मे सामाजिक व्यवस्था के विषय मे भी विचार व्यक्त किये हैं। उसने अपनी नई समाज व्यवस्था को संघवाद का नाम दिया। संघवाद मे सारा कार्य स्वेच्छा पर आधारित होगा तथा व्यक्ति को किसी भी प्रकार से नियन्त्रित नहीं रखा जायगा। कोकर ने बाकुनिन के संघवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—

"स्थानीय समाज मानूहिक जीवन की प्रारम्भिक इकाई होगा। (इस प्रकार के समाज को अराजकतावादी भाषा में कम्यून कहते हैं)

अनेक कम्यून मिलकर अपनी आवश्यकतानुसार बड़े बड़े संघ बना लेंगे। ये संघ भी पूर्णत: ऐच्छिक आधार पर ही बनेंगे।''7

पीटर क्रोपॉट्किन (Peter Alexander Kropotkin, 1842-1921) के विचार बाकुनिन से बहुत मिलते जुलते है। वह जीवशास्त्र का विद्वान था। अतः मानव विकास क्रम की जीवशास्त्रीय विधि से विवेचना करता है। उसके अनुसार मनुष्य स्वभाव एवं समाज में वे सब तत्त्व विद्यमान हैं जिससे मनुष्य का विकास प्राकृतिक ढग से हो सकता है। परन्तु राज्य, धर्म तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति इस विकास म बाधक है। य संस्थाएँ अन्याय, असमानता तथा शोषण की प्रवृत्ति को जन्म देती है। इनका क्रांति द्वारा उन्मूलन होना चाहिये।

राज्य की समाप्ति के बाद क्रोपॉट्किन का विश्वास था कि समाज में स्वतंत्र संस्थाएँ बनी रहेंगी जो ऐच्छिक समझौतों पर आधारित होंगी। समाज में बुराइयां, झगड़े आदि में बिलकुल ही कमी हो जायेगी क्योंकि इनको प्रोत्साहित करने वाली संस्थाएं ही समाप्त हो जायेंगी। मानव विकास में सहचर्य तत्त्व ही प्रमुख होगा न कि दमन, शक्ति और सत्ता।

वारेन (Josiah Warren, 1798-1874) को पहला अमरीकी अराजकतावादी कहा जाता है। अमेरिका में सर्वप्रथम अराजकतावादी पत्र-Peaceful Revolutionist (शान्तीवादी क्रान्तिकारी)—के प्रकाशन का श्रेय वारेन को है। कुछ समय ये ओवन के अनुयायियों की बस्ती न्यू हार्मनी में भी रहे। बाद में इन्होंने प्रधों की तरह जनता बैंक की स्थापना की जहाँ ये श्रम-नोटों को जारी करते थे ये श्रम नोट वस्तुओं के विनिमय के काम में आते थे।

ये राज्य की आवश्यकता में-विश्वास नहीं करते थे। ये राज्य को व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा दमनकारी प्रवृत्तियों का परिणाम मानते थे। राज्य-विहीन समाज की व्यवस्था के लिए इनका सुझाव था कि एक छोटी विशेषज्ञों की समिति थोड़े समझाने बुझाने के कार्यों के लिए पर्याप्त होगी।

हेनरी डेविड थोरो—(Henry David Thoreau, 1817-1862) एक और अमरीकी-अराजकतावादी थे। ये मानते थे कि मनुष्य में अच्छाई की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति स्वतन्त्र तथा विवेक-सम्पन्न इच्छा के निर्देशन म ही पूर्णता प्राप्त कर सकती है। ये अन्तरात्मा को कानून से श्रेष्ठ एवं सर्वोच्च मानते थे।

डेविड थोरो ने दासता के विरुद्ध किये जाने वाले संघर्ष में अमरीकी सरकार के विरुद्ध सक्रिय एवं निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग करने का आग्रह किया। इन्होंने भविष्य के लिए एक ऐसे समाज के आदर्श को प्रस्तुत किया जिसमें शासन को कोई स्थान नहीं होगा।

7 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ० 217.

(1) बेन्जमिन टकर (Benjamin R. Tucker, 1854-1939) अमेरिका के प्रसिद्ध अराजकतावादी थे। ये प्रूधों, ग्रीन तथा वारेन आदि से प्रभावित हुए। 1881 में टकर ने एक अर्द्ध-साप्ताहिक पत्र – Liberty–का प्रकाशन प्रारम्भ किया। 1907 तक इस पत्र का प्रकाशन चलता रहा तथा दार्शनिक अराजकतावाद के निरूपण के सम्बन्ध में अच्छी ख्याति प्राप्त की।

टकर के विचारों का आधार मनुष्य का विवेकपूर्ण आत्महित है। यह आत्म-हित मनुष्य को ऐसे समाज की ओर अग्रसर करता है जिसमें सब मनुष्य समान रूप से स्वतन्त्र हों। स्वतन्त्रता ही व्यवस्था का प्रभावकारी साधन है और उसी में सुव्यवस्था का मूल तत्व भी है। टकर समाज से राजनीतिक सत्ता के निष्कासन के पक्ष में हैं, क्योंकि राज्य ने हमेशा ही स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का उल्लंघन किया है। राज्य को स्वीकार करने का तात्पर्य स्वतन्त्रता के हनन को स्वीकार करना है। टकर राज्य के स्थान पर व्यक्तियों के स्वतंत्र समझौतों द्वारा निर्मित संस्थाओं के पक्ष में थे। इन संस्थाओं की सदस्यता तथा त्याग मनुष्य की स्वेच्छा पर निर्भर होना चाहिए।

बाकुनिन तथा क्रोपाटकिन के सिद्धान्तों का प्रचार योरोप के मजदूरों में अनेक पत्र पत्रिकाओं द्वारा किया गया तथा अनेकों दलों की स्थापनाएँ हुईं। जॉन मोस्ट (Johann Most) ने जर्मनी और संयुक्त राज्य में अराजकतावाद के लिए व्यावहारिक प्रवृत्तियों का संगठन किया लेकिन इसको विशेष सफलता नहीं मिल सकी। विध्वंसात्मक रूप में अराजकतावाद के व्यावहारिक कार्यक्रम को सबसे अधिक प्रोत्साहन रूस के शून्यवादियों (Nihilists) से मिला। शून्यवाद अराजकता-वाद से अधिक व्यापक शब्द है, इसमें अधिक उग्रवादी निषेधों का बोध होता है। यह समस्त प्रचलित एवं प्रतिष्ठित विचारों, संस्थाओं एवं मानदण्डों को अस्वीकार करता है। शून्यवाद के राजनीतिक पहलू सरगी नेचैव (Sergei Netschaive, 1848-1882) के विचारों में स्पष्ट मिलते हैं। शून्यवाद क्रांति, हिंसा, भय आदि उत्पन्न करने वाले सभी कार्य-क्रमों का समर्थन करता है।

स्पेन में भी एक नये अराजकतावादी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ जिसे अराजकता-सिन्डीकलवाद के नाम से जाना जाता था। यह अराजकतावादी सिद्धान्तों तथा सिन्डीकलवादी साधनों का सम्मिश्रण है।

वैसे अराजकतावादियों की सूची बड़ी लम्बी है। लेकिन इस सम्बन्ध में लियो टॉलस्टॉय (Count Leo Tolstoi, 1828-1910) तथा महात्मा गांधी (1869-1948) के नाम का उल्लेख और किया जा सकता है। ये सत्ता के विरोधी थे। टॉल्सटॉय को सामान्यतः अराजकतावादी माना जाता है, किन्तु महात्मा गांधी को पूर्णतः इस वाद के अन्तर्गत सीमित नहीं किया जा सकता। महात्मा गांधी तथा सर्वोदयी व्याख्याता, सत्ता विरोधी, शासन को सीमित करने, विकेन्द्रीकरण तथा स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक हैं।

अराजकतावाद के सिद्धान्त-सूत्र

अराजकतावादी चिन्तकों का अध्ययन करने से इस विचारधारा के बहुत कुछ लक्षण स्वयं ही स्पष्ट हो जाते हैं। फिर भी उन्हें विस्तारपूर्वक एवं क्रमबद्ध व्यवस्थित करने की आवश्यकता है।

मानव स्वभाव(1)

अराजकतावादी मनुष्य को स्वभावतः अच्छा, सहयोग प्रिय मानते हैं। वह एक दूसरे के साथ निःस्वार्थ सहचर जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति रखता है। हेनरी डेविड थोरो ने ट्रान्सेडेन्टलिस्ट (Transcendentalist) वर्ग के लोगों के इन विचारों का अनुकरण किया है कि मनुष्य में अच्छाई की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति है और वह अपनी स्वतन्त्र एवं विवेक-सम्पन्न इच्छा के निर्देशन में परिपूर्णता प्राप्त कर सकता है।[8]

अराजकतावादियों के अनुसार सामाजिकता मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। क्रोपॉट्किन की पुस्तक--Mutual Aid, a Factor of Evolution--मनुष्य की पारस्परिक सहयोग की प्रवृत्तियों का ही सकलन है। इससे उसमें डार्विन तथा हरबर्ट स्पेन्सर के विकासवाद का खन्डन किया है। विकास, संघर्ष एवं प्रतिस्पर्धा पर नहीं, बल्कि पारस्परिक सहयोग पर आधारित है। बाकुनिन ने मानव स्वभाव के विषय में सामाजिक समझौतों के सिद्धान्त की भी आलोचना की है जिसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों में कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं था।

वास्तव में अराजकतावादियों की पूर्ण विचारधारा का आधार मानव स्वभाव पर निर्भर करता है। एक राज्य विहीन, वर्ग विहीन, शोषण विहीन समाज की स्थापना तभी हो सकती है, जब मनुष्य में अच्छाई तथा पारस्परिक सहयोग की भावना हो।

उद्देश्य नवीन सामाजिक व्यवस्था - नकारात्मक एवं सकारात्मक दृष्टिकोण(2)

अराजकतावादी नकारात्मक एवं सकारात्मक आधार पर एक नये समाज की स्थापना करना चाहते हैं। नकारात्मक ढंग से यह व्यवस्था राज्य विहीन तथा वर्ग-विहीन होगी या समाज से उन सभी तत्वों और संस्थाओं (जैसे धर्म, परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति आदि) का उन्मूलन कर दिया जाये जो नियन्त्रण, शक्ति और शोषण के आधार हैं तथा इनको प्रोत्साहित करते हैं।

किन्तु अराजकतावाद केवल शक्ति का अभाव है, व्यवस्था का नहीं। उनके विचार सकारात्मक भी हैं। अराजकतावादी मनुष्य स्वभाव के अनुकूल समाज रचना करना चाहते हैं। इसमें प्रत्येक व्यक्ति का अपना शासन होगा तथा स्वाभाविक मानवीय

---

[8] कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 207.

प्रवृत्तियों के आधार पर स्वयं को नियन्त्रित करेगा। मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार स्वयं अस्थाई (ad hoc) एवं ऐच्छिक समुदायों का निर्माण करेंगे। इन समुदायों पर किसी भी प्रकार का बाह्य नियंत्रण नहीं होगा तथा सहकारिता के आधार पर अपने कार्यक्रम और नीति निर्धारण करेंगे। डिकिन्सन ने लिखा है कि समुदायों का एक जटिल जाल जिसमें सर्वत्र व्यवस्था रहती है, और कहीं भी बल प्रयोग नहीं होता, अराजकतावादी समाज के निर्माण की सामग्री है क्योंकि अराजकता व्यवस्था का अभाव नहीं अपितु नियंत्रण का अभाव है।[9]

सूक्ष्म में, अराजकतावादी समाज निम्नलिखित सिद्धान्तों एवं आधारों पर गठित होगा—

(i) राज्य-विहीनता
(ii) वर्ग-विहीनता
(iii) शक्ति-विहीन या बल प्रयोग रहित
(iv) स्वतन्त्रता
(v) समानता
(vi) सहयोग और सहकारिता के आधार पर ऐच्छिक और अस्थाई समुदायों का निर्माण।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समर्थन में अराजकतावादी व्यक्तिवादियों से भी आगे है। इस दृष्टि से अराजकतावाद व्यक्तिवाद का उग्र रूप है। ये स्वतन्त्रता को सर्वोच्च अच्छाई (supreme good) मानते हैं। व्यक्ति का पूर्ण विकास स्वतन्त्रता में निहित है तथा किसी भी प्रकार का नियन्त्रण अवाञ्छनीय है। अपनी पुस्तक—What is Property— में प्रूधों ने लिखा है:—

> "राजनीति स्वतन्त्रता का विज्ञान है। मनुष्य पर मनुष्य द्वारा शासन (किसी भी नाम अथवा वेश में) अत्याचार है। व्यवस्था एवं अराजकता के समन्वय में समाज अपनी पूर्णता प्राप्त करता है।"[10]

व्यक्ति को प्रत्येक प्रकार की सत्ता एवं नियन्त्रण से मुक्त करना अराजकतावादियों का प्रमुख उद्देश्य है। विशेषतः वे व्यक्ति को—

(i) नागरिक के रूप में राज्य-बन्धन से मुक्त कराना;
(ii) एक उत्पादक की हैसियत से पूंजीपति के बन्धन से मुक्त कराना;

---

9. Dickinson, Lowes, Justice and Liberty, pp. 122—23.
10 "Politics is the science of liberty. The government of man by man (under whatever name it be disguised) is oppresion. Society finds its highest perfection in the union of order with anarchy." p. 272

(iii) एक सामान्य मनुष्य के रूप में धर्म-विद्वानों (या आडम्बरवादियों) से मुक्त कराना चाहते हैं।[11]

व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध

व्यक्तिगत सम्पत्ति के विषय में अराजकतावाद एवं साम्यवाद में कोई विशेष अन्तर नहीं है। ये व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध करते हैं क्योंकि—

(i) साम्यवादियों की तरह अराजकतावादी सम्पत्ति को शोषण तथा असमानता का प्रमुख कारण मानते हैं। तभी तो प्रधों ने कहा है कि 'सम्पत्ति चोरी है।' वे व्यक्ति जिनके पास कुछ सम्पत्ति है वे विलासपूर्ण, अकर्मण्य जीवन व्यतीत करने के साथ-साथ उनमें श्रेष्ठता की भावना तथा दूसरे पर अधिकार करने की इच्छा प्रबल होती है। सम्पत्ति शोषण का साधन एवं उद्देश्य दोनों ही है। सम्पत्ति का संचय शोषण के माध्यम से ही होता है, व और अधिक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए दूसरों का शोषण करते हैं।

(ii) व्यक्तिगत सम्पत्ति स्वतन्त्र प्रतियोगिता सिद्धान्त पर आधारित रहती है और सहयोग एवं सद्भाव की उपेक्षा करती है।

(iii) अराजकतावादियों के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था का मूल आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति है। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध करने के साथ-साथ पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के भी कट्टर विरोधी थे। उनके विचार से उत्पादन किसी एक व्यक्ति के श्रम का परिणाम नहीं होता, बल्कि सम्पूर्ण समाज के श्रम का फल है। अतः सम्पत्ति पर किसी एक व्यक्ति का स्वामित्व अन्याय है, परिश्रम का फल सम्पूर्ण समाज को प्राप्त होना चाहिए। अराजकतावादी उस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं कि प्रत्येक [illegible] अपनी क्षमता के अनुसार काम करे और प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार [illegible] मिले।

(iv) सम्पत्ति विषमता इतिहास में बहुत से युद्धों का कारण रही है। गॉडविन ने अपनी पुस्तक—An Enquiry Concerning Political Justice—में यूरोप में हुए युद्धों का विवेचन किया है। उनका निष्कर्ष है कि इन युद्धों का मूल कारण सम्पत्ति में विषमता था। (पृ 813)

(v) व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर समाज दो भागों में विभाजित हो जाता है। प्रथम, सुख-भोगी वर्ग जिनका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है, अन्याय तथा श्रमिकों का शोषण करके निरन्तर अपनी पूँजी में वृद्धि करते हैं। इनका जीवन सामान्यतः स्वार्थी अनैतिक तथा विलासी होता है। दूसरे वर्ग में श्रमिक आते हैं, जिनका उत्पादन में प्रमुख योगदान रहता है, लेकिन फिर भी भूखा, वस्त्रहीन तथा

11 जाड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त—प्रवेशिका, पृ 105

मर्यादाहीन रहता है। इस प्रकार अराजकतावादी सम्पत्ति को आर्थिक विषमता और सामाजिक अन्याय का द्योतक मानते है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन करना इनका मुख्य उद्देश्य है।

धर्म का विरोध

अराजकतावादी धर्म विरोधी है। इनके अनुसार धर्म मनुष्य को अकर्मण्य अन्धविश्वासी एव भाग्यवादी बना देता है। धर्म के आधार पर मनुष्य मे कायरता आ जाती है और वह सामाजिक अन्याय को सहन करने लगता है। समय-समय पर शासक वर्ग ने भी धर्म के नाम पर जनता का शोषण किया है। धर्म अन्यायपूर्ण आर्थिक एव सामाजिक व्यवस्था की पुष्टि करने मे शासक वर्ग का सहायक होता है। गॉडविन के अनुसार व्यवस्था और स्वतन्त्रता के दो ही शत्रु है, प्रथम राज्य, तथा द्वितीय ईश्वर।[12]

प्रधो ने चर्च को न्याय का शत्रु कहा है। उसे ईश्वर मे नही मानवता मे विश्वास था। प्रधो ने अपनी पुस्तक–System of Economic Contradiction–मे ईश्वर, धर्म और नैतिकता पर एक व्यापक अध्याय लिखा है। इसमे प्रधो ने लिखा है कि—

"ईश्वर मे विश्वास करना बेवकूफी और कायरता है, ईश्वर ढोंग एवं झूठ है, ईश्वर अत्याचार और विपत्ति है; ईश्वर अशुभ है।"[13]

अराजकतावादियों के राज्य सम्बन्धी विचार

राज्य समाज मे अन्याय के समस्त कारणो जैसे सम्पत्ति, धर्म, पूंजीवादी व्यवस्था, नियन्त्रण, शक्ति आदि को आश्रय देने वाली प्रमुख सस्था है। अराजकतावादी राज्य विरोधी है और राज्य को अवांछित एव अनावश्यक मानते है। राज्य विरोध के अराजकतावादियो ने निम्नलिखित तर्क दिये हैं: —

(i) राज्य समाज की विषमताओं तथा अन्याय की निरन्तर वृद्धि के लिये उत्तरदायी है।

(ii) वर्तमान राज्य का कुछ व्यक्तियों द्वारा साधन के रूप मे प्रयोग किया जाता है। राज्य उन एकाधिकारो का उन्मूलन नही कर सकता जिनकी वह रक्षा करता है। इस प्रकार जब तक राज्य का स्थान कोई अन्य व्यवस्था नही लेती, इन निहित–शक्तियो का अन्त नही हो सकता। बाकुनिन के अनुसार राज्य का प्रथम आवश्यक और अवश्यम्भावी कार्य सम्पत्ति कानूनों का निर्माण करना था, जिससे शोषण करने वालो के अधिकारो को सुरक्षा प्रदान कर कानूनी रूप देना था।[14]

12. Hallowell, J. H , Main Currents in Modern Political Thought, p 433.
13. "God is stupidity and cowardice; God is hypocrisy and falsehood; God is tyranny and misery; God is evil"
    Quoted by Bose, A , A History of Anarchism, p 140.
14. Bose, A , A History of Anarchism, p 180

(iii) राज्य शक्ति का प्रतीक है।

(iv) ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो राज्य करता है तथा जिसे राज्य के अस्तित्व के बिना न किया जा सके। विदेशी आक्रमणों का सामना करने के लिये सेना की आवश्यकता नहीं है। राज्य की स्थाई सेनाएँ भी आक्रमणकारियों द्वारा परास्त हो जाती हैं। लेकिन जन-सेनाओं ने जिनका संगठन राज्य द्वारा नहीं किया गया है आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना किया है। इस प्रकार रक्षा कार्य एवं नागरिक सेना सुरक्षा द्वारा प्रभावशाली ढंग से किया जा सकता है।

(v) आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था के लिये भी राज्य की आवश्यकता नहीं है। कानून, पुलिस, न्याय, दंड आदि की राज्य जो व्यवस्था करता है उससे अपराधों में वृद्धि है।

(vi) कला, विज्ञान, शैक्षणिक कार्यों के लिये भी राज्य की आवश्यकता नहीं है। समाज में बहुत सा शैक्षणिक कार्य स्वयंसेवी संस्थाओं के द्वारा किया जाता है। शिक्षा के लिए राज्य की नहीं किन्तु ऐसी सभाओं एवं विद्वत् परिषदों की आवश्यकता है जो शिक्षा कार्य में संलग्न हों। रॉयल सोसायटी, ब्रिटिश ऐसोसियेशन जैसी संस्थाएँ जो राज्य की भाँति शक्ति पर नहीं बल्कि स्वतन्त्र सहयोग पर निर्भर हैं, राज्य द्वारा संचालित संस्थाओं से भी अच्छा कार्य किया है।

शासन का विरोध (7)

राज्य का समस्त कार्य सरकार द्वारा संचालित होता है। सरकार का संगठन उन थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में रहता है जो हमेशा राज्य सत्ता को अपने हाथों में रखना चाहते हैं। अराजकतावादियों के अनुसार किसी भी प्रकार की शासन प्रणाली सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में असफल रही है। शासन सत्ता का प्रतीक होता है। सत्ता व्यक्ति को स्वार्थी, घमण्डी अत्याचारी और भ्रष्ट कर देती है। "राजनीतिज्ञ अपने स्वभाव के कारण नहीं अपितु अपने पद के कारण दुष्ट हैं, इस कारण नहीं कि वह मनुष्य हैं परन्तु क्योंकि वह राजनीतिज्ञ हैं।" इसी बात को क्रोपॉटकिन ने दूसरे शब्दों में कहा कि 'यह या वह मंत्री श्रेष्ठ मनुष्य होता यदि उसे सत्ता न दी गई होती।"[15] इस प्रकार अराजकतावादी सत्ता को मनुष्य के चतुर्मुखी पतन का कारण मानते हैं।' डिविन्सन के अनुसार "सरकार का अर्थ बाध्यता, वंचनशीलता, असंतोष तथा पृथकता है।" किसी भी रूप में एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति पर शासन करने का अधिकार नहीं होना चाहिये।

राज्य और शासन का अराजकतावादियों द्वारा इतना तीव्र विरोध है कि वे किसी भी प्रकार की शासन व्यवस्था को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। आर्थिक

15 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 109.

क्षेत्र में किसी प्रकार की शासन प्रणाली प्रत्येक व्यक्ति के अनुपातिक भाग का न्यायोचित निर्धारण करने में सफल नहीं हुई है। इनके अनुसार अभी तक समस्त शासनों का मुख्य कार्य यही रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति का भाग न्यायोचित न हो। इस अन्यायपूर्ण तथ्य को चुनौती देते हुए क्रोपाटकिन ने कहा है—

"सब कुछ प्रत्येक का है। यदि प्रत्येक व्यक्ति, पुरुष तथा स्त्री, आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में भाग लेता है तो उसका यह अधिकार है कि समस्त उत्पादित वस्तुओं में से, जिनका उत्पादन प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किया गया है, अपना भाग ले।"[16]

प्रतिनिधि शासन का विरोध

अराजकतावादियों ने प्रतिनिधि शासन की सबसे कटु आलोचना की है। वैसे सामान्यतः प्रतिनिधि सरकार ही सबसे उपयुक्त व्यवस्था है लेकिन व्यवहार में यह सत्य नहीं है क्योंकि—

(i) शासन व्यवस्था में सारा का सारा कार्य बहुमत-सिद्धान्त के आधार पर चलाया जाता है। प्रतिनिधि सभाओं में बहुमत या एकमत प्राप्त करना सदैव फर्जी और बनावटी होता है। एक बार किसी बात पर निर्णय ले लिया जाता है तो अल्पमत को उसे कार्यान्वित करने के लिये समर्थन करना पड़ता है। यह बहुमत के अन्याय और अल्पमत की बुद्धिहीनता प्रदर्शित करती है।[17]

(ii) विचार विभिन्नता के कारण एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति या समुदाय का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता।

(iii) सरकार चलाने के लिये प्रतिनिधियों में जितना ज्ञान होना चाहिये उनमें नहीं होता। इसलिये प्रतिनिधि शासन उन व्यक्तियों द्वारा शासन है जो शासन के विषय में केवल इतना ही ज्ञान रखते हैं जिससे उनकी अयोग्यता ही प्रदर्शित होती है।

(iv) यह शासन व्यवस्था उस वर्ग को जन्म देती है जिन्हें हम 'पेशेवर राजनीतिज्ञ' (professional politicians) कहते हैं। ये अपनी अज्ञानता और दुर्बलताओं को वाचालता अथवा आडम्बर से छुपाये रहते हैं।

(v) अराजकतावादी किन्हीं भी परिस्थितियों में जनप्रतिनिधि की आवश्यकता ही स्वीकार नहीं करते। राज्य द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक प्रश्न पर जनता की इच्छाएँ, मान्यताएँ अलग-अलग होती हैं। महत्वपूर्ण

16 जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 105.

17. Godwin, An Enquiry Concerning Political Justice etc., pp. 570—71.

> विषयों पर जनमत जानने के लिये अपने निर्वाचकों की सभा बुलाना होगी जिसमे वाद-विवाद के पश्चात अपने सकल्प या निर्णय करेंगे। लेकिन जब इस प्रकार की सभाओं की आवश्यकता होगी तो फिर जन-प्रतिनिधि की आवश्यकता का सवाल ही नहीं उठता।

सूक्ष्म मे, अराजकतावादी प्रतिनिधि शासन को अयोग्य, अज्ञानियो की व्यवस्था मानने के साथ साथ इसे अनावश्यक भी मानते हैं।[18]

विकेन्द्री व्यवस्था 9

अराजकतावादी विचारधारा विकेन्द्रीकरण सिद्धान्त पर आधारित है। प्रोफेसर जोड का कथन है कि "आधुनिक शब्दावली मे अराजकतावाद का प्रथम तथा प्रधान उद्देश्य क्षेत्रीय तथा व्यावसायिक विकेन्द्रीकरण है।"[19] अराजकतावादी समाज का प्रारम्भ स्थानीय छोटे-छोटे समूहों से होगा। स्थानीय समूह बड़े समूहो मे सगठित एव केन्द्रित किये जा सकते हैं, जिनका क्षेत्राधिकार सम्पूर्ण देश पर हो। यह समूहीकरण ऊपर से नहीं किन्तु नीचे से ऊपर की ओर होगा। अराजकतावादियो को विश्वास है कि स्वेच्छापूर्ण आधार पर सगठित समाज मे झगड़े नहीं होंगे। जो भी मतभेद होंगे वे मित्रता तथा सहकारिता की भावना से सुलझ जायेंगे।

अराजकतावादी उद्देश्यो की प्राप्ति के साधन 10

अराजकतावादी स्वेच्छापूर्ण सामाजिक सगठन के लिये वर्ग, राज्य, सम्पत्ति धर्म आदि का उन्मूलन आवश्यक मानते हैं। लेकिन इन उद्देश्यों की प्राप्ति के साधन क्या हो ? इस सम्बन्ध मे अराजकतावादियों मे मतभेद है। व्यापक रूप से साधन के आधार पर उन्हें दो श्रेणियों मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वे अराजकतावादी जो विकासवादी, शान्तिपूर्ण साधनो तथा हृदय-परिवर्तन द्वारा अपने उद्देश्यो की उपलब्धि करना चाहते है। द्वितीय श्रेणी मे क्रान्तिवादी आतकवादी आदि अराजकतावादी आते हैं।

गॉडविन तथा व्यक्तिवादी अराजकतावादी शान्तिपूर्ण साधनों मे विश्वास करते हैं। वारेन, स्टर्नर आदि विकासवादी थे। डेविड थोरो ने शान्तिपूर्ण किन्तु सक्रिय अवज्ञा आन्दोलन जैसे साधनो का सुझाव दिया जिसके द्वारा अमरीकी सरकार को दास प्रथा उन्मूलन के लिये बाध्य किया जा सके। गॉडविन का क्रान्ति मे कोई विश्वास नहीं था। फ्रास की क्रान्ति के सन्दर्भ मे अराजकतावादी साधना की व्याख्या करते हुए गॉडविन ने कहा था —

---

18. अराजकतावादियों द्वारा प्रतिनिधि सरकार की आलोचना के लिय देखिये— जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ० 107-108.
19. उपर्युक्त, पृ० 112

"मैंने भीड़ शासन, हिंसा तथा वह आवेग जिनसे मनुष्य अनेकों में एकत्रित हो जाते हैं, की क्षण भर के लिये भी निन्दा करना बन्द नहीं किया। मैं इस प्रकार के राजनीतिक परिवर्तन चाहता हूं जो समझदारी तथा हृदय की उदार भावनाओं से विकसित हों।"[20]

इस प्रकार गॉडविन तथा टॉलस्टॉय जैसे अराजकतावादी शान्त-पद्धति के पसन्द है। उनके मतानुसार अच्छे साध्यों की प्राप्ति अच्छे साधनों के माध्यम से ही होनी चाहिये।

बाकुनिन तथा क्रोपॉटकिन क्रान्तिकारी साधनों के समर्थक हैं। बाकुनिन कार्य में सत्य का प्रतिबिम्ब देखते हैं। विश्व निरन्तर परिवर्तनशील होता रहता है। इसलिये कार्य द्वारा परिवर्तन प्राकृतिक है। इसी प्रकार क्रोपॉटकिन का विचार था कि अराजकतावादी-साम्यवाद की स्थापना सिर्फ क्रान्ति द्वारा ही सम्भव है। वे मानते थे कि राज्य, पूंजीवादी व्यवस्था, व्यक्तिगत सम्पत्ति, धर्म आदि संस्थाओं की समाज में इतनी गहरी एवं मजबूत जड़ें हैं कि बिना क्रांति के इन्हें समाप्त करना सम्भव नहीं है। क्रोपॉटकिन ने तो रूस की क्रान्ति (1917) का भी समर्थन किया हालांकि उन्हें बाद में इसका पछतावा करना पड़ा। क्रान्ति तथा साम्यवाद के समर्थक होने के कारण उन्हें अराजकतावादी-साम्यवादी कहा जाता है।

इनके अलावा रूस के शून्यवादी, स्पेन के अराजकता-सिन्डीकलवादी तथा अन्य अराजकतावादी तोड़-फोड़, हड़तालें, विरोधियों का वध करना तथा आतंक फैलाना आदि साधनों में भी विश्वास करते थे।

अराजकतावाद और मार्क्सवाद-साम्यवाद

अराजकतावाद और मार्क्सवाद-साम्यवाद का जब हम अध्ययन करते हैं तो इन दोनों में सामान्यतः बहुत कुछ बातें समान प्रतीत होती हैं। ये दोनों विचारधाराएँ एक दूसरे से प्रतिबिम्बित होते हुए प्रतीत होती हैं। वास्तव में कुछ अराजकतावादी विचारकों ने कार्ल मार्क्स के विचारों को प्रभावित किया और बाद के अराजकतावादी मार्क्सवादी-साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हुए। किलजर एवं रॉस ने अराजकतावाद को मार्क्सवादी विचारधारा का ही विस्तार माना है।[21] प्रौदों के भी विचार लगभग ऐसे ही हैं।

---

20. "I never for a moment ceased to disapprove of mob government and violence, and the *impulses which men collected together in multitudes produce on each other. I desired such political changes only as should flow purely from the clear light of the* understanding and the erect and generous feeling of the heart."
Brown, Ford K., *Life of William Godwin*, London, 1926, p. 35.
21. "A further development of Marxist ideology is anarchism."
Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 216.

अराजकतावाद तथा मार्क्सवाद एव साम्यवाद के सम्बन्धो और सघर्ष का इतिहास भी बडा रोचक है जो इनकी समानता एव भिन्नता को व्यक्त करता है। इससे यह भी स्पष्ट होता कि अराजकतावादियो का विचार सघर्ष मार्क्स से प्रारम्भ होकर लगभग स्टालिन तक चलता रहा।

प्रधों तथा मार्क्स

मार्क्स और प्रधो का मिलन 1844 मे पेरिस मे हुआ। ये दोनो एक दूसरे के सम्पर्क मे आये तथा दोनो एक दूसरे के विचारो से प्रभावित हुए। मार्क्स न अपनी पुस्तक– Holy Family–जो 1845 मे प्रकाशित हुई, मे प्रधो के सम्पत्ति सम्बन्धी विचारो की सराहना की तथा उन्हे वैज्ञानिक विवेचन और राजनीतिक अर्थ व्यवस्था को सर्वप्रथम क्रान्तिकारी ढग से प्रस्तुत करने वाला बतलाया। मार्क्स ने प्रधो से अपने अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन को सामूहिक रूप से सचालन करने के लिये भी आग्रह किया। किन्तु प्रधो मार्क्स के क्रान्तिवादी विचारो से सहमत नही था। इसलिये इन दोनो मे मतभेद प्रारम्भ हुए।[22]

1848 म प्रधो की पुस्तक—Philosophy of Poverty—प्रकाशित हुई तथा इसके प्रत्युत्तर म मार्क्स ने–Poverty of philosophy–लिखी। इसने एक विचार सघर्ष का रूप धारण कर लिया। मार्क्स ने प्रधो की तीव्र आलोचना की तथा उसे एक छोटा मोटा पूँजीपति बतलाया जो श्रमिको को भुलावे मे रखना चाहता था। साम्यवादी घोषणा पत्र (The Manifesto of the Communist Party) म भी मार्क्स-ऐन्जिल्स ने प्रधो पर प्रहार किया तथा उसे क्रान्ति से घबराने वाला मध्यवर्गीय, अनुदार समाजवादी (Conservative or Bourgeois Socialist) कहा।[23]

प्रधो ने अपनी आलोचना का सिर्फ यही उत्तर दिया कि "मार्क्स को यही दु ख है कि प्रत्येक जगह मेरे और मार्क्स के विचार मेल खाते है किन्तु मैंने उन्ह मार्क्स से पहिले व्यक्त कर दिया है। सत्य यह है कि मार्क्स ईर्ष्यालु है।"[24]

मार्क्स तथा प्रधो के इस विचार–सघर्ष के विषय मे वास्तविकता यह है कि दोनो ही हीगल के द्वन्द्ववाद से प्रभावित हुए हैं दोनो ही पूँजीवाद को शक्तिहीन स्वीकार करते हैं। मार्क्स ने प्रधो के उन विचारो को ग्रहण किया है जिनकी उसने आलोचना की है। किन्तु प्रधो क्रान्ति साधन मे विश्वास नही करता था। यही मार्क्स तथा अराजकतावादी विचारो म एकता होने हुए भी विचार भिन्नता है।

---

22 Bose, A , History of Anarchism, p 141–42

23 The Communist Manifesto, pp 87–88

24 'The real sense of Marx is that he regrets everywhere that my thought agrees with his and that I have expressed it before him The truth is that Marx is jealous "
Quoted by Bose, A , History of Anarchism, p 144

मार्क्स तथा बाकुनिन

1843 से बाकुनिन ने अपने निर्वासित जीवन के लगभग चार वर्ष फ्रांस मे बिताये। यहाँ वह प्रधों तथा मार्क्स के सम्पर्क मे आया और दोनों के विचारो से प्रभावित हुआ। मार्क्स तथा प्रधों के विचार मतभेदों का उन तक ही अन्त नही हो गया। प्रधो का स्थान बाकुनिन ने लिया। मार्क्स तथा बाकुनिन का विचार संघर्ष लगभग पच्चीस वर्ष तक चला।[25]

प्रारम्भ में बाकुनिन मार्क्स का प्रशंसक था तथा मार्क्स को सच्चा समाजवादी एवं अग्रणीय अर्थशास्त्री बतलाया। यही नही बाकुनिन ने साम्यवादी घोषणा पत्र का रूसी अनुवाद भी किया। इन दोनो के विचार प्रारम्भ मे मिलते जुलते थे। जैसे दोनों ही:

(i) क्रान्तिकारियों की तरह पूर्ण आशावादी थे;
(ii) हीगल के द्वन्द्ववाद मे श्रद्धा रखते थे;
(iii) तत्कालीन सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के आलोचक थे; तथा
(iv) प्रतिनिधि शासन मे विश्वास नही रखते थे।

किन्तु धीरे-धीरे बाकुनिन का मार्क्स के प्रति दृष्टिकोण घृणात्मक होता चला गया। उनके मतभेद व्यक्तिगत तथा सैद्धान्तिक दोनो रूप मे स्पष्ट रूप से उभर आये। बाकुनिन मार्क्स (साथ में ऐन्जिल्स को भी) को एक जर्मन, एक यहूदी तथा एक साम्यवादी के रूप में घृणा करने लगा, जबकि मार्क्स ने बाकुनिन को रूस का गुप्तचर कहकर प्रत्युत्तर दिया।

मार्क्स तथा बाकुनिन के सैद्धान्तिक मतभेद बड़े व्यापक थे। ये मतभेद मूलतः निम्नलिखित थे:—

(i) साम्यवादी व्यवस्था स्वतन्त्रता की विरोधी है। बाकुनिन मानव की बिना स्वतन्त्रता के कल्पना ही नही कर सकता।
(ii) साम्यवादी जो कुछ भी करते हैं अन्ततः इससे राज्य की शक्ति में ही वृद्धि होती है। बाकुनिन न केवल राज्य किन्तु सत्ता के सभी अवशेषों को समाप्त करना चाहते थे।
(iii) साम्यवादी समाज को ऊपर की ओर से व्यवस्थित करना चाहते हैं जबकि बाकुनिन ऐसे समाज की स्थापना चाहते थे जिसका संगठन स्वतन्त्रतापूर्वक नीचे से ऊपर की ओर हो। इस प्रक्रिया मे सत्ता तथा शक्ति का कोई योगदान न हो।
(iv) मार्क्स का सर्वहारा वर्ग मे असीम विश्वास था। बाकुनिन ने मार्क्स की आलोचना की कि उसने कृषक वर्ग की पूर्ण अवहेलना की है।

---
5 op. cit., pp. 235—14

(v) मार्क्सवाद मे सर्वहारा अधिनायकत्व को संक्रमण काल के लिए स्वीकार किया जाता है। बाकुनिन इस अधिनायकवाद के विरोधी हैं।[26]

बाकुनिन ने मार्क्सवाद-साम्यवाद से अपने मतभेदो को शान्ति एवं स्वतन्त्रता लीग के अधिवेशन (1868) में व्यक्त किया।

क्रोपॉटकिन (Petor Kropotkin) ने मार्क्स तथा बाकुनिन के मतभेदो का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वह वास्तव से सघात्मक तथा केन्द्रीकरण सिद्धान्तो, स्वतन्त्र कम्यून तथा राज्य का शासन के मध्य था।[27] कार्ल मार्क्स तथा बाकुनिन के मतभेदो का मूल्यांकन किया जाय तो एक बात बिल्कुल स्पष्ट होती है कि इन दोनो मे उतने सैद्धान्तिक मतभेद नही थे जितने कि उन सिद्धान्तो को व्यावहारिक रूप देने मे। बाकुनिन की अपेक्षा मार्क्सवाद व्यवहार मे अधिक सत्ताधारी, अधिनायकवादी, स्वतन्त्रता विरोधी तथा राज्य का प्रबल समर्थक सिद्ध होगा।

प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय (First International)

मार्क्सवाद तथा अराजकतावाद के संघर्ष की चरम सीमा

अपने विचारो को व्यावहारिक रूप देने के लिए मार्क्स के प्रयत्नो से 1864 मे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर परिषद् की स्थापना हुई। यह श्रमिक आन्दोलन एव विचार विनिमय का प्रमुख फोरम था। बाद मे इस परिषद् का नाम 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सघ (First International) रख दिया गया।

1868 मे बाकुनिन ने अपने एक सगठन 'शान्ति एव स्वतन्त्रता लीग' (League of Peace and Freedom) को भग कर दिया तथा इसके स्थान पर 'सामाजिक लोकतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय सघ' (International Alliance of Social Democracy) की स्थापना की।

अगले वर्ष बाकुनिन मार्क्स के नेतृत्व मे गठित 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' में सम्मिलित हुआ। बाकुनिन का उद्देश्य प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' को अपने नेतृत्व के अन्तर्गत लेना था। परिणामस्वरूप मार्क्सवादियो तथा अराजकतावादियो के मध्य इस सगठन के नेतृत्व को लेकर सघर्ष प्रारम्भ हुआ। बाकुनिन तथा मार्क्स मे सैद्धान्तिक मतभेद तो थे ही। प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' मे बाकुनिन ने मार्क्स तथा उसके समर्थको की बड़ी निन्दा की। बाकुनिन के अनुसार मार्क्स 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' को एक दानव राज्य मे परिवर्तित करना चाहते थे, जिसमे एक ही विचारधारा, एक ही सत्ता हो। मार्क्स इस सगठन के माध्यम से एक जर्मन राज्य (Pan-German State) की स्थापना का स्वप्न देख रहे थे।[28]

26 Carr, E. H , Michael Bakunin, London, 1937, p 341
27 Bose A , A History of Anarchism, p 209
28 Kenafick, Marxism, Freedam and the state, p 45

'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' मे मार्क्स के समर्थक अधिक संख्या मे थे, वे बाकुनिन एव अराजकतावादियों के विचारों से बिलकुल सहमत नही थे। इसलिए 1872 मे 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' के हेग अधिवेशन (Hague Congress) मे बाकुनिन तथा उसके अनुयायियों को निकाल दिया गया। यहाँ मार्क्सवादी तथा अराजकतावादियो का पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद हो गया।

पीटर क्रोपॉटकिन (Peter Alexander Kropotkin) ने अराजकतावाद को वर्ग-संगत तथा वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में अराजकतावाद और साम्यवाद मे अन्तर कम होता चला गया। कहीं-कहीं तो यह कहना असम्भव हो गया कि क्रोपॉटकिन अराजकतावादी है या साम्यवादी। इसलिए वह अराजकतावादी साम्यवादी कहलाता है। ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopaedia Britannica) मे अराजकतावाद के विषय मे दिए गए एक लेख मे क्रोपॉटकिन ने लिखा है:—

> "आंशिक रूप मे साम्यवाद की स्थापना अधिक सम्भव है विशेषतः जिस प्रकार कम्यून प्रगति कर रहे हैं, स्वतन्त्र या अराजकतावादी साम्यवाद ही वह साम्यवादी व्यवस्था है जिसे सभ्य समाज द्वारा स्वीकार किये जाने की अधिक सम्भावना है; इसलिए साम्यवाद एव अराजकतावाद विकास के दो पहलू है जो एक दूसरे को पूर्ण करते है तथा एक दूसरे को सम्भव और स्वीकार योग्य बनाते हैं।"[29]

यहाँ क्रोपॉटकिन के विचारों को व्यक्त करने का यही उद्देश्य है कि अराजकतावाद तथा मार्क्सवाद एवं साम्यवाद कहाँ तक एक दूसरे से सम्बन्धित हो गये। किन्तु इतना सब होते हुए भी इन दोनों विचारधाराओं का पूर्ण संगम नहीं हो पाया।

जोड (C.E.M. Joad) के विचार

जोड के अनुसार अराजकतावाद और साम्यवाद में राज्य के कार्यों के प्रश्न पर मतभेद होते हुए भी दोनों विचारधाराएँ एक ही वस्तु के दो पक्षों को प्रस्तुत करती हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपनी पुस्तक–Introduction to Modern Political Theory–के पाचवे अध्याय में साम्यवाद और अराजकतावाद का साथ-साथ विवेचन किया है। इन दोनो मे बहुत कुछ बातें समान हैं तथा इनके प्रमुख सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं। साम्यवाद एक ही विचारधारा की 'पद्धति का दर्शन' तथा अराजकतावाद उसके बाद 'आदर्श समाज का उद्देश्य' है। एक साधन तथा दूसरा साध्य के रूप में महत्वपूर्ण है। जोड के ही शब्दों में—

> "प्रारम्भिक मतभेदों के होने पर भी आधुनिक घटना-क्रम के विकास ने इन दो विचारधाराओं को घनिष्ट रूप से सम्बन्धित कर दिया है। इसी

29. Quoted by Bose, A., A History of Anarchism, p. 262.

बोल्शेविकों (Bolsheviks) के प्रभाव के कारण साम्यवाद विशिष्ट पद्धति का दर्शन बन गया अर्थात्, यह उस कार्यक्रम का सिद्धान्त है जिसके अनुसार पूंजीवाद से समाजवाद की ओर परिवर्तन होगा। अराजकतावाद उन सिद्धान्तों की घोषणा करता है, जो इस परिवर्तन के उपरान्त समाज में लागू होंगे।'[30]

जोड ने आगे लिखा है—

"अराजकतावादियों का सम्बन्ध केवल एक आदर्श समाज जिसकी वे स्थापना कराना चाहते हैं और एक जीवन मार्ग से है। परन्तु साम्यवादियों की मुख्य समस्या यह है कि इस आदर्श समाज की स्थापना किस प्रकार की जाय तथा जीवन का यह आदर्श ढंग किस प्रकार हरेक के लिये सम्भव बना दिया जाय। अर्थात् साम्यवादी साधनों पर विचार करते हैं तथा अराजकतावादी साध्यों पर। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अब अधिकांश साम्यवादी समाज के अराजकतावादी आदर्श को स्वीकार करते हैं और अनेक अराजकतावादी यह मानने को तत्पर होंगे कि इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था केवल साम्यवादी कार्यक्रम द्वारा ही सम्भव है।"[31]

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि ये दोनों विचारधाराएँ सैद्धान्तिक दृष्टि से बहुत कुछ समानान्तर चलती हैं फिर भी दोनों में ताल-मेल स्थापित नहीं हो सका है। ये अभी तक अपना अलग अस्तित्व बनाए हुए हैं। वैसे अराजकतावाद तो अब मृतप्राय हो है। *अराजकतावाद तथा मार्क्सवाद (तथा साम्यवाद भी)* में जो समानताएँ तथा भिन्नताएँ हैं उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है—

अराजकतावाद तथा मार्क्सवाद में समानताएँ

(i) दोनों ही उस समय प्रचलित सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक दोषों की निन्दा करते हैं।

(ii) दोनों ही पूंजीवादी-व्यवस्था पर आधारित शोषण का विरोध करते हैं।

(iii) दोनों विचारधाराएँ व्यक्तिगत सम्पत्ति की कटु आलोचक हैं।

(iv) अराजकतावाद तथा साम्यवाद मार्क्सवाद दोनों का एक ही उद्देश्य है—वर्गहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना करना।

अराजकतावाद तथा मार्क्सवाद-साम्यवाद में अन्तर

इन विचारधाराओं में यह समानता वास्तव में सिर्फ बाह्य ही है। इनके मध्य निम्नलिखित तात्विक, आन्तरिक तथा सिद्धान्तों को व्यवहार में परिवर्तित करने के परिणामों में इतने मतभेद हैं कि इनके मध्य की खाई को भरना सम्भव नहीं है—

30 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका पृ 60-61.

31 [illegible]

मानव स्वभाव—मानव स्वभाव, न्याय तथा नैतिकता के विषय में दोनों विचारधाराओं का विवेचन भिन्न है। साम्यवादियों के अनुसार न्याय और नैतिकता के कोई नियम या सिद्धान्त नहीं होते, वे देश एवं काल के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। मानव स्वभाव में स्थायित्व जैसी कोई बात नहीं होती उसमें वातावरण के अनुसार गुणात्मक परिवर्तन होता रहता है।

इसके विपरीत अराजकतावादी मानव स्वभाव के कुछ स्थाई तत्वों जैसे सहयोग, सहानुभूति तथा न्याय की भावना आदि में पूर्ण आस्था रखते हैं। उनके अनुसार ये तत्व मनुष्य के स्वभाव में निहित हैं तथा समाज के विकास की कुंजी हैं। अराजकतावादियों की विचारधारा मूलत. मनुष्य के उत्तम स्वभाव पर निर्भर है।

(2) समाज एवं व्यक्ति—साम्यवाद का आधार समाज है। वे व्यक्ति की अपेक्षा समाज को प्राथमिकता देते हैं अराजकतावाद का आधार व्यक्ति है। उनकी व्यवस्था में व्यक्ति खो नहीं जाता। वे जो भी सामाजिक व्यवस्था चाहते हैं उसका उद्देश्य व्यवस्था के साथ व्यक्ति का उत्थान है।

(3) अधिनायकतावाद बनाम स्वतन्त्रता—मार्क्सवाद-साम्यवाद अधिनायकवाद में विश्वास करता है। किन्तु अधिनायकवाद, शक्ति तथा सत्ता का विरोध अराजकतावादियों का मूल मन्त्र है। वे व्यक्ति-स्वतन्त्रता को ऊँचा स्थान देते हैं और इस बात पर निर्भर रहते हैं कि वह सदा और सर्वत्र प्रभावकारी हो सकेगी। उनका विश्वास है कि एक समाजवादी समाज का उस समय तक प्रगति की ओर कदम नहीं समझा जा सकता जब तक कि उसके आधार के रूप में बल-प्रयोग के स्थान पर स्वतन्त्रता प्रतिष्ठित न हो जाय।[32]

(4) मानववाद—अराजकतावादियों का दृष्टिकोण मानवतावादी है। वे जो कुछ प्राप्त करना चाहते हैं उसकी अपील मानव मात्र के लिये है। वे सभी को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये आह्वान करते हैं। साम्यवाद सर्वहारा का दर्शन है। साम्यवाद का मानवतावादी दृष्टिकोण सिर्फ सर्वहारा वर्ग तक ही सीमित है।

(5) उद्योग—साम्यवादी आर्थिक प्रगति के लिये विशाल उद्योगों में विश्वास करते हैं। लेनिन के अनुसार साम्यवाद का अर्थ 'लोहा तथा बिजली' था। इस समय साम्यवादी राज्यों की प्रगति भारी उद्योगों पर ही आधारित है। किन्तु अराजकतावादी बड़े उद्योगों के विरोधी हैं। वे लघु उद्योगों का समर्थन करते हैं।

(6) सत्ता—साम्यवादी समस्त सत्ता के केन्द्रीकरण में विश्वास रखते हैं। प्रत्येक कार्य राज्य द्वारा होना चाहिये। इसके विपरीत अराजकतावादी सत्ता के पूर्ण विकेन्द्रीकरण का समर्थन करते हैं।

32. वेपर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 234.

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—मार्क्सवाद की सैद्धान्तिक विवेचना का मूल स्तम्भ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है जो उनके भौतिकवादी दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। परन्तु अराजकतावादी इस प्रकार के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विश्वास नहीं करते, वे इसे तार्किक शीर्पासन की संज्ञा देते हैं।

साधन—मार्क्सवादी-साम्यवादी क्रान्ति में विश्वास करते हैं, वे हिंसा, दमन आदि के प्रयोग के बिना पूंजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन न हो सकने की बात कहते हैं। शक्ति प्रयोग सत्ता हथियाने के लिए आवश्यक है। हालांकि अराजकतावादियों में अपने साध्यों की प्राप्ति के विषय में मतभेद हैं, लेकिन प्रत्येक अराजकतावादी-व्यक्तिवादी अथवा साम्यवादी दोनों ही—या तो शक्तिपूर्ण साधनों में बिल्कुल ही विश्वास नहीं करते या शक्ति प्रयोग को स्थाई साधन नहीं मानते। अराजकतावादियों के विचार में "हिंसा केवल रक्षा के लिए, सत्ता के संगठित विरोध के लिए एक उचित हथियार है, वह सहयोग का साधन नहीं है और, न वह एक सच्ची समाजवादी व्यवस्था में कार्य करने का साधन ही है। जब हिंसा को एक संस्था का रूप दिया जाता है, तो वह किसी के लिए भी स्वतन्त्रता प्राप्ति का साधन नहीं रह जाता।"[33]

प्रारम्भ में क्रोपॉटकिन तथा अन्य अराजकतावादी 1917 में रूसी क्रान्ति को समर्थन देते हुए प्रतीत होते हैं। उनकी धारणा थी कि इसके बाद राज्य विहीन, वर्ग विहीन समाज की स्थापना सम्भव हो सकेगी। लेकिन क्रान्ति के बाद रूस की दशा देखकर अराजकतावादियों का भ्रम दूर हो गया। लेनिन को लिखे गये एक पत्र में[34] क्रोपॉटकिन ने रूस में हिंसा, दमन-चक्र की कटु निन्दा की। उन्हें रूस में केन्द्रीकरण, दोषान्वेषण और सर्वत्र आतंक ही नजर आया। इस प्रकार क्रान्तिकारी अराजकतावादी भी हिंसात्मक साधनों से विमुख हो गये। उनका विश्वास था कि स्वतन्त्र समाज की स्थापना इस प्रकार नहीं हो सकती। प्रसिद्ध अराजकतावादी एमा गोल्डमेन (Emma Goldman) के अनुसार कोई भी क्रान्ति मुक्ति-साधन के रूप में उस समय तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि उसकी प्राप्ति के साधन, भावना तथा प्रवृत्ति उन उद्देश्यों के समान न हों जिन्हें प्राप्त करना है।[35]

वर्ग-उन्मूलन—अराजकतावादी तथा मार्क्सवादी जिस प्रकार वर्गों का उन्मूलन करना चाहते हैं इसमें वे एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं या, जिस प्रकार के वर्ग विहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं उस सम्बन्ध में इन दोनों के विचारों में आकाश पाताल का अन्तर है। कोकर के अनुसार—

"समाजवादी लोग, विशेष रूप से रूसी साम्यवादी केवल वर्गीय अधिनायकत्व में परिवर्तन चाहते हैं, वे विरोधी वर्गों की स्थिति को इस

33 कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 23–35

34 Quoted by Bose, A., A History of Anarchissm, p 285—96

35 Goldman, Emma, My Further Disillusionment in Russia, 1924, p 175

प्रकार उलट देना चाहते हैं कि कल का सेवक वर्ग आज का शासक बन जाय, और उन्हें विश्वास है कि इस प्रकार भविष्य में एक वर्ग विहीन समाज की स्थापना हो जायगी। दूसरी ओर, अराजकतावादी लोग सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्तों को एकदम उलट देना चाहते हैं, जिससे समाज में दमन के स्थान पर पारस्परिक सहयोग की स्थापना हो सके।"[36]

इस प्रकार साम्यवादी वर्ग-संघर्ष के द्वारा तथा अराजकतावादी सहयोग, सहनशीलता के आधार पर अन्तिम लक्ष्यों की उपलब्धि करना चाहते हैं।

सर्वहारा अधिनायकत्व

अराजकतावादियों तथा रूस के समाजवादियों का लक्ष्य एक ही है अर्थात् वर्ग विहीन तथा राज्य-विहीन समाज की स्थापना। किन्तु उनके मार्ग बिलकुल अलग-अलग हैं। रूसी समाजवादी यह मानते हैं कि क्रान्ति के बाद स्थापित सर्वहारा अधिनायकत्व से सन्धि मार्ग को नहीं त्यागा जा सकता। दूसरी ओर अराजकतावादी कहते हैं कि दमन तथा नियन्त्रण द्वारा स्वतन्त्र और ऐच्छिक सहयोग के सिद्धान्त पर आधारित समाज की स्थापना नहीं हो सकती। लेनिन के ही शब्दों में—

"हमारा अराजकतावादियों से अन्तिम लक्ष्य के रूप में राज्य के विनाश के प्रश्न पर मतभेद नहीं किन्तु मार्क्सवाद अराजकतावाद से इस बात में भिन्न है कि वह सामान्यतया क्रान्ति काल में तथा विशेषतः पूंजीवाद से समाजवाद की ओर अग्रसर होने के संक्रमणकाल में राज्य तथा राज्य की शक्ति की आवश्यकता मानता है।"[37]

अराजकतावादी इस बात को स्वीकार नहीं करते कि दीर्घकालीन दमनकारी पूंजीवादी शासन का अन्त सर्वहारा अधिनायकत्व के दीर्घकालीन दमनकारी शासन से हो सकेगा। उनके अनुसार संक्रमण-कालीन समाज व्यवस्था और उसके स्थान पर स्थापित की जाने वाली स्थाई समाज व्यवस्था में साम्य होना चाहिए।

अन्त में, राज्य की समाप्ति के बाद समाज की सारी व्यवस्था क्या होगा इस सम्बन्ध में अराजकतावादी हमारे सामने एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करते हैं, किन्तु साम्यवादियों ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।

अराजकतावाद का मूल्यांकन

पूर्ण अध्ययन का अभाव (1)

अराजकतावाद की यह प्रारम्भिक आलोचना की जाती है कि यह विचारधारा पूर्ण अध्ययन नहीं है। इस विचारधारा का कोई इतिहासकार भी नहीं

36. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 224.

37. Lenin, State and Revolution, 1917, p. 63.

है। पोल एल्ट्जबेशर (Paul Eltzbacher) ने अपनी पुस्तक 'डेर एनेरकिस्मस' (Der Anarchismus)[38] में प्रमुख अराजकतावादियों का निष्पक्ष विमोचन किया है किन्तु यह भी अराजकतावाद का एकरूप न होकर बिखरा हुआ सा अध्ययन प्रतीत होता है। अराजकतावाद का यह दुर्भाग्य है कि इसका कोई सम्पूर्ण अध्ययन नहीं हो पाया है। लेकिन इसके विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या और कटु-आलोचना अलग-अलग दृष्टिकोण से इतनी अधिक हुई है कि इस विचारधारा में केवल बुराइयाँ ही बुराइयाँ नजर आती हैं।

स्पष्टता एवं विस्तृत विवेचन का अभाव

प्रो जोड के अनुसार अराजकतावादी विचारधारा आवश्यक रूप से अस्पष्ट है, क्योंकि इसकी रूपरेखा सरल होते हुए भी यह केवल एक रूपरेखा के रूप में ही अपना अस्तित्व रखती है। इस विचारधारा में राज्य, पूँजीवाद, व्यक्तिगत सम्पत्ति, धर्म आदि का विभिन्न समर्थकों ने व्यापक विवरण दिया है। लेकिन यह केवल नकारात्मक एवं उन्मूलन व्यवस्था तक ही सीमित है। अराजकतावादियों ने सामाजिक संगठन का रूप, स्वरूप तथा इसकी प्राप्ति के शान्ति साधनों के विषय में या तो कुछ नहीं कहा या कोई विस्तारपूर्वक व्याख्या नहीं की है। इस प्रकार यह विचारधारा स्पष्ट ढंग से व्यक्त नहीं हो पायी है। अराजकतावादी अपनी आकर्षक रूप-रेखा को विस्तृत नहीं करते हैं अथवा ऐसा करने में असमर्थ हैं।[39]

स्वतंत्र एवं मौलिक विचारधारा की संदिग्धता

अराजकतावाद का अध्ययन करने के बाद यह विश्वास नहीं होता कि यह एक स्वतन्त्र और मौलिक विचारधारा भी है या नहीं। सामान्यतः अराजकतावादी विचारधारा साम्यवाद, सिन्डीकलवाद, बहुलवाद और व्यक्तिवाद का सम्मिश्रण सा प्रतीत होता है। अतः इसे एक अलग और स्वतन्त्र विचारधारा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता और यदि इसे विचारधारा के रूप में स्वीकार भी किया जाता है तो साम्यवादी विचारधारा के वैज्ञानिक विवेचन और व्यापक प्रभाव ने इसे महत्त्वहीन कर दिया है। अराजकतावाद, कुछ क्षेत्रों को छोड़कर, साम्यवाद की पुनरावृत्ति सा प्रतीत होता है।

मनुष्य स्वभाव का एकपक्षीय विश्लेषण

अराजकतावादियों ने मनुष्य स्वभाव की जो मनोवैज्ञानिक विवेचना की है वह अधूरी और एकपक्षीय है। वे मानव स्वभाव को नैतिकता, सद्भाव, सहकारिता के प्रति अत्यन्त ही आशावादी हैं। उनके अनुसार मनुष्य स्वभावतः अच्छा होता है।

---

38 Paul Eltzbacher, Der Anarchismus, English translation by S T Byington, New York, 1900, Carter, April, The Political Theory of Anarchism, p 1

39 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रवेशिका, पृ 113

मनुष्य में अपने ऊपर स्वयं ही सीमाएं एवं मर्यादायें निर्धारित करने की क्षमता होती है। मनुष्य स्वभाव के विषय में यही आशावादिता उनके राज्य विहीन, सत्ता विहीन समाज का आधार है। लेकिन यदि मनुष्य में निःस्वार्थ सहयोग की प्रवृत्ति है तो दूसरी ओर वह स्वार्थ भावना से भी प्रेरित होता है। अन्तर सिर्फ यही है कि स्वार्थ प्रवृत्ति किसी व्यक्ति में कम है या किसी में अधिक, लेकिन यह मनोवृत्ति का एक प्रमुख तत्व है। इस प्रकार अराजकतावादियों की सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार न तो मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों और न व्यावहारिक दृष्टि से सही कहा जा सकता है।

काल्पनिक सामाजिक व्यवस्था (5)

अराजकतावादी समाज की स्थापना असम्भव एवं अव्यावहारिक दोनो ही है। अराजकतावादी व्यवस्था की स्थापना कैसे होगी यह केवल काल्पनिक है क्योंकि इस दिशा में अभी तक न तो कोई सक्रिय कदम उठाया गया है और न ही इतिहास में इसका कोई उदाहरण मिलता है। अराजकतावादी विचारकों ने जिस समाज रचना के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये हैं वे राज्य के स्थान पर साधारण विकल्प भी सिद्ध नहीं हो सकते। विभिन्न सामाजिक संगठनों की सफलता के विषय में आलोचक आशावादी नहीं हैं।

राज्य और सरकार का विरोध (6)

अराजकतावादी राज्य को एक बुराई मान कर उन्मूलन करना चाहते हैं। उनके ये विचार ऐतिहासिक न होकर काल्पनिक अधिक हैं। प्रत्येक युग में राज्य या शासन व्यवस्था किसी न किसी रूप में अवश्य ही विद्यमान रही है। राज्य या सब प्रकार की शासन व्यवस्थाऐं न तो शोषण का साधन है और न बल-प्रयोग करने वाली संस्थाऐं हैं। आज के सभी कल्याणकारी राज्य जन-हित की भावना से प्रेरित होते हैं।

सम्पत्ति सम्बन्धी त्रुटिपूर्ण विचार (7)

अराजकतावादियों द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति का पूर्ण रूप से उन्मूलन किसी भी आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति मनुष्य की मूल स्वाभाविक प्रवृत्ति का परिणाम एवं फल है। यह व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक है। जब मानव है तो परिवार है, जब परिवार है तो सम्पत्ति को उससे अलग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अराजकतावादियों के सम्पत्ति सम्बन्धी विचार व्यावहारिक दृष्टिकोण से पूर्णतः सही नहीं है।

हिंसात्मक साधन : सत्ता का सत्ता द्वारा उन्मूलन (8)

कुछ अराजकतावादी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये क्रान्ति एवं हिंसात्मक साधनों का समर्थन करते हैं। उनके यह विचार न तो उचित है और न तार्किक ही, क्योंकि—

प्रथम, अराजकतावादी अच्छे उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये क्रान्ति का समर्थन करते हैं। द्वितीय, ये सत्ता का उन्मूलन शक्ति-सत्ता के द्वारा करना चाहते हैं और यदि सत्ता द्वारा सत्ता का विरोध-क्रम चलता गया तो वह स्थिति कभी नहीं आयेगी जब स्वेच्छापूर्वक सामाजिक समूहों की स्थापना होगी। यह तो निर्विवाद सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये कि क्रान्ति या हिंसा के द्वारा परिवर्तन या तो क्षणिक होते हैं या हिंसा के द्वारा प्राप्त की गई व्यवस्था शक्ति द्वारा ही स्थिर रखी जा सकती है। इस परिस्थिति में मनुष्य की सद्भावना एवं सहयोग प्रभावहीन हो जाता है या उस पृष्ठभूमि की ओर धकेल दिया जाता है।

सत्ता विरोध का औचित्य (9)

स्वतन्त्रता और सत्ता विरोध अराजकतावादियों के मूल मंत्र हैं। इन्होंने स्वतन्त्रता और सत्ता को परस्पर विरोधी माना है। आजकल सभी व्यावहारिक प्रजातान्त्रिक विचारधाराएँ स्वतन्त्रता और सत्ता को सीमित करके समुचित समन्वय के पक्ष में हैं। असीमित स्वतन्त्रता जब स्वच्छन्दता में परिवर्तित होती है तो यह असीमित सत्ता से भी अधिक खतरनाक है। स्वतन्त्रता कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित न रह जाय, इसका सारा समाज उपयोग करे या स्वतन्त्रता का प्रयोग पूर्ण समाज हित में किया जाय, इसके लिये सत्ता का आंशिक एवं न्यायोचित प्रयोग अत्यन्त ही आवश्यक है। इस प्रकार अराजकतावादियों का पूर्ण सत्ता-विरोध उचित नहीं लगता।

अराजकतावादी विचारधारा में विरोधाभास (10)

अराजकतावादी विचारधारा के बहुत से तत्व परस्पर-विरोधी या तर्कयुक्त नहीं हैं। जेन्कर (E N Zenker) के शब्दों में —

> "अराजकतावाद अभी तक की गयी मनुष्य-कल्पना की महानतम भूलों में से एक है क्योंकि जिन विचारों से यह प्रारम्भ होता है तथा जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं वह मनुष्य-स्वभाव और जीवन यथार्थता का पूर्ण विरोधाभास है।"[40]

यह विरोधाभास अराजकतावाद के कई पक्षों में व्यक्त होता है। अराजकतावादियों ने राज्य उन्मूलन के बाद ऐसे समाज की कल्पना की है जो कई स्थानीय समूहों में विभाजित होगा। ये स्थानीय समूह स्वेच्छा पर आधारित होंगे तथा इनका कार्य किसी न किसी प्रकार के जनतान्त्रिक प्रतिनिधि प्रणाली द्वारा ही किया

40 "Anarchism is certainly one of the greatest errors ever imagined by man, for it proceeds from assumptions and leads to conclusions which entirely contradict human nature and the facts of life"
Zenker, E N, Der Anarchismus, quoted by Bose, A, A History of Anarchism, p 395

जायेगा। इस प्रकार अराजकतावादियों ने जो आलोचना प्रतिनिधि शासन व्यवस्था के विषय में की है वह इन समूहों के विषय में भी लागू हो सकती है। अराजकतावादी एक ओर तो यह कहते हैं कि उनकी सामाजिक व्यवस्था मनुष्य के सहयोग एवं सद्भावना पर आधारित है लेकिन साम्यवादी-अराजकतावादी उसी व्यक्ति को राज्य एवं अन्य संस्थाओं के उन्मूलन के लिये क्रान्ति एवं हिंसा के लिये कहते हैं, यह स्पष्टतः विरोधाभास व्यक्त करता है।

आलोचकों की यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि जिस समाज में शासन द्वारा किसी भी प्रकार का न्यूनतम नियंत्रण नहीं होगा तथा सामाजिक व्यवस्था को मनुष्य के स्वतन्त्र विचार और सद्भावना पर छोड़ दिया तो मनुष्यों में किसी न किसी प्रकार का संघर्ष होना स्वाभाविक है क्योंकि मनुष्य में प्रकृति से कुछ स्वार्थी तत्व विद्यमान रहते हैं। इसका तात्पर्य यह होगा कि समाज में सबल जीवित रह सकता है। क्रोपॉटकिन ने अपनी पुस्तक "Mutual Aid: A factor of Evoultion" में डारविन के सिद्धान्त 'survival of the fittest" की कटु आलोचना की है और यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि यह सिद्धान्त अराजकतावादी समाज में लागू नहीं होता। किन्तु यदि अराजकतावादी सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दिया जाय तो उनके समाज में भी सबल की स्वतन्त्रता ही कायम रह सकती है।

अराजकतावादियों ने धर्म की कटु आलोचना की है। वास्तव में धर्म और मनुष्य की नैतिकता में बड़ा सम्बन्ध है। धर्म उन्मूलन का तात्पर्य नैतिकता के स्रोत का ही विनाश करना है। प्रजातन्त्र व्यवस्था तो नैतिकता पर ही निर्भर करती है। इस समय जो आवश्यकता है वह धर्म-उन्मूलन की नहीं, किन्तु धार्मिक अन्ध-विश्वास की समाप्ति तथा धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन की है।

कुछ अराजकतावादी चिन्तकों के जीवन एवं विचारों में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ, विलियम गॉडविन ने विवाह को भी एक बन्धन माना है लेकिन उसने स्वयं ही तीन विवाह किये। प्रथम पत्नी की मृत्यु के बाद उसे विवाह एवं पारिवारिक महत्व का पता चला। गॉडविन द्वारा इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध कवि शैली के ऊपर भी अपनी पुत्री मेरी (Mary) के साथ विवाह करने के लिये जोर डाला गया जिस विवाह व्यवस्था का गॉडविन ने अपने विचारों में विरोध किया है। यह विवाह तभी सम्भव हो सका जब शैली की पत्नी हैरियट (Harriet) ने आत्महत्या करली।[41]

गॉडविन ने राज्य की हमेशा ही आलोचना की है, लेकिन अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में जब वह निर्धन अवस्था में जीवन व्यतीत कर रहा था, उस समय सरकार ने कुछ आर्थिक सहायता का प्रस्ताव रखा जिसे गॉडविन ने सहर्ष स्वीकार

41. Bose, A., A History of Anarchism, pp 106—109.

कर लिया। इस प्रकार राज्य अथवा सरकार की कृपा पर ही उसे निर्भर रहना पड़ा। इसी प्रकार बाकुनिन ने यूरोप में सर्वत्र क्रान्ति का समर्थन ही नहीं किया, किन्तु व्यक्तिगत सहयोग भी दिया। उसने अपने क्रान्ति स्वतन्त्रता आदि सम्बन्धी विचारो से उन्नीसवी शताब्दी के मध्य में यूरोप के क्रान्तिकारियों को प्रभावित किया। लेकिन 1851 में जब रूस म उसे बन्दी बनाया गया तो रूस के सम्राट् जार निकोलस प्रथम म उसने बड़े दयनीय स्वरो में क्षमा याचना की।[42]

अराजकतावादी विचारधारा की आलोचना का निष्कर्ष व्यक्त करते हुये एलेग्जेंडर ग्रे न लिखा है —

"अराजकतावादी के साथ प्रमुख कठिनाई यह है, कि वह बुद्धिमान है उसम विवेक नही है। इस प्रकार अराजकतावाद की रचनात्मक व्याख्या सम्भवत असम्भव है। यदि वे यह स्वीकार नही करत कि उन्होंने अपना घोंसला आकाश मे बनाया है तो कोई भी शब्द उन्हे इस बात के लिए तैयार नहीं कर सकता कि वे अवास्तविक तथा अव्यावहारिक विश्व म रह रहे हैं। अराजकतावादी बहुत ही बुद्धिमान तथा काल्पनिक शिशुओ जो स्सल है जो अपनी बचवाना लेखनी क बाहर कुछ देख सकें, विश्वास नही किया जा सकता।"

अराजकतावादियों के विषय म एलेग्जेण्डर ग्रे के विचार अत्यधिक तीव्र कटाक्ष हैं। वास्तव म अराजकतावादियों के प्रत्यक पक्ष पर प्रत्येक ओर से प्रहार किया गया है। यहाँ तक कि इसे एक राजनीतिक विचारधारा मानना संदिग्ध है। किन्तु अराजकतावाद की सबसे बड़ी कमजोरी यह रही है कि इस विचारधारा के समर्थकों को अराजकतावादी समाज की स्थापना मे कभी भी विजय प्राप्त नहीं हुई। यह इस विचारधारा की अवहेलना का प्रमुख कारण है।[44]

योगदान

अराजकतावाद का एक विचारधारा के रूप म आजकल कोई विशेष महत्व नही रहा है। ये अपने विचारो म अधिक उग्र है। इनकी व्यक्तिवादिता, समाज-

42 Letter of Confession to the Tzar, quoted by Bose, A., A History of Anarchism, pp 109, 181

43 "The fundamental trouble with the anarchist is that, though he may be highly intelligent, he has no sense It follows that a frustful discussion of anarchism is almost an impossibility If they do not realise that they have set their nest among the stars, no word of man will persuade them that their thought are moving in a world unreal and unrealisable Anarchists are a race of highly intelligent and imaginative children, who nevertheless can scarcely be trusted to look after themselves out side the nursery pen"
Gray, A., The Socialist Tradition p 380

44 Carter, April, The Political Theory of Anarchism, p 1,

वादिता, कल्पनावादिता आदि सभी उग्रपन्थी हैं। लेकिन यदि इनके सिद्धान्तों में से उग्रता निकाल दें तो उनमें बहुत कुछ बातें महत्वपूर्ण एवं आधुनिक मिलती हैं। उनके विचारों में कम से कम निम्नलिखित बातों को किसी सीमा तक स्वीकार कर सकते हैं—

प्रथम, ये अधिनायकत्व के विरोधी और मानव स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक हैं।

द्वितीय, सभी समाजवादियों की तरह ये व्यक्तिगत सम्पत्ति का सामाजिक हित में प्रयोग करने के लिए इंगित करते हैं। वैयक्तिक सम्पत्ति के विषय में उनकी आलोचना में बहुत सत्यता है।

तृतीय, अराजकतावादियों का यह कथन भी सत्य है कि अधिक सम्पत्ति सचय या एकाधिकार आर्थिक विषमता तथा शोषण को जन्म देता है। अन्त में, अराजकतावादी धार्मिक अन्ध-विश्वास की कटु निन्दा करते हैं। उनके धर्म सम्बन्धी विचारों को पूर्णतः स्वीकार करने में आपत्ति हो सकती है, किन्तु धर्म को विवेकपूर्ण आधार पर स्वीकार करने की बात तो स्वीकार की जाने योग्य है।

अराजकतावाद, लेन लंकास्टर के मतानुसार, अव्यावहारिक है लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनके द्वारा आधुनिक समाज में प्रचलित प्रवृत्तियों की आलोचना का कोई महत्व ही नहीं है। यद्यपि वे कोई व्यावहारिक सामाजिक योजना प्रस्तुत नहीं करते किन्तु शक्ति, एकरूपता और कुशलता पर आधारित आधुनिक समाज के विरुद्ध वे जो कुछ कहते हैं वह महत्वहीन नहीं है।[45]

पाठ्य-ग्रन्थ

1. Bose, Atindranath.,	A History of Anarchism,
2 Carter, April.,	The Political Theory of Anarchism.
3. कोकर, फ्रान्सिस;	आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, अध्याय 7, अराजकतावादी
4. Cole, G. D. H.,	A History of Socialist Thought Vol. II, Socialist Thought:Marxism and Anarchism.
5. Gray, A.,	The Socialist Tradition., Chapter XIII, The Anarchist Tradition,
6. Hunt, R. N. Carew,	Tha Theory and Practice of Communism-An Interoduction, Chapter XII, Anarchism,
7. जोर.,	आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, अध्याय 5, साम्यवाद तथा अराजकतावाद

45 Lancaster, L. W., Masters of Political Thought, vol. III, p 263

3
सिन्डीकलवाद

फ्रांस समाजवादी विचारधाराओं का घर रह चुका है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे यहाँ एक और समाजवादी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ जिसे सिन्डीकलवाद या श्रम संघवाद (Syndicalism) कहते हैं। वैसे इसे एक विचारधारा की अपेक्षा श्रमिक आन्दोलन कहना अधिक उपयुक्त होगा।

सिन्डीकेलिज्म शब्द फ्रेंच शब्द सिन्डीकेट (Syndicat) से निकला है जिसका अर्थ श्रमिक संघ (Labour Union) है। इस शब्द को स्पष्ट करते हुए लॉरविन (L Lorwin) ने लिखा है कि "सिन्डीकेट एक व्यवसाय या एक जैसे ही व्यवसायों के श्रमिकों का समुदाय है, जो समान हित से संगठित रहते हैं।[1] जब उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी मे फ्रांस के श्रम-संघों के प्रमुख राष्ट्रीय संगठन उग्र पन्थियों तथा नरम-पन्थियों मे विभक्त हो गये तब इन दोनों की विरोधी नीतियों के लिए 'क्रांतिवादी सिन्डीकेलिज्म' (Revolutionary Syndicalism) तथा 'सुधारवादी सिन्डीकेलिज्म' (Reformist Syndicalism) शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। कालान्तर मे श्रमिक संगठनों पर क्रान्तिवादी सिन्डीकेलिस्टों का अधिकार हो गया। तभी से फ्रान्स मे श्रमिक-संघ की नीति केवल 'सिन्डीकेलिज्म' (Syndicalism) के नाम से प्रसिद्ध हुई। दूसरे देशों मे भी छोटे श्रम संगठनों के ऐसे ही सिद्धान्तों के लिए इसी शब्द का प्रयोग होने लगा।[2]

सिन्डीकलवाद ऐसी समाजवादी विचारधारा है जिसमे सामाजिक क्रान्ति वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप होती है। अन्य क्रान्तिकारी समाजवादी विचारधाराओं की तरह सिन्डीकलवाद भी क्रान्ति के उपरान्त राज्य तथा सरकार की समाप्ति करके उनका सम्पूर्ण दायित्व श्रमिक संघों (Syndicats) को देना अपना लक्ष्य मानता है। उग्र अराजकतावाद तथा साम्यवाद की भांति सिन्डीकलवाद भी हिंसात्मक क्रान्ति के साधनों को अपनाता है।[3]

1 Lorwin L, Syndicalism in France, New York, 1914 p 125
2 कोकर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 289.
3 Gray, A, The Socialist Tradition, pp 408 409

विकास इतिहास

सिन्डीकलवाद का प्रादुर्भाव मुख्यतः फ्रान्स में हुआ। इसका कारण यह था कि फ्रान्स में लघु पैमाने के उद्योग अधिक थे तथा इन उद्योगों के संघ भी छोटे-छोटे रहते थे। सामान्यतः छोटे-छोटे श्रमिक संघ अपने लिये व्यापक संगठनों में संगठित नहीं कर सकते थे क्योंकि ऐसे बड़े श्रमिक संघों की ओर फ्रान्स की सरकार हमेशा शंका की दृष्टि से देखती थी। यही कारण है कि सिन्डीकलवाद ने श्रम की छोटी-छोटी इकाइयों को अधिक महत्व एवं प्राथमिकता दी गयी है।[4]

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम काल की अवधि तक फ्रांस में श्रमिकों के ऊपर अत्यधिक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। उन्हें अपने संघ निर्माण करने की आज्ञा नहीं थी; हड़तालें वर्जित थीं तथा सामूहिक रूप से कोई सौदेबाजी भी नहीं कर सकते थे। उन्हें सरकार की ओर से दमनकारी नीति तथा पूंजीपतियों की ओर से शोषण का सदैव सामना करना पड़ता था। अपने अधिकारों के लिए जब कभी श्रमिकों ने कोई आन्दोलन किया उसे राज्य द्वारा पूरी तरह दबाया गया। यही कारण है कि उस समय श्रमिक-वर्ग का राज्य के ऊपर से विश्वास हट गया। वे उसे पूंजीपतियों के हित-साधन तथा श्रमिक वर्ग का दमन करने वाली संस्था समझने लगे। श्रमिक-वर्ग को अपने प्रतिनिधियों पर भी विश्वास नहीं रहा। उनके जो प्रतिनिधि संसद में चुनकर जाते थे वे श्रमिकों के हितों को भुलाकर राज्य की दमन नीति के सहयोगी बन जाते थे। मिलरेन्ड (Millerand), विवेनी (Viviani), ब्रिया (Briand) ऐसे ही श्रमिक प्रतिनिधि थे जो श्रमिक उग्रवादिता छोड़कर शासन के समर्थक बन गये। श्रमिकों का अपने प्रतिनिधियों तथा प्रतिनिधि सभाओं से भी विश्वास हटता गया। इन परिस्थितियों में समाजवाद का भविष्य, सोरेल (George Sorel) के अनुसार, स्वशासित श्रमिक संघों पर ही निर्भर था।

इसी बीच मार्क्सवादी तथा अराजकतावादी विचार भी यूरोप के विभिन्न भागों में फैलते जा रहे थे। फ्रांस के सिन्डीकलवादियों पर इन दोनों विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा। फ्रांस की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने इन दोनों विचारधाराओं में जो भी उपयुक्त प्रतीत हुआ ग्रहण किया। मार्क्स से उन्होंने वर्ग-संघर्ष (class war) तथा पूंजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष ग्रहण किया। अराजकतावादियों, विशेषतः प्रूधों, से उन्होंने सघीय स्वायत्तता (federal autonomy) के विचार लिए। उन्होंने अराजकतावादियों की कार्य प्रणाली भी अपनाई। इसलिये सिन्डीकलवाद को मार्क्सवाद और अराजकतावाद का समन्वय कहा जाता है। हरबर्ट रीड (Herbert Read) के अनुसार सिन्डीकलवादी सिद्धान्त में चाहे न हों व्यवहार में अराजकतावादी हैं।[5]

4. Lancaster. L.W., Masters of Political Thought, vol. III, p. 277.
5. Read, Herbert, Anarchy and Order, Faber and Faber, London, 1954, p. 101.

इस समय फ्रांस का मजदूर वर्ग दुविधा में था। एक ओर तो उन्होंने यह अनुभव किया कि मार्क्सवाद से प्रभावित होते हुए भी वे मार्क्स के बताये गये कार्य-क्रम के अनुसार सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकते। दूसरी ओर फ्रान्स में सवैधानिक सुधारों की गति में कई बार रुकावट आई। इसलिये उन्हें अपने भाग्य सुधारने में न तो वैधानिक माध्यम कारगर प्रतीत हुए और न उनके प्रतिनिधि ही विश्वास के पात्र थे। इस परिस्थिति में फ्रास का श्रमिक वर्ग ऐसे साधनों की खोज में था जिनसे उनके उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके। सिन्डीकलवाद इसी का परिणाम था।

फ्रास में जब समाजवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ता जा रहा था उसी समय श्रमिक वर्ग के कुछ दार्शनिक नेताओं ने भी अपने विचारों से श्रमिकों की चेतना का विकसित करने में योगदान दिया। इनमें फर्नेण्ड पेलोतिये (Fernand Pelloutier, 1867 1901) तथा जार्ज सोरेल (George Sorel, 1847-1922) प्रमुख थे। विशेषत सोरेल सिन्डीकलवाद का मुख्य व्याख्याता माना जाता है।

पेलोतिये सम्भवत सबसे प्रथम व्यक्ति था जिसने यह विचार व्यक्त किया कि फ्रास के श्रमिकों को समस्त फ्रेञ्च राष्ट्र से अलग हो अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिये। इसे राजनीतिक समाजवादियों में तनिक भी विश्वास नहीं था। लेबर एक्सचेञ्जो (Bourses du Travail)[6] को इन राजनीतिक समाजवादियों के नियन्त्रण से पृथक रखने के लिये पेलोतिये 1894 में राष्ट्रीय फेडरेशन का मन्त्री बना जिस पद पर वह लगभग सात साल तक रहा। पेलोतिये की सगठन शक्ति से लेबर एक्सचेञ्जो ने कुछ प्रगति की। उसने फ्रास के मजदूर आन्दोलन पर इस विचार का प्रभाव डाला कि मजदूरों को स्थानीय लेबर एक्सचेञ्जो द्वारा कार्य करके अपने ही सहकारी उद्योगों द्वारा अपनी मुक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये।

सोरेल सबसे पहिली बार एक श्रमिक विचारक के रूप में प्रस्तुत हुआ। वह स्वय शिक्षित व्यक्ति था। अविवेकवाद (Irrationalism) को राजनीतिक पक्ष के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय सोरेल को है। उसने मनुष्यों को तर्क-युक्त विचारों से नहीं किन्तु उनकी भावनाओं को भड़काने तथा अविवेकपूर्ण बातों को स्वीकार करने के लिये प्रभावित किया जिससे श्रमिक बिना सोचे समझे उसके विचार एव कार्य-क्रम स्वीकार करलें।[7]

श्रमिकों में अपने विचारों का प्रसार करने के लिये सोरेल ने एक मासिक पत्र श्रम-सघ (Trade Unions) का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस पत्र के माध्यम से उसने इस विचार का प्रतिपादन किया कि समाजवाद का सम्पूर्ण भविष्य मजदूरों के सिन्डीकेटों के स्वतन्त्र विकास में है।

---

6 लेबर एक्सचेञ्ज फ्रास में छोटे छोटे श्रमिक सगठन थे जहां श्रमिक बैठकर अपने निजी हितों की चर्चा तथा कार्यक्रम पर विचार करते थे।

7 Lancaster, L W, Masters of Political Thought, Vol III p 276

पेलोतिये तथा सोरेल को सिन्डीकलवाद के मूल विचार व आधार प्रदान करने का श्रेय है। उनका विचार था कि "सर्वहारा वर्ग जिस सामाजिक परिवर्तन को चाहता है, वह आत्म-परिवर्तन होना चाहिये और वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का स्थान जो नई व्यवस्था लेगी वह उन संस्थाओं के रूप मे होगी जो मजदूरों द्वारा स्वयं अपने ही प्रयत्न से और सरकार के विरोध की उपेक्षा करके बनाई जायेगी।"[8]

यूरोप में समाजवाद की प्रगति का प्रभाव, फ्रांस में उग्र श्रमिकों का अभ्युदय, तथा कुछ चिन्तकों के विचारों से प्रभावित हो फ्रान्स की सरकार को आखिर झुकना पड़ा। सन् 1864 मे एक कानून के द्वारा हड़ताल करने के अधिकार को स्वीकार किया गया। इसके चार वर्ष बाद ही फ्रान्स की सरकार ने घोषणा की कि उन सभाओं के कार्य मे जिनके उद्देश्य शान्तिपूर्ण है राज्य किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा। इन प्रतिबन्धों के हट जाने तथा शासन की नरमाई से श्रम-संघवाद ने फ्रांस मे प्रगति करना प्रारम्भ किया।

वैसे फ्रास में श्रमिक संगठनो पर कड़े प्रतिबन्ध होते हुए भी यात्री सहायक सभाएँ (Travelers' Aid Societies) तथा पारस्परिक सहायता सभाएँ (Mutual Aid Societies) स्थापित की गयी थी। जब सरकार के कुछ उदारवादी दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप 1884 मे एक कानून द्वारा मजदूरो को अपने संघ स्थापित करने का अधिकार दिया तो श्रमिकों ने इस कानून का पूरा लाभ उठाया। स्थानीय श्रमिक संघो के कार्यों को संगठित करने के प्रयोजन से 1886 में मजदूर सभाओं का एक राष्ट्रीय संघ (National Federation) स्थापित किया गया। 1887 में सबसे पहला लेबर एक्सचेंज पेरिस मे स्थापित हुआ तथा कुछ ही समय में अन्य नगरों में लेबर एक्सचेंजों की स्थापना की गई। इन लेबर एक्सचेंजों का उद्देश्य मजदूरो के लिए रोजगार की खोज, उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करना, समाचार पत्रों का प्रकाशन करना, बेकार श्रमिकों को आर्थिक सहायता देना था। शीघ्र ही लेबर एक्सचेंज श्रमिक गतिविधियों के मुख्य केन्द्र बन गये।

1893 मे इस लेबर एक्सचेंजों का राष्ट्रीय संघ स्थापित किया गया तथा 1895 मे मजदूरों की एक नवीन तथा सर्वाङ्ग-पूर्ण संस्था को जन्म दिया गया जिसका नाम जनरल कनफेडरेशन आॅफ लेबर (Confederation Generale du Travail or C.G.T) था। क्रान्तिवादी सिन्डीकलवाद की विचारधारा तथा कार्यक्रम का सृजन इसी संस्था के तत्वावधान मे हुआ। इसके ही माध्यम से सिन्डीकलवाद को व्यावहारिक रूप दिया गया।

फ्रान्स का लेबर कनफेडरेशन शक्तिशाली था, जिसके तत्वावधान में काफी हड़तालें तथा तोड़फोड़ की गतिविधियाँ आयोजित की गई। किन्तु यह एक संगठित

8 कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ॰ 246-47.

संघ नहीं बन सका। इसमें पहले से ही नरम एवं उग्रवादियों में मतभेद चल रहे थे। 1906 में यह श्रमिकों की कार्य अवधि के प्रश्न पर मतभेद हो जाने के कारण और भी विभाजित हो गया।

सिन्डीकलवाद का फ्रान्स में धीरे धीरे पतन होने लगा। 1906 में सिण्डीकलवादियों ने एक व्यापक देशव्यापी आम हड़ताल के लिए आह्वान किया। यह हड़ताल हुई और यही इसके पतन का प्रारम्भ था। इसके अलावा प्रथम विश्व युद्ध के कारण लोगों का ध्यान युद्ध संचालन की तरफ अधिक था और सिण्डीकल आन्दोलन पृष्ठभूमि में होता चला गया।

सिन्डीकलवाद का प्रभाव फ्रान्स तक ही सीमित नहीं रहा, स्पेन तथा अमेरिका में भी इसके प्रभाव का प्रसार हुआ। स्पेन में प्रधों के अनुयायी मारगाल (P Margall) ने श्रमिक आन्दोलन को प्रोत्साहित किया। 1910 में एक श्रमिक-संघ (Federation of Labour) की स्थापना हुई। इसने स्पेन में बहुत कुछ उद्योगों को सचालित किया तथा रचनात्मक कार्यों को अपने हाथों में लिया।

अमेरिका में भी सिन्डीकलवाद ने श्रमिकों को प्रभावित किया तथा एक श्रमिक-संघ (Industrial Workers of the World or I. W W) की स्थापना हुई जिसमें 1905 में एक समाजवादी कार्य-क्रम स्वीकार किया। अमरीकी सिन्डीकलवादियों ने, जिनका प्रमुख कार्य स्थान शिकागो था, हड़तालों को प्रायोजित किया तथा प्रथम विश्व युद्ध के समय सैनिक सेवा के लिये सरकार का विरोध किया। इस कारण उन्हें अमरीकी सरकार तथा रूस के समर्थक समाजवादियों की आलोचना का शिकार होना पड़ा। इसकी गतिविधियों के कारण अगस्त 1918 में इन पर मुकदमा चलाया गया तथा बहुत से प्रमुख कार्यकर्त्ताओं को लम्बी सजाएं दी गयी। बहुत से सदस्यों ने अमेरिका के साम्यवादी दल की सदस्यता स्वीकार कर ली। तदुपरांत अमेरिका से सिन्डीकलवाद का पतन होता चला गया।

प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त रूस के साम्यवादी दल ने विश्व के सभी मजदूर संघों को एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ स्थापित करने के लिये आमन्त्रित किया। बहुत से सिन्डीकलवादियों ने इसका स्वागत किया जिसका सिन्डीकल आन्दोलन पर विपरीत प्रभाव पड़ा। युद्ध के उपरान्त ही फासीवाद विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। फासीवाद ने बहुत कुछ सिण्डीकलवादियों से ग्रहण किया। यूरोप में जैसे जैसे फासीवाद लोकप्रिय होता गया वैसे वैसे ही सिन्डीकलवादी इसके समर्थक बनने लगे।

इसी समय गिल्ड समाजवाद का प्रादुर्भाव हुआ। इस समाजवादी सम्प्रदाय ने सिण्डीकलवाद के कुछ तत्त्वों को ग्रहण किया। इसने सिण्डीकलवाद की त्रुटियों को भी दूर करने का प्रयत्न किया। सिण्डीकलवाद केवल उत्पादकों का ही समर्थन करता था, गिल्ड समाजवाद ने उत्पादक और उपभोक्ता दोनों के ही हिता

को संरक्षण दिया। साथ ही साथ गिल्ड समाजवाद शान्तिपूर्ण साधनों की ओर झुका हुआ था। इस प्रकार वे श्रमिक जो हिंसा, तोड़फोड तथा अन्य प्रत्यक्ष कार्यवाहियों से परेशान हो चुके थे, गिल्ड समाजवाद के समर्थक बन गये।

उपर्युक्त कारणों से सिण्डीकलवाद के प्रभाव में कमी आयी और पतन की ओर अग्रसर हुआ। किन्तु इसके अवशेष विश्व के कई राज्यों में शेष है।

सिन्डीकलवाद का अर्थ

सिण्डीकलवाद को परिभाषा करते हुए कोकर ने लिखा है—

"मोटे तौर से सिण्डीकेलिज्म यह मानता है कि श्रमिकों को ही उन स्थितियों का नियन्त्रण करना चाहिये जिनके अधीन वे कार्य करें और जीवन निर्वाह करें, जिन सामाजिक परिवर्तनों को वे चाहते हैं उन्हे वे केवल अपने ही प्रयत्नो से और अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुकूल साधनों से ही प्राप्त कर सकते है।"[9]

जोड के अनुसार—

"शिल्पी-संघवाद (सिण्डीकलवाद) की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि यह वह सामाजिक सिद्धान्त है जो श्रमिक-संघों को नवीन समाज की आधार शिला और साथ ही साथ वह साधन भी मानता है जिसके द्वारा अभिनव समाज की स्थापना की जायेगी। शिल्पी-संघवाद स्पष्टत: समाजवादी है, क्योंकि यह अन्य समाजवादी मतों की भांति पूंजी को चोरी मानता है तथा वर्ग-युद्ध की धारणा की पुष्टि करता है। यह उत्पत्ति के साधनों के निजी स्वामित्व का अन्त कर उसके स्थान पर सामुदायिक स्वामित्व को प्रतिष्ठापित करना चाहता है।"[10]

लेडलर (H. W. Laidler) ने अपनी पुस्तक-Social Economic Movements, में सिण्डीकलवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि यह विचारधारा व्यापार और उद्योग दोनों के श्रमिक संघों के मजबूत संगठन के लिये अत्यधिक जोर देती है ताकि नये औद्योगिक ढांचे का व्यवहार हो। वह उपभोक्ता की अपेक्षा उत्पादक को अधिक महत्व देता है; तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को बदलने के लिये आम हड़ताल और प्रत्यक्ष कार्यवाही जैसे साधनों को महत्व देता है। इसके अलावा यह राजनीतिक राज्य की उन्मूलन की आवश्यकता तथा श्रमिकों की मुक्ति के लिये राजनीतिक कार्यवाही की प्रभावशून्यता की बात कहते हैं।

9. कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ0 241.

10. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ0 62.

हूवर (G. E Hoover) ने स्वय की पुस्तक—Twentieth Century Political Thought– म सिन्डीकलवाद का अर्थ उन क्रान्तिकारियो के सिद्धान्त और कार्य-क्रम से है जो औद्योगिक सघो की आर्थिक शक्ति का प्रयोग पू जीवाद को नष्ट करने और समाजवादी समाज का सगठन करने के लिये करते हैं। [11]

सिन्डीकलवाद के विचार-सूत्र

सिन्डीकलवाद निषेधात्मक दर्शन है। इसमे लगभग सभी प्रचलित तत्कालीन व्यवस्थाओ और प्रणालियो का विरोध किया गया है। सिन्डीकलवादी विचार सूत्रो का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

1) सिन्डीकलवाद और अविवेकवाद (Syndicalism and Irrationalism)

सिन्डीकलवाद अविवेकवाद पर आधारित है। यह तर्क-सगतता या विवेक मे विश्वास नही करता है। सोरेल को महान् अविवेकवादी कहा जाता है। सोरेल का विश्वास था कि व्यक्तियो को उन बातो से प्रभावित करना चाहिये जो उनकी भावनाओ को छू लें। इसी कारण सोरेल भ्रान्तियो (myth) का भी प्रबल समर्थक था। [12]

अविवेकवाद का दूसरा पक्ष सोरेल का अज्ञानवाद (anti-intellectualism) था। सोरेल ने सुकरात से लेकर अपने तत्कालीन दार्शनिको तक लगभग सभी की अत्यन्त कडी निन्दा की है। उन्हे सोरेल ने पाखन्डी (humbug), उच्च वर्गीय कीटाणुओं के सेवक, मायावी (charlatans) आदि कह कर पुकारा[13] जिन्होने विश्व को गुमराह कर प्रगति-पथ पर कभी आगे नही बढने दिया। इस प्रकार सोरेल का उद्देश्य सिर्फ अपने विचार की अभिव्यक्ति कर व्यक्तियो को प्रभावित करना था। उसने इस पर कभी भी ध्यान नही दिया कि कोई तर्क-सगत या वैज्ञानिक दृष्टिकोण होता भी है या नही।

2) पूँजीवाद का विरोध

सिन्डीकलवादी पू जीवाद के प्रबल विरोधी हैं। उन्होंने अन्य समाजवादियों की भाँति पू जीवाद तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरुद्ध अपने लगभग वही तर्क दिये हैं। पू जीवादी व्यवस्था को वे शोषण व्यवस्था मानते हैं। ये कारखाने, कल-औजारो के स्वामी होने के नाते सब लाभ हडप लेते हैं। इन्होंने सम्पूर्ण समाज को कारखाने के नमूने पर सगठित कर रखा है। पू जीवाद का उन्मूलन करना सिन्डीकलवादियों का प्रमुख उद्देश्य है।

3 वर्ग-सघर्ष

सिन्डीकल आन्दोलन ने मार्क्सवाद से वर्ग-सघर्ष का सिद्धान्त ग्रहण किया है। ये वर्ग-सघर्ष को प्रमुख स्थान देते हैं। किन्तु यही सब कुछ नही हैं। इनके अनुसार

---

11 उद्धृत, आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ 618
12 Lancaster, L W, Masters of Political Thought, Vol III, p 289
13 Ibid, p. 301

वर्ग-संघर्ष महत्वपूर्ण है किन्तु अपनी विचारधारा में इसे साध्य या उद्देश्य के रूप में स्वीकार नहीं करते।[14] वे समाज में पूंजीपति तथा श्रमिक वर्गों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। पूंजीपति वर्ग उत्पादन के साधनों का स्वामी होने के कारण श्रमिकों का शोषण करता है। फलस्वरूप दोनों वर्गों में निरन्तर संघर्ष बना रहता है। दोनों वर्गों के परस्पर-विरोधी हित हैं। इस प्रकार की स्थिति के कारण श्रमिकों में वर्ग चेतना विकसित होती है और वे सगठित होकर पूंजी वर्ग के विरुद्ध संघर्ष करने को तैयार होते हैं। 4

श्रमिकों की स्वतन्त्रता एवं मुक्ति (f)

सिन्डीकलवादी श्रमिकों को उद्योगपति तथा पूंजीपतियों के चंगुल से मुक्त कर उसे उत्पादक की श्रेणी में लाना चाहते हैं। उनका कथन है कि "मानव व्यक्तित्व की सर्वोच्च अभिव्यक्ति, उसकी रचनात्मक शक्ति का प्रमाण उत्पादक कार्य में ही है। कम से कम, कार्य इस कोटि का उस समय होता है जबकि वह उसका निजी कार्य हो जिसे उसने स्वेच्छा से ऐसे उद्देश्यों तथा ऐसी अवस्थाओं में किया हो जिनका उसने स्वयं या अपने साथी मजदूरों के सहयोग से निर्धारण किया हो। तत्कालीन समाज में श्रमिक नीचे से ऊपर तक पराधीनता के बन्धनों में जकड़ा हुआ है। जहाँ उद्योगपति सामग्री, यन्त्रों तथा औजारों के स्वामी होते हैं वहाँ मजदूर कोई भी रचनात्मक कार्य नहीं कर सकता। सिन्डीकलवादी कारखाने आदि को स्वतन्त्र कराना चाहते हैं। जब कारखाना स्वतन्त्र होगा तो समाज भी स्वतन्त्र रहेगा और मजदूरों में गौरव तथा स्वाधीनता की भावना पुनः जाग्रत होगी।"[15]

मध्यमवर्ग तथा मध्यमवर्गीय समाजवाद का विरोध (5)

सिन्डीकलवादी मध्यमवर्ग के विरोधी होने के साथ साथ मध्यमवर्गीय समाजवाद के प्रति भी श्रद्धा नहीं रखते। उनका कहना है कि श्रमिक समाजवादियों को छोड़ कर अन्य सभी समाजवादी मध्यमवर्गीय थे। सिन्डीकलवाद को छोड़कर सभी समाजवादी सिद्धान्त चतुर मध्यमवर्गीय सिद्धान्तशास्त्रियों के मस्तिष्क की उपज हैं। बुद्धिजीवियों को समाज की जो व्यवस्था आदर्श प्रतीत होती है उसी के अनुसार वे श्रमिकों को संगठित करना चाहते हैं। उन्हें श्रमिकों की आवश्यकताओं का कोई ज्ञान *नहीं होता। इन आवश्यकताओं को श्रमिकों द्वारा निर्मित व्यवस्था ही व्यक्त कर* सकती है। इसलिये सिन्डीकलवादियों का यह दावा था कि उनका समाजवाद स्वयं श्रमिकों का है, जो श्रमिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से कर सकता है। इस सम्बन्ध में सिन्डीकलवादी एक और तर्क प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार श्रमिकों और मध्यमवर्गीय व्यक्तियों के मध्य किसी भी प्रकार का समन्वय नहीं होना चाहिये।

---

14 Hallowell, J H, Main Currents In Modern Political Thought, p 459.

15 कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 248.

समाज में वर्ग चेतना को जीवित रखना अत्यन्त आवश्यक है। मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों के साथ रहने या उस वर्ग में मिलने से श्रमिकों में क्रान्ति या अन्य कार्यवाही करने के उत्साह में मन्दी पड जाती है।[16]

राज्य का विरोध (6)

सिन्डीक्लवादी राज्य के प्रबल विरोधी हैं। इनका इस संस्था में बिलकुल विश्वास नहीं है। राज्य के प्रति विरोध और अविश्वास के ये निम्नलिखित कारण देते हैं —

प्रथम, राज्य को सिन्डीकलवादी एक मध्यमवर्गीय संस्था मानते हैं। इस प्रकार इनका मध्यमवर्ग के प्रति विरोध राज्य के प्रति भी लागू होता है।

द्वितीय, राज्य समाज में पूंजीपतियों के शोषण का साधन है। राज्य इस शोषण का श्रमिकों के पक्ष में कभी विरोध नहीं कर सकता।

तृतीय, राज्य में केन्द्रीय व्यवस्था होती है। "हर केन्द्रीय संगठन एकरूपता और क्रमबद्धता की ओर प्रवृत्त होता है। उसमें कल्पनाशीलता एवं उपक्रम का अभाव होता है, तथा वह स्थानीय विकास और उद्यम को अविश्वास की दृष्टि से देखता है। इसलिये, यदि किसी उदार राज्य को भी उद्योग का नियंत्रण सौंप दिया जाय, तो वह कालान्तर में प्रगति का शत्रु हो जायेगा।"[17]

चतुर्थ, राज्य सेवा में नियुक्त व्यक्ति अधिकाराभिमानी और सहानुभूतिहीन होते हैं। वे उन लोगों की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं पर कोई ध्यान नहीं देते, जो वास्तविक-उत्पादन कार्य में संलग्न होते हैं। लोक सेवा का मध्यमवर्गीय पदाधिकारी श्रमिकों की आवश्यकताओं को नहीं जान सकता। यही कारण है कि औद्योगिक संगठन का कार्य शारीरिक श्रम करने वाले श्रमिकों के हाथ में ही होना चाहिये।

राष्ट्र तथा राष्ट्रीय भावना का विरोध (7)

राज्य के साथ साथ सिन्डीकलवादी राष्ट्र तथा राष्ट्रीय भावना का भी विरोध करते हैं। इनका कहना है कि 'हमारा देश' 'हमारा राष्ट्र' आदि नारे एक ढोंग हैं। ये धारणाएँ पूंजीवादियों द्वारा प्रसारित की गई हैं। श्रमिकों की कोई मातृभूमि नहीं होती। वस्तुत: समस्त संसार के श्रमिकों की समस्याएँ एक हैं तथा उनमें कोई विरोध नहीं है।

जनतान्त्रिक व्यवस्था का विरोध (8)

शासन व्यवस्था के विषय में सिन्डीकलवादियों पर फ्रांस की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का प्रभाव पड़ा है। फ्रांस में राजनीतिक अस्थिरता, लोकतांत्रिक संस्थाओं

---

16. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ० 65.
17. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ० 64.

का धीमा विकास; श्रमिक प्रतिनिधियों का श्रमिकों के प्रति विश्वासघात; शासन का श्रमिक सुधारों के प्रति उदासीन दृष्टिकोण आदि के कारण सिन्डीकलवादी सभी प्रकार की शासन व्यवस्था, विशेषतः लोकतान्त्रिक प्रणाली, के विरोधी हो गये तथा उसकी उन्होंने कटु आलोचना की। लोकतन्त्र की निन्दात्मक व्याख्या करते हुए सिन्डीकलवाद के प्रमुख प्रवक्ता सोरेल ने कहा था :—

"लोकतन्त्र मनुष्यों के मस्तिष्कों को उलझन में डालने में सफल होता है, बुद्धिमान व्यक्तियों को वास्तविकता पहचानने में रुकावट डालता है, क्योंकि इस व्यवस्था में वे भाग लेते हैं जो समस्याओं को उलझाने में निपुण हैं। लोकतान्त्रिक युग के विषय में यह कहा जा सकता है कि मानव शब्द-आडम्बर से शासित होता है न कि विचारों से; फारमूलेबाजी से न कि विवेक से...."[18]

सोरेल के अनुसार जन-शासन सिर्फ कल्पना है। संसदीय वातावरण हमेशा जहरीला रहता है। यह मनुष्य को छोटे-मोटे पूंजीपति के रूप में पतित कर देता है। जिस प्रकार बहुमत प्राप्त किया जाता है उससे किसी भी प्रकार की अच्छाई की आशा करना व्यर्थ है।[19] बहु-संख्यकों का शासन-सिद्धान्त मध्यवर्गीय अन्धविश्वास के अलावा कुछ नहीं। संक्षिप्त में सिन्डीकलवाद—

(i) लोकतांत्रिक व्यवस्था का विरोध करता है, इसके साथ साथ,

(ii) संसदीय प्रणाली में अविश्वास; तथा

(iii) राजनीतिक दलों में किसी भी प्रकार की श्रद्धा नहीं रखता।

अधिनायकत्व एवं राज्य समाजवाद का विरोध

जब सिन्डीकलवाद में राज्य का विरोध किया गया है तो वे उन सभी सिद्धान्तों का विरोध करते हैं जिनके द्वारा राज्य की उपयोगिता एवं महत्ता को स्वीकार करने के साथ साथ राज्य को अधिनायकवादी अधिकार प्रदान करते हैं। इस सन्दर्भ में वे न तो सर्वहारा अधिनायकत्व (Dictatorship of the Proletariat) में और न राज्य समाजवाद (State Socialism) में विश्वास रखते हैं। सर्वहारा अधिनायकत्व प्रारम्भ में तो श्रमिकों को सत्ता उपलब्ध करता है किन्तु अन्तिम रूप में यह एक दल तथा एक नेता के अधिनायकत्व की स्थापना करता है। इसी प्रकार राज्य समाजवाद में सरकारी अधिकारियों का उत्पादन पर नियन्त्रण बढ़ जाता है। यह मनोवृत्ति उत्पादकों के लिये हानिकारक होती है।

भावी समाज की रूपरेखा

सिन्डीकलवादियों ने जितना साधनों को महत्व दिया है उतना साध्य को नहीं। जिन उद्देश्यों या भावी समाज का ये सृजन करना चाहते हैं उसका उन्होंने कोई

18. Quoted by Lancaster, L. W., Masters of Political Thought. Vol III, p 280
19 Ibid., pp. 280-81.

विशद चित्र प्रस्तुत नहीं किया है।[20] वास्तव में वे भावी समाज का व्यापक चित्र प्रस्तुत करना भी नहीं चाहते थे। उनका विश्वास था कि इस प्रकार की योजना प्रस्तुत करना असम्भव एवं अनावश्यक दोनों ही था। उनका कहना था कि ऐसा करने से निश्चय ही हानि होगी। समाज की काल्पनिक रूपरेखा यदि प्रस्तुत की जाय तो व्यक्तियों में सुधारवादी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होंगी तथा थोड़ा बहुत हेर फेर करके वे इसी समाज व्यवस्था को स्वीकार कर लेंगे। इसलिये इस समय वे सिर्फ वर्तमान व्यवस्था को समाप्त करने तक ही अपने को सीमित रखते हैं।

इतना सब होते हुए भी सिन्डीकलवाद के व्याख्याताओं की रचनाओं में भावी समाज की कुछ मोटी सी रूप-रेखा मिल ही जाती है। विशेषत दो भूतपूर्व अराजकतावादी पातांद (Patand) तथा पूगे (Pouget) की पुस्तक—How We Shall Bring About Revolution, 1913,—में भावी सिन्डीकलवादी समाज का चित्रण किया गया है।

सिन्डीकलवादियों के विचारों से भावी समाज से सम्बन्धित कुछ सैद्धान्तिक बातें स्पष्ट हो जाती हैं जैसे—

प्रथम, वे मार्क्सवादियों की तरह तत्कालीन व्यवस्था का क्रान्ति द्वारा उन्मूलन कर किसी भी प्रकार के अधिनायकत्व के पक्ष में नहीं हैं।

द्वितीय, वे विकासवादी समाजवादियों की भाँति लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था का भी निर्माण नहीं करेंगे।

तृतीय, सिन्डीकलवादी अराजकतावादियों की तरह राज्य को तत्काल समाप्त करने की कहते हैं किन्तु राज्य की समाप्ति के बाद वे व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार समाज सर्जन करने के लिये स्वतन्त्र भी नहीं छोड़ना चाहते।

सिन्डीकलवादी समाज का मूल आधार श्रमिक-संघ हैं। वे फ्रांस में स्थापित श्रमिक कनफेडरेशन (C.G.T) के नमूने पर नवीन सामाजिक संगठन की बात सोचते थे। इस कनफेडरेशन में दो प्रकार की संस्थाएँ थीं—सिन्डीकेट और बोर्ज (लेबर एक्सचेन्ज)। सिन्डीकेट में एक ही उद्योग से सम्बन्धित श्रमिक सम्मिलित हुआ करते थे, किन्तु बोर्ज स्थानीय संस्था होती थी। एक बोर्ज में एक ही स्थान पर विभिन्न उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिक शामिल होते थे। सिण्डीकलवादियों का विचार था कि बोर्ज जैसा श्रमिक-संघ स्थानीय सामाजिक संगठन की इकाई होगा। इस प्रकार के स्थानीय संगठन के निम्नलिखित कार्य होंगे —

(1) उद्योगों से सम्बन्धित इमारतें, मशीन तथा अन्य उत्पादक सामग्री की सुरक्षा करना,

---

20 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ 65,
कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 257.

(ii) उत्पादन के सारे काम की देखभाल करना;
(iii) माल के आयात-निर्यात की देखभाल करना,
(iv) स्थानीय आर्थिक आवश्यकताओं से परिचित होना, तथा
(v) इसी प्रकार के अन्य दूसरे श्रमिक संघों से सम्पर्क बनाये रखना, आदि।

सिन्डीकलवादी राज्य का उन्मूलन तो करते है लेकिन वे भावी समाज की व्यवस्था हेतु किसी न किसी प्रकार के केन्द्रीय संगठन का समर्थन करते है। वे राज्य से सम्बन्धित संस्थाओं जैसे कारागार, पुलिस, न्यायालय की समाप्ति की बात कहते हैं क्योंकि उनकी कल्पना है कि नयी सामाजिक व्यवस्था मे इस तरह का वातावरण होगा जो हर व्यक्ति की उन्नति और विकास के अनुकूल हो। इसलिये अपराधों की स्वत. ही समाप्ति हो जायेगी। किन्तु कुछ ऐसे भी कार्य है जैसे डाक-व्यवस्था, रेल, सार्वजनिक सेवाएं, उद्योगों के मध्य ताल-मेल बैठाना आदि जिनके लिये वे राष्ट्रीय श्रमिक संघों को आवश्यक मानते है।

अन्त में सी जी. टी. की भाँति एक व्यापक राष्ट्रीय श्रमिक-संघ होगा जो उन सब मामलों के विषय मे निर्णय लेगा जैसे उद्योगों में एक-सी नीति अपनाना, बच्चे, बूढ़े और बीमारों की देखभाल, काम के लिए न्यूनतम और अधिकतम आयु का निर्णय, वेतन का माप दंड तथा काम के घण्टे आदि का निर्धारण करना।

रक्षा व्यवस्था के विषय में सिन्डीकलवादियों की धारणा है कि उनका समाज कभी युद्ध नहीं करेगा दूसरे श्रमिकों और जनता में इतना घनिष्ट सम्पर्क होगा कि उनके मन मे समाज विरोधी कार्य करने का विचार उत्पन्न ही नहीं होगा। इसलिए स्थायी पेशेवर सेना, पुलिस तथा सैनिक स्कूलों की आवश्यकता नहीं रहेगी। किन्तु कभी-कभी विशेष स्थिति का सामना करने के लिए हर संघ मे सशस्त्र श्रमिकों की एक टुकड़ी होगी जिसका मुख्य कार्य प्रतिक्रियावादियों को रोकना होगा। कई संघों की ऐसी टुकड़ियां मिलाकर बड़ी टुकड़ियाँ बना ली जायेंगी जिन्हे केन्द्रीय संघ से अधिकार आदि दिये जायेंगे। प्रतिरक्षा की दृष्टि से सिन्डीकलवादी इतनी ही व्यवस्था को पर्याप्त समझते है।[21]

साधन-पद्धति (Means and Methods)

यह पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि राजनीतिक साधनों से परिवर्तन करने मे सिन्डीकलवादी विश्वास नहीं करते। वे श्रमिकों के कल्याण के लिए अपने प्रतिनिधियों को भी श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखते। अनुभव से उन्होंने यह सीखा है कि श्रमिकों को अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये स्वयं पर ही निर्भर रहना चाहिये। "श्रमिकों

21 सिन्डीकल समाज की रूप रेखा के लिए देखिये—
जोड़, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 66-68.
कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 255-58.

को राज्य की सत्ता संसद-सदस्य या प्रतिनिधियों द्वारा परोक्ष रूप से प्राप्त करने की चेष्टा न कर प्रत्यक्ष रूप से अपने संघ की शक्ति द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।'[22]

आर्थिक साधन

सिन्डीकलवाद साधनों के विषय में इस धारणा से प्रारम्भ होता है "कि आर्थिक शक्ति ही सत्ता ग्रहण करने की कुंजी है।" श्रमिकों के राजनीतिक मत भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु उनके आर्थिक हित समान हैं अतः औद्योगिक क्षेत्र में उनमें एक प्रकार की ऐसी सुदृढ़ एकता होती है जिसका सामान्यतः राजनीतिक क्षेत्र में अभाव होता है। वे हड़ताल एक साथ करेंगे परन्तु एक मत से एक ही व्यक्ति को निर्वाचित नहीं करेंगे। प्रत्येक दृष्टि से राजनीतिक दल क्रान्ति का एक अत्यन्त ही निर्बल साधन है, वह विभिन्न रहता है, उसके अधिवेशन कभी-कभी होते हैं, और उसका आकार इतना बड़ा होता है कि वह लोक-स्वरूप को प्रत्यक्ष रीति से अभिव्यक्त नहीं कर सकता [23]

इस प्रकार सिन्डीकलवादी अपनी सारी शक्ति को आर्थिक क्षेत्र में केंद्रित करते हैं, जो उन्हें एकता, सबलता तथा अतिरिक्त शक्ति प्रदान करते हैं।

सिन्डीकलवादी अपने साधनों में मार्क्स के निकट होते हुए भी उसकी शिक्षा का पूर्ण रूप से पालन नहीं करते। वे क्रान्ति में इसलिये विश्वास नहीं करते क्योंकि उसके लिये स्थिति उपयुक्त नहीं है। पूँजीपति, सौदा करके, समझौता करके, *श्रमिकों में मतभेद कर तथा स्वामी और श्रमिकों के मध्य अन्तर कम करने का प्रयत्न* करते हैं। इन परिस्थितियों में क्रान्ति का सफल होना संदिग्ध है। किन्तु वे हिंसात्मक कार्यवाहियों की भी अवहेलना नहीं करते। "यह हिंसा ही है।" सोरेल के शब्दों में, 'जिससे समाजवाद उच्च नैतिक मान्यता ग्रहण करता है, जिनके माध्यम से आधुनिक *विश्व की मुक्ति होगी।*'[24]

प्रत्यक्ष कार्यवाही (direct action)—इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए सिन्डीकलवादी कई साधनों का सुझाव देते हैं जिनके द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था की समाप्ति कर श्रमिक संघों की व्यवस्था प्रारम्भ होगी। सभी साधन प्रत्यक्ष कार्यवाही (direct action) पर आधारित थे। सोरेल के शिष्य लेगार्दे (Lagardelle) के अनुसार, प्रत्यक्ष कार्यवाही का तात्पर्य था कि कार्यों को दूसरों पर न छोड़ा जाय जैसा कि प्रतिनिधि प्रणाली के अन्तर्गत होता है। श्रमिक वर्ग को स्वयं ही कार्यवाही करने के लिये दृढ़ निश्चित होना चाहिये।[25] इस प्रत्यक्ष-कार्यवाही के, सिन्डीकलवादियों के अनुसार, निम्नलिखित स्वरूप हैं—

---

22 जोड, आधुनिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 68.

23 उपरोक्त, पृ 69

24 Quoted, Bose, A , AHistory of Anarchism, p 312

25 *Ibid* , p 304

—ग्राम हड़ताल (General Strike)[26]—सिन्डीकलवादी हड़ताल को सबसे प्रभावकारी साधन मानते हैं जिसके द्वारा वे पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त कर सामाजिक शान्ति का उत्पादन के साधनों पर अधिकार कर लें। सोरेल की पुस्तक-Reflections on Voilence—वास्तव में हड़ताल का ही दर्शन है। हड़ताल के औचित्य को सही सिद्ध करने के लिए वे कई तर्क देते हैं, जैसे—

प्रथम, हड़ताल से श्रमिकों की दबी हुई शक्ति का प्रदर्शन होता है।

द्वितीय, यह श्रमिकों में सहयोग एवं एकता की भावना जागृत करती है।

तृतीय, यह वर्ग-भेद तथा दोनों वर्गों के मध्य तनाव पैदा करती है जिससे श्रमिकों में युद्ध करने जैसी शक्ति आती है और वे पूंजीवाद को उखाड़ने के लिये और दृढ़-सकल्प हो जाते हैं।

चतुर्थ, ग्राम हड़ताल के साधन को अपनाने से श्रमिक-वर्ग मध्य-वर्ग की धोखा-धड़ी में नहीं फस पाता।

पंचम, जब जनता अपने शासन से असन्तुष्ट होती है तो वह हड़तालों द्वारा अपना क्रोध व्यक्त करती है। इसका सरकार के विरुद्ध लोकमत निर्माण करने के लिये भी प्रयोग किया जाता है।

अन्त में, हड़ताल में श्रमिकों द्वारा हिंसा का प्रयोग नैतिक है। इससे उनकी आध्यात्मिकता की अभिवृद्धि होती है।

हड़ताल के महत्व का बखान करते हुए सोरेल ने कहा है:—

"हड़तालों द्वारा श्रमिक-वर्ग में श्रेष्ठतम, आन्तरिक तथा मर्मस्पर्शी भावनाओं का अभ्युदय होता है; ग्राम हड़ताल उन सबका समूहीकरण कर एक संयोजित चित्र-उपस्थित करती है और उन्हें एक दूसरे के निकट लाकर प्रत्येक को अत्यधिक तीव्रता प्रदान करती है।"[27]

इस सम्बन्ध में सिन्डीकलवादियों के विचारों को व्यक्त करते हुए लॉरविन ने लिखा है कि—

"हित-संघर्ष में हड़ताल श्रमिकों और स्वामियों को आमने-सामने लाकर खड़ा कर देती है। बिजली की चमक की भांति हड़ताल श्रमिकों और मालिकों के बीच गहरे विरोध को एक दम स्पष्ट कर देती है। इससे

25 For detailed study of this method see Gray, A., The Socialist Tradition, pp. 418-32.

27. "Strikes have engendered in the proletariat the noblest, deepest and most moving sentiments that they possess; the general strike groups them all in a co-ordinated picture, and by bringing them together gives to each one them its maximum intensity."
Reflections on Violenc, p. 137.

उनके बीच की खाई और भी गहरी हो जाती है जो मजदूरों की एकता तथा संगठन को बल प्रदान करती है। यह एक क्रान्तिकारी तत्व है जिसका महान महत्व है।"[28]

सिन्डीकलवादी जब हड़ताल की बात करते हैं, इससे उनका तात्पर्य आम हड़ताल (General strike) से है न कि उन छोटी मोटी हड़तालों से-जो वेतन वृद्धि, बोनस, काम अवधि घटाने आदि के लिये की जाती है। किन्तु सिन्डीकलवादियों के अनुसार आम हड़ताल का तात्पर्य यह नहीं कि देश भर के मजदूर एक साथ कार्य करना बन्द कर दें। इसका अर्थ हड़ताल में बहु-संख्यक श्रमिकों का सम्मिलित होना भी नहीं है। एक सिन्डीकलवादी के लिये यही आम हड़ताल है कि देश के मुख्य उद्योगों में काम करने वाले मजदूर पर्याप्त संख्या में हड़ताल कर दें। उनका विश्वास था कि आधुनिक युग में इतनी पारस्परिक निर्भरता है कि अल्प संख्या में भी मजदूर प्रत्यक्ष कार्यवाही करके पूरी व्यवस्था को ठप्प कर देंगे। जैसे ही एक पर्याप्त संख्या में वर्ग-चेतना से ओत-प्रोत और अनुशासनबद्ध श्रमिक तैयार हो जाएँ वैसे ही आम हड़ताल की घोषणा कर उत्पादन साधनों पर अधिकार कर लेना चाहिये।

सामान्यतः सिन्डीकलवादी आम हड़ताल को ही प्राथमिकता देते हैं किन्तु वे दिन-प्रतिदिन छोटी-छोटी हड़तालों के महत्व की अवहेलना नहीं करते। उनके अनुसार प्रत्येक हड़ताल अपने में अच्छी चीज है। जब भी और जहाँ भी अवसर मिले हड़ताल को प्रोत्साहन देना चाहिये। हर हड़ताल आम हड़ताल की तैयारी में सहायक होती है। यदि कोई हड़ताल असफल भी हो जाये तो भी कोई हानि नहीं। कम से कम उससे श्रमिकों में वर्ग-चेतना, क्रान्तिकारी उत्साह और आन्दोलन के लिए उग्र भावना का विकास तो हुआ। ऐलेग्जेन्डर ग्रे के शब्दों में "छोटी से छोटी हड़ताल यदि बार-बार की जाय तो श्रमिकों में समाजवादी भावना को प्रबल करने, उनमें वीरता, त्याग व एकता की भावना भरने तथा क्रान्ति की आशा को चिरस्थाई बनाये रखने में असफल नहीं हो सकती।"[29]

ध्वंसात्मक कार्य अथवा तोड़-फोड़ की नीति (Sabotage)-सिन्डीकलवादियों का संघर्ष निरन्तर तथा कई प्रकार से चलता रहना चाहिये। हड़ताल के अलावा वे और भी अन्य साधनों का समर्थन करते हैं जैसे तोड़-फोड़, छाप (label) तथा बहिष्कार आदि। इन अन्य साधनों के अपनाने का मूल उद्देश्य यह है कि जब तक आम हड़ताल द्वारा पूंजीवाद तथा राज्य का विनाश न हो जाय तब तक श्रमिकों को निरन्तर उनके विरुद्ध कोई न कोई कार्य करते रहना चाहिये।

ध्वंसात्मक कार्य का अर्थ, कोकर के अनुसार, यह है कि उद्योगपति की सम्पत्ति का विनाश श्रमिकों द्वारा आलस्यपूर्ण कार्यों, ढंग से कार्य न करके स्वामी की

28 Lorwin, L., Syndicalism in France, New York, 1914, pp 126-27
29 Gray, Alexander, The Socialst Tradition, pp 419-20

सम्पत्ति की फिजूलखर्ची तथा अन्य ध्वंसात्मक कार्यों से किया जाय। ध्वंसात्मक कार्य श्रमिकों को कारखाने में काम करते हुए या हड़ताल के समय कभी भी करते रहना चाहिये।[30] अन्य शब्दों में तोड़-फोड़ के मुख्य रूप है मन लगाकर कार्य न करना धीरे-धीरे काम करना, आदेशों का अक्षरशः पालन न करना, ग्राहकों को वस्तुओं के दोष बतलाना जिससे वे वस्तुएं न खरीदें, मशीनों को जान बूझ कर खराब करना आदि। हालांकि सोरेल ने तोड़-फोड़ की नीति का विरोध किया, क्योंकि भविष्य में इससे श्रमिकों को हानि होगी तथा उनके चरित्र पर प्रभाव पड़ेगा, किन्तु सिन्डीकलवाद के प्रत्यक्ष साधनों में इसका भी महत्व रहा है।

छाप (Label)–इसका यह तात्पर्य है कि श्रमिकों के–नियन्त्रित कारखानों में बनी हुई वस्तुओं पर श्रमिक एक अलग प्रकार की छाप लगाकर जनता से अपील करेंगे कि वे सिर्फ श्रमिकों द्वारा नियन्त्रित कारखानों में बनी हुई वस्तुओं को खरीदें न कि पूंजीपतियों के कारखानों में निर्मित माल। सिन्डीकलवादी समझते थे कि ... पूंजीपतियों के माल की बिक्री पर गहरा एवं विपरीत प्रभाव पड़ेगा।

बहिष्कार—बहिष्कार साधन के अन्तर्गत श्रमिक पूंजीपतियों के माल का बहिष्कार करने का प्रचार करेंगे। जहां सम्भव होगा वहाँ वे स्वयं भी बहिष्कार में ... भाग लेंगे। इससे वे पूंजीपतियों के माल की बिक्री में विघ्न डालकर हानि पहुंचाना चाहते हैं।

इसके साथ-साथ श्रमिक कैकेनी-नीति ('Ca' canny') नीति भी अपनाएँ। इसका अर्थ है कि वे अधिक सावधानी से काम करें ताकि पूरे समय में बहुत ... काम हो।[31]

उपर्युक्त सिन्डीकलवादी साधन वास्तव में हिंसा और अहिंसा दोनों का ... मिश्रण है। हड़ताल हिंसात्मक या बिना हिंसा के भी हो सकती है। तोड़-फोड़ नीति के साथ हिंसा सम्बन्धित है। किन्तु 'छाप' तथा बहिष्कार अहिंसात्मक श्रेणी में आते हैं। फिर भी सिन्डीकलवादी इन सभी साधनों को हिंसा पर आधारित मानते हैं क्योंकि वे हिंसा को भी अपने कार्य-क्रम एवं दर्शन में उचित स्थान देते हैं। ... भी हो उनके साधन पूर्णतः हिंसात्मक नहीं हैं।

सिन्डीकलवाद का मूल्यांकन

सिन्डीकलवाद का अविवेकीय (Irrationalist) आधार

सिन्डीकलवाद तथा इसके प्रमुख व्याख्याता सोरेल के विचारों का आधार ... था। अविवेकवाद का तात्पर्य किसी बात को तथ्यों तथा तर्क संगतता के आधार पर ... करना नहीं होता। इसके अन्तर्गत मनुष्य की भावनाओं और मूल प्रवृत्तियों का

30. कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 252-53.

31. जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 71.

होता है।[32] अविवेकवादी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये भ्रान्तियों (myth) का सहारा लेते हैं। जब सिन्डीकलवादी का यह आधार है तो विवेक, तर्क-बद्धता की अपेक्षा करना व्यर्थ है। जहां पर बुद्धिजीवियों की पूर्ण निन्दा की जानी हो तो ऐसी विचारधारा से ज्ञान अर्जन के तत्व ढूंढना भी असम्भव है। यही कारण है कि अराजकतावाद में सर्वत्र दोष ही दोष दृष्टिगोचर होते हैं।

राज्य का विरोध 2

मार्क्सवादी एवं अराजकतावादियों की भांति सिन्डीकलवादी राज्य के उन्मूलन का समर्थन करते हैं। सिन्डीकलवादियों का यह विचार बिलकुल ही अव्यावहारिक है। मनुष्य के जीवन में राज्य के महत्व की जो वृद्धि हो रही है तथा यह संस्था सक्रिय रूप से जिस प्रकार सकारात्मक एवं जनकल्याण के कार्यों को अपने हाथों में ले रही है इससे तो यही सिद्ध होता है कि राज्य मनुष्य का मित्र है तथा अच्छे जीवन व्यतीत करने में सहायता देने के लिये सर्वोत्तम साधन है।

हालांकि सिन्डीकलवादी राज्य की समाप्ति की बात कहते हैं लेकिन जिस समाज की वे कल्पना करते हैं तथा जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय श्रम संगठनों को जो अधिकार दिये जायेंगे वे वास्तव में वे ही कार्य हैं जिन्हें आजकल राज्य करता है। इस प्रकार एक ओर तो ये राज्य के उन्मूलन का समर्थन करते हैं लेकिन दूसरी ओर पिछले दरवाजे से वे राज्य को को पुन. वापस ले आते हैं। इस सम्बन्ध में बार्कर (Ernest Barker) के विचार उल्लेखनीय है। बार्कर ने लिखा है कि—

> "या तो राज्य की समाप्ति हो जानी चाहिये जैसाकि सिन्डीकल-वादी व्यक्त करते हैं, इसका तात्पर्य अराजकता (अस्त-व्यस्त या उथल-पुथल) होगा, या फिर राज्य को रहना चाहिये—और यदि आप समाज-वाद चाहते हैं तो वह राज्य द्वारा ही सम्भव हो सकेगा। अगर राज्य को रखना है तो राज्य में अपने नागरिकों के जीवन से सम्बन्धित अन्तिम रूप से उत्तरदायित्व निहित होना चाहिये।"[33]

राष्ट्रीयता 3

सिन्डीकलवादी राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता के विरोधी हैं। ये श्रमिकों का न तो कोई राष्ट्र मानते हैं और न राष्ट्रीयता। यह सिर्फ एक भ्रान्ति ही है। राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता की

32 Kilzer and Ross, Western Social Thoughts, p 281

33 "Either the state must go, as Syndicalists seems to advocate, and that means chaos, or the state must remain and then, if you are to have Socialism it must be a state Socialism If there is to be a state, it must have the final responsibility for the life of its citizens"

Barker, E, Political Thought in England, p 203

परिधि को लाँघकर सिन्डीकल समाज की स्थापना ठीक प्रतीत नही होती।[34] युद्ध के समय यह बात कई बार स्पष्ट हो चुकी है कि विभिन्न देशों के श्रमिक अपने-अपने देशों की सरकार को किस प्रकार व्यापक समर्थन देते है। श्रमिको द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय एकता की बात किसी सीमा तक स्वीकार की जा सकती है किन्तु राष्ट्र को समाप्त कर अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समाज की स्थापना करना एक यूटोपियायी विचार ही प्रतीत होता है।

मध्यम वर्ग 4

सिन्डीकलवादियो ने मध्यम वर्ग की जो निन्दा की है वह उनकी मूर्खता का प्रमाण है। प्रत्येक समाज मे मध्यवर्ग संख्या में सबसे अधिक, अतिवादिता का विरोध करने वाला तथा राजनीतिक स्थायित्व प्रदान करने वाला होता है। यह बात आधुनिक राज्य मे ही सही नही किन्तु प्राचीन काल मे अरस्तु ने भी राजनीति मे मध्यम वर्ग के योगदान को व्यापक रूप से स्वीकार किया। मध्यम वर्ग का उन्मूलन कर किसी भी स्थायी समाज की स्थापना नही हो सकती।

निश्चित भावी समाज की व्यापक रूप रेखा का अभाव

सिन्डीकलवादियों के समक्ष कोई निश्चित आदर्श-समाज की व्यापक रूप रे॰ नही है। वे जो भी रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं वह न तो स्पष्ट है और न निश्चित इसलिए यह विचारधारा उद्देश्य-हीन प्रतीत होती है। जिस विचारधारा में नि॰ उद्देश्य नहीं होते तो उसके प्रभाव का संकुचित होना भी स्वाभाविक था। कोई व्यक्ति हड़ताल या हिंसात्मक कार्यवाहियों मे क्यों सम्मिलित होगा जब उसके यह स्पष्ट नहीं है कि ऐसा करने के लिये वह किसलिये प्रेरित हो रहा है। उद्दे॰ हीन विचारधारा कभी भी प्रभावशाली नही हो सकती।

संकीर्ण क्षेत्रीयवाद (6)

लेकिन सिन्डीकलवादियों ने अपनी जो सामाजिक रूप रेखा प्रस्तुत की है ॰ स्थानीय श्रमिक संघों को अत्यधिक महत्व दिया है। आलोचकों का कहना है कि ॰ प्रकार की व्यवस्था संकुचित क्षेत्रीयवाद को जन्म देगी जो सामाजिक एकता ॰ प्रगति के मार्ग में बाधक होगी।[35]

उपभोक्ताओं की अवहेलना (7)

सिन्डीकलवाद एकपक्षीय विचारधारा है। इसका तात्पर्य यह है कि यह ॰ उत्पादकों का ही समाजवाद है। ये उपभोक्ताओं की पूर्णतः अवहेलना करते हैं लेडलर (Laidler) के शब्दों में "उत्पादकों के अधिकारों और उत्तरदायित्वों ॰ बहुत अधिक और उपभोक्ताओं के अधिकारों और उत्तरदायित्वों पर बहुत कम ॰

34. आशीर्वादम्., राजनीतिशास्त्र, द्वितीय भाग, पृ. 621.

35. जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 67.

देकर यह उपभोक्ताओं को अपने विरुद्ध कर देता है। [36] कोई भी विचारधारा तब तक पूर्ण या व्यावहारिक नहीं हो सकती जब तक वह समाज के इन दोनों अंगों के हित को ध्यान में न रखे।

(8)

सिन्डीकलवादी साधनों की आलोचना

सिन्डीकलवादी साधन-पद्धति के विरुद्ध प्रारम्भिक दोष यह है कि ये हिंसा को मान्यता देते हैं। सिण्डीकलवादी हिंसा को क्रान्ति के अन्तर्गत भी नहीं लिया जा सकता। वे हिंसात्मक साधना का किस सीमा तक प्रयोग करें, स्पष्ट नहीं है। नैतिक दृष्टि से हिंसात्मक साधनों के औचित्य को कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता।

सिन्डीकलवादियों का मुख्य शस्त्र हड़ताल है। इस साधन की आलोचकों ने कटु निन्दा की है। हड़तालों द्वारा सामाजिक क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त नहीं किया जा सकता। इसलिये आम हड़ताल द्वारा क्रान्ति एक भ्रम है। यदि एक बार हड़ताल प्रारम्भ हो जाती है और लम्बी चल जाय तो इसका श्रमिकों पर ही विपरीत प्रभाव पड़ता है। वे भूखों मरने लगते हैं। इस प्रकार हड़तालों की सफलता बहुत कुछ श्रमिकों की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है। जब श्रमिकों द्वारा सीधी कार्यवाही प्रारम्भ हो जाती है उसके बाद कोई नहीं जानता कि इसका अंत कहाँ होगा। यह श्रमिकों के समक्ष अनिश्चितता का वातावरण प्रस्तुत करता है जो सफलता के मार्ग में बाधक सिद्ध होता है। "आम हड़ताल एक कल्पना मात्र है। यह संगठित अराजकता से अधिक और कुछ नहीं है।"[37]

सिन्डीकलवादियों द्वारा आयोजित की गयी हड़तालों पर यदि दृष्टिपात किया जाये तो उनकी व्यवहार में अनुपयुक्तता एवं असफलता स्वाभाविक प्रतीत होती है। 1894 से 1907 तक फ्रान्स में हजारों हड़तालें हुई लेकिन उनमें 23 प्रतिशत सफल, 36 प्रतिशत में समझौता हुआ तथा 41 प्रतिशत असफल हुई। यहाँ तक कि 1906 में आयोजित देश व्यापी विशाल हड़ताल पूर्णतः असफल रही।[38] इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हड़तालों द्वारा सिन्डीकलवादी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं कर सकते। जब देश में बार-बार हड़तालें की जायेंगी उससे जन जीवन पर जो असर पड़ेगा उसके परिणामस्वरूप सिन्डीकलवादी सामान्य जनता को भी अपने पक्ष में नहीं कर सकते।

अन्य साधन जैसे तोड़-फोड़, बहिष्कार आदि अधिक प्रभावशाली प्रतीत नहीं होते। तोड़-फोड़ की नीति द्वारा क्रान्ति का नारा एक मजाक सा प्रतीत होता है। तोड़-फोड़ की नीति से श्रमिकों को भी हानि उठानी पड़ेगी, मशीनें नष्ट हो जायेंगी,

36 Laidler, H. W , History of Socialist Thought, P 310
37 आशीर्वादम्., राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ 621.
38 Bose, A , A History of Anarchism, p 322

कारखाने बन्द हो जायेंगे और उन्हें बेरोजगारी की समस्या का सामना करना पड़ेगा। निरंतर तोड़-फोड़ करते रहने से श्रमिकों का चरित्र गिर जायेगा, उनमें जिम्मेदारी की भावना नष्ट हो जायेगी। यह आशा करना व्यर्थ होगा कि क्रान्ति के बाद तोड़-फोड़ करने वाले श्रमिक उत्तरदायित्व की भावना से कार्य करेंगे। वास्तव में सिन्डीकलवादियों के साधनों में खोखलापन अधिक है तथा वे सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करने के लिये अनुपयुक्त सिद्ध होंगे।

प्रभाव एवं योगदान

सिन्डीकलवाद का काफी अध्ययन हुआ है। कई विद्वानों ने इस पर व्यापक टीकाएँ की हैं। इतना सब होते हुए भी, ऐलेग्जेन्डर ग्रे का मत है, निष्कर्ष में लिखने के लिये लगभग कुछ भी नहीं है।[39] इस कथन में सत्यता तो है किन्तु सिन्डीकलवादी विचारधारा ने कुछ प्रभाव अवश्य ही छोड़े।

सिन्डीकलवाद का सबसे अधिक विपरीत प्रभाव लोकतन्त्र के विकास पर पड़ा। इस विचारधारा के प्रादुर्भाव से यूरोप में जितनी अधिक संख्या में व्यक्ति इससे प्रभावित हुए यह एक आश्चर्य की बात थी। इससे पनपते हुए लोकतन्त्र का मार्ग अवश्य ही अवरुद्ध हुआ। किन्तु इसने लोकतन्त्र के समर्थकों को एक आत्म-विवेचन (self analysis) का अवसर प्रदान किया। वे इस बात पर विचार करने लगे कि आखिर लोकतन्त्र व्यवस्था में क्या कमी है जिसके कारण इतनी संख्या में व्यक्ति लोकतन्त्र से विमुख हो रहे हैं।[40] इस आत्म-विवेचन से लाभ ही हुआ। कई देशों में लोकतन्त्र की त्रुटियों को दूर करने के प्रयत्न किये गये सुधारों की शृंखला में वृद्धि हुई।

सिन्डीकलवाद के प्रभाव ने आगे चलकर फासीवाद (Fascism) को प्रोत्साहित किया। चूंकि बहुत सी बातों में सिन्डीकलवाद तथा फासीवाद में व्यापक अन्तर है किन्तु इनके बीच एक बड़ी मजबूत कड़ी है। मुसोलिनी सोरेल की रचनाओं को बड़े चाव से पढ़ता था। वास्तव में मुसोलिनी ने 1922 में सिन्डीकलवादी साधनों से ही सत्ता प्राप्त की।[41]

मनिन्द्रनाथ बोस ने सिन्डीकलवाद के योगदान की चर्चा करते हुए लिखा है कि इस विचारधारा की शक्ति इसमें निहित है कि इसने श्रमिकों में तीव्रता, आत्म-विश्वास और साहस की भावना का विकास किया। द्वितीय, इन्होंने आर्थिक समस्याओं को सर्वाधिक महत्व दिया। ये आर्थिक सुधारों के लिये निरन्तर दबाव बनाये रखे। परिणामस्वरूप श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये यूरोप में कानूनों के

39 Gray, A., The Socialist Tradition, pp. 430-31.
40. Hallowell. J. H., Main Currents in Modern Political Thought, p. 463.
41. Sabine, G H., A History of Political Theory, p 714

निर्माण की गति में तेजी आई। तृतीय, सिन्डीकलवाद का आधुनिक राजनीतिक चिन्तन को सबसे महत्वपूर्ण योगदान समाज के बहुलवादी सिद्धान्त (Pluralism) का व्यापक प्रतियोगदान करना था, जिससे व्यावसायिक आर्थिक सस्थाओं (functional economic organisations) की महत्ता स्वीकार की गई।[42]

पाठ्य-ग्रन्थ

1. Bose A, — A History of Anarchism, Chapter IV, Syndicalism
2. कोकर, फ्रान्सिस, — आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, अध्याय 8 सिण्डीकेलिज्म
3. Gray, A, — The Socialist Tradition, Chapter 15 Syndicalism
4. जोड., — आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, अध्याय 4 शिल्पी सघवाद (सिण्डीकलवाद) और श्रेणी-सघवाद
5. Laidler, H W, — History yf Socialist Thought, Chapter XXII.
6. Lancaster, L W, — Masters of Political Thought, vol III, Chapter 8, Irrationalism, *George Sorel*

42 Bose, A, A History of Anarchism, p 322.

4

फेबियनवाद

फेबियनवाद समाजवाद की एक अंग्रेजी विचारधारा है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मार्क्सवाद चर्चा तथा विवाद का मुख्य विषय था। मार्क्स ने अपने विचारों का प्रतिपादन इंग्लैण्ड में ही किया। किन्तु मार्क्सवाद वहाँ के लोगों को प्रभावित नहीं कर सका। इंगलैंड की उदारवादी, व्यावहारिक तथा समझौता प्रिय जनता पर मार्क्सवाद के वर्ग-संघर्ष, क्रान्ति तथा अन्य विचारसूत्रों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इससे भी मना नहीं किया जा सकता कि मार्क्स ने उस समय के विचार चिन्तन को नया मोड़ नहीं दिया। कोई भी व्यक्ति जिसमें थोड़ी बहुत चिन्तन-क्षमता थी इस प्रवाह से अलग नहीं रह सका। इसके साथ-साथ उस समय सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थिति भी ऐसी थी जिसमें सुधार की अत्यन्त आवश्यकता थी। इन सभी कारणों ने इंगलैण्ड के बुद्धिजीवी-वर्ग को चिन्तन के लिए प्रेरित किया। परिणामस्वरूप फेबियनवाद का अभ्युदय हुआ। प्रसिद्ध इतिहासकार बीयर (M. Beer) का विचार है कि उस समय सामाजिक-आर्थिक-नैतिक कारणों से कई प्रकार की राष्ट्रीय समस्याएँ उत्पन्न हो चुकी थीं। उन्हें सुलझाने के लिए राष्ट्रीय प्रयत्नों की आवश्यकता थी ताकि देश दक्षता और प्रगति की ओर अग्रसर हो सके। इस कार्य को विचार-चिन्तन के आधार पर पूरा करने का दायित्व फेबियनवादियों ने लिया।[1] इस प्रकार एक नई समाजवादी शाखा का जन्म हुआ।

फेबियन-समाजवाद का मुख्य विचार-स्रोत फेबियन सोसायटी (Fabian Society) था। फेबियन सोसायटी का प्रादुर्भाव एक समाजवादी संस्था के रूप में नहीं हुआ था। 1883 में टॉमस डेविडसन (Thomas Davidson, 1840-1900) जो स्कॉटलेन्ड में पैदा हुए तथा अमेरिका में एक शिक्षा शास्त्री का कार्य कर रहे थे, का लन्दन आगमन हुआ। वे नैतिकवादी एवं रहस्यवादी थे तथा एक ऐसे समाज की कल्पना करते थे जो इस कपटपूर्ण विश्व से दूर हो। इस सम्बन्ध में इनके प्रवचनों का लंदन में आयोजन किया गया। लन्दन का बुद्धिजीवी समूह इनसे बहुत प्रभावित हुआ तथा डेविडसन के आदर्शों की उपलब्धि के लिए एक संस्था की स्थापना की गयी। लेकिन

1. Beer, M, A History of British Socialism, Vol II, p 277.

ये उद्देश्य तो पृष्ठभूमि मे रह गये और समाजवादी उद्देश्यो को लेकर एक नए सगठन की स्थापना हुई। इस प्रकार जनवरी 4, 1884, को पेबियन सोसायटी की स्थापना हुई। इस सोसायटी के सदस्य एक रोमन जनरल पेबियस क्क्टेटर (Fabius-Cunctator) की कार्य पद्धति से बड़े प्रभावित थे। इसलिए इस सस्था का नाम पेबियस के नाम पर पेबियन सोसायटी रखा गया। ग्रे के अनुसार सस्था का नामकरण कोई सुखप्रद नही था।[2] इस सोसायटी के नाम की व्याख्या फ्रैंक पॉडमोर (Frank Podmore) द्वारा लिखित इसके आदर्श-सूत्र (motto) से होती है। इस सम्बन्ध म लिखा गया है कि—

'आपको उपयुक्त अवसर के लिए उसी प्रकार प्रतीक्षा करनी चाहिए जिस प्रकार होर्नेबॉन स युद्ध करते समय पेबियस ने की थी, यद्यपि कई लोगो ने देर करने के लिए उसकी निन्दा की थी, किन्तु जब अवसर आ जाता है तो आपको पेबियस के समान कठिन चोट करनी चाहिए अन्यथा आपका प्रतीक्षा करना व्यर्थ एव निष्फल होगा।''[3]

कुछ ही समय म पेबियन सोसायटी ने इगलैंड के कई प्राख्यात बुद्धिजीवियो को आकर्षित किया जिनम प्रमुख थे—सिडनी वेब (Sydney Webb), श्रीमती बीट्रिस वेब (Mrs Beatrice Webb or Mrs Sidney Webb), जाज बर्नार्ड शॉ (Goerge Bernard Shaw), सिडनी ऑलीवीर (Sydney Olivier), ग्राह्म वालास (Graham Wallas), श्रीमती ऐनी बेसेन्ट (Mrs. Annie Besant) ह्यूबर्ट ब्लॉ (Hubert Bland), विलियम क्लार्क (William Clarke), कैम्पबेल (J Campbell), हेरॉल्ड लास्की (Harold Laski), कोल (G D H Cole) आदि। किन्तु इनमे सबसे प्रमुख एव प्रारम्भिक योगदान सिडनी वेब तथा जॉर्ज बर्नार्ड शॉ का था। ये ही पेबियनवाद के प्रवर्तक थे।[4]

पेबियनवाद के विकास की प्रमुख विशेषता यह है कि इस समाजवादी विचार-धारा के प्रतिपादको का श्रमिको से कोई सम्बन्ध नही रहा है, यह सिर्फ अग्रेजी विद्वानो के मस्तिष्क की उपज थी। दूसरे, यह वह समाजवादी सम्प्रदाय था जिस पर पूर्व समाजवादियो जैसे ओवन या मार्क्स आदि का प्रभाव नहीं पडा है। ये इसकी

2 Gray, A, The Socialist Tradition, p 386

3 "For the right moment you must wait, as Fabius did most patiently when warring against Hannibal, though many censured his delays, but when the time comes you must strike hard, as Fabius did, or your waiting will be in vain, and fruitless"
Pease, Edward R, History of the Fabian Society, p 32

4. Beer, M, A History of British Socialism, Vol II, p 217

प्रेरणा के स्रोत नहीं हैं।[5] इनकी प्रेरणा के स्रोत तो कुछ गैर-समाजवादी व्यक्ति जैसे रिकार्डो (David Ricardo), मिल (J. S. Mill), हेनरी जार्ज (Henry George) आदि हैं। बार्कर (Ernest Barker) का विचार है कि फेबियनवादियों पर मुख्य प्रभाव मिल का था। उन्होंने मिल के आर्थिक विचारों का अनुकरण किया। मिल ही ने यदृभाव्यम् (laissez faire) नीति और सामाजिक समन्वय (social adjustment) तथा राजनीतिक प्रगतिवाद (Political Radicalism) और आर्थिक सामाजीकरण (economic socialisation) के मध्य सेतु स्थापित किया। लगभग यही कार्य फेबियनवादियों का था।[6]

फेबियन सोसायटी के सभी सदस्य प्रथम श्रेणी के बुद्धिजीवी समालोचक थे। सोसायटी की स्थापना के बाद इनका प्रथम कार्य उस समय की आर्थिक-सामाजिक समस्याओं का अध्ययन कर कुछ निष्कर्षों का निर्धारण करना था। इन्होंने मार्क्स, लासेल (Lassalle), प्रधों, ओवन, प्रमुख अर्थ-शास्त्री – स्मिथ, रिकार्डो तथा मिल आदि के विचारों का अध्ययन किया। यह अध्ययन 1884 से 1887 तक चलता रहा। इन वर्षों में मार्क्स ओवन तथा चार्टिस्ट आन्दोलनकारी इनकी आलोचना के प्रमुख केन्द्र थे। मार्क्स तथा ओवन से ये प्रभावित तो हुए किन्तु उनके विचार फेबियनवादियों के लिए ग्राह्य नहीं थे। बीअर (M. Beer) के शब्दों में:—

> "ओवन-समाजवाद संक्षिप्त एवं साधारण था; मार्क्सवादी समाजवाद क्रान्तिकारी एवं सैद्धान्तिक था; फेबियन समाजवाद सामाजिक पुनरुत्थान के लिए दिन-प्रतिदिन की राजनीति था।"[7]

फिर भी ये स्वयं को ओवन तथा मार्क्स से पृथक नहीं कर सके। ओवन इंग्लैंड-निवासी थे। उनके समाजवादी विचार और सहकारिता के क्षेत्र में योगदान को भुलाया नहीं जा सकता था। मार्क्सवाद पूर्ण यूरोप पर छाया हुआ था। कोई भी समाजवाद मार्क्सवाद के विवेचन के बिना अपूर्ण था।

फेबियन समाजवाद के सिद्धान्त

फेबियनवादियों द्वारा इतिहास की व्याख्या

अपने सैद्धान्तिक लेखों में फेबियन समाजवादियों ने ऐतिहासिक एवं आर्थिक आधार स्थापित करने में मार्क्सवादी परम्परा का अनुसरण किया। किन्तु इतिहास तथा अर्थ-शास्त्र में उन्होंने जो सामग्री ली एवं जो निष्कर्ष निकाले हैं वह मार्क्स से भिन्न हैं।

5 "The early Fabians owed little to pervious Socialist thinkers, and in particular nothing to either Owen or Marx. Their intellectual derivation was wholly non-socialists-from Ricardo, Mill, Jevons, and Henry George." Crosland, C. A. R., The Future of Socialism, p. 84.

6 Barker, E, Political Thought in England, p 90.

7 Beer, M, History of British Socialism, Vol. II, p. 281.

फेबियनवादियों के अनुसार इतिहास यह बतलाता है कि समाज स्थिर नहीं है। इतिहास में समाजवाद की जो व्याख्या है उससे मार्क्स की तरह यह सिद्ध नहीं होता कि प्रत्येक वस्तु पर आर्थिक अवस्थाओं का आधिपत्य रहता है। फेबियन यह मानते हैं कि इतिहास लोकतन्त्र तथा समाजवाद की ओर एक निरन्तर प्रगति प्रकट करता है। इस सम्बन्ध में सिडनी वेब लिखते हैं कि इतिहास 'लोकतन्त्र की अदम्य प्रगति' और 'समाजवाद की प्राय निरन्तर प्रगति' को लगातार व्यक्त करता है। यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि इंग्लैण्ड में कुलीनतन्त्र से किस प्रकार मध्यवर्गीय लोकतन्त्र में परिवर्तन हुआ तथा आर्थिक क्षेत्र में विशुद्ध व्यक्तिगत तत्व का धीरे-धीरे निष्कासन हो रहा है।[8]

फेबियनवाद का आर्थिक पक्ष (1)

फेबियनवाद आर्थिक विकास के सिद्धान्त पर आधारित है। यह आधार समाज द्वारा उत्पन्न मूल्यों के सिद्धान्त में निहित है। रिकार्डो (David Ricardo, 1772-1823) ने लगान-सिद्धान्त (Theory of Rent) के आधार पर 'परिश्रम-हीन आय' (unearned increment) के सिद्धान्त को जन्म दिया। फेबियनवादियों ने यह स्वीकार करते हुए बतलाया है कि 'परिश्रम-हीन आय' का सिद्धान्त सिर्फ भूमि तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उद्योगों के ऊपर भी चरितार्थ होता है। किसी उद्योग में पूंजी लगाने मात्र से किसी भी व्यक्ति को उसकी आमदनी का उचित अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता। उद्योगों में 'परिश्रम हीन आय' को मुट्ठी भर पूंजीपति भूमि और पूंजी पर स्वामित्व के कारण हड़प जाते हैं।[9] वास्तव में यही समाज में अनेक बुराइयों का मूल कारण है। इससे आर्थिक विषमता फैलती है। धनिक वर्ग के हाथों में पूंजी के केन्द्रीकरण होने से वह इसका दुरुपयोग विलासिता के साधनों पर करता है, जब कि दूसरी ओर जन-साधारण निर्धन होते जाते हैं। इन बुराइयों का अन्त केवल भूमि और पूंजी का राष्ट्रीयकरण या सामाजीकरण (socialisation) करके ही किया जा सकता है। फेबियनवादी राज्य के आर्थिक साधनों पर किसी भी एक वर्ग का नियन्त्रण स्वीकार नहीं करते। ये उत्पादन साधनों को समस्त समाज की सम्पत्ति मानते हैं।

फेबियनवाद के समर्थक मार्क्सवादी मूल्य का श्रम-सिद्धान्त (Labour Theory of Value) को स्वीकार नहीं करते। इसके अनुसार श्रम ही एक मात्र मूल्य का निर्धारक तत्व नहीं है। इसके विपरीत ये जेवोन्स (Jevons) द्वारा प्रतिपादित सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त (Marginal Utility Theory) को मान्यता देते हैं, जिसके अनुसार मूल्य का निर्धारण माग और पूर्ति के सिद्धान्त (Theory of Demand

8 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 110-111.

9 Sabine, G H, A History of Political Theory, p 619

and Supply) तथा मिल (J.S. Mill) द्वारा विकसित उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility) के द्वारा होता है।

फेबियनवादियों के अनुसार अतिरिक्त मूल्य का स्रोत श्रमिक या पूँजीपति की परिश्रम-हीन आय नहीं है। यह आय उत्पादन साधनों के स्वामित्व के परिणाम-स्वरूप भाड़े (rent) से प्राप्त होती है। किन्तु फेबियनवादी यह मानने को भी तैयार नही हैं कि यह आय भूमि तथा पूंजी के व्यक्तिगत स्वामियों को मिलनी चाहिये। यह अन्याय है। इस आय पर समस्त समाज का अधिकार होता है। 'वह शासन जो सामाजिक सुधारों के प्रति गम्भीर है उसे अपना ध्यान उस ओर देना चाहिये जिससे औद्योगिक तथा कृषि आय का उपयोग आंशिक रूप से करों द्वारा, आंशिक रूप से म्यूनिसिपलकरण और राष्ट्रीयकरण द्वारा सम्पूर्ण समाज के हित में किया जाय।"10

(ii)

वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त का विरोध

फेबियनवादियों ने स्वयं को न तो कभी श्रमिकों का प्रतिनिधि कहा और न उन्होंने कोई पृथक वर्ग बनाने का प्रयत्न ही किया। अपने समाजवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये उन्होंने वर्ग-संघर्ष को मान्यता नही दी। किन्तु उनके विचारों में वर्ग-संघर्ष का आभास अवश्य मिलता है। "जहाँ तक वर्तमान उत्पादन एवं वितरण प्रणाली समाज में हित-संघर्ष को उत्पन्न करती है वह संघर्ष फेबियनों के अनुसार वेतन पर काम करने वालों तथा उनको काम में लगाने वालों के बीच नहीं वरन् एक ओर समाज और दूसरी ओर पूंजी लगाकर धनी बन जाने वालों के बीच है।"11 कुछ भी हो, फेबियनवादियों का उद्देश्य वर्ग-संघर्ष द्वारा एक वर्ग का विनाश कर दूसरे वर्ग की शासन व्यवस्था स्थापित करना नहीं था। फेबियन समाजवाद उन समस्त योजनाओं को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करता है, जो समाज के समस्त उत्पादन को किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियों के वर्ग को सौंपती है। उसका उद्देश्य स्वाम्य श्रमिकों को नहीं समाज को सौंपना है। इस हस्तान्तरण में उन्होंने क्रमिक विकास के अवश्यम्भावीपन (inevitability of gradualness) पर जोर दिया है।

फेबियन समाजवाद के उद्देश्य (iii)

वैसे प्रायः यह कहा जाता है कि फेबियन सोसायटी न तो समाजवादी दल था और न मूलतः कोई समाजवादी विचारधारा, किन्तु कुछ व्यक्तियों के एक समूह द्वारा उस समय की आवश्यक सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिये व्यावहारिक दृष्टिकोण का प्रसार करना तथा उनकी प्राप्ति के लिये व्यवस्थापिका तथा प्रशासनिक

10 Beer, M., A History of British Socialism, Vol. II, p. 283
Also see Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 284

11. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 112-113.

समाधानो की ओर इंगित करना था[12] प्रारम्भिक फेबियन समाजवादी निम्नलिखित सामान्य समझौते से प्रतिज्ञाबद्ध थे —

"इस सोसायटी के सदस्य यह मानते हैं कि प्रतियोगी प्रणाली से सुख-सुविधाएँ कम व्यक्तियो को मिलती हैं और बहुसंख्यक जनता को कष्ट मिलता है इसलिए समाज का पुन सगठन इस प्रकार होना चाहिए जिससे समाज के समस्त व्यक्तियो का सुख एव कल्याण सुनिश्चित हो सके।"[13]

1884 म बर्नार्ड शा द्वारा तैयार किये गये घोषणापत्र मे सोसायटी ने अधिक स्पष्ट शब्दो म समाजवाद को स्वीकार किया तथा कहा कि भूमि का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए और राज्य को प्रत्यक उत्पादन क्षेत्र मे अपनी पूरी शक्ति के साथ प्रतियोगिता करनी चाहिए।

फेबियनवाद म समय समय पर तत्कालीन परिस्थितियो को ध्यान म रखते हुए अपने उद्देश्यो म सशोधन एव परिवर्धन हुए हैं। 1919 मे फेबियनवादियो ने फिर यह घोषणा की कि—

"भूमि और औद्योगिक पूँजी को व्यक्तिगत स्वामित्व से मुक्त करके और उन्ह सार्वजनिक हित के लिए समाज के हाथो मे सौप कर समाज का पुनर्गठन करना इसका लक्ष्य है। तभी देश की प्राकृतिक और अर्जित सम्पत्ति को पूरी जनता मे न्यायपूर्वक बाँटना सम्भव है।"

"इसलिए भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का उन्मूलन करने के लिए समाज कदम उठाता है। ऐसा करने मे वह प्रतिष्ठित आशाओ का और घर तथा बगीचे के स्वामित्व का न्यायसगत विचार रखता है। यह उन सब उद्योगो को समाज के आधिपत्य मे लाने के कदम उठाता है, जिनका सचालन सामाजिक रीति से किया जा सकता है तथा उत्पादन, वितरण और सेवा के नियमन मे व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सार्वजनिक हित को प्रधान लक्ष्य के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है।"[14]

इन उद्देश्यो की व्याख्या करते हुए लेडलर (H W Laidler) ने लिखा है कि इसका यह अर्थ हुआ कि फेबियनवाद—

प्रथम, पूँजीवाद से समाजवाद के सक्रमण को एक क्रमिक प्रक्रिया मानता है।

द्वितीय, शान्तिपूर्ण आर्थिक और राजनीतिक उपकरणो के माध्यम से ही उद्योगो के सामाजीकरण की आवश्यकता समझता है।

12 Beer, M, A History of British Socialism, Vol, II pp 276-77
13 Pease, Edward R, History of the Fabian society, p 269
14 Pease, Edward R, History of the Fabian Society, p 259

तृतीय, मध्यवर्ग को एक ऐसा समुदाय मानता है जिसका उपयोग नवीन सामाजिक व्यवस्था के लिए शासन कला का विकास करने में किया जा सकता है।

चतुर्थ, समाजवाद की प्राप्ति के लिए समाजवादी आदर्शों के विषय में सामाजिक चेतना को जागृत और सक्रिय करना महत्वपूर्ण कदम है।[15]

इंग्लैंड में जैसे जैसे समाजवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ता गया तथा जैसे ही लेबर पार्टी की सक्रियता में वृद्धि हुई फेबियनवाद का महत्त्व कम होता गया। इनके सदस्यों में भी मतभेद होने लगे। परिणामस्वरूप फेबियनवाद के उद्देश्यों का पुनः मूल्यांकन किया गया। कोल (G. D. H. Cole) जो 1939 से 1946 तक फेबियन सोसायटी के अध्यक्ष रहे, उन्होंने 1942 में फेबियनवाद की निम्नलिखित शब्दों में फिर से व्याख्या की—

"हमारा विश्वास है कि समाजवादी आन्दोलन में कहीं एक ऐसी संस्था की आवश्यकता है जो नवीन विचारों को सोचने और उनका प्रचार करने के लिए पूर्णतः स्वतन्त्र हो। भले ही ऐसे विचार समाजवादी परम्परा के अनुसार शास्त्र-सम्मत न हों। समाजवाद कुछ निश्चित नियमों का समूह नहीं है, जिसे समय या स्थान का विचार किये बिना ही प्रयोग में लाया जाय।"

आगे कोल लिखते हैं:—

फेबियन समाज का संगठन विचार-विनिमय के लिए है न कि चुनाव लड़ने के लिए। यह काम उसने अन्य संस्थाओं के लिए छोड़ दिया है। फेबियनों को अपने चुने हुए काम-लेखन और अनुसंधान में लगा रहना चाहिये, पर चूंकि अब यह विस्तृत कार्य (समाजवादी दल में समाजवादी प्रचार) करने वाला कोई नहीं है, इसलिये फेबियन पुस्तक-लेखन और शोध कार्य द्वारा पूरे दल पर अपना वांछित प्रभाव डालने में असमर्थ है। यदि अन्य कोई इस कार्य को नहीं करता है तो फेबियनों को ही सामने आना होगा और समाजवाद का प्रचार करने का बीड़ा उठाना पड़ेगा।"[16]

कोल की यह व्याख्या निश्चय ही फेबियनवाद के पतन को व्यक्त करती है। अब लेखन और शोध-कार्य में फेबियनवादियों का विशेष महत्व नहीं रहा, कोई विशेष समाजवादी कार्य-क्रम प्रस्तुत करना तो अलग रहा। लेबर पार्टी अब तक पूर्ण विकसित राजनीतिक दल ही नहीं बन चुकी थी किन्तु सत्ता को अपने हाथों में भी ले चुकी थी। धीरे-धीरे फेबियन सोसायटी लेबर पार्टी की छाया मात्र ही बनकर रह गई।

15 Laidler, H W, Social Economic Movements, p 184
16 Cole, G D H, Fabian Socialism, p 164

फेबियनवाद तथा राज्य

फेबियनवादियो का राज्य मे विश्वास है। वे राज्य को प्रतिनिधि, संरक्षक, व्यवसायी, प्रबन्धकर्त्ता आदि सभी समझते है। किन्तु राज्य के विषय मे उनके विचार मार्क्स से भिन्न थे। न तो वे राज्य के लोप मे विश्वास करते थे और न सर्वहारा-अधिनायकत्व की भांति राज्य के इतने व्यापक अधिकार के पक्ष मे थे।[17] उनका कहना था कि राज्य बिना किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन के निर्दोष तथा विश्वासपात्र बनाया जा सकता है। इसलिये उन्होंने इस प्रकार के सुझाव दिये कि बिना क्रान्ति के ही राज्य के आन्तरिक स्वभाव म परिवर्तन हो जाय। ये सुझाव थे मताधिकार का विस्तार प्रशिक्षित लोक सेवा (Civil Services), सबके लिये समान अवसर आदि।

फेबियनवादी राज्य के कार्य विस्तार को समाजवाद के लिये आवश्यक मानते थे। राज्य के कार्य म वृद्धि करने का तात्पर्य था कि राज्य के तत्वावधान मे स्थानीय स्व-शासन संस्थाओ को अधिक कार्य करने के अवसर देने चाहिये।[18] राज्य द्वारा कई प्रकार के कार्य करने नागरिक सेवाओ तथा औद्योगिक स्पर्धा मे भाग लेने आदि से फेबियनवादियो का मुख्य आशय यह था कि य कार्य स्थानीय संस्थाओ द्वारा किये जायेंगे वे बहुत से कार्यों के म्युनिसिपलकरण (Municipalisation) के पक्ष मे थे।

राज्य को अपने अधिकार क्षेत्र मे कहां तक वृद्धि करनी चाहिये इस विषय म फेबियनवादी स्पष्ट नही हैं। उनके लिये समाजवादी मार्ग की ओर बढना एक ऐसी यात्रा के समान था जिसकी कोई निश्चित मंजिल न हो।[19] किन्तु राज्य के माध्यम से अवश्य ही निरन्तर बढ़ते रहना चाहिये। इग्लैंड म जब जब लेबर पार्टी की सरकार बनी उसने फेबियनवादी सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया। उनके कार्यकाल मे कई उद्योगो के राष्ट्रीयकरण किये गये तथा नगरपालिकाओ ने कई नागरिक सेवाओ को अपने नियन्त्रण मे लिया।

कार्य-पद्धति (Methods and Means)

फेबियनवादी समाजवादियो मे सर्वाधिक सक्रिय किन्तु किंचित् मात्र भी क्रान्तिकारी नही थे।[20] उन्होंने हमेशा ही अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये शांतिपूर्ण एवं संवैधानिक साधनो का समर्थन किया। वे क्रमिक-प्रगतिवादी (Gradualist) थे। कार्य पद्धति के विषय मे उनके लिये मह प्रयास गति अधिक उपयुक्त थी—

---

17 Crosland, C A R, The Future of Socialism, p 84
18 Gray, A, The Socialist Tradition, p 387,
Cole G D H, Fabian Socialism, pp 164, 172
19 Gray, A, The Socialist Tradition, p 399
20 Ibid, p 399

हम बढ़ेंगे,
निरन्तर थोड़ा-थोड़ा आगे ।[21]

जैसा कि अन्यत्र उल्लेख किया गया है फेबियनो का उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना नहीं था । वे समाजवादी विचारधारा को जन साधारण तक पहुंचाना चाहते थे । इसलिये उन्होंने मूलतः प्रसार साधनों को ही अपनाया था ।[22] उन्होंने पुस्तक-प्रकाशन, लेखों, व्याख्यानों तथा अध्ययन संस्थाओं का सहारा लेकर अपने विचारो से जनमानस को प्रभावित करने का प्रयत्न किया ।

फेबियनवादी उच्च कोटि के बुद्धिवादी थे । फेबियन समाज के तत्वावधान मे कई महत्वपूर्ण ग्रन्थो का सृजन हुआ । पीज (Edward Pease)[23] द्वारा लिखित–History of the Fabian Society; फेबियनवादियो के लेख तथा व्याख्यानो का संग्रह–Fabian Essays in Socialism (1889) तथा Fabian Society Tracts, 1884-1924, Nos. 1-212 आदि अधिक प्रसिद्ध हैं ।[24]

1888-89 में फेबियन सोसायटी के सदस्यो ने सात सौ से अधिक व्याख्यान दिये । 1912 मे सोसायटी ने एक फेबियन अन्वेषण-विभाग खोला । समय समय पर फेबियन ग्रीष्म स्कूलों (Fabian Summer Schools), विश्व-विद्यालयों तथा कई शहरों में फेबियन कोष्ठो (Fabian Cells) की स्थापना की गई । इन सभी ने फेबियन समाजवादी विचारधारा का प्रसार तथा इसे लोकप्रिय बनाने का व्यापक एवं सफल प्रयत्न किया और यही फेबियनो का उद्देश्य था ।

महिला उत्थान (४१)

महिला उत्थान के क्षेत्र मे फेबियन सोसायटी की महिला सदस्यों ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया । इनका विश्वास था कि समाज में महिला-मुक्ति तथा उनकी प्रगति समाजवाद का एक आन्तरिक भाग है । महिलाओं की उन्नति तथा समाजवाद का विकास बहुत कुछ समानान्तर चलता है । राष्ट्रीय जीवन के पूर्ण सामाजीकरण के लिये महिलाओ की राजनीतिक, आर्थिक स्वतन्त्रता अत्यन्त आवश्यक है । इन उद्देश्यों को ध्यान मे रखते हुए 1908 मे फेबियन सोसायटी के तत्वावधान में एक फेबियन महिला ग्रुप (Fabian Women's Group) की स्थापना की गई । इस संस्था का मुख्य कार्य महिलाओं से सम्बन्धित राजनीतिक व आर्थिक संस्थाओं का व्यापक अन्वेषण करना तथा उन्हें मर्दों के स्तर तक लाना था । इन्होंने बिना

21. We shall go,
 Always a little further
 Ibid, p 399
22. Ibid, p. 357.
23. एडवर्ड पीज 1884 से 1912 तक फेबियन सोसायटी के सचिव थे ।
24. For literary and scientific work of Fabian Society See Beer, M., A History of British Socialism, Vol. II, pp. 288-90.

किसी भेदभाव के स्त्री तथा पुरुषों की समानता की माग की। ये वास्तव मे यह भ्रान्ति दूर करना चाहते थे कि स्त्री और पुरुष अलग अलग कार्यों के लिये ही उपयुक्त हैं।

महिला उत्थान से सम्बन्धित इस ग्रुप ने व्याख्यानो का आयोजन किया तथा रचनाएँ प्रकाशित की। इन रचनाओ मे प्रमख थी—

1 Hutchins B L. (Miss), The working life of women
2 Pember Reeves (Mrs), Family life on one pound a week
3 Charlotte Wilson (Mrs) and
Helen Blagg (Miss), Women and Prisons
4 Mobin Atkinson (Miss), The Economic Foundation of the Women Movement.

मूल्यांकन

रमजे मेक्डोनेल्ड (J Ramsay MacDonald), 1924 मे इग्लैण्ड म लेबर पार्टी के प्रथम प्रधानमन्त्री, के मतानुसार फेबियन सोसायटी का समाजवादी सगठन के विकास मे बिलकुल मामूली योगदान रहा है। वास्तव मे फेबियन सोसायटी ने उन बहुत से विचार और नीतियो का विरोध किया जिसने इग्लैण्ड मे एक विशेष ढग के समाजवादी आन्दोलन का निर्धारण किया। ये एक स्वतन्त्र श्रमिक दल के अलग अस्तित्व के विरुद्ध थे।[25]

फेबियन सोसायटी सिर्फ एक अन्वेषण–केन्द्र तथा मुट्ठी भर बुद्धिजीवियो का विचार–विनिमय का फोरम था। यही कारण था कि फेबियनो ने अपनी सख्या मे वृद्धि नही की। 1914 म इसकी सदस्य सख्या लगभग 3000 थी।[26] इस सदस्य सख्या से सिर्फ सीमित विचार–क्रान्ति या विचार–परिवर्तन ही सम्भव था। इसका तात्पर्य था कि फेबियनवादी जन साधारण के साथ न तो घुले मिले और न उनकी समस्याओ को प्रत्यक्ष रूप से उनके साथ रह कर समझ सके। इनमे तथा जन–साधारण के मध्य भारी खाई थी।

फेबियनवादी प्रहार करने के इच्छुक तो हैं, लेकिन उसके लिये उनम क्षमता नही थी। वे अपने विचारो से मार्क्स ओवन तथा अन्य की आलोचना करते हैं., वे परिश्रम-हीन आय, जिसका सम्बन्ध पूँजीवाद से ही हो सकता है, की भी निन्दा करते हैं, ये समाजवादी प्रगति के लिये कार्यक्रम भी सुझाते हैं, लेकिन जहाँ तक कार्यशील होने का प्रश्न था इन्होने सामान्यत. अपने अध्ययन-कक्ष की सीमा को पार करने की हिम्मत नहीं की। यही उनका कार्य-स्थल था। फिर भी वे कम से कम निम्न वर्ग के लिए, जिसका कि प्रत्येक देश म बहुमत होता है, कुछ गतिशील होने की

25 Ramsay MacDonald J, Socialism Critical and Constructive, p 82
26 Beer, M, A History of British Socialism, vol II, p 296

प्रेरणा दे सकते थे। वे यह भी नहीं कर सके। वे जो कुछ भी चाहते थे राज्य के माध्यम से करवाना पसन्द करते थे। इसका सीधा यही तात्पर्य था कि राज्य जिस पर पूँजीपतियों का अधिकार था वही जन कल्याण की ओर कदम उठाये। यह व्यापक रूप में असम्भव था। ये राज्य को तथा उच्च वर्ग को उदारवादी बनाना चाहते थे, समाजवादी नहीं। सम्भवतः उच्च-वर्ग से फेबियनों के सम्बन्ध अच्छे थे।

फेबियनवादी इस विषय पर मौन हैं कि जिस व्यवस्था का वे समर्थन करते हैं, क्या वह राजनीतिक लोकतन्त्र को बनाये रखने में सफल होगी! लेन लेन्कास्टर का विचार है कि सम्भवतः यह आसान नहीं होगा। क्योंकि फेबियनवादी राज्य को एक सेवा करने वाली सार्वजनिक कर्मचारियों की संस्था मानते हैं। ये सार्वजनिक कर्मचारी अपना स्वयं ही एक वर्ग बना लेते हैं। कर्मचारी दक्षता पर अधिक बल देते हैं और यह व्यक्तियों तथा राज्य के मध्य एक चौड़ी खाई की स्थापना करता है।[27]

योगदान

ऐलेग्जेन्डर ग्रे के विचारानुसार फेबियनों का महत्त्वपूर्ण योगदान यह था कि उन्होंने समाजवाद को एक सम्मानित विचारधारा बनाया। इसके पहले समाजवाद को विध्वंसकारी, विप्लवकारी, तोड़-फोड़वादी, मजदूर वर्ग की विचारधारा माना जाता था। फेबियनों ने ऐसे समाजवाद का सर्जन किया जिसे मध्य-वर्ग, तथा थोड़ा बहुत पढ़ा लिखा व्यक्ति भी आसानी से ग्रहण कर सके। जिस तरह उन्होंने अपने विचारों का प्रसार किया समाजवाद एक सम्मानित विचारधारा ही नहीं बल्कि एक फैशन बन गया।[28]

साहित्यिक महत्त्व (1)

फेबियनवादी अपनी गतिविधियों से इंग्लैंड के समाज पर छा गये। उनके ग्रन्थों, पुस्तिकाओं आदि का राजनीतिक ही नहीं किन्तु साहित्यिक महत्त्व भी था। बर्नार्ड शॉ तथा अन्य का अंग्रेजी साहित्य में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

फेबियन साहित्य मजा हुआ, सधा हुआ साहित्य था। उन्होंने जो कुछ लिखा यह शोध एवं साहित्यिक भाषा में ही लिखा। कार्ल मार्क्स की तरह आवेगपूर्ण क्रान्तिकारी शब्दों का प्रयोग नहीं किया।[29] यही कारण था कि इंग्लैंड की विकासवादी जनता उनके विचारों से प्रभावित हुई।

इंग्लैंड की गृह नीति पर प्रभाव

फेबियनों का मुख्यतः प्रभाव इंग्लैंड की गृह नीति के क्षेत्र में पड़ा। उन्होंने श्रमिकों की स्थिति को उठाने, उद्योग वर्ग के स्वामियों की सम्पत्ति कम करने,

27. Lancaster, L. W., Masters of Political Thought, vol. II, p. 330.
28. Gray, Alexander., The Socialist Tradition, p. 400.
29. Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 285.

लाभो का न्यायपूर्ण वितरण करने के लिए कई व्यावहारिक योजनाएँ बनाई और तर्क एव तथ्यो द्वारा उनको शक्ति प्रदान की।[30] कोकर ने मत व्यक्त किया है कि उन्होने तात्कालिक प्रयोग के लिए व्यावहारिक योजनाएँ बनाई जो कई प्रकार से काम मे लाई जा सकती थी जैसे—

1 सामाजिक विधि–निर्माण द्वारा काम के घन्टो मे कमी, वेकारी के समय सरक्षण, स्वास्थ्य सुरक्षा, वेतन के लिए न्यूनतम स्तर तथा शिक्षा की उन्नति

2. राष्ट्रीय तथा म्यूनिसिपल सरकारो द्वारा सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाग्रो (public utility Services) ग्रौर स्वाभाविक एकाधिकारो पर सार्वजनिक स्वामित्व,

3 उत्तराधिकार पर कर, भूमि–कर तथा लगी हुई पूँजी की ग्राय पर कर ग्रादि।

इन सभी क्षेत्रो मे फेबियन समाजवादियो ने ग्रधिक स्पष्ट प्रभाव डाला है। इग्लैण्ड तथा स्कॉटलैंड मे म्यूनिसिपल सामाजीकरण के विस्तार को शीघ्रता से बढाने मे इनके प्रचार साहित्य तथा व्याख्यानो से बडी सहायता मिली। "उनसे उस लोकमत को तैयार करने मे बडी सहायता मिली जिसने सम्पत्ति पर कर लगाने के नये ढङ्गो को कार्य म लाते समय राष्ट्रीय सरकार का समर्थन किया, जैसे, लगी हुई पूजी से होने वाली ग्राय पर सापेक्ष दृष्टि से ऊँचा कर लगाना, उत्तराधिकार मे प्राप्त सम्पत्ति पर भारी शुल्क लेना ग्रौर (1910 के राजस्व कानून द्वारा) काम मे नही ली हुई भूमि तथा काम मे लाई हुई भूमि के मूल्यो मे ग्रनर्जित वृद्धि पर विशेष कर लगाना।"[31] इसम कोई शक नही कि फेबियनवादियो ने कर लगान के जो नये-नये सुभाव दिये वे महत्वपूर्ण थे। कोई भी समाजवादी दल या राज्य इन कर सुझावो की ग्रवहेलना नही कर सकता।

इग्लैण्ड के मजदूर दल पर प्रभाव

फेबियन समाजवादी इग्लैंड मे मजदूर दल (Labour Party) के सैद्धान्तिक पक्ष को व्यक्त करते हैं। यह कहना ग्रतिशयोक्ति नही होगा कि समय समय पर फेबियनो ने मजदूर दल का सैद्धान्तिक मार्ग निर्देशन किया। सन् 1918 मे सिडनी वेब ने मजदूर दल के लिए एक नया विधान तथा कार्य-क्रम बनाया जिसके कारण उसकी सदस्यता मे विस्तार हुग्रा। फेबियन सोसायटी तथा मजदूर दल का सम्बन्ध काफी घनिष्ठ था तथा फेबियनो मे बहुत से मजदूर दल के सक्रिय सदस्य थे। इग्लैंड म

30 कोकर., ग्राधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 113–14.

31 उपरोक्त, पृ 114

जब जब लेबर पार्टी की सरकार बनी उसमें फेबियन समाज के सदस्यों को महत्वपूर्ण स्थान मिला। सन् 1924 के प्रथम मजदूर मन्त्रिमण्डल में लगभग 9 फेबियन समाजवादी थे जिनमें प्रमुख सिडनी वेब, लार्ड आलीवर, नोएल ब्यूटन (Noel Buton) आर्थर हेन्डरसन, लार्ड टामसन आदि थे। यही नहीं प्रधानमन्त्री रेमजे मैकडॉनेल्ड तथा उनके वित्तमन्त्री स्नोडन (Lord Snowdon) भी फेबियन सोसायटी के भूतपूर्व सदस्य थे। मजदूर दल की सरकारों के माध्यम से फेबियनों ने अपने समाजवादी कार्य-क्रम को कार्यान्वित करने का प्रयत्न ही नहीं किया, किन्तु इंग्लैण्ड की सम्पूर्ण राजनीति को समयानुसार चलाये रखने के लिये महत्वपूर्ण योगदान दिया।

फेबियनवाद तथा लोकतान्त्रिक समाजवाद

फेबियनवादियों का एक महत्वपूर्ण कार्य यह था कि इन्होंने लोकतान्त्रिक समाजवाद को स्थायित्व ही प्रदान नहीं किया, उसकी गति में वृद्धि करने में भी योगदान दिया। ओवनवाद के यूटोपियावादी विचारों से ऊपर उठकर तथा मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों का टक्कर सैद्धान्तिक सामना कर इन्होंने लोकतान्त्रिक या विकासवादी समाजवाद के मार्ग को प्रशस्त तथा स्पष्ट दोनों ही किया। इंग्लैण्ड का मजदूर दल जो विकासवादी समाजवाद का द्योतक था फेबियनवादियों से उत्प्रेरित हुआ था।

पाठ्य-ग्रन्थ

1. Beer, M., — A History of British Socialism, vol II, Chapter XIV, The Fabian Society.
2. वोरर., — आधुनिक राजनीतिक चिन्तन., अध्याय 5, प्रजातान्त्रिक एवं विकासवादी समाजवाद
3. Cole, G.D.H., — Fabian Socialism, London, 1943,
4. Cole, Margaret., — The Story of Fabian Socialism. London, 1963.
5. Gray, Alexander, — The Socialist Tradition., Chapter XIV (a), Fabianism
6. Laidler, Harry W., — History of Socialist Thought., Chapters XVII and XVIII.
7. Pease Edward R., — History of the Fabian Society, London, 1916, Revised edition 1925.
8. Pelling, Henry (Ed.), — The Challienge of Socialism, Chapter II, Fabian Society.

गिल्ड समाजवाद

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ म इग्लैंड मे एक और समाजवादी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ जिसे गिल्ड समाजवाद (Guild Socialism) कहते हैं। गिल्ड समाजवाद का प्रवर्तन कुछ फेबियनवादियो ने मिलकर किया।[1] गिल्ड या श्रेणी (Guild) का अर्थ है स्वेच्छा पर आधारित पारस्परिक-निर्भर व्यक्तियो की वह स्व-शासित सस्था जिसका सगठन समाज के किसी विशेष कर्त्तव्य को उत्तरदायित्व के साथ पूरा करने के लिए सगठित किया गया हो।[2] गिल्ड या श्रेणी पर आधारित समाजवाद ही गिल्ड समाजवाद है।

गिल्ड समाजवाद की किलजर एव रॉस के अनुसार, यह परिकल्पना थी कि समस्त उत्पादको को सामान्यत छोटी छोटी आत्म-निर्भर औद्योगिक इकाइयो मे सगठित किया जाय, जहाँ दस्तकारी के कार्य की प्रधानता तथा श्रमिको म अधिक उत्तरदायित्व की भावना होगी, जो पूँजीवादी व्यवस्था मे सम्भव नही है। इसकी प्राप्ति श्रमिको के कार्य के गुण तथा सम्पूर्ण उत्पादन प्रक्रिया को लोकतान्त्रिक ढग से व्यवस्थित करने से होगी।[3]

कोकर ने मत व्यक्त किया है कि गिल्ड समाजवाद पूँजी के मालिको से उन अवस्थाओ का निर्णय करने की सत्ता जिनके अधीन मजदूर काम करते हैं और मजदूर जो कुछ उत्पादन करते हैं उससे लाभ उठाने का अधिकार छीन लेना चाहता है। परन्तु वह उत्पादको या मजदूरो के अतिरिक्त अन्य सामाजिक हितो को भी स्वीकार करता है।[4]

लेकिन गिल्ड समाजवाद के जो भी उद्देश्य या कार्यक्रम हैं उनका माध्यम गिल्ड व्यवस्था ही होनी चाहिए। इस तथ्य को दूसरे शब्दो म प्रस्तुत करते हुए जोड ने लिखा है —

'श्रेणी समाजवादियो के विषय मे यह कहना सत्य है कि वह सिद्धान्तवादियो की एक छोटी सी मण्डली है, जो श्रमिक आन्दोलन के

1 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 285
2 Orage, A R, An Alphabet of Economics, London, 1917, p 53
3 Kilzer and Ross, Western Social Thought p 286
4 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 275

अन्तर्गत उनके प्रभावशाली सदस्यों को अपना मतवर्ती बनाने के उद्देश्य से काम कर रहे हैं तथा सामान्यतः अपने विचारों के समर्थन के लिए वे जनता से सीधी अपील नहीं करते।"[5]

उपर्युक्त परिभाषाएँ तथा विचार गिल्ड समाजवाद को पूर्णतः स्पष्ट नहीं करते। वास्तव में गिल्ड समाजवाद वह विचारधारा है जिसके समर्थक एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं जिसका आधार गिल्ड प्रणाली हो। यह मूलतः श्रमिकों का आन्दोलन है किन्तु सभी प्रकार के उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं को संरक्षण प्रदान करता है। गिल्ड समाजवादी राज्य विरोधी होते हुए भी किसी न किसी रूप में राज्य हितैषी हैं।

विकास: प्रभाव एवं कारण

गिल्ड समाजवाद की प्रेरणा-स्रोत मध्यकालीन यूरोप की व्यवस्था थी। मध्यकालीन यूरोप में औद्योगिक और व्यावसायिक संघ जो गिल्ड (Guild) कहलाते थे, का आर्थिक जीवन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान था। एक गिल्ड (संघ या श्रेणी) में एक उद्योग से सम्बन्धित सभी कारीगर और श्रमिक सम्मिलित होते थे। ये गिल्ड मजदूरी, कार्य-परिस्थितियों आदि का स्वयं निर्धारण करते थे। गिल्ड के सदस्यों का प्रशिक्षण, उनकी पारिवारिक सहायता आदि का प्रबन्ध भी इनके द्वारा किया जाता था। इसके अलावा समाज सेवा इनका मुख्य उद्देश्य था। वास्तव में उस समय की अर्थ व्यवस्था इन्हीं संस्थाओं द्वारा नियन्त्रित होती थी।

गिल्ड समाजवादियों पर इस व्यवस्था का मूल प्रभाव था। अपनी पुस्तक–Guild Socialism में कोल ने इस प्रभाव को स्पष्टतः स्वीकार किया है। किन्तु उनका उद्देश्य मध्यकालीन व्यवस्था को पूर्णतः लागू करना नहीं था। उसे आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर ग्रहण करना था। विशेषतः गिल्ड समाजवादी मध्यकालीन गिल्ड व्यवस्था की व्यावसायिक नैतिकता तथा समाजसेवी भावना से अत्यधिक प्रभावित हुए।[6]

गिल्ड समाजवाद पर बहुलवाद (Pluralism) की छाया स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। प्रमुख बहुलवादी नेविल फिगिस (J.Neville Figgis) जो इंग्लैंड में पादरी थे, ने अपने विचारों से बहुत से व्यक्तियों को प्रभावित किया। हेरॉल्ड लास्की (Harold J. Laski), लिन्डसे (A.D. Lindsay) के अलावा कोल (G.D. H. Cole) स्वयं भी प्रमुख बहुलवादी थे। वास्तव में कोल को किसी विशेष विचारधारा तक सीमित नहीं किया जा सकता।

---

5 जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त–प्रवेशिका, पृ. 76–77.

6 Cole, G D H., Guild Socialism, Allen & Unwin, London, 1920 pp. 35–37.

गिल्ड समाजवाद को बहुलवाद की देन राज्य सत्ता को सीमित करने तथा राज्य के अन्तर्गत समुदायों को व्यापक अधिकार करने के क्षेत्र में है। बहुलवादी राज्य के व्यापक अधिकारों का विरोध तथा विकेन्द्रीकृत राज्य (Decentralised State) का समर्थन करते हैं। गिल्ड व्यवस्था के अन्तर्गत भी लगभग ऐसे ही विचारों का निरूपण किया गया है।

यहां यह प्रश्न उठता है कि इंग्लैंड में इस समाजवादी सम्प्रदाय की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई? मार्क्सवाद की प्रेरणा से यूरोप में कई समाजवादी सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। फ्रांस में सिन्डीकलवाद तथा इंग्लैंड में फेबियनवाद ने कुछ समय तक समाजवादी आन्दोलन को प्रभावित किया। लेकिन समष्टिवाद और सिन्डीकलवाद दोनों ही अंग्रेजों की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं थे। इंग्लैंड में राज्य समाजवादी आन्दोलन की जड़ें कभी भी गहरी नहीं हो पाई हैं।[7] उन्हें सिन्डीकलवाद अत्यधिक उग्र, क्रांतिकारी तथा अराजकतापूर्ण प्रतीत हुआ। दूसरी ओर, फेबियनवाद अधिक उदारवादी होने के कारण अंग्रेजों को आकर्षित करने में असफल रहा। अंग्रेज परम्परागत मध्यमार्ग का अनुसरण करने वाले हैं, इसलिए उन्होंने फेबियनवाद और सिन्डीकलवाद की अतिवादिता को त्याग कर दोनों की अच्छी बातों का सम्मिश्रण कर एक नये समाजवादी सम्प्रदाय गिल्ड समाजवाद को जन्म दिया। अन्य शब्दों में गिल्ड समाजवाद को सिन्डीकलवाद और समष्टिवाद का 'बुद्धिवादी शिशु' (Intellectual Child) भी कहते हैं।

गिल्ड समाजवाद को सैद्धान्तिक आधार प्रदान करने का श्रेय उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ विद्वानों को है। कारलायल (Thomas Carlyle, 1795–1881), स्कॉटलैंड के लेखक एवं दार्शनिक तथा जॉन रस्किन (John Ruskin 1819–1900), अंग्रेजी लेखक, आलोचक और समाज सुधारक आदि ने अति उत्पादन, शक्तिशाली शासन का विरोध तथा छोटे छोटे समूहों का समर्थन किया था।[8] विलियम मोरिस (William Morris, 1834–1896) ने अपनी यूटोपियायी पुस्तक— News from Nowhere– में ऐसी कल्पना की है जहां बड़े-बड़े नगर नहीं थे, व्यक्ति विकेन्द्रीय ग्रामों में सुखपूर्वक तथा सहयोगपूर्ण भावना को लेकर रहते थे। इसके साथ ही साथ उन्हें अपनी कला और हुनर पर गर्व था।[9] मोरिस, कारलायल तथा रस्किन के लेखों में गिल्ड समाजवाद का केवल आभास ही मिलता है, उन्हें गिल्ड समाजवादी नहीं कह सकते।

---

7 Ramsay MacDonald J., Socialism Critical and Constructive, pp 89 90
8 Kilzer and Ross, Western Social Thought, p 285
9 Ibid, p 153

गिल्ड समाजवाद

पेन्टी (A. J. Penty, 1875-1937), जो एक शिल्पकार थे, को गिल्ड समाजवाद का प्रमुख प्रवर्तक माना जाता है।[10] 1906 में प्रकाशित पेन्टी की पुस्तक-The Restoration of Guild System (अर्थात्, गिल्ड व्यवस्था की पुनर्स्थापना)—में गिल्ड समाजवाद के प्रारम्भिक विचार मिलते हैं। इस पुस्तक की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। पेन्टी के अनुसार उद्योग में स्व-शासन के मध्यकालीन सिद्धान्त को पुनः स्थापित करना चाहिए। इस व्यवस्था में दस्तकार, जो कि एक स्व-शासित श्रेणी का सदस्य होता था, उत्पादन के साधनों का भी स्वामी होता था और वही यह निश्चय करता था कि किस प्रकार का तथा कितना माल तैयार किया जाय।[11]

1909 तक इस सिद्धान्त ने अधिक व्यावहारिक रूप धारण नहीं किया था। 1909 से 1912 तक इंग्लैंड में बड़ी श्रमिक अशान्ति रही जिसमें श्रमिक संघों ने प्रमुख भाग लिया। इस श्रमिक अशान्ति तथा आन्दोलन का मार्ग निर्देशन करने में ओरेज (A.R. Orage, 1875-1934), जो पत्रकार, दार्शनिक एवं निबन्धकार थे, तथा पत्रकार एवं वक्ता हॉब्सन (S. G. Hobson, 1864-1907) ने महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान की। इन्होंने 1907 में एक पत्रिका–New Age–के माध्यम से इस प्रकार के विचार प्रसारित किये कि प्राचीन गिल्ड प्रणाली के विचार को वर्तमान श्रमिक संगठनों के आधार पर आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाना चाहिए। इनका सुझाव था कि उद्योग में उससे सम्बन्धित श्रमिकों का स्व-शासन हो। इसके लिए इनका संगठन एक औद्योगिक गिल्ड व्यवस्था में किया जाय जिसका प्रारम्भ वर्तमान श्रमिक संघों के आधार पर किया जा सकता है।[12]

न्यू एज (New Age) में प्रकाशित लेखमाला के आधार पर एक अन्य पुस्तक–National Guilds, An Inquiry into the Wage System and the Way Out—प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के द्वारा गिल्ड समाजवाद को पेन्टी के मध्यकालीन विचारों से मुक्त करा कर तथा एक नवीन दिशा प्रदान कर आधुनिक राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया गया।

---

10 हैलोवेल ने गिल्ड समाजवाद का विवरण देने में पेन्टी का नाम ही उल्लेख नहीं किया है। संभवतः वे पेन्टी के योगदान को स्वीकार नहीं करते।
Hallowel, H. J., Main Currents in Modern Political Thought, pp 466-468.

11. जोद., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 75.

12. उपरोक्त., पृ. 79;
A Summary of articles published in the New Age is given in A History of British Socialism by M. Beer, p. 365—66

गिल्ड समाजवाद के सबसे प्रबल समर्थक कोल (G D. H Cole, 1889-1959) थे जिन्होंने अपनी दर्जनों पुस्तक-पुस्तिकाओं में इस विचारधारा को विवेचनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया।

इस सम्बन्ध में कोल की निम्नलिखित पुस्तकें अत्यन्त ही महत्वपूर्ण थीं —

1 Self Government in Industry, 1917.
2 Social Theory, 1918
3 Guild Socialism Restated, 1920
4. *Guild Socialism, 1920 (a Fabian tract)*

इन पुस्तकों के माध्यम से गिल्ड समाजवाद को पूर्णत विकसित, व्यवस्थित तथा आन्दोलन का रूप देने का श्रेय कोल को ही है।

गिल्ड समाजवादी, विशेषत ऑरेज, किसी प्रकार की गिल्ड संस्था की स्थापना के विरोध में थे। इसलिए गिल्ड समाजवाद के संगठित आन्दोलन का रूप ग्रहण करने में कुछ कठिनाई हुई। किन्तु 1915 में गिल्ड समाजवाद के दो नये समर्थक आक्सफोर्ड के विद्वान विलियम मलोर (William Mellor) तथा मौरिस रेक्टि(M B Reckitt) आदि ने एक राष्ट्रीय गिल्ड संघ (National Guilds League) की स्थापना की। आरेज, हॉब्सन तथा कोल इसकी कार्यकारिणी के सदस्य थे। राष्ट्रीय गिल्ड संघ इस समाजवादी विचारधारा का प्रमुख केन्द्र बन गया। इसने कई बुद्धिजीवियों को आकर्षित किया। इसने एक मासिक पत्र-Guilds Man—निकाला जो बाद में 'Guild Socialist' हो गया।

गिल्ड समाजवादियों ने इंगलैण्ड में कुछ रचनात्मक कार्य भी किये। 1920 में मैनचेस्टर के अनेक भवन निर्माण मजदूर संघों ने 'भवन निर्माणकारी संघ'(A Builder's Guild) स्थापित किया। हाब्सन इस संघ के मंत्री थे। इस संघ ने ठेके लेकर लगभग दस हजार सस्ते मकानों का निर्माण किया। लेकिन सरकार का इसके प्रति कुछ विरोधपूर्ण दृष्टिकोण रहा। इसे आर्थिक सहायता बन्द कर दी गई तथा छः माह के अन्तगत Builder s Guild का अन्त हो गया। 1925 में राष्ट्रीय गिल्ड्स-लीग को भी भंग कर दिया गया। इसके बाद गिल्ड समाजवादी आन्दोलन का ह्रास होता चला गया।

गिल्ड समाजवाद के विचार-सूत्र

गिल्ड समाजवाद के सामान्यतः दो पक्ष हैं। प्रथम, गिल्ड समाजवादी,पूंजीवादी और प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था की वैसी ही परम्परागत आलोचना करते हैं जिस प्रकार समाजवाद के अन्य सम्प्रदाय। इस सम्बन्ध में गिल्ड समाजवाद, समाजवाद की अन्य शाखाओं से भिन्न नहीं है। द्वितीय, गिल्ड समाजवादी समाज के आर्थिक और राजनीतिक संगठन में आमूल परिवर्तन आवश्यक मानते हैं। इसके लिये वे कुछ

रचनात्मक सुझाव देते हैं जिनके कारण गिल्ड समाजवाद अन्य समाजवादी शाखाओं से हट कर एक अलग विचारधारा के रूप मे स्वीकार किया जाता है। गिल्ड समाजवाद की प्रमुख विशेषताएँ इन दोनों पक्षों को व्यक्त करती हैं।

उत्पादन का ह्रास:—पूंजीवाद के अन्तर्गत आर्थिक संगठन की गिल्ड समाजवादी कटु आलोचना करते हैं। इसके अनुसार श्रमिको ने शिक्षा तथा जीवन-अनुभवो से यह सीख लिया है कि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था उत्पादन वृद्धि के उपयुक्त नही है। श्रमिक कठोर परिश्रम द्वारा उत्पादन मे वृद्धि तो कर सकता है किन्तु इसका वह लाभ प्राप्त नही कर सकता। इसके विपरीत उत्पादन यदि सीमित है तो माग के अनुपात मे वृद्धि कम होगी और इस प्रकार कम उत्पादन मे ही अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है। पूंजीवादी व्यवस्था मे उत्पादन अधिक या कम क्यो न हो श्रमिकों को लाभ नहीं होता। किन्तु प्रमुख बात यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था अधिक उत्पादन के लिये प्रोत्साहित नही करती।

मूल्य-निर्धारण

गिल्ड समाजवादियो का कहना है कि वस्तुओ का विनिमय मूल्य श्रम से निर्धारित होता है। लेकिन भू-स्वामी, उद्योगपति और पूंजीपति मूल्य अधिक लेते है और अतिरिक्त मूल्य को हड़प जाते हैं। श्रमिकों को जो कुछ मिलता है वह बहुत ही अनुपयुक्त होता है। इस सम्बन्ध मे इनका सुझाव है कि या तो वर्तमान प्रथा का अन्त कर दिया जाय या मजदूरी, किराया, लाभ, ब्याज आदि की दर को निश्चित करने का कोई अन्य सिद्धान्त अपनाया जाय।

मजदूरी-प्रथा का उन्मूलन

पूंजीवादी दोषों को ध्यान में रखते हुए गिल्ड समाजवादी मजदूरी प्रथा को दोषपूर्ण मानते हैं। प्रथम, मजदूरी प्रथा श्रमिक को उसके श्रम से अलग कर देती है ताकि एक दूसरे के बिना दोनों को बेचा और खरीदा जा सकता है। द्वितीय, मालिक मजदूरी तभी देता है जब उसे लाभ हो। तृतीय, सिर्फ मजदूरी के बदले श्रमिक उत्पादन के संगठन पर अपना नियन्त्रण खो देता है। चतुर्थ, मजदूरी प्रथा के अन्तर्गत श्रमिक अपने द्वारा निर्मित वस्तु से भी अपना दावा और अधिकार छोड़ बैठता है। इस प्रकार मजदूरी प्रथा नैतिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक तथा कलात्मक दृष्टि से उचित नहीं है। प्रचलित मजदूरी प्रथा श्रमिक मे निर्भरता एवं दासता की भावना उत्पन्न करती है और उसकी सृजनात्मक प्रवृत्ति को सीमित तथा कुण्ठित करती है।

मजदूरी प्रथा मे उपरोक्त दोषो के परिणामस्वरूप गिल्ड समाजवादी इस प्रथा को अन्त करने के ही पक्ष मे है। इसके अलावा वे चाहते है कि श्रमिक को जो कुछ मजदूरी प्राप्त हो वह उसे मनुष्य समझ के दी जावे। द्वितीय, बेरोजगारी तथा बीमारी के समय श्रमिकों को भत्ता दिया जाय। तृतीय, उत्पादन साधनों पर श्रमिकों का

नियन्त्रण तथा स्वयं के द्वारा निर्मित वस्तु पर अधिकार हो। साधारण भाषा में इसका तात्पर्य यह हुआ कि मजदूरी के स्थान पर श्रमिकों को उनके कार्य के लिए किसी अन्य ढंग, तरीके या व्यवस्था के अन्तर्गत वेतन दिया जाये, श्रमिक की सुरक्षा की गारंटी हो श्रमिक का उत्पादन प्रक्रिया पर ही नहीं किन्तु विक्रय प्रक्रिया पर भी नियन्त्रण हो।[13]

मशीनयुगीय दुष्परिणामों का अन्त

रस्किन, कारलायल तथा विलियम मोरेस मशीन युगीय व्यवस्था पर तीव्र प्रहार करते हैं जिनका गिल्ड समाजवादियों पर स्पष्ट प्रभाव है। गिल्ड समाजवादियों के अनुसार मशीन युग में पूंजीवादी व्यवस्था मशीन व्यवस्था पर निर्भर करती है। मनोवैज्ञानिक आधार पर इस व्यवस्था में श्रमिक के व्यक्तित्व, भावनाओं और कलात्मकता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। उत्पादन प्रक्रियाओं का इतना व्यापक एवं सूक्ष्म विभाजन हो गया है कि श्रमिक एक मशीन की भांति एक निश्चित क्रिया को निरंतर दुहराता रहता है। इससे उसके कार्य में आनन्द, पहल करने की शक्ति एवं क्षमता तथा सृजनात्मक और कलात्मक रुचि का ह्रास होता है। इसलिये गिल्ड समाजवादी ऐसी अर्थ व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं जिसमें श्रमिक आनन्दपूर्वक उत्पादन में सहयोगी हो। वे उत्पादन प्रक्रिया और परिस्थितियों में परिवर्तन चाहते हैं। कोकर ने इस भावना को व्यक्त करते हुए लिखा है कि—

> "गिल्ड समाजवाद के लिये प्रमुख आर्थिक समस्या कला या कारीगरी की भावना के पुनः स्थापन का मार्ग खोज निकालने की है तथा एक ऐसी प्रणाली स्थापित करने की है जिससे मजदूरी में केवल दक्षता का ही विकास न हो वरन् उन्हें अपने काम के गौरव का भी अनुभव हो, केवल अपने उपार्जित धन की रकम में ही दिलचस्पी न हो वरन् अपने उत्पादन के रूप और गुण में भी दिलचस्पी हो।"[14]

सम्पत्ति का सामाजिक उपयोग

अन्य समाजवादियों की तरह गिल्ड समाजवादी भी व्यक्तिगत सम्पत्ति के आलोचक हैं। किन्तु वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के पूर्णरूपेण उन्मूलन के पक्ष में नहीं हैं। सम्पत्ति के सम्बन्ध में गिल्ड समाजवादी नैतिक तर्क देते हुए कहते हैं कि सम्पत्ति और सामाजिक हित का पूर्ण समन्वय होना चाहिये। वे व्यक्ति जो समाज सेवा नहीं कर सकते, उन्हें सम्पत्ति धारण और उपभोग करने का अधिकार नहीं होना चाहिये। मनुष्य को स्वार्थ की दृष्टि से नहीं, समाज सेवा की भावना से कार्य करना चाहिये।

---

13 Gray, A., The Socialist Tradition, pp 438-39

14 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 280

व्यावसायिक प्रजातन्त्र (Democracy in Industry)

व्यावसायिक प्रजातन्त्र का सिद्धान्त गिल्ड समाजवाद के प्रमुख विचार-सूत्रों में से एक है। "व्यावसायिक प्रजातन्त्र का सिद्धान्त केन्द्रीय, सर्वशक्तिशाली राज्य की कल्पना के विरुद्ध, इस बात का समर्थन करता है कि शक्तियों तथा कार्यों को विकेन्द्रीकरण द्वारा विभिन्न निकायों को दे दिया जाय। इससे यह आशा की जाती है कि आधुनिक जटिल समाज में मनुष्य के विविध हितों का पर्याप्त रूप से प्रतिनिधित्व हो सकेगा।"[15]

व्यावसायिक प्रजातन्त्र के दो आधार या दो पक्ष हैं। प्रथम, गिल्ड समाजवादी, विशेषत: कोल, मार्क्स के इस कथन से सहमत हैं कि "आर्थिक शक्ति राजनीतिक शक्ति की पूर्ववर्ती होती है अर्थात् वे यह मानते हैं कि राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र तभी सम्भव है जब आर्थिक क्षेत्र में पहले प्रजातन्त्र की स्थापना की जाय। यदि उद्योगों का संगठन प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया के आधार पर हो तो समाज का संगठन अनिवार्यत: प्रजातान्त्रिक हो जायेगा।[16]

द्वितीय, व्यावसायिक प्रजातन्त्र के अनुसार गिल्ड समाजवादी क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व सिद्धान्त (Territorial Representation) का समर्थन नहीं करते। "किसी भी व्यक्ति द्वारा किसी भी अन्य व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करना असम्भव है। इसलिए अभी तक जो भी प्रतिनिधि संस्थाएँ रही हैं वे वास्तव में प्रतिनिधित्व नहीं करती थीं। यद्यपि यह सच है कि कोई भी व्यक्ति अपने पड़ोसियों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, वह उनके उद्देश्यों के एक समूह का प्रतिनिधित्व कर सकता है।"[17] इसका तात्पर्य है कि गिल्ड समाजवादी अलग अलग हितों के लिए अलग अलग गिल्ड की स्थापना करने का समर्थन करते हैं। ये गिल्ड ही व्यक्तियों के अलग अलग हितों का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। इस सन्दर्भ में ही गिल्ड समाजवादी क्षेत्रीय प्रतिनिधि प्रणाली को निरस्त कर व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation) सिद्धान्त को मान्यता देते हैं।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation)

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व गिल्ड समाजवादियों का मूल मंत्र है। उन्होंने भौगोलिक प्रतिनिधित्व प्रणाली की आलोचना की है क्योंकि—

(i) प्रचलित प्रतिनिधित्व प्रणाली प्रादेशिक प्रतिनिधित्व पर आधारित है। राज्य को जनसंख्या के आधार पर निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है।

---

15 जोड़., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 79.

16 उपर्युक्त पृ. 79-80.
Also see, The Socialist Tradition by Gray, A., pp. 441-42.

17 जोड़., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 77.

(ii) एक क्षेत्र से एक या अनेक प्रतिनिधि चुने जाते हैं। एक निर्वाचन क्षेत्र में कई व्यवसाय के लोग रहते हैं जैसे किसान, मजदूर, डॉक्टर, इंजीनियर, लेखक प्रकाशक, मकान मालिक, किरायेदार आदि। कोई भी प्रतिनिधि इन विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। वे तो सिर्फ अपने क्षेत्र के सामान्य हितों का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं।

(iii) एक ही क्षेत्र में रहने वाले विभिन्न व्यावसायिक व्यक्तियों के हित भी भिन्न भिन्न होते हैं। ये विभिन्न हित एक निर्वाचन क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहते। बहुत से व्यावसायिक हित स्थानीय क्षेत्र से प्रारम्भ होकर राष्ट्रीय स्तर तक जाते हैं।

(iv) वर्तमान शासन मूलतः राजनीतिक व्यवस्था है। किन्तु बहुत से कार्य और प्रश्न ऐसे हैं जो सिर्फ राजनीतिक ही नहीं होते। प्रचलित शासन प्रणाली आर्थिक मामलों में निष्पक्ष और लगन से काम चलाने में असमर्थ है। उदाहरण के लिये वर्तमान शासन व्यवस्था में श्रमिकों को उन परिस्थितियों के निर्माण और नियन्त्रण आदि निर्धारण करने में भाग नहीं लेने दिया जाता जिनमें उन्हें कार्य करना पड़ता है। इसके विपरीत राज्य परम्परागत सम्पत्ति अधिकारों की रक्षा कर शोषण व्यवस्था बनाये रखने में सहायता देता है।

इस प्रकार क्षेत्रीय आधार पर चुना हुआ कोई भी प्रतिनिधि चाहे वह कितना ही योग्य क्यों न हो, उसका अनुभव एवं ज्ञान कितना ही व्यापक क्यों न हो, इन विभिन्न व्यावसायिक हितों से सम्बन्धित समस्याओं को न तो वह पूर्ण रूप से समझ सकता है और न इन सभी के प्रति उसकी समान सहानुभूति ही रह सकती है।[18]

उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए गिल्ड समाजवादी सामाजिक संगठन के लिये निम्नलिखित सुझाव देते हैं—

(i) समाज का पूर्ण लोकतांत्रिक संगठन तभी हो सकता है जब उसका संगठन कार्यों और व्यवसायिक आधार (functional basis) पर किया जाय।

(ii) गिल्ड संख्या में उतने होने चाहिए जितने समाज में होने वाले कार्य। समस्त प्रमुख व्यवसायों में काम करने वाले व्यक्तियों को पृथक्-पृथक गिल्ड (श्रेणियों) में संगठित किया जाये। एक गिल्ड में केवल एक ही व्यवसाय के व्यक्ति सम्मिलित किये जाएँ।

(iii) प्रत्येक गिल्ड में संलग्न सभी कुशल एवं अकुशल श्रमिक, टेक्नीशियन, प्रशासक एवं प्रबन्धक आदि सभी सम्मिलित होने चाहिए।

---

18 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 281

(iv) गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत न केवल औद्योगिक गिल्ड होंगे बल्कि उपभोक्ता गिल्ड, नागरिक गिल्ड तथा अन्य कार्य जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य जीविकाओं के क्षेत्र मे भी गिल्ड होंगे जिनका संगठन स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय आधार पर होगा। उपभोक्ता गिल्ड उत्पादक गिल्ड आदि से मिलकर उत्पादन व्यय, उत्पादन सीमा तथा मूल्य आदि के विषय मे विचार एवं निर्माण करेंगे।

(v) गिल्ड स्थानीय प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय स्तर पर सगठित किये जाने चाहिये या नही इस बात पर गिल्ड समाजवादियो मे मतभेद था। पेन्टी ने स्थानीय गिल्ड सगठन को ही अधिक महत्त्व दिया। वह नही चाहता था कि प्रादेशिक या राष्ट्रीय गिल्ड स्थानीय गिल्डों पर नियन्त्रण रखें जिससे श्रमिकों की स्वतन्त्रता एव शिल्पकारिता का हनन होने की सम्भावना थी। लेकिन अधिकतर गिल्ड समाजवादी आधुनिक परिस्थितियों में तथा बड़े पैमाने पर प्रचलित उत्पादन पद्धति के आधार पर स्वीकार करते थे कि गिल्ड का उच्च स्तरो पर भी सगठन होना चाहिए। प्रत्येक व्यवसाय को आवश्यकतानुसार विभिन्न स्तरो पर गिल्ड निर्माण करने चाहिए, जैसे कर-आरोपण (taxation), प्रतिरक्षा (defence) आदि राष्ट्रीय मामलो के राष्ट्रीय गिल्ड होंगे तथा बिजली, पेयजल, पुलिस आदि की व्यवस्था स्थानीय गिल्ड करेंगे। लेकिन स्थानीय गिल्ड को अधिक से अधिक स्वायत्तता होनी चाहिए।

सामान्यत: समस्त महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक उत्पादन तथा उपभोक्ता क्षेत्रो मे राष्ट्रीय गिल्ड (National Guild) होंगे। राष्ट्रीय गिल्ड किसी भी एक उद्योग से सम्बन्धित सभी प्रकार के श्रम या कार्य जैसे प्रशासनिक, कार्यपालिका तथा उत्पादन आदि का संगम होगा। इसमें वे सभी सम्मिलित होंगे जो हाथ या मस्तिष्क से कार्य करते है। कोई भी व्यक्ति जो काम कर सकता है इनका सदस्य बन सकता है।[19] यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि राष्ट्रीय गिल्ड कोई एक ही नहीं होगा। प्रत्येक उद्योग या गतिविधियों से सम्बन्धित राष्ट्रीय गिल्ड हो सकते हैं। इस प्रकार गिल्ड प्रणाली के अन्दर कई राष्ट्रीय गिल्ड हो सकते हैं। इनका कार्य अपने ही उद्योग में नीचे के गिल्ड को परामर्श देना, उनके कार्यों मे ताल-मेल बैठाना, पूरे उद्योग से सम्बन्धित नीति निर्धारण करना आदि होगा।

गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत सबसे अन्तिम संगठन कम्यून (Commune) कहलायेगा। यह राज्य का स्थान ग्रहण करेगा। कम्यून मे सभी राष्ट्रीय गिल्ड के प्रतिनिधि होंगे। कोल के अनुसार कम्यून निम्नलिखित कार्य करेगा:–[20]

19 Hobson, S G, Guild Principles in War and Peace, 1918, pp. 26-27.
20 Cole, G. D H., Guild Socialism, Allen & Unwin, London, 1920, p. 125.

(i) वित्तीय मामले जैसे राष्ट्रीय स्रोतों का वितरण, आमदनी, मूल्य आदि से सम्बन्धित समस्याएँ,
(ii) नीति के मामलों में विभिन्न गिल्ड (श्रेणियों) के मतभेदों को सुलझाना,
(iii) विभिन्न गिल्ड के अधिकार क्षेत्रों से सम्बन्धित संवैधानिक समस्याओं का समाधान करना,
(iv) विदेशी मामले,
(v) आवश्यकता पड़ने पर शक्ति का प्रयोग, तथा
(vi) वे कार्य जो किसी अन्य गिल्ड के अधिकार क्षेत्र में न आते हों।

चूँकि कम्यून राज्य के स्थान पर कार्य करेगा इसलिए स्थानीय, क्षेत्रीय स्तर पर भी इसकी शाखाएँ होंगी जो अपने अपने स्तरों पर यही कार्य करेंगी जो राज्य करता है तथा जिसे कम्यून स्वीकार करे।

प्रत्येक स्तर पर श्रेणियों का संगठन स्वायत्तता और लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर होगा। प्रथम, प्रत्येक गिल्ड अपने प्रबन्ध के लिए स्वायत्त होगा। लेकिन वे दूसरी श्रेणियों के साथ पारस्परिक निर्भर होंगे। उन्हें अपनी इस स्वतन्त्रता या स्वायत्तता का अन्य गिल्ड के साथ समन्वय करना होगा ताकि उनमें संघर्ष या स्पर्द्धा न हो। दूसरे प्रत्येक गिल्ड का सम्पूर्ण प्रबन्ध लोकतान्त्रिक पद्धति से होगा। सदस्यों की इच्छानुसार उनके प्रतिनिधियों का चयन किया जाय। गिल्ड के सदस्य अपने अधिकारियों, समितियों तथा ऊपर के स्तर की श्रेणियों के लिये प्रतिनिधियों का निर्वाचन करेंगे।

गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत राज्य की स्थिति

गिल्ड व्यवस्था पर आधारित समाज में राज्य की क्या स्थिति हो इस सम्बन्ध में गिल्ड समाजवाद के समर्थक एकमत नहीं हैं, लेकिन राज्य के विषय में इनके दो पक्ष पूर्णतः स्पष्ट हैं। प्रथम, गिल्ड समाजवाद मुख्यतः आर्थिक और औद्योगिक व्यवस्था से सम्बन्धित है। यह उद्योग पर राज्य के प्रबन्ध, नियन्त्रण या हस्तक्षेप का समर्थक नहीं है। गिल्ड समाजवादी उद्योगों को राज्य के आधिपत्य से मुक्ति चाहते हैं तथा गिल्ड प्रणाली को अधिक महत्त्व देते हैं।

द्वितीय, अराजकतावादी और सिन्डीकलवादियों की भाँति गिल्ड समाजवादी राज्य को पूर्णरूप से समाप्त करने के पक्ष में भी नहीं हैं। स्थानीय, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय स्तर पर गिल्ड प्रणाली की स्थापना से ही पूरे सामाजिक कार्य नहीं चल सकते। समाज की कुछ ऐसी भी आवश्यकताएँ हैं जिन्हें चलाने के लिये गिल्ड समाजवादी राज्य की किसी न किसी रूप में आवश्यकता स्वीकार करते हैं। देश की रक्षा, अपराधों की रोकथाम आदि ऐसी बातें हैं जिन्हें गिल्ड नहीं कर सकते। इनके [illegible] के लिए केवल राज्य ही उपयुक्त है। गिल्डों द्वारा न किए जाने वाले समस्त

राजनीतिक कार्य राज्य ही करेगा। इस प्रकार गिल्ड समाजवाद राज्य के अस्तित्व एवं आवश्यकता को स्वीकार करते हुए भी उसके सीमित अधिकारों का समर्थक है।

बार्कर (E. Barker) के अनुसार गिल्ड समाजवाद के समर्थक राज्य तथा श्रेणियो (Guilds) दोनो के लिये गु जाइश छोडते है। शक्ति-विभाजन के आधार पर ये राज्य तथा गिल्ड के अस्तित्व को मान्यता देते हैं। किन्तु राज्य का स्तर फिर भी सबसे महत्त्वपूर्ण होगा। बार्कर के शब्दो मे—

> "गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत आधुनिक राज्य व्यावसायिक श्रेणियो का एक समुदाय होगा। किन्तु राज्य इस प्रकार की श्रेणियो के समूह से कुछ अधिक ही होगा। राज्य सिर्फ एक कोष्ठक या हायफन (hyphen) ही नही किन्तु स्वय का एक वास्तविक अस्तित्व होगा।"[21]

गिल्ड समाजवादियो मे राज्य की उपयोगिता एवं कार्य-क्षेत्र के विषय मे मुख्यत: मतभेद हाब्सन तथा कोल मे है। ये दोनो ही दो दृष्टिकोणो का प्रतिनिधित्व करते हैं।

राज्य के विषय में हाब्सन (S G. Hobson) के विचार

हाब्सन हालांकि गिल्ड समाजवादो है, लेकिन उनके राज्य-सम्बन्धी विचार गिल्ड समाजवाद की अपेक्षा राज्य-समाजवाद के अधिक निकट हैं; या उनके विचार राज्य-समाजवाद और बहुलवाद के सम्मिश्रण है। हाब्सन गिल्ड व्यवस्था का पूर्ण समर्थन करते हैं, लेकिन प्रत्येक गिल्ड समाज के किसी विशिष्ट अंग का ही प्रतिनिधित्व करेगा। इसलिये राज्य जैसी संस्था का होना परमावश्यक है जो सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व कर सके और शक्ति का अन्तिम स्रोत माना जाये। हाब्सन के राज्य सम्बन्धी विचारो की विवेचना से निम्नलिखित तत्व स्पष्ट होते हैं:—

प्रथम, राज्य सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था है।

द्वितीय, राज्य की आर्थिक सत्ता को गिल्डों मे वितरित कर राज्य की शक्ति को कम कर दिया जाये।

तृतीय, उत्पादन की सारी मशीनों, कारखानो का स्वामित्व राज्य का होगा। वह उन्हें तमाम गिल्डों को पट्टे पर देगा। इनका प्रयोग गिल्ड समाज-हित में ट्रस्टी के रूप मे करेंगे।

चतुर्थ, राज्य समस्त गिल्डो से कर आदि वसूल करेगा तथा ऐसी श्रेणियों को सहायता देगा जो स्वास्थ्य एवं शिक्षा आदि की निःशुल्क सामाजिक सेवा करती है।

---

21. "Under Guild Socialism the modern state will be a community of professional Guilds. But the state will be more than a sum of such Guilds. It will not be a mere bracket or hyphen, but a real entity in itself." Barker, E., Political Thought in England, 1848 to 1914, p 201.

पंचम, राज्य के अन्य कार्य आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा का उत्तरदायित्व, प्रमुख कानूनों का निर्माण तथा गिल्डों के आपसी विवादों को सुलझाना होगा।

राज्य एवं कम्यून व्यवस्था के विषय में कोल (G H Cole) के विचार—

हॉब्सन की तुलना में कोल राज्य को कम महत्वपूर्ण मानते हैं। हॉब्सन के विचार जो राज्य को महत्व देते हैं, कोल ने उसका खण्डन किया है। कोल अपने विचारों में मूलत बहुलवादी (Pluralist) हैं। कोल के अनुसार—

(i) राज्य उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व करने वाली आवश्यक संस्था है।

(ii) उत्पादन संस्थाओं पर राज्य का नियंत्रण नहीं होना चाहिए।

(iii) समाज में राज्य का स्थान अन्य संस्थाओं जैसा ही होना चाहिये। राज्य अनेक समुदायों में एक समुदाय है। राज्य स्वयं भी एक प्रादेशिक गिल्ड जैसा होगा। जिसका कार्य समान संरक्षण, शिक्षा व्यवस्था, विवाह-तलाक नियन्त्रण, अपराधों की रोकथाम तथा बच्चों की देखभाल आदि होगा।

(iv) राज्य और अन्य गिल्डों के विवाद समाप्त करने तथा गतिविधियों में तालमेल बैठाने के लिए एक संस्था का निर्माण किया जाये जिसका नाम Democratic Supreme Court of Functional Equity—(कार्यात्मक न्याय का लोकतान्त्रिक उच्चतम न्यायालय) होगा। यह न्यायालय राज्य तथा अन्य गिल्डों के ऊपर होगा। यह शान्ति व्यवस्था, पुलिस, कानून आदि का नियन्त्रण करेगा। समाज में यही सर्वोच्च संस्था होगी।

कोल राज्य के कार्य-क्षेत्र को बिल्कुल संकुचित ही नहीं करते किन्तु वह राज्य की सम्प्रभुता सम्बन्ध धारणा को भी स्वीकार नहीं करते। राज्य के विषय में कोल के विचारों में आगे चल कर और भी परिवर्तन हुआ है। कोल के अनुसार राज्य धीरे-धीरे मुरझा जायगा तथा उसका स्थान एक कम्यून व्यवस्था लेगी।

कम्यून प्रणाली (Commune System)

समस्त समुदायों में सामन्जस्य कार्य के लिये कोल कम्यून प्रणाली का प्रतिपादन करता है, यह समस्त समाज की संस्थाओं का एकीकरण करने वाली संस्था होगी। कम्यून का संगठन स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय स्तरों पर होगा। प्रत्येक स्तर पर कम्यून उत्पादकों और उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व करेंगे। प्रत्येक गिल्ड के प्रतिनिधियों को मिलाकर स्थानीय कम्यून की रचना होगी। प्रादेशिक उद्योगों तथा अन्य क्षेत्रों के गिल्डों के प्रतिनिधियों का प्रादेशिक कम्यून होगा। राष्ट्रीय स्तर के तमाम गिल्डों का राष्ट्रीय कम्यून बनाया जायगा। प्रत्येक स्तर पर कम्यून के निम्नलिखित कार्य होंगे —

(i) राजस्व प्रबन्ध, मूल्य निर्धारण तथा ऋण व्यवस्था।
(ii) विभिन्न गिल्ड के कार्य-क्षेत्र एवं शक्तियों का निर्धारण करना।
(iii) गिल्डों के बीच नीति सम्बन्धी मतभेदों का निराकरण करना।
(iv) राजनीतिक कार्य जैसे:— 420
(अ) युद्ध, शान्ति की घोषणा तथा सैन्य बल पर नियन्त्रण;
(ब) वैदेशिक सम्बन्धों का नियन्त्रण,
(स) नगरों, कस्बों तथा प्रदेश की सीमाओं का निर्धारण;
(द) व्यक्तिगत सम्बन्धों तथा वैयक्तिक सम्पत्ति पर नियन्त्रण आदि।
(v) बलप्रयोग करना। समाज की समस्त संस्थाओं को कानून के अनुसार अपने कार्य पालन करने के लिये बाध्य करना। पुलिस कार्य तथा दण्ड व्यवस्था भी राज्य के कार्य होंगे।

गिल्ड समाजवादी साधन

राजनीतिक साधन

गिल्ड समाजवादी अपनी कल्पनानुसार जो सामाजिक रचना करना चाहते हैं उसकी प्राप्ति के साधन के विषय में ये एक तो पूर्णतः स्पष्ट नहीं है तथा दूसरे इस विषय पर इनके समर्थक एकमत भी नहीं हैं। सामान्यतः ये राजनीतिक तथा संवैधानिक साधनों में श्रद्धा नहीं रखते क्योंकि:—

प्रथम, पूंजीवादी व्यवस्था में यह असम्भव है कि श्रमिक वर्ग में पूर्ण वर्ग चेतना आये और वह संगठित हो कर एक साथ मतदान करें।

द्वितीय, परिवर्तन लाने में अति विलम्ब होगा। लगभग एक शताब्दी तक इन साधनों से गिल्ड प्रणाली की स्थापना नहीं हो सकती।

तृतीय, पूंजीवादी वर्ग और शासक वर्ग इस प्रकार के परिवर्तन के मार्ग में बाधाएं प्रस्तुत करेगा।

अंत में, गिल्ड समाजवादियों की यह धारणा है कि राज्य संस्था स्वयं ही इस प्रकार की समाज रचना के लिये पर्याप्त एवं उपयुक्त नहीं है।

चूंकि गिल्ड समाजवादियों का प्रादुर्भाव इंग्लैण्ड में हुआ इसलिये इसके समर्थक वहाँ के राजनीतिक वातावरण के प्रभाव से अपने को अलग नहीं कर सके। इसलिये राजनीतिक साधनों के विरुद्ध होते हुए भी संवैधानिक एवं शान्तिपूर्ण साधनों तथा श्रमिक विकास के सिद्धान्त का पूर्णतः बहिष्कार नहीं करते तथा ऐसे ही साधनों में अपना विश्वास व्यक्त करते हैं।

आर्थिक साधन

गिल्ड समाजवादी प्रत्यक्ष कार्यवाही (direct action) जैसे हड़ताल, तोड़-फोड़ आदि में विश्वास तो नहीं रखते, लेकिन कुछ ऐसे आर्थिक साधन हैं जिनमें उनका पूर्ण विश्वास है। गिल्ड समाजवादी निम्नलिखित आर्थिक साधनों को प्रमुखता देते हैं:—

धीरे-धीरे नियन्त्रण प्राप्त करने की नीति (The policy of encroching control)—इसका तात्पर्य है कि शनैः शनैः श्रमिक स्वामियों से अधिकारों को छीन लें। इस नीति के अन्तर्गत श्रमिकों को इस बात का आग्रह करना चाहिए कि कारखानों के कमचारी जैसे फोरमैन, ओवरसियर, टैक्नोशियनों आदि की नियुक्तियों के लिए श्रमिक स्वयं चुनाव करेंगे। इसके अलावा श्रमिक जिन अधिकारियों को पसन्द न करें उन्हें नौकरी से हटा दिया जाय। इस प्रकार नियुक्ति तथा पद से हटाने का अधिकार जब श्रमिकों के हाथों में आ जायेगा तो धीरे-धीरे सम्पूर्ण कारखाने पर उनका आधिपत्य हो जायगा। इस साधन का सबसे बड़ा लाभ यह है कि श्रमिक तथा समाज के अन्य वर्ग हिंसा तथा मारकाट से बच जायेंगे।

औद्योगिक प्रतियोगिता (Industrial Competition) श्रमिक संघ सामूहिक रूप से पूँजीपतियों से स्पर्धा करेंगे तथा स्वयं उद्योगों की स्थापना करेंगे। गिल्ड उद्योगों का संचालन योग्यता के साथ कर पूँजीपतियों को झुका देंगे।

सामूहिक ठेका या संविदा (Collective Contract)—इसका तात्पर्य यह है कि श्रमिक संगठन कारखाने के मालिकों के साथ समझौता करें तथा उत्पादन का स्वयं ठेका ले लें। इसके अनुसार यह निश्चय करना होगा कि किस प्रकार के माल का कितना उत्पादन होगा तथा उसकी इकट्ठी मजदूरी कितनी होगी। संघ संगठन उत्पादन का पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर लें, अपने काम करने वाले अधिकारियों की नियुक्ति करें तथा काम करने के बाद पूरी मजदूरी आपस में वितरित कर लें।

मुआवजा का विरोध—यदि उपरोक्त साधनों से पूँजीपतियों से उनकी सम्पत्ति ले ली जाती है तो गिल्ड समाजवादी उसका मुआवजा देने के पक्ष में नहीं हैं। इसके बदले अधिक से अधिक उद्योग स्वामियों को सहायता के रूप में कुछ भत्ता दिया जा सकता है।

संगठन शक्ति

अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए गिल्ड समाजवादी यह चाहते हैं कि श्रमिक संगठनों की व्यवस्था को मजबूत बनाया जाये। इनके लिये वे कुछ सुझाव देते हैं। प्रथम, गिल्ड व्यवस्था को व्यापक बनाया जाय ताकि चपरासी से लेकर मैनेजर तक सभी गिल्ड के सदस्य बन। इस प्रकार का गिल्ड पूँजीपति को अधिक सफलतापूर्वक चुनौती दे सकता है। द्वितीय, श्रमिक संगठनों का आन्तरिक ढांचा पूर्णतः लोकतान्त्रिक हो। समस्त संघों में एकता और सहयोग हो ताकि उनका श्रमिक शक्ति पर पूर्ण आधिपत्य हो जाय। इस प्रकार वे पूँजीवादी व्यवस्था का अच्छी तरह मुकाबला कर सकेंगे। तृतीय, श्रमिक सभाओं के संगठन को सुदृढ़ बनाया जाय जिससे संक्रमण समय में आवश्यकता पड़ने पर व सम्पूर्ण कार्य सुचारु रूप से चला सकें।

गिल्ड समाजवादी साधनों से यह बात स्पष्ट होती है कि वे अर्थ व्यवस्था पर श्रमिक नियन्त्रण प्राप्त करना चाहते हैं। वे वर्तमान श्रमिक-संघ संगठन के आधार पर आगे बढ़ना चाहते हैं। सम्भवतः उनकी चेष्टा यह है कि पूँजीवादी तथा समाजवादी समाज के मध्य जो खाई है उस पर पुल बांध दिया जाये। तभी वे अपने उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकते हैं।[22]

गिल्ड और ट्रेड यूनियन (Gulids and Trade Unions)

गिल्ड समाजवाद का अध्ययन करते समय कहीं-कहीं यह भास होता है कि गिल्ड और ट्रेड यूनियन एक जैसी ही संस्थाएं हैं जैसे दोनों ही श्रमिक वर्ग का कल्याण चाहते हैं, दोनों ही उत्पादन में श्रमिकों के महत्वपूर्ण योगदान का पक्ष लेते हैं, तथा उद्योगों में श्रमिकों की कार्य परिस्थितियों में सुधार एवं श्रमिक नियन्त्रण का समर्थन करते हैं। फिर भी गिल्ड प्रणाली और श्रमिक संघ एक नहीं हैं। इनमें निम्नलिखित अन्तर स्वयं ही अपने आप स्पष्ट होता है —

(i) ट्रेड यूनियन सीमित संस्थाएँ हैं। इनके केवल श्रमिक ही सदस्य हो सकते हैं। गिल्ड व्यवस्था में उस उद्योग के श्रमिक, प्रबन्धक, बुद्धिजीवी आदि सभी सदस्य हो सकते हैं। गिल्ड की सदस्यता व्यापक है।

(ii) ट्रेड यूनियन मजदूरी में वृद्धि तथा कार्य परिस्थितियों में सुधार चाहते हैं। गिल्ड प्रणाली पूरे उद्योग का नियन्त्रण चाहती है।

(iii) ट्रेड यूनियन मुख्यतः प्रबन्धकों से संघर्ष तथा प्रत्यक्ष कार्यवाही में विश्वास करते हैं। गिल्ड प्रणाली में यह बात स्वीकार नहीं की जाती।

(iv) ट्रेड यूनियन स्वार्थ पर निर्भर है। यह अपने सदस्यों के हित को ही सर्वोपरि मानता है। गिल्ड व्यवस्था का उद्देश्य सम्पूर्ण समाज की भलाई है।

मध्यमार्गीय समाजवाद

गिल्ड समाजवाद मध्यमार्गीय विचारधारा है। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित समाजवादी विचारधाराएँ गिल्ड समाजवादियों को या तो अधिक उग्र या अत्यधिक उदार लगीं। यूटोपियायी विचारकों के साधन एवं आदर्श सामाजिक व्यवस्था उन्हें प्रभावित नहीं कर सके। मार्क्सवाद उन्हें श्रीमतपक्षीय एवं क्रान्तिकारी प्रतीत हुआ। अराजकतावाद उद्देश्यहीन सा लगा। सिन्डीकलवाद में उन्हें मार्क्सवादी उग्रता तथा अराजकतावाद की अराजकता दृष्टिगोचर हुई। फेबियनवाद सिर्फ बुद्धिवादी और निष्क्रिय कार्य-क्रम रहित जान पड़ा। समष्टिवाद भी अधिनायकतन्त्र तथा राज्य सत्ता में वृद्धि का समर्थक जैसा लगा।

---

22. जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 86.

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने पूर्णत इन सभी विचारधाराओं का जड़ मूल से ही खण्डन किया हो। गिल्ड समाजवादियों का उद्देश्य समाजवादी विचारधाराओं की क्रान्तिकारी उग्रता तथा बुद्ध की प्रति उदारवादिता का त्याग कर अंग्रेज मनोवृत्ति के अनुकूल एक नये समाजवादी सम्प्रदाय का सर्जन करना था। इस आधार पर उन्हें अन्य विचारधाराओं में जो भी अच्छा लगा ग्रहण किया। इस प्रकार यह समन्वयात्मक विचारधारा थी। इसे समष्टिवाद तथा सिन्डीकलवाद का बुद्धिजीवी शिशु (Intellectual Child) भी कहा जाता है। अन्य शब्दों में इसका उद्भव समष्टिवाद (और फेबियनवाद भी) और सिन्डीकल के संयोग से हुआ।

गिल्ड समाजवादी तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति के आलोचक हैं। वे पूँजीवाद तथा उससे सम्बन्धित दुर्गुणों की निन्दा करते हैं। लेकिन उनके विचारों में मार्क्सवाद और सिन्डीकलवाद की वह उग्रता नहीं है जो प्रचलित व्यवस्था का पूर्णत उन्मूलन कर एक नई व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं। गिल्ड समाजवादी प्रचलित दोषों को दूर करने श्रमिकों का शोषण समाप्त करने के लिए तत्कालीन व्यवस्था को नष्ट नहीं वरन् उसमें सुधार कर नई व्यवस्था की रचना उनका उद्देश्य है।

सिन्डीकलवाद में राज्य के लिए कोई स्थान नहीं है। दूसरी ओर समष्टिवाद पूँजीवाद के दोषों को दूर नहीं कर सकता। ये पूँजीवादी राज्य के स्थान पर नौकरशाही केन्द्रीकरण राज्य की स्थापना करते हैं। श्रमिकों को अपनी व्यवस्था तथा दशाओं का निर्धारण करने के लिए यह कुछ नहीं करता। गिल्ड समाजवादी न तो सिन्डीकलवादियों की तरह राज्य के अस्तित्व को समाप्त करना चाहते हैं और न ही समष्टिवादियों की भाँति राज्य स्वामित्व की स्थापना के पक्ष में हैं। गिल्ड समाजवाद राज्य के सीमित अधिकार तथा साथ ही साथ गिल्ड व्यवस्था की स्थापना का अनुमोदन करता है।

गिल्ड समाजवादी सम्पूर्ण क्षेत्रों में गिल्ड व्यवस्था की रचना चाहते हैं। वे सिन्डीकलवादियों की भाँति गिल्डों को सामाजिक संगठन का आधार बनाना चाहते हैं। लेकिन समष्टिवादियों की तरह राज्य की भी उपयोगिता में विश्वास रखते हैं। गिल्ड समाजवाद राज्य के सीमित अधिकार साथ ही साथ गिल्ड व्यवस्था की स्थापना का अनुमोदन करते हैं। यहाँ वे सिन्डीकलवाद तथा समष्टिवाद से दूर होते हुए भी दोनों के निकट हैं।

सिन्डीकल समाज आर्थिक जीवन में उत्पादकों को प्रमुख स्थान देकर उत्पादन पर उन्हीं का नियन्त्रण चाहता है। समष्टिवाद तथा राज्य समाजवाद मनुष्य को केवल उपभोक्ता के ही रूप में देखता है। गिल्ड समाजवादी उत्पादक एवं उपभोक्ता दोनों को ही महत्त्व देते हैं। इसने समष्टिवाद तथा सिन्डीकलवाद के एकपक्षीयपन को दूर कर सामञ्जस्य स्थापित किया।

साधनों के विषय में भी गिल्ड समाजवादी अतिवादी नहीं हैं। वे मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी पद्धति तथा सिन्डीकलवाद की सीधी या प्रत्यक्ष कार्यवाही जैसे हड़ताल आदि में विश्वास नहीं करते। शान्ति के आधार पर समाजवाद की आकस्मिक स्थापना शिक्षित अंग्रेजों को प्रभावित नहीं कर पाई। दूसरी ओर यूटोपियायी साधन जैसे उच्च वर्ग से सुधार की अपील करना या फेबियनवादियों की भाँति अध्ययन कक्ष से बैठे बैठे ही कागजी कार्यवाही जिसमें सक्रियता का कोई स्थान न हो आदि में गिल्ड समाजवादियों की निष्ठा नहीं थी। उनके साधन कम उग्र किन्तु प्रभावपूर्ण आर्थिक कार्यवाही पर आधारित थे।

इस प्रकार गिल्ड समाजवाद अन्य समाजवादी विचारधाराओं का समन्वयपरक सिद्ध हुआ। समन्वय का प्रभाव मध्यमार्गीय ही हो सकता था और वास्तव में गिल्ड समाजवाद मध्यमार्गीय समाजवाद था भी।

मूल्यांकन

गिल्ड समाजवादी आन्दोलन लगभग दो दशाब्दी तक चला। 1906 में पेन्टी के ग्रन्थ–Restoration of Guild System–के प्रकाशन से प्रारम्भ हुआ और 1925 में– National Guild League – के विघटन के साथ ही इस आन्दोलन का अन्त हो गया। यह सम्प्रदाय समाजवादी आन्दोलन को न तो लोकप्रिय और न प्रभावशाली ही बना सका। गिल्ड समाजवाद कई दृष्टिकोणों से एक निर्बल विचार-धारा और अव्यावहारिक विकल्प साबित हुआ।

इंग्लैंड की परम्परा के विरुद्ध (1)

अंग्रेज चरित्र की यह विशेषता है कि वे केवल उसी विचार को ग्रहण करते हैं जो व्यावहारिक एवं विकास का परिणाम हो। यहाँ सीमित राजतन्त्र, लोकतान्त्रिक संसदीय व्यवस्था तथा उदारवाद का धीरे-धीरे विकास हुआ और इनकी जड़ें वहाँ बहुत ही दृढ़तापूर्वक जम चुकी हैं। गिल्ड समाजवाद ने जो कुछ विचार रखे वे प्रथम, उस शासन परम्परा को चुनौती देते हैं जिनका सदियों से विकास हुआ है। द्वितीय, वे जो कुछ विकल्प के रूप में प्रस्तुत करते हैं, वह इतना निर्बल सिद्ध हुआ कि अंग्रेजों ने न तो इन पर व्यापक रूप से गम्भीरतापूर्वक मनन किया और न स्वीकार किया। इस प्रकार यह कुछ वर्षों के विचार आन्दोलन के बाद स्वयं ही समाप्त हो गया।

मौलिकता का अभाव (2)

गिल्ड समाजवाद में ऐसी कोई भी बात नहीं है जिसके विषय में इसके समर्थक मौलिकता का दावा कर सकें। इसे राज्य समाजवाद और फेबियनवाद का बुद्धिजीवी शिशु कहा जाता है। फिलजर एवं रॉन ने इसे सिण्डीकलवाद तथा फेबियनवाद का वर्णसंकर कहा है। कभी-कभी इसे फ्रांस के सिण्डीकलवाद का अंग्रेजी समानान्तर

कहते है। हेलोवेल ने इसे मिन्डीनलवाद या रक्तहीन रूपान्तर की संज्ञा दी है।[23] गिल्ड समाजवाद के सबसे प्रमुख समर्थक कोल (G D H. Cole) था एक पैर फेबियनवादी भवन म था तो दूसरा गिल्ड समाजवादी खेमे मे। ये इन दोनो विचारधाराओं के साथ-साथ बहुलवादी भी थे। गिल्ड समाजवाद मे प्रभाव डालने वाली विचार-मौलिकता का अभाव तो था ही यह उस समय प्रचलित विचारधाराओं का समुचित समन्वय भी नही बन पाया।

अनिश्चित विचारधारा

गिल्ड समाजवाद एक निश्चित विचारधारा भी नही बन पाया। इसके प्रतिपादकों म मतभेद है। हाब्सन तथा कोल मे इन मूल बातो पर ही मतभेद है कि गिल्ड प्रणाली पर आधारित समाज का क्या स्वरूप होगा। राज्य के अस्तित्व एव क्षेत्राधिकार के विषय म भी उनके विचारो मे भारी परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है।

ऐलेग्जेन्डर ग्रे का विचार है कि बीसवी सदी के प्रारम्भ मे "समाजवाद चौराहे पर एक खोए बच्चे के समान था जिसे यह भी मालूम नही था कि वह कहाँ से आया है तथा कहाँ जाना चाहता है। समाजवाद की यह दुर्दशा बनाने म काफी सीमा तक गिल्ड समाजवाद उत्तरदायी है। इन्होने राज्य समाजवाद या राष्ट्रीयकरण के विचार को पूरी तरह नष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया। इनके अनुसार राज्य समाजवाद एक बेकार सा विकल्प था। गिल्ड समाजवादियो ने पुराने समाजवादी विचार को समाप्त तो किया, किन्तु इसके स्थान पर य कोई ऐसा विकल्प प्रस्तुत नही कर सके जिसे स्वीकार किया जा सके।"[24]

राज्य एव सरकार

गिल्ड समाजवादी जब राज्य के विषय मे विचार व्यक्त करते हैं उस समय वे एक मूल त्रुटि करते हैं, वे राज्य और सरकार मे अन्तर नही करते। यदि वे इस अन्तर को प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर देते, तो उनके विचार बहुत कुछ ठीक प्रतीत लगते। वे जिस संस्था को राज्य कहते हैं वह वास्तव मे राज्य नही सरकार है। राज्य की समाप्ति असम्भव है। अधिकार सरकार के कम किये जा सकते हैं।

---

23 Kilzer and Ross , Western Social Thought, p 285 ,
Hallowell, J H , Main Currents in Modern Political Thought, p 469

24 "Socialism today is rather like a lost child at the cross roads, not quite sure where it has come from and not knowing where exactly it wants to go For this the Guild socialists are to a considerable extent responsible. They killed, and killed rather effectively, the old idea of State socialism, meaning thereby straight forward nationalisation, and they showed that it was rather a poor and unimaginative ideal But having destroyed the old faith of socialism, they have provided no new abiding faith to take its place "
Gray, A , The Socialist Tradition, p 458

हाब्सन के राज्य सम्बन्धी विचार किसी सीमा तक उचित है। लेकिन कोल के विचार उचित प्रतीत नही होते। कोल जब राज्य को अन्य समुदायो जैसा कहता है तब राज्य राज्य नही रहेगा; तथा जब वह किसी न्यायालय या कम्यून की स्थापना की कहता है तो यह कम्यून व्यवस्था ही वास्तव मे राज्य की शासन व्यवस्था होगी।

द्वैध शासन प्रणाली (6)

एक ही राजनीतिक समाज मे राज्य के कार्यो को गिल्ड समाजवादी दो भागो मे विभाजित करते हैं—राजनीतिक और आर्थिक। आर्थिक कार्य गिल्ड करेंगे तथा राजनीतिक कार्य राज्य के पास ही रहेंगे। इस प्रकार एक ही शासन व्यवस्था को गिल्ड समाजवादी दो शाखाओ मे विभाजित करते है तथा इन दोनो की व्यवस्था का उत्तरदायित्व दो प्रकार की सस्थाओ को देते हैं। यह सैद्धान्तिक रूप मे ठीक नही है।

गिल्ड समाजवादी समाज के आर्थिक और राजनीतिक कार्यों का विभाजन करते हैं। आर्थिक कार्य गिल्ड करेंगे तथा राजनीतिक कार्य राज्य के पास छोड दिये जायेंगे बहुत ही व्यापक या मोटे रूप से कुछ कार्यों को आर्थिक एव राजनीतिक पक्षो मे विभाजित किया जा सकता है, लेकिन यह सामान्यत सभव नही है। समाज मे आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नो का स्पष्ट एव निश्चित विभाजन नही हो सकता व्यावहारिक दृष्टि से ये दोनो पक्ष एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्धित हैं। जब यह विभाजन स्पष्टतः नही हो सकता तो कौन से कार्य राज्य को छोडे जाये, कौन से कार्य गिल्डो को दिये जायें, तथा जो पूर्ण रूप से दोनों पक्षो मे आते है उन्हें राज्य या गिल्ड में से किसको दिये जायें यह सम्भव नही है। इस प्रकार उनकी विचारधारा का प्रमुख आधार ही समाप्त हो जाता है।

गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत राज्य तथा श्रेणियो मे अधिकार-विभाजन की बार्कर (E. Barker) ने आलोचना की है। बार्कर ने लिखा है.—

> "वास्तव मे, शक्ति-विभाजन का कोई भी सिद्धान्त, जैसा कि गिल्ड समाजवाद समर्थन करता है, धराशायी हुए बिना नही रह सकता क्योकि यह सामान्य तथ्य है। आजकल के वृहद् समाज मे पारस्परिक निर्भरता अत्यन्त आवश्यक है। राज्य एक शरीर है; कोई भी व्याख्या इस तथ्य से अलग नहीं की जा सकती।"25

---

25 "In truth, any doctrine of separation of powers, such as Guild Socialism advocates, is bound to collapse before the simple fact of the vital inter-dependence of all the activities of the great society of today. The state is one body, no clever essay in dichotomy can get away from that fact."

Barker, E., Political Thought in England, 1848 to 1914, p. 203.

संघर्ष की सम्भावना

गिल्ड समाजवादी प्रत्येक स्तर पर विभिन्न क्षेत्रों में गिल्ड की स्थापना चाहते हैं। प्रत्येक स्तर पर कम्यून व्यवस्था भी होगी। साथ ही साथ प्रत्येक स्तर पर राजनीतिक कार्यों के लिये राज्य किसी न किसी रूप में रहेगा ही। इसके अलावा बहुत कुछ प्रश्नों के सम्बन्ध में यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि वे आर्थिक अधिक हैं या राजनीतिक। इन परिस्थितियों में समाज में सम्पूर्ण गिल्ड व्यवस्था में अराजकता तथा संघर्ष होना अवश्यम्भावी है। समाज में इतनी संख्या में विभिन्न संस्थाओं का होना ही प्रतिद्वन्द्वता तथा गतिरोध के लिये पर्याप्त है।

अव्यावहारिक एवं त्रुटिपूर्ण प्रतिनिधि प्रणाली (6)

गिल्ड समाजवादी क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व का खण्डन कर व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का समर्थन करते हैं। इनके क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की आलोचना में आंशिक सत्यता तो है, लेकिन व्यावसायिक प्रतिनिधित्व उसका विकल्प नहीं हो सकता। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व से संसद का राष्ट्रीय स्वरूप समाप्त हो जायगा। संसद एक परस्पर-विरोधी विभिन्न व्यावसायिक हितों का समूहमात्र ही रह जायगी। इसके अलावा विभिन्न व्यावसायिक हितों का समान प्रतिनिधित्व अनुचित तथा अव्यावहारिक दोनों ही है। समाज में कुछ व्यवसाय अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं तथा कुछ कम। उनके अनुपातिक महत्व को भी गिल्ड समाजवादी स्वीकार नहीं करते।

शिल्पकारिता का भ्रममूलक समर्थन (7)

गिल्ड समाजवादी उत्पादन क्षेत्र में शिल्पकारिता के समर्थक हैं तथा उसे पुनर्जीवित करने के लिए उन्होंने पूंजीवादी व्यवस्था और बड़े पैमाने पर उत्पादन का विरोध किया है। जिस समाज में जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है, जहाँ समाज की माँगें निरंतर बढ़ रही हैं, इन सबकी पूर्ति बड़े पैमाने के उत्पादन द्वारा ही सम्भव है। बड़े पैमाने पर उत्पादन सूक्ष्म श्रम-विभाजन (Division of Labour) और विशेषीकरण (Specialisation) पर निर्भर करता है। ऐसी अवस्था में केवल शिल्पकारिता के लिए ही आधुनिक अर्थ व्यवस्था का छोड़ना असम्भव एवं अवांछनीय दोनों ही होगा।

पेन्टी (A J Penty) दस्तकारिता तथा शिल्पकारिता के प्रबल समर्थक थे। जोड (C E M. Joad) के अनुसार 'पेन्टी के तर्क अंशत. भावुकता तथा अंशत सौन्दर्यात्मक आधारों पर आधारित हैं तथा वे बड़े पैमाने पर उत्पादन तथा व्यापार की आधुनिक पद्धतियों के विरुद्ध हैं। इस कारण स्वतन्त्र दस्तकारी के आधार पर उद्योगों के संगठन का प्रस्ताव आधुनिक परिस्थितियों में अव्यावहारिक नहीं है।"[26]

[26] जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 75

दूसरे, शिल्पकारिता की भावना को किन्ही क्षेत्रों में तो स्वीकार किया जा सकता है, लेकिन यह मनुष्य को स्वयं-केन्द्रित और व्यक्तिवादी बनाता है। मनुष्य सामूहिक एवं सामाजिक प्रयत्नों की उपेक्षा करता है। यदि यह विचारधारा सामूहिक और सामाजिकता के विरुद्ध है तो इसे समाजवादी विचारधारा कहना ही उपयुक्त न होगा।

आधुनिक अर्थ-व्यवस्था के अनुपयुक्त 9

आधुनिक अर्थ व्यवस्था बडे पैमाने (Large Scale) और विशिष्टिकरण (Specialisation) के ऊपर आधारित है। किसी एक बडी वस्तु के महत्वपूर्ण भागो के निर्माण के लिये अलग स्थानो पर उद्योगो की स्थापना की जाती है। अलग अलग स्थानो पर निर्मित भागो को फिर एक जगह एकत्रित किया जाता है। इसके लिये उद्योगो की पूर्ण परस्पर निर्भरता और समन्वय अत्यन्त ही आवश्यक है। इस प्रकार की उत्पादन व्यवस्था मे गिल्ड समाजवाद या तो उपयुक्त नही है या इस तरह औद्योगिक विकास गिल्ड प्रणाली के अन्तर्गत सम्भव ही नही है।

आधुनिक युग मे प्रत्येक राज्य सीमित या व्यापक रूप मे उद्योगो या जन उपयोगी सेवाओ (Public Utility Services) का राष्ट्रीयकरण या राष्ट्रीय उत्तरदायित्व लेते है इससे राज्य की उपयोगिता मे वृद्धि हुई है। जब समाज इस प्रकार की व्यवस्था की ओर अग्रसर हो रहा है तब गिल्ड प्रणाली की कल्पना ही मूर्खतापूर्ण होगी।

औद्योगिक अवनति 10

गिल्ड व्यवस्था के अन्तर्गत औद्योगिक अवनति की अधिक सम्भावना है। किसी सीमा तक मनुष्य स्वार्थी होता है। हो सकता है कि मनुष्य गिल्ड का अपने स्वार्थ के लिये प्रयोग करे। गिल्ड व्यवस्था मे श्रमिक सघो का उत्पादन पर पूर्ण आधिपत्य होगा। उनके ऊपर एक कुशल प्रबन्धक का अभाव होगा। इस दशा में श्रमिक मेहनत और कुशलतापूर्ण कार्य नही कर सकेंगे। इससे औद्योगिक गतिहीनता आ जायगी।

उत्पादक वर्ग को प्राथमिकता 11

गिल्ड समाजवाद वैसे समस्त सामाजिक वर्ग जैसे उत्पादक वर्ग, उपभोक्ता वर्ग आदि के हितों का संरक्षण करता है किन्तु वास्तव मे यह विचारधारा उत्पादक के रूप मे श्रमिकों की ओर अधिक झुकी हुई है। यह उत्पादक वर्ग को प्राथमिकता देती हुई प्रतीत होती है।[27] यह सम्भव हो सकता है कि उत्पादक वर्ग उपभोक्ताओ पर हावी हो जाय। इस प्रकार समाज के सभी वर्गो के सरक्षण की बात मे खोखलापन अधिक है। इसके अलावा उत्पादक और उपभोक्ता के मध्य विभेद करना

27. Crosland, C. A. R , The Future of Socialism, p. 86.

अव्यावहारिक है। उपभोक्ता किसी न किसी प्रकार का सर्जन कार्य करता है और उत्पादक उपभोक्ता होता ही है। यह तो सोचा भी नही जा सकता कि कोई व्यक्ति उपभोक्ता नही होता।

एकाधिकार को प्रोत्साहन (12)

गिल्ड समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उद्योगो मे गिल्ड का ही एकाधिकार होगा। स्पर्धा क अभाव म गिल्ड कुशलता के साथ कार्य कर सकेंगे या नही यह कहा नही जा सकता। सम्भवत नही।

एकाधिकार के कारण क्या गिल्ड समाज सेवा के उद्देश्य से काम करेंगे? 'ऐसा हो सकता है कि समाज-सेवा का उद्देश्य, जिसकी यथार्थता को अस्वीकार नही किया जा सकता, व्यक्तिगत लाभ की तुलना मे सफल सिद्ध न हो सके। यह भी सम्भव है कि मनुष्य सर्वप्रथम अपना हानि-लाभ देखता है, इसके बाद वह सार्वजनिक कल्याण की ओर ध्यान देता है। यदि ऐसा है तो गिल्ड समाजवाद भग हो जायेगा तथा समाज मे अराजकता व्याप्त हो जायेगी क्योकि यह एक ऐसी श्रेणियो (गिल्ट) के शोषण का केन्द्र-स्थल हो जायेगा जिनको अपने उद्योगों के क्षेत्र मे एकाधिकार होने के कारण पूजीपतियो से भी अधिक समुदाय का शोषण करने के मुक्त साधन उपलब्ध होगे।[28]

समाज के सामान्य हितो की क्षति (13)

विभिन्न उद्योगो के लिये पृथक-पृथक गिल्ड होने का तात्पर्य यह होगा कि समाज विभिन्न हितो मे विभाजित हो जायेगा। प्रत्येक गिल्ड अपने-अपने विशेष हित सरक्षण का प्रयत्न करेगे। इस परिस्थिति मे समाज के सामान्य हितो की क्षति होगी। सामान्य हितों को समुचित महत्व नही मिलेगा। राज्य का राष्ट्रीय स्वरूप नष्ट हो जायेगा। राज्य ही सामान्य हितो का रक्षक होता है जिस सस्था को गिल्ड समाजवादी अन्य सस्थाओ के समान ही मानते हैं।

साधनो की अनुपयुक्तता (14)

गिल्ड समाजवादी गिल्ड व्यवस्था की स्थापना के लिये जिन साधनो को अपनाते हैं उसमे सफलता की आशा नही की जा सकती थी। वे हिंसात्मक साधन और राजनीतिक साधन दोनो को ही नही अपनाते। जिन आर्थिक साधनो का वे समर्थन करते है उनसे कुछ आर्थिक उद्देश्य तो प्राप्त हो सकते हैं लेकिन पूजीवाद का उन्मूलन राज्य के अधिकारो को पूर्णत सीमित कर गिल्ड प्रणाली की स्थापना करना सम्भव नही। इसी कारण वे अपनी विचारधारा को कार्यान्वित करने मे असफल रहे हैं।

---

28 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ 82–83.

योगदान

गिल्ड समाजवादी ग्रान्दोलन का जीवन बड़ा छोटा रहा, किन्तु यह कुछ महत्वपूर्ण प्रभाव छोड़ गया। अब श्रमिक संघों, युद्धोत्तर सिन्डीकलवादी, समष्टिवादी आदि राष्ट्रीयकृत उद्योगों की व्यवस्था तथा व्यक्तिगत उद्योगों के नियंत्रण की योजनाओं में गिल्ड समाजवादी सिद्धान्तों को व्यापक रूप में स्वीकार करते हैं। 1917 में व्हिट्ले रिपोर्ट (Whitley Report) के बहुत कुछ सुझाव तथा इनके अन्तर्गत जो श्रमिक समितियां नियुक्त की गयीं उन पर गिल्ड समाजवाद का स्पष्ट प्रभाव था। इन्होंने गिल्ड समाजवाद से ही प्रेरणा ग्रहण की।[29]

अमेरिका में भी गिल्ड समाजवाद का प्रभाव पड़ा। जिन परिवर्तनों की मांगें गिल्ड समाजवादियों ने की उनमें से कुछ मांगें औद्योगिक नियन्त्रण के विस्तृत पुनर्गठन की योजना द्वारा 1933 से संयुक्त राज्य अमेरिका में स्वीकार कर ली गयी हैं। 1933 में राष्ट्रीय पुनरुद्धार कानून (National Recovery Act) के अनुसार सरकार ने काम के घंटों का मूल्य तथा उत्पादन की दर तथा प्रतियोगिताओं के सम्बन्ध में जो अधिकार प्राप्त किये उनको कार्यान्वित करने के लिये श्रमिकों के प्रतिनिधियों में परामर्श एवं समझौता किया जाने लगा। केन्द्रीय प्रशासक बोर्ड (Central Administrative Board) को परामर्श देने के लिये उद्योगपतियों, श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं के प्रतिनिधियों की समितियां होती हैं। इस प्रकार सभी सम्बन्धित हितों को संयुक्त भागीदार बनाना, गिल्ड समाजवाद की ही देन है।[30]

ऐलेग्जेन्डर ग्रे ने लिखा है कि गिल्ड समाजवादी विचारधारा ने श्रमिक आन्दोलन को भी प्रभावित किया। अब श्रमिक संगठन अधिक औद्योगिकवादी तथा जागरूक हुए और वे कार्यप्रणाली के विषय में भी सोचने लगे। गिल्ड समाजवादियों ने लोकतान्त्रिक चुनाव प्रणाली की जो निन्दा की है उससे चुनाव प्रणाली के विषय में सुधारों के लिये इन्होंने नवीन शक्ति प्रदान की। प्रजातन्त्र के विषय में लोगों की जो शंकाएँ थीं उनको बल मिला। परिणामस्वरूप कई देशों में प्रतिनिधि प्रणाली में बहुत कुछ परिवर्तन हुए।[31]

कोकर के अनुसार गिल्ड समाजवादियों ने प्रत्यक्ष रूप से कुछ सैद्धान्तिकों को प्रभावित किया है। बहुलवादियों के इस सिद्धान्त को सुझाकर या उसका समर्थन करके कि वर्तमान उद्योग की अवस्थाओं के अधीन स्वतंत्रता तथा समानता की प्राप्ति, कुलीनतन्त्र अथवा धनिकतन्त्र के स्थान पर समष्टिवादी प्रजातन्त्र व्यवस्था स्थापित करने से नहीं, किन्तु श्रमिकों को स्वायत्तशासी समुदायों में जो समाज सेवा के लिये

---

29. Kilzer and Ross, Western Social Thought, p. 297.
30. कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 299.
31. Gray, A, The Socialist Tradition, pp. 457-58.

विशिष्ट आर्थिक या सांस्कृतिक कार्य के लिये संगठित हों, सत्ता का विभाजन करने से ही होगा।[32]

गिल्ड समाजवाद के वे सिद्धान्त जिन्हें किसी न किसी रूप में आज भी मान्यता दी जाती है निम्नलिखित हैं —

(i) मजदूरी पद्धति के दोषों की ओर ध्यान आकर्षित करना,

(ii) श्रमिक सहयोगी संस्थाओं की महत्ता को समाज के सामने रखना,

(iii) उद्योग प्रबन्ध में श्रमिकों के भाग की वांछनीयता पर जोर देना,

(iv) राज्य के सर्वव्यापी, सर्व-सत्ताधारी सिद्धान्त को अस्वीकार करना

(v) समान व छोटे छोटे हितों को भी महत्ता प्रदान करना,

(vi) क्षेत्रीय स्वायत्तता तथा विकेन्द्रीकरण के महत्व को स्वीकार करना,

(vii) इस बात पर जोर देना कि उत्पादन का उद्देश्य लाभ नहीं सामाजिक उपयोगिता है

(viii) क्रान्ति एवं हिंसा के माध्यम से उद्देश्यों की प्राप्ति की धारणा को अस्वीकार करना,

(ix) प्रतिवादिता के स्थान पर मध्य-मार्गीय सिद्धान्त की महत्ता को स्वीकार करना, तथा

(x) राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग करने के लिये आर्थिक क्षेत्र में लोकतन्त्र की स्थापना की आवश्यकता का पूर्ण समर्थन करना, आदि।

पाठ्य-ग्रन्थ

1 Beer, M , A History of British Socialism , Vol II Chapter XVIII, Rise of Guild Socialism

2 कोकर, फ्रान्सिस , आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, अध्याय 9, गिल्ड समाजवाद

3 Cole, G D H , Guild Socialism, 1920.

4 Gray, Alexander , The Socialist Tradition, Chapter XVI, Guild Socialism

5 जोड, सी ई एम , आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका अध्याय 4, शिल्पी संघवाद और श्रेणी संघवाद

6 MacDonald, R , Socialism Critical and Constructive, Chapter III, Socialism Its Organisation and Idea

7. Pelling, Henry,(Ed.) , The Challenge of Socialism, Chapter 14, Guild Socialism.

[32] कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 300

6

साम्यवाद

लेनिन, ट्रॉट्स्की, स्टालिन, माओ त्से-तुंग आदि

साम्यवाद का कई अर्थों में प्रयोग किया जाता है। कभी कभी इसका अर्थ समाज के ऐसे सिद्धान्त के रूप में लिया जाता है जिसमें सम्पत्ति पर सबका समान अधिकार हो। अन्य स्थलों पर साम्यवाद का प्रयोग समाजवाद के पर्याय के रूप में किया जाता है।[1] प्राय लोग मार्क्सवाद और साम्यवाद को एक ही सिद्धान्त समझ लेते हैं, जो सही नहीं है। हालांकि मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवाद का जन्मदाता माना जाता है, मार्क्सवाद और समाजवाद दोनों ही साम्यवाद से भिन्न हैं।

साम्यवाद, मार्क्सवाद से पृथक होते हुए भी अभिन्न है। साम्यवाद मुख्यतः कार्ल मार्क्स की विचारधारा पर आधारित है। आगे चलकर मार्क्स के अनुयायियों ने मार्क्सवाद को जो सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप प्रदान किया, इसे ही हम साम्यवाद कहते हैं। अन्य शब्दों में, साम्यवाद का आधार मार्क्सवाद है, इसमें कोई सन्देह नहीं। प्रत्येक साम्यवादी मार्क्सवादी तो होता ही है। किन्तु साम्यवाद विशुद्ध मार्क्सवाद नहीं है। मार्क्स के सिद्धान्तों के आधार पर रूस में 1917 की क्रान्ति का संगठन किया गया। व्यावहारिक आवश्यकताओं के कारण रूसी क्रान्ति के नेता लेनिन (Lenin, 1870-1924) ने मार्क्स के सिद्धान्तों में कुछ परिवर्धन किये और नये तत्वों को जोड़ा। लेनिन द्वारा प्रतिपादित मार्क्सवाद ही साम्यवाद है। या, हम यह कह सकते हैं कि "साम्यवाद वह मार्क्सवाद है जिसका निर्वचन और परिवर्धन लेनिन ने किया।" या, लेनिनवाद (Leninism) जो मार्क्सवाद का संशोधित एवं क्रियात्मक रूप है साम्यवाद कहलाता है।[2] लेनिनवाद साम्यवाद का प्रथम चरण है।

साम्यवाद लेनिन के विचारों तक ही सीमित नहीं रहा। लेनिन के पश्चात् यह माना जाता है कि स्टालिन (Joseph Stalin, 1879-1953) ने साम्यवाद का सर्जनात्मक विकास किया। लेनिन की भांति स्टालिन भी मृत्युपर्यन्त रूसी साम्यवादी व्यवस्था का प्रमुख नेता तथा दार्शनिक बना रहा। स्टालिनवाद साम्यवादी विचारधारा परिवर्धन में दूसरा चरण है।

---

1. जोड., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ. 91-92.
2. रूस की क्रान्ति (1917) के समय लेनिनवाद बोल्शेविज्म (Bolshevism) के नाम से जाना जाता था।

सामान्यतः यही माना जाता है कि साम्यवाद का महत्वपूर्ण विकास स्टालिन तक ही हुआ है। या, सूक्ष्म में 'मार्क्सवाद-लेनिनवाद-स्टालिनवाद' ही साम्यवाद है। इसलिये विभिन्न विद्वानों ने साम्यवाद की परिभाषा देते हुए साम्यवाद के स्टालिन तक के ही विकास को ध्यान में रखा है। साम्यवाद को परिभाषित करते हुए गेटिल (R G Gettell) ने लिखा है कि —

'साम्यवाद मानव विकास के लिये भौतिकवादी सिद्धान्त पर आधारित एक इतिहास का दर्शन है जिसका प्रारम्भ कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिक एंजिल्स में हुआ। इसको लेनिन तथा स्टालिन सहित, एक नई विचारधारा के संगठन के रूप में सम्मानित किया जाता है जिसका आधार प्रेम नहीं किन्तु वर्ग-संघर्ष और विद्रोह का सिद्धान्त है।"[3]

जोड (C E M Joad) ने साम्यवाद को एक क्रान्ति-पद्धति के रूप में समझाने का प्रयत्न किया है। उन्हीं के शब्दों में—

'साम्यवाद मूलतः एक पद्धति का दर्शन है। यह उन सैद्धान्तिक तत्त्वों का निरूपण करता है जिनके आधार पर पूँजीवादी समाज को समाजवादी समाज में परिवर्तित किया जायेगा। इसके दो मूलतत्त्व हैं-वर्गयुद्ध तथा क्रान्ति द्वारा अर्थात् बल प्रयोग द्वारा सर्वहारा वर्ग को शक्ति का हस्तान्तरण।"[4]

यहां स्पष्ट करना आवश्यक है कि आज के समस्त साम्यवादी राज्य स्वयं को समाजवादी घोषित करते हैं। वास्तव में इन साम्यवादी राज्यों का समाजवाद ही साम्यवाद है। मार्क्स ने सर्वहारा-अधिनायकत्व के युग को समाजवादी युग कहा था। *साम्यवादी राज्य इसी युग में चल रहे हैं। इसलिये जब साम्यवादी अपने को* समाजवादी कहते हैं तो हम भ्रम में नहीं पड़ जाना चाहिए। रूस, चीन, पूर्वी यूरोप के राज्य, उत्तरी वियतनाम, क्यूबा आदि की समाजवादी व्यवस्थाएं ही साम्यवाद हैं। कुछ लेखकों ने साम्यवाद को समाजवाद का उग्र, क्रान्तिकारी एवं अधिनायकवादी स्वरूप माना है।

उपरोक्त परिभाषाओं एवं विद्वानों के विचारों के विवेचन से साम्यवाद को अधिक स्पष्ट करने हेतु निम्नलिखित तथ्य पुनः प्रस्तुत किये जाते हैं—

प्रथम, साम्यवाद का आधार एवं स्रोत मार्क्सवाद है, जिसमें फ्रेड्रिक एंजिल्स के विचार भी सम्मिलित हैं। सभी साम्यवादी मार्क्सवाद के निम्नलिखित आधार-भूत सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं जैसे—

(1) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एवं इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या।

3 Wanlass, Lawrence C , Gettell's History of Political Thought, p 389

4 जोड , आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका पृ 92

(ii) पूंजीवादी-व्यवस्था के दोष तथा इसका अवश्यम्भावी पतन।
(iii) वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त।
(iv) श्रमिक क्रान्ति।
(v) सर्वहारा अधिनायकत्व।
(vi) वर्ग-रहित, राज्य-रहित, शोषण-विहीन साम्यवादी समाज की स्थापना।[5]

द्वितीय, रूस में साम्यवादी क्रान्ति के समय तथा बाद में जब मार्क्सवाद का प्रयोग किया गया तब नवीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में क्रान्ति के नेता लेनिन ने इसमें कुछ संशोधन किये जिसे लेनिनवाद के नाम से जाना जाता है। यह साम्यवाद का सबसे प्रथम महत्वपूर्ण व्यावहारिक पक्ष है।

तृतीय, साम्यवाद के विषय में स्टालिन के विचार तक ही साधारणतः साम्यवाद की व्याख्याएँ सीमित रहती हैं। किन्तु स्टालिन के बाद साम्यवादी विचारधारा में कुछ और परिवर्धन हुआ है। रूस में ही निकिता ख्रुश्चेव (Nikita Khruschev) ने साम्यवाद की आधुनिक समीक्षा की। चीन में साम्यवादी क्रान्ति के नेता माओ त्से-तुंग (Mao Tse-tung) ने साम्यवाद की वृहद् व्याख्या की है जिसे माओवाद (Maoism) कहते हैं। विश्व के और कई साम्यवादी नेताओं ने भी टीका-टिप्पणी की है, जिनमें युगोस्लाविया के मार्शल टीटो (Marshal Tito), उत्तर कोरिया के किम इल सुंग (Kim Il Sung), उत्तर वियतनाम के जनरल जियेप (General Giap) आदि प्रमुख हैं। इन सभी के विचारों ने साम्यवाद के सैद्धान्तिक या व्यावहारिक पक्ष को प्रभावित किया है। इसके अलावा कई राज्यों में साम्यवादी प्रणाली की स्थापना हो चुकी है, जिनमें रूस और चीन प्रमुख हैं। इन राज्यों में साम्यवाद को जो व्यावहारिक रूप दिया गया, नई संस्थाओं की स्थापना की गयी, उनसे साम्यवाद के कुछ और तत्व स्पष्ट होते हैं जैसे साम्यवादी दल की महत्ता, व्यक्ति-पूजा, साम्यवाद की विस्तारवादी प्रकृति आदि। इन सभी को साम्यवाद के अध्ययन के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं।

लेनिनवाद (Leninism)

लेनिन (Vladimir Ilyitch Ulianov,[6] 1870–1924) रूस में साम्यवादी क्रान्ति के प्रमुख नेता थे। वे एक मध्यवर्गीय परिवार में पैदा हुए थे। लेनिन के पिता सरकारी स्कूलों के निरीक्षक थे तथा उन्हें अपनी सरकारी सेवाओं के लिए पुरस्कार-स्वरूप कुलीनता (nobility) का अलंकरण प्राप्त हुआ था। लेकिन इनका परिवार क्रान्तिकारी विचारों एवं गतिविधियों से मुक्त नहीं था। 1886 में लेनिन के ज्येष्ठ भ्राता को ज़ार एलेग्जेन्डर तृतीय की हत्या के षड्यन्त्र में मृत्यु दण्ड दिया गया था।

5. मार्क्सवाद के पूर्ण विवरण के लिये अध्याय 'मार्क्सवाद' देखिये।

विद्यार्थी जीवन से स्वयं लेनिन का झुकाव क्रान्तिकारी गतिविधियों की ओर था। सेन्ट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय से विधि स्नातक बनने के उपरान्त भी इनकी रुचि श्रमिकों को संगठित करने की थी। 1890 में वे क्रान्तिकारी आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। 1897 में इन्हें साइबेरिया निष्कासित किया गया। साइबेरिया में इन्हें लेना (Lena) नामक स्थान पर रखा गया। इस स्थान के नाम पर इन्होंने अपना उपनाम लेनिन रखा। 1900 में इन्होंने रूस छोड़ा। मार्क्स तथा एंजिल्स के विचारों का अध्ययन करने के लिए अनेक वर्ष विदेशों में बिताये। प्रथम विश्व युद्ध में इन्हें आस्ट्रिया में बन्दी बना लिया गया, किन्तु बाद में छोड़ दिया गया। अप्रैल 1917 में जर्मन सरकार के सहयोग से ये रूस वापस आये और साम्यवादी क्रान्ति का नेतृत्व किया। रूसी क्रान्ति से लेकर मृत्यु पर्यन्त (1924 तक) वे रूस में सोवियत दल के सर्वमान्य नेता ही नहीं अपितु मार्क्सवाद–साम्यवाद के प्रमुख एवं अग्रगण्य प्रवक्ता भी रहे। इस प्रकार लेनिन सिद्धान्तवादी और कर्मशील दोनों ही थे।

लेनिन ने अपने विचारों को कई ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है किन्तु इनमें निम्नलिखित अधिक महत्वपूर्ण माने जाते हैं—

1 What Is to Be Done 1902
2 Imperialism The Highest Stage of Capitalism 1916
3 State and Revolution 1917
4 The Immediate Task of the Soviet Government 1918
5 The Proletarian Revolution and the Renegade Kautsky 1918

अपने संक्षिप्त सैद्धान्तिक लेखों एवं पुस्तकों में लेनिन ने बड़े तार्किक ढंग से साम्यवादी सिद्धान्तों का विवेचन किया है। लेनिन के विचारों को ही लेनिनवाद कहा जाता है।

मार्क्सवाद और लेनिन

लेनिन मार्क्सवाद के परम अनुयायी थे। वे मार्क्सवाद में किसी भी प्रकार का संशोधन नहीं चाहते थे। ऐसे संशोधनवादियों जैसे एडुअर्ड बर्नस्टीन (Eduard Bernstein) तथा कथित मार्क्सवादी कार्ल काउत्स्की (Karl Kautsky) आदि से उन्हें घृणा थी। किन्तु जब ऐसे व्यक्तियों ने मार्क्सवाद में त्रुटियों का निरूपण किया या उन्हें नव विवेचन के साथ प्रस्तुत किया तब लेनिन ने इनका विरोध किया। इनके प्रत्युत्तर में लेनिन ने जो कुछ व्यक्त किया वहीं से लेनिनवाद प्रारम्भ होता है।

लेनिनवाद मार्क्सवाद की पुनरावृत्ति, पुनर्विचार प्रवृत्ति और परिवर्धन सब कुछ था। लेनिन प्रबल मार्क्सवादी थे। लेनिन द्वारा मार्क्सवाद का इतना प्रबल समर्थन दो बातों से स्पष्ट होता है। प्रथम, लेनिन मार्क्स तथा एंजिल्स के प्रत्येक शब्द को सार से भरा हुआ समझते थे। वे मार्क्स के सभी वचनों को ब्रह्म वाक्य मानते थे और

तदनुसार उनकी व्याख्या करते थे। द्वितीय, लेनिन ने मार्क्सवाद की रक्षा इस प्रकार की जैसे कट्टर धर्मावलम्बी अपने धर्म की करता है। अपने विरोधियों के ऊपर उनका सबसे बड़ा आक्षेप यह रहता था कि वे मार्क्सवाद के अर्थ में अपमिश्रण करते हैं। मार्क्सवाद का पूर्ण अनुमोदन करते हुए लेनिन ने कहा था—

"मार्क्सवाद का दर्शन फौलाद के एक ठोस पिन्ड की तरह है। आप इसमें से एक भी मूलभूत धारणा, एक भी सारभूत अंश नही निकाल सकते। यदि आप ऐसा करते है, तो आप वस्तु सत्य को त्याग देते है, आप पूंजीवादी-प्रतिक्रियावादी झूठ के हाथो में पड जाते हैं।"[7]

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा वर्ग-संघर्ष को लेनिन मार्क्सवाद की अन्तरात्मा मानते थे। "लेनिन की धारणा के अनुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक ऐसी सार्वभौम पद्धति बन गया जो विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र मे लागू हो सकती थी और सही पथ-प्रदर्शन कर सकती थी। इस दृष्टिकोण ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को एक उच्चतर ज्ञान, एक प्रकार का धर्मशास्त्र बना दिया जो समस्त विज्ञानों के गहनतम प्रश्नों का निर्णय कर सकता था।"[8]

वर्ग-संघर्ष के विषय मे भी लेनिन का ऐसा ही दृष्टिकोण था। लेनिन के अनुसार जैसा कि सेबाइन ने लिखा है, "वर्ग संघर्ष एक परम सिद्धान्त है। यह अस्थाई रूप से धूमिल पड़ सकता है, लेकिन उसे कभी हटाया नहीं जा सकता। वर्ग-संघर्ष का शाश्वत तत्व द्वन्द्वात्मक पद्धति का अनिवार्य परिणाम है।"[9]

लेनिन मार्क्सवादी होने के साथ-साथ यथार्थवादी भी थे। वे मार्क्स के सिद्धान्तों को सर्वकालीन सत्य मानने के साथ साथ उसे विकासशील भी स्वीकार करते थे। मार्क्स ने अपने विचार उस युग मे प्रस्तुत किये जब पूंजीवाद का पूर्ण विकास नही हो पाया था। सर्वहारा वर्ग भी क्रान्ति के लिए सबल तथा संगठित नही था। लेनिन ने अपने विचार उस समय प्रकट किये जब पूंजीवाद का पूर्ण विकास हो चुका था तथा रूस में सर्वहारा क्रान्ति हो चुकी थी। इसलिए दोनों के विचारो मे मौलिक एकता होते हुए भी उनमें भेद होना स्वाभाविक था। उपयोगितावाद के विषय मे जो अन्तर बेन्थम और जॉन स्टुअर्ट मिल मे था, साम्यवाद के विषय मे वही मार्क्स और लेनिन के विषय में कहा जा सकता है।

कार्ल मार्क्स ने सिर्फ सैद्धान्तिक आधार ही प्रस्तुत किये थे। उन्हे किसी क्रान्ति का नेतृत्व कर साम्यवादी शासन की स्थापना करने का सौभाग्य प्राप्त नही हो सका था। यदि मार्क्स को यह अवसर प्राप्त होता तो नवीन परिस्थितियों के

7. सेबाइन., राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृ. 763.

8. उपर्युक्त., पृ. 766.

9. उपर्युक्त, पृ 767.

सन्दर्भ में अपने विचारों में अवश्य ही कुछ परिवर्तन करते। लेनिन को यह अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने रूसी क्रान्ति का नेतृत्व किया और विश्व में सर्वप्रथम साम्यवादी राज्य की स्थापना हुई। उन्होंने मार्क्सवाद का प्रयोग रूसी परिस्थितियों में बहुत ही बुद्धिमत्ता से किया, यद्यपि कुछ विशेष बातों में मार्क्सवाद में संशोधन भी करना पड़ा।[10] रूसी बोल्शेविकों (Bolsheviks) के प्रभाव के कारण, जोड के शब्दों में, साम्यवाद विशिष्ट पद्धति का दर्शन (Philosophy of method) बन गया, अर्थात् यह उस कार्यक्रम का सिद्धान्त बन गया जिसके अनुसार पूँजीवाद से समाजवाद की ओर किस प्रकार परिवर्तन होगा।[11] इस सन्दर्भ में लेनिनवाद को नवीन मार्क्सवाद (New form of Marxism) तथा रूसी साम्यवाद को सोवियत मार्क्सवाद (Soviet Marxism) भी कहा जाता है।

रूस में क्रान्ति के बाद लेनिन के समक्ष सबसे महत्वपूर्ण समस्या साम्यवादी शासन के अस्तित्व को बनाये रखने के अलावा उसे संगठित तथा सबल बनाने की थी। उस समय रूस की आन्तरिक स्थिति तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के सदर्भ में लेनिन को कुछ दाँव-पेच खेलने पड़े, नयी चालें चलनी पड़ी। इन्हीं चालों से लेनिन रूस में पूँजीवादियों के समर्थकों तथा यूरोपीय राज्यों के बाह्य हस्तक्षेप का मुकाबला कर सका। ये दाव-पेच और चालें (tactics) मार्क्सवादी विचारधारा का भाग हैं। इस सम्बन्ध में स्टालिन के विचार भी उल्लेखनीय हैं —

> "लेनिनवाद साम्राज्यवाद तथा सर्वहारा क्रान्ति के युग का मार्क्सवाद है। अधिक सही अर्थ में लेनिनवाद सामान्य तौर पर सर्वहारा की क्रान्ति का सिद्धान्त और सामरिक चाल तथा विशिष्ट रूप से सर्वहारा अधिनायकत्व का सिद्धान्त और चाल (tactics) है।[12]

लेनिन के नेतृत्व में अनेक विशेषताएँ थीं। उनमें कठोरता और नम्रता का अपूर्व समन्वय था। वे अवसर से तुरन्त लाभ उठा सकते थे, वे मोर्चा बदल सकते थे। लेकिन उनका मोर्चा बदलना युक्तिसंगत अगला कदम मालूम पड़ता था। लेनिन ने क्रान्ति-विद्या को एक सिद्धान्त का रूप दिया।[13] इस विद्या के अन्तर्गत विद्रोह को एक कला कहा गया। उन्होंने पेशेवर क्रान्तिकारियों के संगठन तथा चालों के कई सुझाव दिये।

लेनिन की क्रान्ति विद्या या चालों का एक अन्य प्रमुख सिद्धान्त पक्ष 'समझौते का सिद्धान्त' (Theory of Compromise) है। लेनिन का कहना था कि परिस्थितियावश क्रान्तिकारियों को समझौते के लिये या अन्य विकल्पों के लिये भी

---

[10] आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग पृ 629

[11] जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ 90.

[12] Stalin, J V, Foundation of Leninism, Little Stalin Library, Moscow, p. 10

[13] सेबाइन, राजनीति दर्शन का इतिहास पृ० 745,
Gray, A, The Socialist Tradition, pp 480-81.

तैयार रहना चाहिये। लेनिन ने इस समझौते सिद्धान्त के कुछ पक्ष दिये हैं। प्रथम, साम्यवादियों को श्रम संगठनों में प्रवेश कर उनका अपने हित में प्रयोग करना चाहिये। द्वितीय, साम्यवादी सिद्धान्तों के अन्तर्गत संसदीय प्रणाली की चाहे कुछ भी आलोचना की गई हो साम्यवादियों को चुनावों में भाग लेकर संसद में प्रवेश करना चाहिये। संसद के अन्दर फिर उन्हें अपने हित को देखते हुए कार्य करना चाहिये। तृतीय, परिस्थितिवश साम्यवादियों द्वारा दूसरे राजनीतिक दलों से भी गठबन्धन करना चाहिये। किन्तु ऐसे दलों या तथाकथित मित्रों पर वैसी ही कड़ी नजर रखनी चाहिये जैसे कि एक शत्रु पर।14

इन चालों का साम्यवादी प्रत्येक देश में आज तक खूब प्रयोग करते हैं। जब कभी भी साम्यवादी कोई ऐसा कार्य करते हैं जिससे राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए साम्यवादी सिद्धान्तों पर आंच आती है तो वे इसे सामयिक व्यवस्था कहकर एक चाल बतलाते हैं। वास्तव में आज साम्यवाद चाल-सिद्धान्त (doctrine of tactics) ही अधिक है। हरबर्ट मार्क्यूज (Herbert Marcuse) के शब्दों में—

> 'सोवियत मार्क्सवाद (लेनिनवाद, स्टालिनवाद तथा उसके बाद) रूस की नीतियों को सही एवं विवेकपूर्ण बतलाने के लिए क्रेमलिन द्वारा घोषित विचारधारा ही नहीं है किन्तु यह रूस की वास्तविकताओं को कई प्रकार से व्यक्त करता है।'15

एलेग्जेन्डर ग्रे (Alexandea Gray) ने लेनिन को राजनीतिक चालों तथा राजनीतिक रणनीति का गुरु बतलाया है। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लेनिन राजनीति में नैतिकताहीन खेल खेलने में भी कुशल थे। इस पक्ष में वे मेकियावली के अधिक निकट थे।16 साम्यवाद के लिए लेनिन का सबसे महत्वपूर्ण योगदान राजनीतिक चालों के रूप में ही है।

साम्राज्यवाद पूंजीवाद की अन्तिम अवस्था (Imperialism : the Last Stage of Capitalism)

मार्क्स पूंजीवाद का विरोधी था। किन्तु लेनिन पूंजीवाद का मार्क्स से भी अधिक कटु आलोचक था। वास्तव में पूंजीवाद-साम्राज्यवाद विचार को पूर्णरूप से लेनिन ने ही विकसित किया। इसके साथ ही उसने संशोधनवादियों की आलोचना का भी करारा उत्तर दिया।

लेनिन ने प्राचीन और मध्यकालीन साम्राज्यवाद तथा आधुनिक साम्राज्यवाद में अन्तर स्पष्ट किया है। प्राचीन तथा मध्यकालीन साम्राज्यवाद सम्राटों की विजय

14 Gray, A., The Socialist Tradition, pp 480-81
15 Marcuse, Herbert., Soviet Marxism-A Critical Analysis, Routledge and Kegan Paul, London, 1958, p. 1.
16 Gray, Alexander., The Socialist Tradition, p. 461.

आकांक्षाओं का व्यावहारिक रूप था। आधुनिक साम्राज्यवाद मुख्यतः आर्थिक है। संशोधनवादी नेता एडुअर्ड बर्नस्टीन ने मार्क्सवाद की आलोचना करते हुए कहा था कि मार्क्स की यह भविष्यवाणी सही सिद्ध नहीं हुई कि पूंजीवाद की वृद्धि से मजदूरों की दशा और अधिक शोचनीय होगी। न पूंजीवादियों की संख्या में कमी हुई है और न उनका पतन ही निकट है। संशोधनवादियों का उत्तर देते हुए लेनिन ने कहा कि पूंजीवाद अपनी चरम अवस्था साम्राज्यवाद में पहुंच चुका है। लेनिन ने विस्तृत इसका विवेचन अपनी पुस्तक—Imperialism The Highest Stage of Capitalism—में की है। लेनिन के ही शब्दों में—

> साम्राज्यवाद पूंजीवादी विकास का वह चरण है जिसमें एकाधिकार और वित्तीय पूंजी का प्रभुत्व अपना आकार स्थापित कर चुका है, जिसमें पूंजी-निर्यात महत्ता प्राप्त कर चुकी है, जिसमें विश्व का विभाजन अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्ट (International trusts) में प्रारम्भ हो चुका है, जिसमें विश्व की समस्त भूमि का विभाजन पूंजीवादी महाराज्यों के मध्य पूर्ण हो चुका है।"17

इस सिद्धान्त के द्वारा लेनिन ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि साम्राज्यवाद पूंजीवादी विकास और प्रगति का स्वाभाविक परिणाम है। लेनिन पूंजीवाद साम्राज्यवाद में परिणत एक विशेष और उच्च स्तर की प्राप्ति के बाद ही होता है। साम्राज्यवाद किस प्रकार पूंजीवाद की उच्चतम व्यवस्था या शिखर है लेनिन ने इसे पूंजीवाद से साम्राज्यवाद तक की प्रगति एवं प्रक्रिया के माध्यम से स्पष्ट किया है। लेनिन के इस सिद्धान्त को निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. **पूंजीवाद की मूल प्रवृत्ति**—पूंजीवादी व्यवस्था स्वतन्त्र स्पर्द्धा पर आधारित है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि स्वतन्त्र स्पर्द्धा पूंजीवाद का कोई आधारभूत सिद्धान्त या साध्य है। पूंजीवादी विकास की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इस व्यवस्था में स्वतन्त्र स्पर्द्धा और पूंजीवाद का सामान्य स्वरूप दोनों ही समाप्त हो जाते हैं। क्योंकि स्वतन्त्र स्पर्द्धा में एकाधिकार की प्रवृत्ति होती है। स्पर्द्धा में औद्योगिक इकाइयां अपना आकार बढ़ाती हैं, छोटे छोटे पूंजीपति समाप्त हो जाते हैं और केवल दानव प्रकृति वाले पूंजीपति ही अपना अस्तित्व बनाये रख सकते हैं। इस प्रकार पूंजीवाद एकाधिकारवादी व्यवस्था में प्रवेश करता है।

17 "Imperialism is capitalism in that stage of development in which the domination of monopolies and finance capital has taken shape, in which the export of capital has acquired pronounced importance, in which the division of the world by the international trusts has begun and in which the partition of all the territory of the earth by the greatest capitalist countries has been completed"

Lenin, Imperialism, p 81, quoted by Gray, A, The Socialist Tradition, p 462

2. एकाधिकार—एकाधिकार पूँजीवादी व्यवस्था का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अगला चरण है। वास्तव में पूँजीवाद के अन्तर्गत स्वतन्त्र स्पर्द्धा और एकाधिकार परस्पर-विरोधी होते हुए भी एकाधिकार अवश्यम्भावी है। राष्ट्र की छोटी-छोटी आर्थिक इकाइयां समाप्त हो जाती हैं। एकाधिकार सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था पर छा जाता है। एकाधिकारवादी चरण में पूँजी व उत्पादन एक अत्यन्त ही छोटे समूह में केन्द्रित एवं संचित हो जाता है। इस अवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण विकास उद्योगपति और बैंकपतियों के सयुक्तीकरण से विकृत वित्तीय कुलीनतन्त्र (Financial Oligarchi) जैसी व्यवस्था की स्थापना होती है। औद्योगिक संघों के निर्माण के साथ साथ उत्पादन के ऊपर उत्पादकों का नियन्त्रण उनके हाथों से निकल कर थोड़े से दानव वित्तधारियों के हाथों में चला जाता है।

पूँजीवाद से साम्राज्यवाद तक बढ़ने की प्रक्रिया में एकाधिकार वाली अवस्था को लेनिन बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वे एकाधिकार को ही साम्राज्यवाद जैसा समझते है। इसी सन्दर्भ में लेनिन ने साम्राज्य की परिभाषा करते हुए लिखा है—

"यदि साम्राज्यवाद की कोई सूक्ष्म परिभाषा देने की आवश्यकता है तो हमें कहना चाहिए कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद की एकाधिकार वाली अवस्था है।"[18]

3. पूँजी निर्यात—लेनिन के अनुसार पूँजीवाद राष्ट्रीय सीमाओं के अन्तर्गत बन्ध कर नहीं रह सकता। इसमें विस्तारवादी प्रवृत्ति होती है। जब बाजार विश्वव्यापी हो जाता है एकाधिकारवादी संस्थाएँ अपने आर्थिक हितों में अभिवृद्धि के लिये पिछड़े हुए देशों की ओर दृष्टि डालती हैं। पिछड़े एवं अविकसित राज्यों में पूँजीवादी राज्य कच्चा माल प्राप्त करते हैं तथा उनमें अपनी पूँजी लगाते हैं। यह अवस्था उपनिवेशवाद की ओर अग्रसर करती है।

4. एकाधिकारवादियों के मध्य स्पर्द्धा—संसार के उन्नतिशील राष्ट्रों के एकाधिकारों के मध्य अविकसित तथा पिछड़े हुए देशों पर अधिकार करने की होड़ लग जाती है। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह हो जाता है कि शोषण के योग्य प्रदेशों तथा जनसंख्या का किस प्रकार विभाजन किया जाय। लेनिन 1914 के विश्वयुद्ध का उदाहरण देकर कहते हैं कि यह युद्ध जर्मन पूँजीपतियों के सिन्डीकेटों तथा इंग्लैंड एवं फ्रांस के सिन्डीकेटों के बीच अफ्रीका के नियन्त्रण के लिए संघर्ष था। लेनिन ऐसे और भी कई उदाहरण देते हैं।

लेनिन का कहना है कि इस स्थिति में विश्व के पूँजी एकाधिकारवादी मिलकर विश्व के आर्थिक हितों को स्वयं में विभाजित कर लेते हैं। तदुपरान्त विश्व के पूँजीपति सम्पूर्ण विश्व का स्वयं में क्षेत्रीय विभाजन कर लेते हैं। इस प्रकार "एकाधिकार और वित्त पूँजीवाद स्वतन्त्र प्रतियोगितापूर्ण पूँजीवाद का स्वाभाविक

18. Quoted, Anderson, T., Masters of Russian Marxism, p. 73.

परिणाम है। राजनीतिक साम्राज्यवाद एकाधिकार पूँजीवाद का स्वाभाविक परिणाम है और युद्ध पूँजीवाद का स्वाभाविक परिणाम है। साम्राज्यवाद पूँजीवादी विकास की उच्चतम व्यवस्था है।"[19]

साम्राज्यवादी युद्ध—लेनिन युद्ध को पूँजीवाद के विकास का एक आवश्यक कदम मानते हैं। प्रथम विश्व युद्ध का विवेचन करते हुए लेनिन ने कहा था कि यह युद्ध जर्मन पूँजीपतियों के सिन्डीकेटों तथा इंग्लैंड और फ्रांस के सिन्डीकेटों के बीच अफ्रीका के नियन्त्रण के लिए संघर्ष था। कुस्तुनतुनिया के प्रति रूसी पूँजीवादी (क्रान्ति के पूर्व) और चीन के प्रति जापान के दृष्टिकोण को इसी सन्दर्भ में समझा जा सकता है।

साम्राज्यवादी युद्ध में किसका कितना दोष है, लेनिन के अनुसार यह सोचना व्यर्थ है। सभी पूँजीवादी राष्ट्र आर्थिक स्वार्थों से प्रेरित रहते हैं। ये सभी लुटेरे हैं। प्रथम विश्व युद्ध का सर्वहारा क्रान्ति के दृष्टिकोण से पर्यवेक्षण करते हुए लेनिन साम्राज्यवादी युद्ध को गृहयुद्ध और सर्वहारावर्ग की क्रान्ति के रूप में बदलने की आशा रखते थे। उनका विश्वास था कि इस प्रकार की क्रान्ति सम्पूर्ण विश्व में होने वाली है।

एक देश में समाजवाद (Socialism in one state)

मार्क्सवाद अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा है जो विश्व के श्रमिकों को एकता और क्रान्ति के लिए आह्वान करती है। लेनिन ने इस बात को स्वीकार किया है, किन्तु मार्क्सवाद के प्रारम्भिक अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की एक राष्ट्रीय व्याख्या करके उसका शोधन किया। लेनिन ने "एक देश में समाजवाद" के सिद्धान्त को जन्म दिया। "उनका कहना था कि जैसे पूँजीवाद अपने उत्थान में संसार के विभिन्न भागों में एक सा नहीं रहा, ठीक उसी तरह समाजवाद का विस्तार भी सब जगह एक समान नहीं होगा। एक ही प्रयत्न में संसार में साम्यवाद जैसी कोई चीज स्थापित नहीं हो सकती। उसका प्रसार असमान और असम्बद्ध रूप में ही होगा। लेनिन का विश्वास था कि पूँजीवाद के सागर के बीच रूस रूपी एक समाजवादी द्वीप सारे संसार के सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए एक प्रकाश पुन्ज का काम करेगा।"[20]

'एक देश में समाजवाद' के समर्थक होने के साथ साथ लेनिन का उत्साह अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के विषय में भी बना रहा। उनके प्रयत्नों से मार्च 1919 में 'तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय' (Third International) की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य संसार के मजदूरों को एक सूत्र में बाँधना और पूँजीवादी शोषण के विरुद्ध विद्रोह करना था।

---

19 सेबाइन, राजनीति दर्शन का इतिहास, पृ० 771
आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ० 630

क्रान्ति के लिए उपयुक्त सामाजिक व्यवस्था

मार्क्स के अनुसार क्रान्ति सर्वप्रथम उन देशों में होगी जो औद्योगिक क्षेत्र में काफी आगे बढ़े हों तथा जहाँ पूँजीवाद का पूर्ण विकास हो चुका हो। पूँजीवाद का आन्तरिक परस्पर-विरोध क्रान्ति की ओर अग्रसर करेगा। रूस की क्रान्ति के संदर्भ में लेनिन मार्क्स की इस धारणा से सहमत नहीं थे। लेनिन के अनुसार मार्क्स ने क्रान्ति के लिए प्रत्येक देश में पूँजीवाद की अवस्था को अलग अलग आँका। अब पूँजीवाद विश्वव्यापी बन गया है, इसलिए जहाँ भी पूँजीवाद निर्बल हो, शासक वर्ग की कमजोर स्थिति हो, अधिकतर जनता क्रान्तिकारियों का साथ देने को तैयार हो, वहीं पर समाजवादी क्रांति हो सकती है। लेनिन ने कहा कि किसी भी देश में पूँजीवाद के पूर्ण विकास की प्रतीक्षा अनावश्यक है। क्रान्ति किसी भी पिछड़े हुए देश में हो सकती है।

कृषक वर्ग और साम्यवादी क्रांति

मार्क्स साम्यवादी क्रान्ति के लिए औद्योगिक मजदूरों को अधिक उपयोगी और उपयुक्त समझते थे। सर्वहारा वर्ग के पास अपना कुछ नहीं होता तथा प्रत्येक समय क्रान्ति व विद्रोह के लिए तत्पर रह सकता है। लेनिन इस बात से सहमत तो था किन्तु उसने किसानों के योगदान को भी स्वीकार किया। रूसी क्रान्ति में लेनिन को कृषक वर्ग से बहुत सहायता मिली थी। परिणामस्वरूप लेनिन ने यह निष्कर्ष निकाला कि औद्योगिक श्रमिक ही नहीं किन्तु कृषक वर्ग भी साम्यवादी क्रान्ति में सहायक होता है।

सर्वहारा-अधिनायकत्व बनाम साम्यवादी दल अधिनायकत्व

मार्क्स के अनुसार क्रान्ति के पश्चात् सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित होगा जो साम्यवादी व्यवस्था के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा। लेनिन ने इसका खण्डन नहीं किया किन्तु रूस में क्रान्ति के बाद जिस सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की स्थापना हुई वह वास्तव में साम्यवादी दल की तानाशाही थी। लेनिन के अनुसार साम्यवादी दल ही सर्वहारा वर्ग का मार्ग निर्देशन करेगा। लास्की के शब्दों में—

> सर्वहारा-अधिनायकत्व वास्तव में आवश्यकतानुसार साम्यवादी दल का अधिनायकत्व हो गया क्योंकि प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य के लिये साम्यवादी दल राज्य-यन्त्र से अभिन्न है। साम्यवादी दल का अधिनायकत्व भी उस दल के समस्त सदस्यों का अधिनायकत्व नहीं है।[1]

---

1. "The dictatorship of the proletariat, in fact became necessarily the dictatorship of the communist party, for every serious purpose, the party has been identical with the apparatus of the state. But the dictatorship of the party has not meant the dictatorship of the rank and file." Laski, H. J., Reflection on the Revolution of our Time, p. 57.

अन्य शब्दों में, मार्क्स के सर्वहारा अधिनायकत्व के स्थान पर लेनिन ने साम्यवादी दल के अधिनायकत्व की स्थापना की, जो व्यवहार में कुछ ही नेताओं की तानाशाही म परिवर्तित हो गया।

साम्यवादी दल

मार्क्स तथा लेनिन में सबसे महत्वपूर्ण विचार भेद सर्वहारावर्ग की भूमिका के विषय म था। मार्क्स तथा ऐन्जिल्स ने साम्यवादी क्रान्ति के लिये दल के सगठन की ओर अधिक ध्यान नही दिया। उनका विचार था कि पूजीवाद परिस्थितियों तथा शोषण से परेशान होकर श्रमिक वर्ग म वर्ग चेतना पैदा होगी और सर्वहारा वर्ग स्वय ही क्रान्ति की ओर अग्रसर होगा। लेनिन ने पार्टी को अधिक महत्व दिया। लेनिन यह मानने के लिये तैयार नही थे कि श्रमिकों म इतनी चेतना स्वय उत्पन्न हो सकती है कि वे संगठित होकर सरकार तथा पूजीपतियों से लोहा ले सकें। समाजवादी क्रान्ति क लिये लेनिन ने सर्वहारा आन्दोलन का कोई विशेष महत्व नही दिया। लेनिन ने सेन्ट पीटर्सबर्ग म औद्योगिक श्रमिकों का काफी अवलोकन एव अध्ययन किया था। यहा श्रमिकों की गतिविधियों म भाग लेने के बाद लेनिन का निष्कर्ष था कि किसी फैक्ट्री म कार्य करने स श्रमिक अपने आप म समाजवादी नही बन जाता। सर्वहारा या श्रमिक आन्दोलन, लेनिन के अनुसार, ट्रेड यूनियन दृष्टिकोण अपना लेते हैं। उनका उद्देश्य अर्थवाद तक ही सीमित होकर रह जाता है। सर्वहारावर्ग समाजवादी चेतना तथा वर्ग सघर्ष क लिये तब तक सक्षम नही हो सकता जब तक समाजवाद और वर्ग-सघर्ष चेतना उनमें न भरी जाय। समाजवादी क्रान्ति के लिये सर्वहारा वर्ग को सगठित करने, उनमें क्रान्ति भावना का विकास करने का कार्य केवल साम्यवादी दल ही कर सकता है। इस प्रकार साम्यवादी दल की भूमिका का जिसकी ओर मार्क्स तथा ऐन्जिल्स न कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, लेनिन के विचारों म एक महत्वपूर्ण स्थान है। लेनिन ने साम्यवादी दल को 'क्रान्ति का अग्रणीय' बतलाया।

लेनिन ने जब रूसी क्रान्ति की बागडोर अपने हाथों में ली वह दल क्रान्ति को दो आधारों पर रखना चाहता था। प्रथम, मार्क्सवादी सिद्धान्तों के आधार पर आदर्श एकता द्वितीय, क्रान्तिकारी समूह का कठोर अनुशासन और सगठन। 1902 म क्रान्ति के लिये दल सगठन के विषय में लेनिन ने लिखा था—

> "एक छोटा सुगठित गुट, जिसम विश्वसनीय, अनुभवी और कठोर-हृदय मजदूर हो, मुख्य केन्द्रों में अपने उत्तरदायी एजेण्टों को रखकर, कठोर गोपनीयता के नियमों के आधार पर क्रान्तिकारियों के सगठनों के साथ सम्बद्ध होकर और जनता का व्यापक समर्थन मिलने पर, बिना किन्हीं विस्तृत नियमों के ही श्रमिक सघ सगठन के समस्त कार्यों को कर सकता है।"[22]

22 सबाइन, राजनीति दर्शन का इतिहास, पृ० 753–54.

दो वर्ष बाद 1904 में लेनिन ने अपनी पुस्तिका—One Step Forward. Two Steps Back—में इस सम्बन्ध मे विचार व्यक्त करते हुए लिखा—

> "अपने शक्ति संघर्ष मे सर्वहारा वर्ग के पास संगठन के अतिरिक्त अन्य कोई हथियार नही।"[23]

दल के संगठन की ओर लेनिन ने अपना सबसे अधिक ध्यान दिया। वे क्रान्तिकारी दल को प्रत्येक दृष्टि से सक्षम बनाना चाहते थे। लेनिन एक पेशेवर, अनुशासित क्रान्तिकारियो के समूह की गतिविधियो का समर्थन करते थे जो सर्वहारा वर्ग का क्रान्ति के समय तथा क्रान्ति के उपरान्त मार्गदर्शन कर सके। लेनिन के विचार मे दल का महत्व केवल क्रान्ति तक ही सीमित नही रहता क्रान्ति के बाद निर्माण कार्य मे भी वे दल के नेतृत्व को प्रथमिकता देते थे।

क्रान्ति के उपरान्त साम्यवादी दल के महत्व का उल्लेख करते हुए लेनिन ने, 1920 मे कहा—

> "साम्यवादी दल मजदूर वर्ग का एक भाग है। वह उसका सबसे उन्नत, वर्ग-चेतन और इसलिये सबसे अधिक क्रान्तिकारी भाग है। साम्यवादी दल सबसे अच्छे, सबसे बुद्धिमान, आत्म-त्यागी और दूरदर्शी मजदूरों से मिलकर बनता है। साम्यवादी दल वह संगठित राजनीतिक व्यवस्था है जिसके द्वारा मजदूर वर्ग का अधिक उन्नत भाग समस्त मजदूरों और अर्ध-मजदूरों को सही दिशा मे ले जाता है।"[24]

साम्यवादी दल के संगठन के लिये लेनिन के बहुत से समकालीन नेताओं ने लोकतान्त्रिक संगठन का समर्थन किया। वे साम्यवादी दल के लोकतान्त्रिक संगठन के पक्ष में थे। लेनिन ने इसका विरोध किया। वे साम्यवादी दल को पूर्ण सुसंगठित तथा समान दृष्टिकोण वाले व्यक्तियों के दल के रूप में देखना चाहते थे। वे साम्यवाद से सहानुभूति रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को पार्टी का सदस्य बनाने के पक्ष में नही थे, किन्तु सधे हुए विश्वासपात्र कार्यकर्ताओं को ही पार्टी के सदस्य बनने का समर्थन करते थे।

इसके अतिरिक्त लेनिन ने पार्टी में केन्द्रवाद (centralism) पर विशेष जोर दिया जिसके अनुसार पार्टी की निचली इकाइयों को ऊपर की इकाइयों की आज्ञा माननी पड़ेगी, किन्तु दल के आन्तरिक लोकतन्त्र को जीवित रखने के लिये लेनिन ने आलोचना के महत्व को स्वीकार किया।

राज्य का लोप (withering away of the state)

मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अन्तर्गत यह मान्यता है कि सर्वहारा क्रान्ति से जब पूंजीवाद का अन्त होगा, तत्पश्चात राज्य का भी अन्त हो जायगा। लेनिन ने इस

23. सेबाइन., राजनीतिक दर्शन का इतिहास, पृ० 758-59.
24. उद्धृत, सेबाइन., राजनीति दर्शन का इतिहास, पृ. 759.

और ट्राटस्की के सिद्धान्त सघर्ष मे तीव्रता आ गई। 1927 तक रूस के साम्यवादी दल न ट्रॉट्स्की के सभी सिद्धान्तो को ठुकरा दिया तथा उन्हे रूस से निष्कासित कर दिया गया। निष्कासन म भी ट्रॉट्स्की स्टालिन तथा स्टालिन के विचारो का प्रतिरोध करते रहे। 1940 मे सम्भवत रूसी एजेन्टो ने मेक्सिको मे ट्रॉट्स्की की हत्या कर दी।

ट्रॉट्स्की ने साम्यवादी सिद्धान्तो की व्याख्या के सम्बन्ध मे कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे जिनम निम्नलिखित प्रमुख हैं —

1 Our Revolution 1906
2 Terrorism and Communism A Reply to Karl Kautsky, 1920
3 Toward Socialism or Capitalism, 1925
4 In Defence of Marxism, 1939-40

स्थाई क्रांति का सिद्धान्त (Theory of the Permanent Revolution)

ट्रॉटस्की ने साम्यवाद के विभिन्न पक्षो को लेकर टीकाएँ की हैं किन्तु उनका स्थायी क्रान्ति का सिद्धान्त अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव म ट्रॉट्स्की के अन्य विचार भी स्थाई क्रांति के सिद्धान्त से ही सम्बद्ध हैं।[26]

स्थाई क्रान्ति सिद्धान्त का अर्थ, ट्रॉट्स्की के अनुसार, उस क्रांति से है जिसके अन्तर्गत वर्ग-शासन के किसी भी स्वरूप को स्वीकार नही किया जाता, क्रान्ति लोकतान्त्रिक व्यवस्था तक ही सीमित नही रहती इसका उद्देश्य समाजवादी क्रांति की उपलब्धि है। साथ ही साथ देश के बाहर प्रतिक्रियावादियो के विरुद्ध मोर्चा लिए रहना ही स्थायी क्रान्ति है। अन्य शब्दो मे जब तक वर्ग-भेद का उन्मूलन नही हो जाता, जब तक देश मे समाजवाद की पूर्ण स्थापना नही हो जाती और जब तक रूस को साम्यवादी क्रान्ति का विरोध करने वालो को समाप्त कर उन्हे समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत नही ले लिया जाता तब तक इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए निरन्तर सघर्ष एव प्रयास करते रहना ही स्थाई क्रांति है। ट्रॉट्स्की स्थाई क्रान्ति के सिद्धान्त के निम्नलिखित पक्षो को स्पष्ट करते हैं —

लोकतान्त्रिक क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति की ओर सक्रमण

स्थाई क्रांति के इस पक्ष के अन्तर्गत पिछड़े हुए राज्यो म लोकतन्त्र की स्थापना सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तगत ही सम्भव है। इसका तात्पर्य हुआ कि समाजवादी क्रान्ति के लिए सर्वहारा लोकतन्त्र एक प्रारम्भिक अवस्था है। लोकतान्त्रिक क्रान्ति स समाजवादी क्रान्ति की ओर अग्रसर होना क्रान्ति के स्थायित्व को स्वीकार करना है।

26 साम्यवाद के विभिन्न पक्षो पर ट्रॉट्स्की के स्वय के विचारो के लिये देखिये — Anderson, Thornton, Masters of Russian Marxism, pp 135-160, Also see Communism and Revolution by Black and Thornton, pp 2? 42

समाजवादी क्रांति

स्थाई क्रांति का दूसरा पक्ष समाजवादी क्रान्ति है। इसके अन्तर्गत निरन्तर संघर्ष के द्वारा सामाजिक सम्बन्धो में परिवर्तन करना है। आर्थिक, तकनीकी, विज्ञान, परिवार, नैतिकता आदि के क्षेत्र मे क्रान्ति स्थाई क्रान्ति का समाजवादी स्वरूप है।

समाजवादी क्रान्ति के विषय मे ट्रॉट्स्की का सबसे महत्वपूर्ण सुझाव कृषि का सामूहिकीकरण (collective farming) था।

क्रान्ति का व्यापक आधार : कृषक वर्ग के समर्थन की अपेक्षा

रूस मे साम्यवादी क्रान्ति को स्थाई बनाने तथा उसे व्यापक आधार प्रदान करने के लिये ट्रॉट्स्की का विश्वास था कि सर्वहारा वर्ग को कृषको का समर्थन प्राप्त करना चाहिए। सत्ता मे आते ही बोल्शेविक कृषक वर्ग के समक्ष एक मुक्ति-दाता के रूप मे आयेगे। सर्वहारा वर्ग कृषको को अपनी ओर मिलाने के लिए उस भूमि पर कृषको के स्वामित्व को स्वीकार कर लेगा जो उन्होने क्रान्ति के समय छीन ली थी किन्तु कृषक वर्ग स्वय स्वतंत्र रूप से शासन करने के सदैव अयोग्य है। ट्रॉट्स्की एक प्रकार से सर्वहारा-कृषक अधिनायकत्व (Dictatorship of the Proletariat and the Peasantry) का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं।

श्रम सैन्यीकरण (Militarisation of labour)

रूस में साम्यवादी क्रान्ति प्रथम विश्व युद्ध के अन्तिम चरण मे हुई। इसलिए रूस मे राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ का समाधान युद्ध स्तर पर किया जा रहा था। साम्यवाद की व्याख्या तथा कार्य प्रणाली पर युद्ध का प्रभाव पड़ा। इस संदर्भ मे अस्थाई रूप से 'युद्ध साम्यवाद' (War Communism) नामक कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। 1920–21 मे रूस को युद्ध साम्यवाद से निकाल कर सामान्य साम्य-वादी व्यवस्था के अन्तर्गत लाने की बात सोची गई। ट्रॉट्स्की का इस सम्बन्ध मे सुझाव था कि 'युद्ध साम्यवाद' का विकल्प भी उग्र होना चाहिए। ट्रॉट्स्की के अनुसार उत्पादन, आर्थिक नियोजन, श्रमिक तथा श्रमिक सगठनो आदि को चाहे सेना के अधिकार मे न भी रखा जाय किन्तु इन्हे सैनिक अनुशासन जैसी स्थिति के अन्तर्गत अवश्य लाया जाय। ट्रॉट्स्की ने ट्रेड यूनियनो के सैन्यीकरण का सुझाव दिया। प्रत्येक श्रमिक, ट्रॉट्स्की के अनुसार, श्रम सैनिक है (Every worker is a soldier of labour). Man Must work in order not die

ट्रॉट्स्की प्रत्येक श्रमिक से अनिवार्य श्रम लेने के पक्ष मे थे। 'मनुष्य को श्रम करना चाहिए ताकि वह जीवित रह सके' (Man must work in order not to die) ट्रॉट्स्की का नारा था।[27] ट्रॉट्स्की ट्रेड यूनियन की स्वायत्तता के विरुद्ध थे तथा दल के अन्दर लोकतन्त्र का भी उन्होने कभी भी समर्थन नहीं किया।

27. Anderson, Thorton, Masters of Russian Marxism, p. 128.

श्रमिकों के सैन्यीकरण का उद्देश्य उत्पादन में वृद्धि करना था। इसके लिए अर्थ व्यवस्था का नियोजन एवं संचालन केन्द्र से होना चाहिए। इस सम्बन्ध में टॉटस्की 'अति राज्यवादी' थे।

ट्रॉटस्की के ये सुझाव रूस में एक विवाद के कारण बन गये। श्रमिकों तथा उन राजनीतिज्ञों ने जो टॉटस्की को लेनिन का उत्तराधिकारी बनना पसन्द नहीं करते थे, ट्राटस्की के ये सिद्धान्त दल में स्वीकार नहीं किये गए। इससे उनकी लोकप्रियता को काफी धक्का लगा।

अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्व क्रान्ति

अपने मार्क्सवादी विचारों में ट्रॉटस्की पूर्णत अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के समर्थक थे। उन्होंने दूसरे देशों में क्रांति का निर्यात करने के लिए आक्रामक दृष्टिकोण अपनाया। ट्रॉटस्की का विश्वास था कि साम्यवादी क्रान्ति को रूस तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। क्रान्ति स्थायी होनी चाहिए जिससे विश्व के अन्य भागों में क्रान्ति के माध्यम से समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की जा सके। इसके लिए ट्रॉटस्की साम्यवाद का प्रचार एवं विस्तार करने वाली मास्को स्थित 'तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय' (Third International) संस्था का प्रयोग करना चाहते थे। ट्रॉटस्की का विचार था कि विश्वव्यापी निरन्तर एवं स्थायी क्रान्ति से रूस की क्रांति का भी स्थायित्व एवं सुरक्षा प्राप्त होगी। अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति से रूस की सर्वहारा क्रान्ति को ट्रॉटस्की सुरक्षा इसलिए और प्रदान करना चाहते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि रूस का सर्वहारा वर्ग अलग-थलग होकर क्रान्ति को स्थायी नहीं बना सकता। सूक्ष्म में ट्रॉटस्की ने 'एक देश में समाजवाद' के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद को प्राथमिकता दी।

अन्तर्राष्ट्रीय बोल्शेविक क्रान्ति के समर्थक ट्रॉटस्की पश्चिम यूरोप में क्रान्ति की ज्वाला प्रज्वलित करना चाहते थे। इसके लिये चिनगारी भड़काने का कार्य रूस को करना चाहिये। इस सम्बन्ध में ट्रॉटस्की निम्नलिखित दो प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है —

प्रथम– किसी भी देश में क्रांति के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह पूंजीवादी विकास की सीमा प्राप्त कर चुका हो तथा औद्योगिक श्रमिक वर्ग शक्तिशाली बन चुका हो।

द्वितीय—ट्रॉटस्की का विचार था कि समाजवादी क्रान्ति के लिए व्यापक जन समर्थन या श्रमिक वर्ग की संख्या में वृद्धि आदि आवश्यक नहीं है। क्रान्ति कुछ समाजवादी अल्प-संख्यकों द्वारा भी की जा सकती है। यहाँ इसका आशय यह भी हुआ कि जब तक पश्चिम यूरोप का श्रमिक वर्ग क्रांति के लिये आगे नहीं बढ़ता, रूस को क्रान्ति का उत्तरदायित्व लेना चाहिए। ट्रॉटस्की की यह धारणा रूस की

क्रान्ति के सन्दर्भ मे ही बनी। जब नवम्बर 1917 मे बोल्शेविक सत्ता मे आए इसका कारण सम्पूर्ण जनता का सहयोग या समर्थन नही था। उस समय बोल्शेविको की सदस्य संख्या केवल दो लाख के लगभग थी। रूस की क्रान्ति वास्तव मे बोल्शेविक अल्प-सख्यकों द्वारा सरकार का तख्ता पलट कर शासन पर अधिकार करना था।[28]

मूल्यांकन

लेनिन के बाद ट्रॉट्स्की को साम्यवादी सिद्धान्तो का अग्रणीय टीकाकार माना जाना था। वे सिद्धान्तकार और साम्यवादी क्रान्ति के कर्मठ कार्यकर्त्ता दोनों ही थे। साम्यवादी क्रान्ति को स्थायित्व देने के लिये उनका *स्थायी क्रान्ति का सिद्धान्त* अत्यन्त महत्वपूर्ण है। साथ ही साथ रूस मे साम्यवादी क्रान्ति का सक्रिय सचालन करने मे ट्रॉट्स्की का महत्वपूर्ण योगदान था। वे साम्यवादियो मे उग्रपथी थे।

यद्यपि ट्रॉट्स्की ने साम्यवादी सिद्धान्तो की विद्वत्तापूर्वक व्याख्या की है परन्तु विश्व के साम्यवादी उनके योगदान को स्वीकार नही करते। इसका प्रमुख कारण स्टालिन तथा ट्रॉट्स्की के मध्य सैद्धान्तिक मतभेद एव सत्ता सम्बन्धी सघर्ष था जिसमे स्टालिन सफल रहा। रूस मे स्टालिन युग मे उनके विचारो के विरुद्ध एक व्यापक एवं व्यवस्थित ढग से प्रचार किया गया इससे ट्रॉट्स्की के विचारो का प्रभाव समाप्त होता चला गया। आज साम्यवादी परिभाषा मे ट्रॉट्स्कीवाद का अर्थ मार्क्सवाद से विचलन, मार्क्सवादी सिद्धान्तो से हटना या उनमे सशोधन करना माना जाता है। साम्यवादी इन सभी तत्वो की निन्दा करते है। यद्यपि रूस मे ट्रॉट्स्की को खूब अपमानित किया गया, ट्रॉट्स्की का ऐसा कोई विचार नही था जिसे आगे चलकर स्टालिन ने स्वीकार न किया हो।[29] यहा तक कि 'अप्रैल थीसिस' (April Theses, April, 1917) के उपरान्त लेनिन भी ट्रॉट्स्की के क्रान्ति सम्बन्धी विचारों के अधिक निकट थे। रूस मे साम्यवादी क्रान्ति के समय तथा बाद मे लेनिन ने ट्रॉट्स्की के स्थायी क्रान्ति के विभिन्न सिद्धान्तो को कार्यान्वित किया।[30]

वर्तमान मे विश्व के किसी भी राज्य का साम्यवादी दल ट्रॉट्स्की को अपना प्रेरणा स्रोत नही मानता। केवल श्री लंका ही एक ऐसा अपवाद है जहा ट्रॉट्स्की के सिद्धान्तो के आधार पर एक राजनीतिक दल सक्रिय है।

स्टालिनवाद (Stalinism)

स्टालिन (Joseph V. Dzhugashvili, 1879–1953) का जन्म कॉकेशस मे हुआ। स्टालिन की माँ अनपढ़ किन्तु धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थी किन्तु स्टालिन का पिता एक मोची था जिसे शराब पीने की लत थी। प्रारम्भ मे स्टालिन ने चर्च

28 Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, p. 488.

29 Deutsher, Isaac, The Prophet Armed, Trotsky, p. 515.

30 Labedz, Leopold., Ideology; The Fourth Stage; in Political Thought Since World War II, edited by W. J Stankiewicz, p. 176

साहित्य का अध्ययन किया तथा चौदह वर्ष की आयु में एक धार्मिक संस्था की ओर से छात्रवृत्ति भी मिली। लेकिन धीरे धीरे स्टालिन का ध्यान मार्क्सवाद की ओर आकर्षित होता चला गया। 1898 में ये एक मार्क्सवादी समूह के सक्रिय सदस्य बन गये। 1903 के लगभग स्टालिन लेनिन के प्रमुख अनुयायी एवं साथी बन गये। इनकी संगठन योग्यता तथा कट्टर मार्क्सवादी होने के कारण 1912 में स्टालिन बॉलशेविक केन्द्रीय समिति के सदस्य नियुक्त किये गये। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व 1913 में स्टालिन को बन्दी बनाकर साइबेरिया निष्कासित कर दिया गया। मार्च 1917 में स्टालिन जब निर्वासन से वापस आये तो रूस की क्रान्ति में कूद पड़े। रूस की क्रान्ति में स्टालिन ने लेनिन को अत्यधिक सहयोग दिया।

क्रान्ति के उपरान्त स्टालिन को काफी उत्तरदायी कार्य सौंपे गये। वे साम्यवादी दल के मुख पत्र 'प्रावदा' के सम्पादक रहे तथा राष्ट्रीयता, श्रमिकों, किसानों आदि से सम्बन्धित मंत्रालयों का कार्यभार सम्भाला। अप्रैल 1920 में स्टालिन को सर्वोच्च महत्वपूर्ण पद-साम्यवादी दल के महासचिव-पद पर नियुक्त किया गया। यहीं से स्टालिन के हाथों में सत्ता संचय का प्रारम्भ होता है। 1924 में लेनिन की मृत्यु से लेकर 1953 में स्वयं की मृत्यु तक स्टालिन रूस के सर्वेसर्वा तानाशाह बन कर रहे।

मार्क्सवाद-साम्यवाद में स्टालिन के योगदान को स्वीकार किया जाता है। स्टालिन के कुछ प्रमुख ग्रन्थ, जिनमें उन्होंने मार्क्सवाद में परिवर्द्धन किया, निम्नलिखित हैं—

1. Foundations of Leninism, 1924,
2. On the Problems of Leninsm 1926,
3. Dialectical and Historical Materialism, 193?,
4. Marxism and National Question, 1942,
5. Economic Problems of Socialism in the USSR 1952, etc

स्टालिन-ट्राटस्की मतभेद

लेनिन की मृत्यु के पश्चात रूस का नेतृत्व स्टालिन के हाथों में आया। किन्तु इसी समय स्टालिन और ट्रॉटस्की (Trotsky 1879-1940) के मतभेदों ने साम्यवादी दल की जड़ें हिला दीं। रूस की साम्यवादी पार्टी में दो गुट हो गये। एक गुट का नेता ट्रॉटस्की था और दूसरे का स्टालिन। स्टालिन और ट्रॉटस्की का संघर्ष व्यक्तिगत तथा सैद्धान्तिक दोनों ही था। अन्तिम रूप में यह सत्ता का संघर्ष था।[31] स्टालिन तथा ट्राटस्की के जो सैद्धान्तिक मतभेद हुए इसने साम्यवादी सिद्धान्तों की व्याख्या को भी अवसर प्रदान किया। निम्नलिखित पंक्तियों में ट्रॉट्स्की स्टालिन मतभेद के साथ-साथ स्टालिनवाद भी स्पष्ट हो जाता है।

31 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 498

स्टालिन और भूमि समस्या · कृषि का सामुदायीकरण (1)

साम्यवादी सिद्धान्त को स्टालिन का सबसे प्रारम्भिक योगदान भूमि समस्या के समाधान के क्षेत्र मे है। मार्क्सवाद को छोटे छोटे कृषक फार्म तथा किसानो की निष्क्रियता, उनके असहयोगपूर्ण एवं व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का पहले से ही ज्ञान था। लेकिन वे साम्यवादी क्रान्ति मे कृषको की 'द्वितीय पंक्ति' के रूप मे भूमिका को भी महत्वपूर्ण मानते थे। फिर भी उस समय सबसे महत्वपूर्ण समस्या भूमि का मार्क्सवादी समाधान करने की थी। इस समस्या के समाधान के लिये भूमि का सामाजीकरण, कम्यून व्यवस्था, म्यूनिसिपलीकरण तथा राष्ट्रीयकरण के सुझाव दिये गये। 1906 मे स्टॉकहोम पार्टी काँग्रेस मे स्टालिन ने इन तीनो विकल्पों का विरोध किया। उस समय स्टालिन का विचार था कि किसानो को भूमिपतियो मे भूमि छीन लेने के लिये कहा जाय और फिर उसका व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप मे वितरण कर दिया जाय। स्टालिन का विचार था कि इससे कृषक वर्ग साम्यवादी क्रान्ति का कम से कम कुछ समय के लिये समर्थन करेगा। 1917 मे रूस मे क्रान्ति के उपरान्त भूमि का सामाजीकरण और स्टालिन के विचार दोनो का प्रयोग चलता रहा। लेनिन की मृत्यु के बाद इसी समस्या को लेकर ट्रॉट्स्की और स्टालिन मे मतभेद हो गये। ट्रॉट्स्की का विचार था कि किसानो का सामुदायीकरण (Collectivisation) किया जाय। उस समय की परिस्थितियो के सन्दर्भ मे स्टालिन कृषि का पूर्ण सामुदायीकरण न कर किसानो को कुछ सुविधाएं देना चाहते थे। किन्तु आगे चलकर स्टालिन ने स्वयं ही कृषि के सामुदायीकरण (Collective farming) को स्वीकार किया।

एक देश मे समाजवाद 2—

'एक देश मे समाजवाद' का प्रारम्भिक विवेचन लेनिन के विचारो मे मिलता है किन्तु स्टालिन ने इसका और विस्तार किया। स्टालिन और ट्रॉट्स्की मे इस विषय पर कडा मतभेद था कि पहले रूस मे साम्यवाद को दृढ किया जाय अथवा विश्वव्यापी साम्यवादी क्रान्ति की ओर ध्यान दिया जाए। ट्रॉट्स्की का विचार था कि जब तक रूस पूंजीवादी देशो से घिरा है (Capitalist encirclement) तब तक रूस में क्रान्ति स्थायी नही रह सकती। पूंजीवादी देशों से आक्रमण का भय सदैव बना रहेगा। ट्रॉट्स्की समझता था कि अन्य देशों मे साम्यवादी क्रान्ति की विशाल योजना बनाई जाय। जब कई राज्य विशेषतः पश्चिम यूरोप के राज्य, समाजवादी क्रान्ति के अन्तर्गत आ जायेंगे तो इससे रूस की व्यवस्था भी सुदृढ़ होगी और पूंजीवादी घेराव (Capitalist encirclement) भी कोई हानि नही कर सकेगा। ट्रॉट्स्की ने स्थाई साम्यवादी क्राति का समर्थन किया।

स्टालिन इस विचार से सहमत नही था। उसका कहना था कि एक देश मे भी साम्यवाद की स्थापना की जा सकती है। इसके अलावा दूसरे देशों मे क्रान्ति का

निर्यात नहीं किया जा सकता। किसी भी देश मे क्रान्ति तभी हो सकती है जब वहाँ कुछ आवश्यक परिस्थितियाँ उपलब्ध हो। स्टालिन का दृष्टिकोण था कि पहले रूस मे ही साम्यवाद को दृढ तथा सफल बनाया जाय।

सितम्बर 1925 मे साम्यवादी दल के चौदहवे अधिवेशन मे स्टालिन का मत स्वीकार कर लिया गया। दिसम्बर 1927 म ट्रॉटस्की को साम्यवादी दल से निष्कासित तथा देश से निर्वासित कर दिया गया। बाद म अमेरिका मे उसकी हत्या कर दी गई।

स्टालिन और ट्रॉट्स्की के सैद्धान्तिक मतभेदो मे स्टालिन के विचारो की आलोचना हुई है। आलोचको क अनुसार स्टालिन ने मार्क्सवादी सिद्धान्तों को पूर्णत ठुकरा दिया। 'एक देश म समाजवाद' मार्क्सवादी विचारधारा के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त इस आधार पर स्टालिन ने कम से कम उस समय तथा तत्कालीन परिस्थितियो के सन्दर्भ मे अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी क्रान्ति का त्याग कर दिया। यहां स्टालिन का उद्देश्य रूस के हित को सुरक्षित रखना था न कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी हित को। इस विवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्टालिन का दृष्टिकोण बहुत कुछ राष्ट्रवादी हो गया था। इन बातो से, आशीर्वादम् के शब्दो म, ऐसा मालूम होता कि लेनिनवाद स्टालिन के हाथो मे आकर भ्रष्ट हो गया।[32] उन्हे कट्टर मार्क्सवादी या सशोधनवादी कहा जाय, इस पर साम्यवादी स्वय भी एक मत नही हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रसार को भी स्टालिन ने कभी नही छोडा। इस सम्बन्ध म उसने नई चालो को अपनाया तथा उनमे सदैव परिवर्तन करता रहा। 1928 म 'तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय' (Third International) के छठे विश्व-सम्मेलन मे एक प्रस्ताव पास किया गया जिसम उल्लेख था कि—

> "अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद का अन्तिम उद्देश्य विश्व की पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के स्थान पर विश्व-व्यापी साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना करना है जिसके अन्तर्गत समस्त मनुष्य जाति को सोवियत समाजवादी गणतत्रो के विश्व-सघ म निर्माण करना है।....चूँकि रूस सर्वहारा तानाशाही और समाजवादी निर्माण का देश है इसलिए यह स्वाभाविक रूप से विश्व आन्दोलन का आधार (या केन्द्र) है।"[33]

उस समय विश्व मे साम्यवादी क्रान्ति सम्भव नहीं थी। द्वितीय विश्व युद्ध के समय स्टालिन ने एक कदम पीछे हटने की चाल चली। हिटलर के विरुद्ध इगलैण्ड, अमेरिका आदि से सहायता प्राप्त करने के लिये 1943 म रूस ने कोमिनटर्न की समाप्ति कर दी। किन्तु युद्ध के बाद इसका फिर पुनर्गठन कर दिया। युद्ध म रूस ने पूर्वी यूरोप के राज्यो पर अधिकार कर उनका सोवियतकरण करना प्रारम्भ

32 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 632.

33 Burns, Emile, (Ed) A Hand book of Marxism, London, 1935, p 964

कर विश्व के अन्य देशों मे साम्यवादी दलों को सहायता तथा समर्थन देना प्रारम्भ किया। इसलिए स्टालिन द्वारा ट्रॉट्स्की का विरोध करना सैद्धान्तिक नही व्यक्तिगत प्रतीत होता है। इसमे सन्देह नही कि स्टालिन के विचार एवं व्यवहार परस्पर-विरोधी थे, क्योकि स्टालिन ऐसा चाहता भी था।

स्टालिन ने ट्रॉट्स्की के साथ अपने सैद्धान्तिक मतभेदो को जान बूझ कर तूल दिया। सत्ता-संघर्ष मे साम्यवादी दल का समर्थन प्राप्त करने के लिए स्टालिन ने यह सघर्ष सिद्धान्तों की आड लेकर लडा। वास्तव मे स्टालिन और ट्रॉट्स्की के मतभेदो को मतभेद की संज्ञा नही दी जा सकती। इन दोनो मे तत्कालीन परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए सिर्फ राजनीतिक चाल मे ही कुछ अन्तर प्रतीत होता है। इन मतभेदों के होते हुए भी स्टालिन ने ट्रॉटस्की के पतन के बाद उन्ही सिद्धान्तो को अपनाया जिनका ट्रॉटस्की ने समर्थन किया।

स्टालिन और क्षेत्रीय स्वायत्तता का सिद्धान्त 3

स्टालिन का दूसरा सैद्धान्तिक योगदान 'राष्ट्रीय समस्या' के विषय में है। 1913 मे स्टालिन की पुस्तक—The National Question and Social Democracy—मे इस समस्या के सम्बन्ध मे विचार व्यक्त किये हैं। उस समय दो परस्पर-विरोधी विचारों - राष्ट्रीय स्वाधीनता और सर्वहारा वर्ग की अन्तर्राष्ट्रीय एकता-से विवाद उत्पन्न हो गया था। राष्ट्रवाद के समर्थक राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा मार्क्सवादी अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा एकता मे विश्वास करते थे। स्टालिन ने अपने विचारों मे इन दोनो परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों का समन्वय किया है। स्टालिन ने राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों (national minorities) के आत्म-निर्णय (Self-determination) अधिकार को स्वीकार किया है यदि उनका शोषण और दमन किया जाता है। वैसे स्टालिन ने राष्ट्रीयता की पूँजीवादी विचार, व्यक्तियो को विभाजन करने, राष्ट्रीय बाधाएं उत्पन्न करने वाला विचार कह कर आलोचना की है। दूसरी ओर पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा शासन की स्थापना अव्यावहारिक है। इन दोनो के विकल्प मे स्टालिन ने क्षेत्रीय स्वायत्तता (regional autonomy) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया -जिसके अन्तर्गत एक समाजवादी राज्य मे क्षेत्रीय स्वायत्तता के आधार पर कई राष्ट्रीय अल्पसंख्यक रह सकते हैं। 1936 में निर्मित स्टालिन-संविधान मे इस सिद्धान्त की पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है।

राज्य का लोप (Withering away of the State) 4

स्टालिन ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद में एक और महत्वपूर्ण संशोधन किया। मार्क्सवाद मे राज्य के लोप होने की बात कही गई है। लेनिन ने राज्य के लोप होने को अप्रत्यक्ष रूप से अव्यावहारिक माना है। किन्तु स्टालिन इस सम्बन्ध में लेनिन से बहुत आगे है। उस समय प्रायः यह प्रश्न किया जाता था कि राज्य का लोप तथा

साम्यवादी समाज की स्थापना कब होगी ? मार्च 1938 में सोवियत साम्यवादी-दल-कांग्रेस के अधिवेशन में स्टालिन ने इस बात को लेकर काफी चर्चा की।

स्टालिन ने बतलाया कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद को हमें एक रूढ़िवादी धारणा (dogma) के रूप में स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए। आज की प्रत्येक परिस्थिति के लिये मार्क्स-ऐन्जिल्स आदि ने कोई उपचार नहीं बतलाये। इन सिद्धान्तों को हम तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही समझना चाहिये।

स्टालिन के अनुसार यदि किसी देश का विकास केवल उसकी आन्तरिक परिस्थितियों पर निर्भर होता, या संसार के अधिकतम भाग में समाजवाद की स्थापना हो गई होती तो राज्य के लोप होने की कल्पना की जा सकती थी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिलता, रूस का पूंजीवादी राज्यों द्वारा घिरा होना (Capitalist encirclement) जो रूस की समाजवादी व्यवस्था का उन्मूलन करने के लिये कटिबद्ध है, राज्य के लोप होने की बात नहीं कही जा सकती। इसके विपरीत स्टालिन ने राज्य को अधिक शक्तिशाली तथा सर्वहारा अधिनायकत्व को अधिक सुदृढ करने पर विशेष बल दिया।[34]

व्यक्तिगत तानाशाही 5

कार्ल मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग को महत्व दिया, लेनिन ने सर्वहारा वर्ग के स्थान पर साम्यवादी दल को प्राथमिकता दी, किन्तु स्टालिन ने सर्वहारा वर्ग तथा साम्यवादी दल को स्वयं में समा लिया और इस प्रकार अपनी व्यक्तिगत तानाशाही की स्थापना की। स्टालिन जब तक जीवित रहे तब तक उन्होंने पूर्ण तानाशाह की तरह शक्तियों का प्रयोग किया। (आगे कई स्थलों पर स्टालिन के अधिनायकत्व व व्यक्ति पूजा को स्पष्ट किया गया है)

मूल्यांकन 6

स्टालिनवाद मार्क्सवाद-साम्यवाद की शृंखला में एक महत्वपूर्ण कड़ी है किन्तु स्टालिन के योगदान के विषय में आज साम्यवादी विभाजित हैं। यद्यपि विश्व के बहुत से साम्यवादी दल (चीन सहित) स्टालिनवाद के महत्व को स्वीकार करते हैं किन्तु स्वयं रूस में ही निकिता ख्रुश्चेव ने अपने शासन काल में स्टालिनवाद को दफना दिया। ख्रुश्चेव के पतन के बाद स्टालिनवाद का शनैः शनैः किन्तु सीमित रूप में फिर पुनरुत्थान किया जा रहा है।

स्टालिन युग के पहले तथा बाद में स्टालिन के विचारों की लोकप्रियता कम होने के कई कारण हैं। स्टालिन ने स्वयं को सदैव लेनिन का सहायक समझा। इसलिये लेनिनवाद के समक्ष स्टालिनवाद फीका सा लगता था। इसके अतिरिक्त

34 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, pp 511-13

स्टालिन ने अपने शासन काल में कुछ ऐसे अधिनायकवादी, हिंसात्मक, अनैतिक साधनों का प्रयोग किया जिनके कारण स्टालिन लोकप्रिय न हो सका।

स्टालिन ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद को एक कदम और आगे बढाया। सैद्धान्तिक दृष्टि से स्टालिन लेनिन की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी थे। 'एक ही देश में समाजवाद तथा 'राज्य के लोप' के विषय में स्टालिन अधिक स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत रूस में पचवर्षीय योजनाओ का निर्देशन, कृषि का सामूहीकरण रूस को 1936 में नवीन सविधान देने तथा द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त रूस को एक महा शक्ति का स्तर प्रदान करने में एक निष्पक्ष पर्यवेक्षक स्टालिन के योगदान की अवहेलना नहीं कर सकता। खुश्चेव के शासन काल से स्टालिन के विरुद्ध अभियान चलाने के बावजूद भी स्टालिन से साम्यवाद को जो सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक स्वरूप दिया आज के सभी साम्यवादी उनके इस योगदान को स्वीकार करते है।

साम्यवादी विचारधारा में निकिता ख्रुश्चेव (Nikita Khruschev) का योगदान

स्टालिन की मृत्यु के कुछ ही समय बाद निकिता ख्रुश्चेव ने रूस में अपनी स्थिति सुदृढ करली। राजनीतिक विरोधियों को मार्ग से हटाकर सरकार और साम्यवादी दल दोनों का नेतृत्व ख्रुश्चेव ने अपने में केन्द्रित कर लिया। लगभग एक दशक तक रूस पर इनका एकछत्र प्रभुत्व रहा। रूस की आन्तरिक दशा, अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति तथा रूस-चीन के सैद्धान्तिक मतभेदों के सन्दर्भ में इन्होंने साम्यवाद के कुछ पक्षों का नया विवेचन प्रस्तुत किया, जिसे रूस का शासक और दलीय वर्ग आज भी मान्यता देता है। ख्रुश्चेव का साम्यवादी विवेचन निम्नलिखित सिद्धान्तों के विषय में है:—

(1) व्यक्ति-पूजा (Cult of personality) का विरोध तथा सामूहिक नेतृत्व (Collective leadership) का समर्थन

1956 में सोवियत साम्यवादी दल के बीसवें अधिवेशन से ख्रुश्चेव ने स्टालिन की निन्दा करना प्रारम्भ किया। उन्होंने स्टालिन पर व्यक्ति-पूजा, व्यक्तिगत तानाशाही स्थापित करने का आरोप लगाया। ख्रुश्चेव ने कहा कि यह मार्क्सवाद-लेनिनवाद की भावना के विरुद्ध है कि किसी व्यक्ति को देवता की तरह ऊँचा उठाकर दल और जनता की सफलता का सारा श्रेय एक ही व्यक्ति को दे दिया जाय। व्यक्ति-पूजा के स्थान पर ख्रुश्चेव ने सामूहिक नेतृत्व का समर्थन किया।

ख्रुश्चेव ने स्टालिन-पूजा का विरोध किया, लेकिन अपने कार्यकाल में वे स्वयं भी इस ओर बढ़ते हुए प्रतीत होते थे। उनके उत्तराधिकारी ब्रेजनेव, कोसीगिन तथा पादगोर्नी आदि ने ख्रुश्चेव को पदच्युत करते समय भी यही आरोप लगाया कि वे अपनी व्यक्ति-पूजा को प्रोत्साहन दे रहे थे।

युद्ध का विरोध

मार्क्सवाद-लेनिनवाद वर्ग संघर्ष तथा विश्व में पूंजीवादी और साम्यवादी राज्यों के मध्य युद्ध की अनिवार्यता को स्वीकार करता है। ख्रुश्चेव ने युद्ध की अनिवार्यता का समर्थन नहीं किया। उनके अनुसार परमाणु युग में युद्ध असम्भव है। बड़ी शक्तियों में अब जो भी युद्ध होगा वह परमाणु प्रस्त शस्त्रों से ही होगा। इस युद्ध में विश्व का सर्वनाश होगा तथा न कोई विजेता होगा न पराजित। इस स्थिति में युद्ध से साम्यवादी विस्तार नहीं हो सकता। विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय वर्ग-युद्ध साम्यवाद प्रसार के साधन के रूप में अब व्यावहारिक नहीं रहा।

एक अन्य तर्क देते हुए ख्रुश्चेव ने कहा कि युद्ध से सामान्यतः श्रमिक वर्ग की ही हानि होती है चाहे वे पूँजीवादी या साम्यवादी राज्यों में रहते हों। युद्ध का पूंजीपतियों पर नहीं श्रमिकों के जीवन और जीवन स्तर पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। युद्ध का समर्थन करना श्रमिकों के हितों का विरोध करना है। –

इसके अलावा साम्यवाद ने अभी तक जो प्रगति की है, इसका जो विस्तार हुआ है विश्व युद्ध से यह भी समाप्त हो जायगा। अत, ख्रुश्चेव के अनुसार, साम्यवादी राज्यों को अपनी शक्ति सगठित करनी चाहिए ताकि यदि भविष्य में उन्हें युद्ध का सामना करना पड़े तो वे उसका डटकर मुकाबला करें।

शान्तिपूर्ण एवं ससदीय साधनों का समर्थन

मार्क्स, लेनिन स्टालिन सभी का विश्वास था कि किसी देश में सशस्त्र क्रान्ति के बिना समाजवादी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। ख्रुश्चेव के अनुसार रूस में अक्टूबर क्रान्ति उन ऐतिहासिक परिस्थितियों में एक मात्र मार्ग था अब विश्व स्थिति में आमूल परिवर्तन हो चुके हैं। विभिन्न देशों में साम्यवादियों की सख्या में वृद्धि हुई है किन्तु वे इतने सबल नहीं हैं कि शक्ति द्वारा सत्ता ग्रहण कर लें। उनके शांति के प्रति जोश में भी उतार आया है। अब इस बात की सम्भावना अधिक बढ़ गई है कि मजदूर वर्ग शान्तिपूर्ण तथा संसदीय मार्ग से राज्य की शक्ति पर अपना अधिकार कर लें।[35] सभवत 1957 में केरल में आम चुनावों के बाद साम्यवादी दल सत्ता में आया इसने ख्रुश्चेव की इस धारणा को प्रोत्साहित किया हो। आज-कल साम्यवादी इस तत्व से और भी प्रभावित हुए होंगे कि लेटिन अमरीकी राज्य चिली में राष्ट्पति सेल्वाडोर ऐलन्डे (Salvador Allende) के नेतृत्व में 1971 में चुनावों के माध्यम से साम्यवादी सत्ता में आ गये थे। इससे ख्रुश्चेव सिद्धान्त को और भी बल मिला।

रूस और यूगोस्लाविया सम्बन्ध

समाजवाद के कई मार्ग (Many ways of socialism) का सिद्धांत—

35 Lowenthal Richard, World Communism pp 24-25

पूर्वी यूरोप के राज्यों का साम्यवादीकरण के साथ-साथ उनका सोवियतकरण (Sovietization) भी किया गया। इन राज्यों की दलीय एवं शासन व्यवस्था रूस की प्रणाली पर ही आधारित है। किन्तु मार्शल टीटो (Marshal Tito) के नेतृत्व में यूगोस्लाविया रूसी नियन्त्रण से निकल गया। यूगोस्लाविया ने मार्शल टीटो के नेतृत्व में जो साम्यवादी व्यवस्था अपनाई है वह रूस से कुछ दृष्टि से भिन्न है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यूगोस्लाविया रूस का पिछलग्गुआ नहीं है। वह रूस के सैनिक संगठन का भी सदस्य नहीं है। वह एक प्रमुख तटस्थ राज्य है जो सभी के साथ, जिनमें पूँजीवादी राज्य भी सम्मिलित हैं, अपने सम्बन्ध अच्छे रखना चाहता है।

स्टालिन ने यूगोस्लाविया के साम्यवाद और मार्शल टीटो को सदैव ही घृणा की दृष्टि से देखा। दोनों देशों के आपसी सम्बन्ध भी ठीक नहीं थे। निकिता ख्रुश्चेव यूगोस्लाविया के साथ अपने सम्बन्ध सुधारने का प्रयत्न किया। इसी सन्दर्भ में ख्रुश्चेव ने यह स्वीकार किया कि साम्यवाद की प्राप्ति के लिये रूसी प्रणाली ही एकमात्र मार्ग नहीं है। अन्य समाजवादी प्रणालियों से भी साम्यवाद की उपलब्धि हो सकती है। इस प्रकार साम्यवाद के कई या विभिन्न मार्गों के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया।

साम्राज्यवाद का बदलता स्वरूप :

सह-अस्तित्व (Co-existence) का समर्थन

ख्रुश्चेव के विचार से पूँजीवादी-साम्राज्यवादी राज्यों की प्रकृति में भी परिवर्तन हुआ है। अब अमरीका जैसी महाशक्ति साम्यवादी राज्यों की असीमित शक्ति से परिचित है। वे भी युद्ध की व्यापकता और विभीषिका से डरने लगे हैं तथा शान्ति के इच्छुक हैं। साम्यवाद, मानववाद और शान्ति पर आधारित है। अतः युद्ध से बचने, तथा साम्यवादी राज्यों में आर्थिक प्रगति को और अधिक गति प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि साम्राज्यवादी राज्यों के प्रति नीति में कुछ परिवर्तन किया जाय। विकल्प रूप में ख्रुश्चेव ने सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का समर्थन किया। साम्राज्यवादी–पूँजीवादी राज्यों के साथ साम्यवादी राज्यों का सह-अस्तित्व हो सकता है, किन्तु उन्हें आर्थिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धा करनी चाहिए। जो भी व्यवस्था ठीक होगी विश्व के राज्य उसे स्वीकार कर लेंगे। यदि साम्यवादी राज्य स्वयं अच्छा आदर्श प्रस्तुत करते हैं तो ख्रुश्चेव का विश्वास था कि इस प्रतियोगिता में साम्यवादी राज्य पूँजीवादी-साम्राज्यवादी राज्यों को परास्त कर देंगे।

असंलग्नता (Non-alignment) की नीति का समर्थन

द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् धीरे-धीरे एशिया और अफ्रीका में नये-नये स्वतन्त्र राज्यों का प्रादुर्भाव होने लगा तथा उनकी संख्या में वृद्धि होने लगी। कुछ ही राज्यों को छोड़ कर लगभग सभी राज्यों ने असंलग्नता की नीति अपनाई। वे अमरीकी या सोवियत सैनिक गुट में सम्मिलित नहीं होना चाहते थे। वैसे साम्यवादी सिद्धान्ततः

पूंजीवाद और सवहारा राज्यों के अलावा तटस्थ राज्यों को स्वीकार नहीं करते क्योंकि इससे पूंजीवादी और सवहारा राज्यों के मध्य संघर्ष में ढिलाई आयेगी। किंतु परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में ख्रुश्चेव का कहना था कि अब उन्हें यह नीति छोड़ देनी चाहिये कि जो साम्यवादियों के साथ नहीं है वह उनका शत्रु है। उनका यह प्रयत्न होना चाहिये कि तटस्थ राज्य कम से कम पूंजीवादी खेमे में सम्मिलित न हो जाय।

तटस्थ राज्यों की अधिक संख्या जिसका संयुक्त राष्ट्र में मतदान के समय महत्व को ध्यान में रखते हुए अविकसित अफ्रीकी ऐशियायी राज्यों में साम्यवाद के शांतिपूर्ण प्रसार के अच्छे अवसर अपने आर्थिक हितों तथा इन्हें अपने प्रभाव क्षेत्र (Sphere of influence) में लेने के लिए ख्रुश्चेव ने तटस्थ राज्यों की नीतियों को मान्यता तथा सहायता देने का प्रबल समर्थन किया। इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति लेनिन के समय में नहीं थी तथा स्तालिन के अंतिम वर्षों में थोड़ा बहुत अभ्युदय हो चुका था। किन्तु इन नवीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में निकिता ख्रुश्चेव ने *असंलग्न राज्यों के महत्व को जिस तरह स्वीकार किया उससे मार्क्सवाद लेनिनवाद* के सैद्धांतिक पक्ष को ही बल नहीं मिला इसने रूस के राष्ट्रीय हितों को भी संरक्षण प्रदान किया।

ब्रेजनेव सिद्धांत (The Brezhnyov Doctrine)

1964 में निकिता ख्रुश्चेव के पतन के उपरान्त रूस का शासन सामूहिक नेतृत्व ने सम्हाला। इसमें लियोनाइड ब्रेजनेव (L I Brezhnyov) सोवियत साम्यवादी दल के महामन्त्री होने के नाते कुछ अधिक शक्तिशाली बनते जा रहे हैं। इन्होंने समय समय पर विशेष परिस्थितियों के परिप्रेक्ष में कुछ सैद्धान्तिक विचार प्रकट किये हैं जिन्हें साम्यवादी महत्व देते हैं।

ब्रेजनेव का तथाकथित योगदान सिर्फ अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के विषय में है। 1968 में चेकोस्लावाकिया में रूस विरोधी विद्रोह हुआ। सोवियत सेना ने इस विद्रोह का पूर्ण दमन किया। रूसी हस्तक्षेप की विश्व में काफी भर्त्सना भी की गई। ब्रेजनेव ने रूसी हस्तक्षेप को सही बतलाते हुए निम्नलिखित दो बातों को स्पष्ट किया—

प्रथम जितने भी समाजवादी (पूर्वी यूरोप के साम्यवादी राज्य और रूस के विशेष सन्दर्भ में) राज्य हैं उनकी सम्प्रभुता पारस्परिक व्यवहार में सीमित है। आपसी सम्बन्धों में इनमें से कोई भी राज्य पूर्ण सम्प्रभुता का दावा नहीं कर सकता। सभी की सम्प्रभुता सीमित रहती है।

द्वितीय इनमें से किसी भी राज्य की साम्यवादी प्रणाली को यदि आन्तरिक या बाह्य खतरा उत्पन्न होता है तो समाजवादी व्यवस्था की रक्षा के लिए अन्य समाजवादी राज्यों को हस्तक्षेप करने का अधिकार है।

यही ब्रेजनेव सिद्धान्त है। यूगोस्लाविया, अलबानिया, रूमानिया ने इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया है, फिर भी इससे रूसी नेताओं का अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के बेध्य में वर्तमान दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। व्यवहार में रूस ने द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त सदैव ही पूर्वी यूरोप के राज्यों को उपनिवेशों की तरह समझा है किन्तु ब्रेजनेव का योगदान इसमें है कि उन्होने इस तथ्य को एक सैद्धान्तिक आवरण पहना कर हस्तक्षेप को ग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया।

माओवाद (Maoism)

जीवनी

माओ त्से-तुंग का जन्म 26 दिसम्बर 1893 में हयूनान प्रान्त के एक गांव में हुआ। 1911 में मंचू क्रान्ति के बाद माओ ने लगभग छः माह तक सैनिक सेवा की। इस अल्पकालीन सैनिक सेवा ने माओ के सैनिक दर्शन को उभारने का अवसर दिया। 1918 में माओ ने एक शिक्षक महाविद्यालय से स्नातक परीक्षा पास की। कुछ समय के लिये इन्होने पीकिंग विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी में एक छोटे से पद पर कार्य किया। 1922-23 में माओ हयूनान प्रान्त में एक प्राथमिक शाला के प्रिन्सिपल रहे।

1920-21 में चेन तू-शिन (Chen Tu-hsin) के प्रयासों एवं पहल करने से जिस साम्यवादी समर्थकों का सम्मेलन आयोजित किया गया तथा चीन के साम्यवादी दल की स्थापना हुई, माओ त्से-तुंग उसके संस्थापकों में से एक थे। 1927 में हयूनान क्रान्ति में माओ ने सक्रिय भाग लिया। इसी वर्ष माओ ने सुप्रसिद्ध चीनी सेनापति चू तेह (Chu Teh) के साथ किआगसी में लाल सेना (Red Army) और सोवियत सरकार की स्थापना की। यहाँ से माओ त्से-तुंग का ध्यान भूमि सुधार की ओर गया जो आगे चल कर कृषक साम्यवाद का एक तत्व बन गया।

धीरे-धीरे माओ त्से-तुंग साम्यवादी दल के अग्रणीय नेता बनते जा रहे थे तथा उनके क्रान्तिकारी गतिविधियों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। इस समय चीन की स्थिति अति दयनीय थी। आन्तरिक विघटन के साथ-साथ जापान निरन्तर चीन पर अपना दबाव बढ़ाता जा रहा था। 1934 में माओ ने अपने साथियों द्वारा किआगसी से येन्सी तक लगभग तीन हजार मील की क्रान्ति यात्रा की। इस यात्रा के दौरान माओ की प्रथम पत्नी की मृत्यु हुई। इस लम्बी क्रान्ति यात्रा के उपरान्त माओ त्से-तुंग चीन में साम्यवादी आन्दोलन एक छत्र नेतृत्व इनके हाथों में आ गया। 1939 में माओ ने शंघाई की एक अभिनेत्री चियांग चो से अपना चौथा विवाह किया।

आन्तरिक दृष्टि से चीन इस समय दो खेमों में विभाजित था। प्रथम, राष्ट्रवादी जिनका नेतृत्व चांग काई-शेक कर रहे थे, तथा जिनका शासन पर अधिकार था। द्वितीय, साम्यवादी क्रान्तिकारी जिनका नेतृत्व माओ कर रहे थे। चीन पर

जापान का आक्रमण तथा द्वितीय विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि में राष्ट्रवादियों एवं साम्यवादियों के सहयोग में कई उतार चढ़ाव आये किन्तु इनमें हृदय से सहयोग कभी स्थापित नहीं हो सका।

अक्टूबर 1949 में माओ त्से-तुंग के नेतृत्व में चीन में साम्यवादी शासन की प्रस्थापना हुई। 1949 से 1959 तक माओ त्से तुंग चीन के राजाध्यक्ष रहे। अब वे सार्वजनिक जीवन अलग रह कर केवल साम्यवादी दल के अध्यक्ष के रूप में शासन व्यवस्था के लिए निर्देश देते रहते हैं तथा राजनीति के दाव पेच प्रदर्शित करते रहते हैं।

माओ त्से-तुंग के विचारों को माओवाद (Maoism) की संज्ञा दी गई है क्योंकि माओ समर्थक यह मानते हैं कि उनके विचारों से मार्क्सवाद-लेनिनवाद में अभिवृद्धि के साथ साथ चीन की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष में नये साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। माओवाद की सामग्री माओ द्वारा लिखे गये निबन्धों, ग्रंथों तथा समय समय पर दिये गये भाषणों में मिलती है। माओ के कुछ प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित हैं —

New Democracy, 1940, On Coalition Government, 1945;
The Present Position and the Task Ahead, 1947,
The People's Democratic Dictatorship, 1949

माओ त्से-तुंग के सम्पूर्ण विचारों का संग्रह Mao's Selected Works में मिलता है जिनका समय समय पर प्रकाशन हुआ है। चीन में माओ के विचार (Thought of Mao Tse-tung) साम्यवादी दल के लिए विचार एवं कार्य के लिए प्रेरणा प्रदान करते हैं। 'सांस्कृतिक क्रांति' के समय माओ के विचारों की 'लाल पुस्तक' (Red Book) तथा माओ के कथन बड़े लोकप्रिय हुए। माओवाद चीन की एक मात्र साम्यवादी विचारधारा है।

माओवाद की पृष्ठभूमि एवं प्रादुर्भाव

प्राचीन काल से चीन की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था के विकास में विभिन्नता और विरोधाभास का क्रम रहा है। चीन की परम्परा में आदर्शवादी, साम्राज्यवादी, पूंजीवादी, समाजवादी आदि विचारधाराओं का समय-समय पर प्रतिपादन हुआ है। वास्तव में चीन की परम्परा से किसी भी व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो सकता था। इसलिए चीन में साम्यवाद तथा माओवाद के विभिन्न पक्षों का विकास होना कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। चीन में साम्यवादी व्यवहार के स्रोतों को आसानी से खोजा जा सकता है।

चीनी साम्यवाद की उग्रता, विस्तारवादिता, राष्ट्रीय मद चीन में प्राचीन काल से ही विद्यमान थे। प्राचीनकाल में चीन के लोग अपने देश को 'मध्य साम्राज्य' (Middle Kingdom) कहते थे। उनका विश्वास था कि अन्य

आस पास के देशों को चीन के प्रभाव क्षेत्र में रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त चीन के लोगों मे अपने विचार, व्यवहार, जीवन-पद्धति, संस्कृति आदि की श्रेष्ठता मे पूर्ण विश्वास रहा है। माओवाद इन सभी विशेषताओं का समन्वय है।

चीन मे ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी मे शांग यांग (Shang Yang) का दर्शन कन्फ्यूशियस के विरुद्ध था। इस दर्शन ने राज्य की निरकुशता, देश की व्यवस्था मे एकरूपता, शिक्षा का केन्द्रीकरण, साहित्य पर नियन्त्रण आदि का समर्थन किया था। चीनी साम्यवाद इन सभी का पालन कर रहा है।

चीन के इतिहास के प्रारम्भ मे, जब चीन का नाम चीन नही मध्य साम्राज्य (Middle Kingdom) था, कई छोटे-छोटे नगर राज्य निरकुश शासकों के अधीन थे। इस युग मे 'दर्शन के सैकड़ो सम्प्रदाय' (Hundred Schools of Phylosophy) नामक विचार प्रचलन मे था जिसके द्वारा मनुष्य और समाज तथा मनुष्य और ब्रह्माड के सम्बन्धो पर प्रकाश डाला गया था। माओ त्से-तुंग का 'सैकड़ो फूलों तथा सैकड़ों विचार सम्प्रदायों' वाला सिद्धान्त उपर्युक्त मध्ययुगीय विचार पर आधारित था।

माओ त्से-तुंग का 'नवीन लोकतन्त्र' (New Democracy) का सिद्धान्त वाग माग साम्राज्य (Wang Mang, 9–23 A. D.) के विचार 'नवीन राजवंश' (New Dynasty) से ग्रहण किया गया था। 'नवीन राजवंश' का विचार था कि सम्पूर्ण भूमि पर राज्य का अधिकार है, कृषकों से कम लगान लिया जाय, कृषकों को कम व्याज पर ऋण दिया जाय, तथा उत्पादन के कई पक्षों पर राज्य का एकाधिकार होना आदि।

माओ त्से-तुंग के सैनिक विचार और सामरिक चाले आदि चीन के लिए कोई नया विचार नही है। कन्फ्यूशियस के समकालीन सुन त्जू (Sun Tzu) ने कई सामरिक चालों का प्रतिपादन किया। उदाहरणार्थ सुन त्जू ने कहा था "युद्ध करके विजय प्राप्त करना कोई महान् बात नही है, महानता इसमे है कि बिना युद्ध किए ही शत्रु के सामर्थ्य को नष्ट कर दिया जाय। स्वयं का और शत्रु का सही मूल्यांकन करो तो तुम्हे सैकड़ो युद्धों मे भी पराजय का मुँह नही देखना पड़ेगा।"[36] इसी प्रकार माओ त्से-तुंग के समकालीन प्रसिद्ध सेनापति चू तेह (Chu Teh) की सामरिक नीति और सैनिक चालों को माओ ने ग्रहण किया है।

चीन मे साम्यवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव रूस मे साम्यवादी क्रान्ति के बाद हुआ था। 1919 मे चीन के साम्यवादी प्रवर्तक चेन तू-शिन ने रूस में सस्थापित तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय (Third International or Comintern) से चीन का सम्पर्क स्थापित किया। 1920 मे एक व्यक्ति श्री मालिग तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय के प्रतिनिधि रूप मे शंघाई आये और समाजवादी दल की स्थापना का प्रबन्ध किया। तदुपरांत

36 Quoted, Clubb., Edmund , 20th Centuy China, p. 306.

चेन तू-शिन ने साम्यवादी समर्थकों का एक सम्मेलन आयोजित किया तथा मई 1920 में चीन में साम्यवादी दल का प्रादुर्भाव हुआ। चेन तू-शिन नये दल के अध्यक्ष चुने गये तथा माओ त्से-तुंग दल के एक प्रमुख सदस्य थे लेकिन धीरे-धीरे माओ त्से-तुंग इसके अग्रणीय नेता बन गये।

चीन में साम्यवादी आन्दोलन पर मार्क्सवाद तथा रूसी साम्यवाद का प्रभाव था। माओ त्से-तुंग ने स्वयं ही अपने साम्यवाद पर मार्क्स-लेनिन-स्टालिन के प्रभाव को स्वीकार किया है किन्तु माओवाद या चीनी साम्यवाद मुख्यतः चीन की उपज अधिक है। एक बार माओ त्से-तुंग ने कहा था—"रूस के इतिहास ने रूस की व्यवस्था को जन्म दिया चीन का इतिहास चीनी व्यवस्था का निर्माण करेगा।" मानो साम्यवादी पहले चीनी हैं बाद में साम्यवादी। माओवाद इस प्रकार राष्ट्रवाद और साम्यवाद दोनों का समन्वय है।

द्वितीय विश्व के अन्त तक चीन में माओ त्से-तुंग और साम्यवाद का व्यापक प्रभाव होता जा रहा था किन्तु माओ त्से-तुंग एक विशिष्ट साम्यवादी चिन्तक के रूप में सामने नहीं आये। सम्भवतः माओ त्से-तुंग स्वयं को एक पृथक् मार्क्सवादी-साम्यवादी टीकाकार के रूप में घोषित कर रूस को नाराज नहीं करना चाहते थे। 1945 में माओ त्से-तुंग को एक विशिष्ट मार्क्सवादी सिद्धान्तकार के रूप में सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया। इस वर्ष ल्यू शाओ ची (बाद में चीन के राजाध्यक्ष, माओ के सम्भावित उत्तराधिकारी किन्तु सांस्कृतिक क्रान्ति में पदच्युत एवं अपमानित) का दावा था कि माओ त्से-तुंग ने चीन में क्रान्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जो साम्यवादी सिद्धान्त शृंखला में एक नवीन विकास है। तभी से चीन का साम्यवादी दल माओ त्से-तुंग के विचारों को एक विशिष्ट साम्यवादी विचारधारा के रूप में प्रचार कर रहा है। चीनी साम्यवादी दल का दावा है कि माओ त्से तुंग ने मार्क्सवाद-साम्यवाद के एक दर्जन से भी अधिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इस समय साम्यवादी सिद्धान्तों की व्याख्या का स्रोत केवल मास्को ही नहीं है, उतने ही अधिकृत रूप में पीकिंग से भी साम्यवादी विचारों का विवेचन होता रहता है। वास्तव में रूस और चीन दोनों ही समानान्तर रूप से साम्यवादी विचारधारा का केन्द्र बन गए हैं।

माओ त्से-तुंग एक मार्क्सवादी दार्शनिक के रूप में

चीन के साम्यवादियों का कहना है कि माओ त्से-तुंग ने मार्क्सवादी दर्शन में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उनके अनुसार माओ ने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में परिवर्तन कर उसे अधिक स्पष्ट किया है। उनका यह दावा माओ त्से-तुंग के दो निबन्धों – On Practice और On Contradiction—पर आधारित है जो माओ ने 1937 में लिखे तथा 1950 और 1952 में क्रमशः प्रकाशित हुए। चीनी साम्यवादी टीकाकारों का मत है कि On Practice (कार्य अथवा प्रयोग) में माओ

त्से-तुंग ने मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त के व्यावहारिक पक्ष का और आगे विकास एवं विस्तार किया है। इस निबन्ध में माओ ने ऐन्जिल्स तथा लेनिन के दो प्रमुख सिद्धान्तों—Principles of Absolute and Relative Truth—को पूर्णत: स्पष्ट किया है।

माओ त्से-तुंग का दूसरा निबन्ध–On Contradiction (परस्पर-विरोध)–के विषय में यह कहा जाता है कि यह लेनिन के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त पर आगे का विकास है जिसमें 'विरोध में एकता' (Unity of opposites), 'आन्तरिक परस्पर-विरोध' (Internal Contradiction) तथा बाह्य आत्मिक तत्वों का विकास पर प्रभाव को स्पष्ट किया है।

माओ त्से-तुंग के इन दोनों दार्शनिक निबन्धों पर मतभेद है। सर्वप्रथम आलोचकों का आक्षेप है कि ये निबन्ध माओ त्से-तुंग द्वारा नहीं लिखे गये हैं क्योंकि माओ के विचारों के प्रारम्भिक संकलन में इनको सम्मिलित नहीं किया गया। सैद्धान्तिक दृष्टि से भी इन निबन्धों की कटु आलोचना की गई है। इन निबन्धों में ऐसी कोई नई बात नहीं है जिसके लिये माओ को इनकी मौलिकता का श्रेय दिया जाय। माओ ने जो कुछ लिखा है वह ऐन्जिल्स तथा लेनिन के विचारों की पुनरावृत्ति ही है।[37]

खेतिहर देश के लिये साम्यवादी क्रान्ति का सिद्धान्त (2)

माओवाद को लेनिनवाद का ही एक ऐसा स्वरूप माना जा सकता है जो खेतिहर देश की परिस्थिति के अनुकूल हो। भूमि की भूख चीन की प्रधान समस्या रही है और माओवाद उसी समस्या का उत्तर है।[38] माओ त्से-तुंग ने अपने विचारों में खेतिहर देशों में साम्यवादी क्रान्ति की सम्भावना पर काफी प्रकाश डाला है। 1927 में चीन के ह्यूनान (Hunan) प्रान्त में कृषकों ने विद्रोह किया था। माओ त्से-तुंग स्वयं इस आन्दोलन का अवलोकन करने ह्यूनान पहुँचे। कृषक विद्रोह के विषय में माओ ने एक प्रतिवेदन-Report of an Investigation into The Peasant Movement in Hunan–तैयार की। वास्तव में यह प्रतिवेदन ही माओ त्से-तुंग का 'खेतिहर देश में क्रान्ति' सिद्धान्त का आधार है। माओ त्से-तुंग ने खेतिहर देश में क्रान्ति के सिद्धान्त में निम्नलिखित विचारों का प्रतिपादन किया है:—

प्रथम, साम्यवादी क्रान्ति औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश, या खेतिहर देश में भी सम्भव है।

द्वितीय, खेतिहर देश में कृषक वर्ग के माध्यम से भी साम्यवादी क्रान्ति लाई जा सकती है।

37. Cohen, A A, How Original is Maoism, in Political Thought Since World War II, edited by W. J Stanklewicz, pp 226-229

38 आशीर्वादम्., राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ 634.

तृतीय, निर्धन कृषक वर्ग एक विश्वसनीय शक्ति है तथा श्रमिक वर्ग का मित्र रहता है।

माओ त्से-तुंग समझता है कि उनके इन विचारों के आधार पर एशिया तथा अफ्रीका के देशों में साम्यवादी क्रान्तियाँ सम्भव हैं क्योंकि इन महाद्वीपों के देश मूलतः खेतिहर ही हैं।

(3) क्रान्ति नीति एवं सामरिक चालें (Communist tactics)

प्रत्येक व्यक्ति जो किसी क्रान्ति का नेतृत्व करता है क्रान्ति को सफल बनाने के लिये कूटनीतियों तथा चालों का निर्माण करता है। इसलिये सामरिक चालें भी क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण अंग बन जाती हैं। माओ त्से तुंग ने चीन की क्रांति के सन्दर्भ में रणनीति एवं चालों का निर्माण किया जो माओवाद का एक आवश्यक पक्ष बन गया है। इस सम्बन्ध में माओ त्से-तुंग ने दो पक्षों का मुख्य विकास किया है। प्रथम देहाती क्षेत्र को क्रान्ति का आत्म निर्भर आधार बनाना, द्वितीय गुरिल्ला युद्ध सम्बन्धी रणनीति एवं चालें।

देहाती क्षेत्र में क्रांति संचालन करने के लिए माओ त्से तुंग का विचार है कि देहाती क्षेत्र में क्रांति की विजय सम्भव है। देहात को एक दीर्घकालीन क्रान्ति का आधार बनाया जा सकता है। जब क्रान्ति लम्बे समय तक चल सकती है तो विजय प्राप्त करने का प्रमुख साधन गुरिल्ला युद्ध ही हो सकता है।

1938 में माओ का निबन्ध 'युद्ध के विस्तार पर' (On Protracted War) का प्रतिपादन चीन तथा जापान के एक दशक से भी अधिक समय तक चलने वाले युद्ध के परिपेक्ष में किया गया था। जापान के साथ युद्ध करने में माओ ने कहा था कि युद्ध को अधिक समय तक अधिक क्षेत्र पर विस्तार करने से जापान अधिक दिन तक नहीं टिक सकेगा। इस सम्बन्ध में माओ ने निम्नलिखित सामरिक चालों का प्रतिपादन किया—प्रथम, शत्रु का आक्रमण तथा चीन द्वारा सामरिक रक्षा, द्वितीय, शत्रु द्वारा रक्षा और चीन द्वारा आक्रमण की तैयारी, तृतीय, चीन द्वारा आक्रमण और शत्रु द्वारा पीछे हटना आदि। साथ ही साथ माओ का कहना था कि युद्ध के समय उस एक क्षण के लिए भी राजनीति से पृथक नहीं किया जा सकता।

(4) युद्ध एवं शक्ति का समर्थन

साम्यवादी क्रान्ति के लिए माओ त्से-तुंग युद्ध तथा शक्ति का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार सत्ता शक्ति से ही प्राप्त हो सकती है (Power comes from the barrel of gun) माओ ने पूँजीवादी दशा की समाप्ति के लिए साम्यवादी राज्यों द्वारा युद्ध की बात कही है यद्यपि यह असम्भव है और असम्भव होती जा रही है। आन्तरिक राजनीति के अतिरिक्त माओ दूसरे देशों के साथ विवाद सुलझाने में युद्ध

एवं शक्ति का प्रयोग एवं प्रदर्शन करते हैं। भारत के साथ 1962 में सीमा विवाद हल करने में माओ ने युद्ध का समर्थन किया। इसी वर्ष क्यूबा संकट के समय रूस द्वारा अमेरिका से युद्ध न करने तथा पीछे हट जाने की चीन ने निन्दा की। जनवरी 1974 में दक्षिण चीन सागर में चीन ने दक्षिण वियतनाम के विरुद्ध पारासेल द्वीपों पर शक्ति द्वारा अधिकार कर लिया।

माओ के विचारों का विशेष महत्व युद्ध और सामरिक क्षेत्र में भी है। उन्होंने साम्यवादी गुरिल्ला युद्ध, रणनीति आदि के विषय में विस्तारपूर्वक विचार व्यक्त किये हैं। वे साम्यवादी दल जो अपनी सरकारों के तख्ते उलटने में या विदेशी प्रभाव से मुक्त होने के लिए संघर्ष कर रहे हैं, उनके लिए माओ के विचारों में खूब सारे सुझाव मिल सकते हैं। युद्ध में आगे बढ़ने, पीछे हटने, शत्रु को धोखा देने, दूसरे राज्यों को अपने साथ मिलाने, विरोधी को विभाजित करने लिए माओवाद में विचारों का अभाव नहीं है।[39]

नवीन लोकतन्त्र या लोकतान्त्रिक तानाशाही 5

साम्यवादी क्रान्ति के उपरान्त चीन में शासन चलाने के लिए माओ त्से-तुंग ने 'नवीन लोकतन्त्र' (New Democracy) के सिद्धान्त को स्वीकार किया। 1940 में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन माओ ने एक छोटी सी पुस्तिका—New Democracy- में किया था। चीन की शासन व्यवस्था चलाने के लिए नवीन लोकतन्त्र के दो सैद्धान्तिक पक्षों को स्वीकार किया गया। प्रथम, जनता के लिए लोकतन्त्र तथा द्वितीय, प्रतिक्रियावादियों के लिए तानाशाही। इन दोनों पक्षों के सम्मिलित रूप को 'लोकतान्त्रिक तानाशाही' (Democratic Dictatorship) का नाम दिया गया।

माओ त्से-तुंग ने लोकतान्त्रिक तानाशाही को सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया है। या, यह कहा जा सकता है कि लोकतान्त्रिक तानाशाही द्वारा माओ ने सर्वहारा अधिनायकत्व को चीन के सन्दर्भ में परिभाषित किया है। सूक्ष्म में लोकतान्त्रिक तानाशाही की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(i) चीन की व्यवस्था को लोकतन्त्र की ओर अग्रसर करना।

(ii) चीन में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करना।

(iii) लोकतान्त्रिक केन्द्रीकरण (Democratic Centralism) की स्थापना करना जिसका तात्पर्य व्यक्तियों को एक सीमा तक स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र का उपभोग करने देना किन्तु साथ ही साथ उन्हें समाजवादी अनुशासन स्वीकार करना चाहिए। शासन व्यवस्था में केन्द्रीय निर्देशों को प्राथमिकता देना आदि।

39 इसे सम्बन्ध में देखिये—
Selected Works of Mao Tse—tung, Lonnon, 1954 Vol. II, deals with Protracted war, Strategic Offensive and Defensive Gorrilla Warfare.

(iv) लोकतान्त्रिक तानाशाही के अन्तर्गत श्रमिक वर्ग (व्यवहार में साम्यवादी दल) के नेतृत्व को स्वीकार करना जो श्रमिक एवं कृषक वर्ग के सहयोग पर आधारित हो। माओ की लोकतान्त्रिक व्यवस्था के विषय में रिचर्ड वाकर ने लिखा है —

> "माओ का लोकतान्त्रिक तानाशाही का सिद्धान्त लेनिन से ग्रहण किया हुआ है जिसमें अन्तर्गत सेना, पुलिस और न्यायालयों की भूमिका के विषय में स्टालिन का व्यवहारवादी दृष्टिकोण भी सम्मिलित है। रूस के अनुभव ने यह बतलाया कि राज्य शक्ति को पूर्णतः नियन्त्रित करने के लिये एकीकृत (या पूर्ण संगठित) दल आवश्यक है।'[40]

लोकतान्त्रिक तानाशाही पूर्णतः लेनिन-स्टालिनवादी व्यवस्था नहीं है। यह व्यवस्था समझौते के सिद्धान्त पर आधारित है। इसका तात्पर्य सर्वहारा वर्ग तथा साम्यवादी दल के तत्वावधान में प्रगतिशील तत्वों का समन्वय करना था। नवीन लोकतान्त्रिक तानाशाही के उद्देश्यों के विषय में माओ त्से-तुंग ने कहा था —

> "इस समय हमारा कार्य जन-शासन व्यवस्था को मजबूत करना है, अन्य शब्दों में, जन-सेना, जनता पुलिस व्यवस्था और जन-न्यायालयों को सुदृढ़ कर राष्ट्रीय सुरक्षा और जनता के हितों को संरक्षण देना है। इन परिस्थितियों के अन्तर्गत सर्वहारा वर्ग और साम्यवादी दल के नेतृत्व में चीन को कृषि देश से औद्योगिक देश में नवीन लोकतन्त्र से समाजवादी व्यवस्था तथा अंतिम रूप में वर्ग-उन्मूलन कर व्यापक सहयोग के आधार पर साम्यवादी समाज की ओर विकास करना है।"[41]

'सैकड़ों फूलों वाला सिद्धान्त' (1955-57) अनेकता में एकता

1949 में चीन के साम्यवादी दल ने एशिया में पराधीन राज्यों की मुक्ति के लिए क्रान्ति का आह्वान किया था। एशिया के राज्यों में इसके विषय में ठीक प्रतिक्रिया नहीं हुई। 1555 में बान्डुंग में अफ्रो एशियायी राज्यों के सम्मेलन में चीन के इस विचार को शंका की दृष्टि से देखा गया। बान्डुंग सम्मेलन का मुख्य विचार 'अनेकता में एकता' (Unity in diversity) था। लगभग इसी समय रूस और यूगोस्लाविया के सम्बन्धों के सन्दर्भ में 'समाजवाद के विभिन्न स्वरूपों' के सिद्धान्त को कार्यान्वित किया जा रहा था। स्वयं रूस में ही स्टालिनवादी दानव को काफी गहरा दफनाने का प्रयत्न जारी था। इसके अतिरिक्त चीन अलग थलग रहने की नीति को त्याग कर आर्थिक कारणों से एशियायी राज्यों से सम्बन्ध बढ़ाने का इच्छुक था। इन परिस्थितियों के सन्दर्भ में माओ त्से-तुंग ने मई 1955 में 'सैकड़ों फूलों' वाले विचार को चीनी जनता के समक्ष रखा। माओ के अनुसार—

40 Walker, Richard, China Under Communism, p 5

41 Mao Tse-tung, People's Democratic Dictatorship, quoted by R C Gupta, Great Political Thinkers, p 87

सैंकड़ों फूलों को खिलने दो,
सैंकड़ों विचार सम्प्रदायों को सन्तुष्ट होने दो।[42]

प्रारम्भ में चीन की जनता ने उस नवीन विचार की ओर शंका की दृष्टि से देखा किन्तु धीरे धीरे गैर साम्यवादी विचार सतह पर आने लगे। आगे चलकर इसने साम्यवाद विरोधी रूप ले लिया। माओ त्से-तुंग नहीं चाहते थे कि आलोचना निश्चित सीमा को पार करे। इसलिए साम्यवादी दल ने साम्यवाद का विरोध करने वालों का उन्मूलन प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार इस नई स्वतन्त्रता का वातावरण छः सप्ताह से अधिक न चल सका। पर्यवेक्षकों का विचार है कि माओ त्से-तुंग का यह नवीन नारा धोखा एवं भ्रमजाल था। माओ त्से-तुंग अपने विरोधियों तथा ईमानदारी से मतभेद रखने वालों से निपटने के लिए विशेष उपाय काम में लेते हैं। 'सैंकड़ों फूलों' वाले वातावरण में माओ त्से-तुंग के विरोधियों को उभरने का अवसर दिया। जब साम्यवाद विरोधी या गैर-साम्यवादी तत्व प्रकट हुए तो उनका उन्मूलन कर दिया गया।

राष्ट्रीय संस्कृति : सांस्कृतिक क्रान्ति

माओ त्से-तुंग का विचार है कि चीन में नवीन साम्यवादी व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने के लिए एक नवीन राष्ट्रीय संस्कृति की आवश्यता है। राष्ट्रीय संस्कृति का तात्पर्य यह नहीं कि इसके अन्तर्गत चीन के राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न पक्षों को प्रतिबिम्बन किया जाय। इसका तात्पर्य, माओ के अनुसार, विश्व साम्यवादी संस्कृति, चीन की नई शासन व्यवस्था तथा चीन की कुछ विशेषताओं को एक नया रूप प्रदान करना है। अन्य शब्दों में, चीन की परम्परागत संस्कृति को साम्यवादी संस्कृति में परिणित करना है।[43] इसके लिये यह आवश्यक होगा कि चीन की परम्परा एवं जन-जीवन से सामन्तवादी, प्रतिक्रियावादी, साम्यवाद विरोधी विचारों एवं व्यवहार को समाप्त किया जाय। माओ त्से-तुंग का उद्देश्य चीन को एक नवीन साम्यवादी जीवन पद्धति (Communistic way of life) प्रदान करना है। नवीन राष्ट्रीय संस्कृति के अन्तर्गत चीन का मानव-मस्तिष्क परिवार, धर्म, सम्पत्ति आदि से प्रभावित न होकर द्वन्द्वात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवादी दर्शन से निर्देशित हो।

इन विचारों की अभिव्यक्ति 1966-1968 में 'सांस्कृतिक-क्रान्ति'[44] (Coltural Revolution) के समय हुई। सांस्कृतिक क्रान्ति को स्पष्ट व्याख्या करना

42 Let a Hundred Flowers Blossom,
Let a Hundred Schools of Thought Contend.
Quoted, Issac Deutscher., Russia China and the West, p. 103.

43. Chou Hsiang-Kuang., Political Thought of China, p. 277.

44. सांस्कृतिक क्रान्ति के अध्ययन के लिये देखिये—
China's Cultural Revolution by Gargi Dutt

असम्भव है। यह सांस्कृतिक क्रान्ति न होकर एक प्रकार से बहुउद्देशीय आन्दोलन था। सम्पूर्ण चीन में लाल रक्षकों (Red Guards) के माध्यम से माओ त्से-तुंग ने अपने कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयास किया। चीनी जनता को माओवाद से पूर्णत परिचित कराया गया, माओवाद से विचलन होने वालों को लकीर पर लाया गया।

सांस्कृतिक क्रान्ति को वास्तव में पाशविक और अराजकतावादी कहा जा सकता था। इस तथाकथित सांस्कृतिक क्रान्ति के द्वारा माओ ने अपने विरोधियों को अपमानित करने, उन्हें उच्च पदों से हटाने का कार्यक्रम बनाया। परिणामस्वरूप माओ त्से-तुंग चीन के राज्याध्यक्ष ल्यू शाओ ची, विदेश मंत्री चेन यी तथा अन्य से छुटकारा पा सके। वैसे विरोध उन्मूलन साम्यवादी व्यवस्था में कोई नया तत्व नहीं है, माओ त्से तुंग ने विरोध उन्मूलन की प्राप्ति धोखे तथा केवल ऊपर से ही अच्छे लगने वाले साधनों द्वारा की।

नवीन अभियान—माओ त्से-तुंग स्थाई और निरन्तर क्रान्ति के समर्थक हैं। अभी तथाकथित सांस्कृतिक क्रान्ति को चार वर्ष भी नहीं हुए थे कि 1973 में एक नवीन अभियान तथा आन्दोलन की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगी। यह नवीन अभियान 1968-69 में नियुक्त माओ के उत्तराधिकारी लिन-पियाओ तथा चीन के सर्वकालीन प्रसिद्ध दार्शनिक कनफ्यूशियस (Confucious, 551 478 B C) के विरुद्ध है। 1971 में लिन पियाओ द्वारा माओ से सत्ता छीनने के प्रयास में रहस्यमयी परिस्थितियों में मृत्यु के बाद चीन के साम्यवादी दल ने लिन पियाओ के विचार एवं समर्थकों को दल एवं चीन की राजनीति से उन्मूलन करना प्रारम्भ किया। किन्तु लिन पियाओ के साथ कनफ्यूशियस के विरुद्ध अभियान को जोड़ने की बात समझ में नहीं आती। यद्यपि कनफ्यूशियस का दर्शन और साम्यवादी विचारधारा एक दूसरे के परस्पर विरोधी हैं किन्तु माओ त्से-तुंग का कनफ्यूशियस के विरुद्ध प्रचार का कोई विशेष कारण प्रतीत नहीं होता। कभी कभी माओ ने भी कनफ्यूशियस के प्रति निष्ठा व्यक्त की है।[45] 1973 के मध्य से लिन-कनफ्यूशियस विरोधी अभियान अब व्यापकता ग्रहण करता आ रहा है। वास्तव में यह आन्दोलन तथाकथित सांस्कृतिक क्रान्ति का ही विस्तार है। सम्भवत माओ त्से-तुंग चीन के विचार क्षितिज पर अकेले ही सूर्य की भांति

---

[45] उदाहरणार्थ माओ त्से-तुंग ने अपनी निम्नलिखित कविता में कन्फ्यूशियस की प्रशंसा की है :—

I care not that the wind blows and the waves beat,
It is better than idly strolling in a countryyard,
It was on a river that the Master said
This is the whole of nature flowing

उपरोक्त कविता की तीसरी पंक्ति में 'Master' शब्द का प्रयोग कन्फ्यूशियस के लिये किया गया है।

Quoted by Frank Moraes, The Sunday Standard, April 7, 1974, p 4.

चमकते रहना चाहते है। वे उन सभी चिन्तक, दार्शनिक जो कभी न कभी चीन में लोकप्रियता और ख्याति अर्जित कर चुके हैं के विचार प्रभाव का उन्मूलन करना चाहते हैं।

कम्यून व्यवस्था (Commune System)

चीन के लोगो मे अपने देश को एक बड़ी शक्ति बनाने की लालसा सदैव रही है। माओ त्से-तुंग में यह महत्वाकांक्षा सम्भवत सबसे अधिक है। माओ के अनुसार देश को शक्तिशाली बनाने के लिये आर्थिक प्रगति अति आवश्यक होती है। चीन मे साम्यवादियो के सत्ता मे आने के पश्चात् ही आर्थिक योजनाए प्रारम्भ की गयी। प्रथम पचवर्षीय योजना (1953-57) से देश की आर्थिक प्रगति तो हुई लेकिन उतनी नही जो चीन को एक आर्थिक आधार प्रदान कर सकती। माओ त्से-तुंग किसी ऐसी योजना को कार्यान्वित करना चाहते थे जिसके द्वारा चीन आर्थिक क्षेत्र मे एक लम्बी छलांग लगाकर पाँच-सात वर्ष मे ही एक पीढी की आर्थिक प्रगति कर आत्म निर्भरता की ओर मार्ग प्रशस्त कर सके।[46]

अपनी आर्थिक योजनाओ पर चीन उस समय रूस पर एक बडी सीमा तक आश्रित था। माओ त्से-तुंग ने नवम्बर 1957 मे रूस की दूसरी बार यात्रा की। आर्थिक सहायता के रूप में चीन को अपनी द्वितीय पचवर्षीय योजना (1958-62) के लिये रूस से कोई विशेष सहायता का आश्वासन नही मिल सका। चीन को अब अपने ही साधनो पर निर्भर रहने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नही रह गया। फलस्वरूप फरवरी 1958 मे राष्ट्रीय जन कांग्रेस (National People's Congress) ने देश के लिये 'लम्बी छलांग' (Big Leap Forward) का आह्वान किया। कुछ ही सप्ताहो मे सम्पूर्ण देश मे आर्थिक गतिविधियो की एक बाढ प्रारम्भ हो गयी। लाखो औद्योगिक एवं कृषि कम्यून (Commune) स्थापित हुए। सर्वप्रथम कृषि कम्यून अप्रैल 1958 मे हॉनान प्रदेश (Honan Province) मे स्थापित किया गया। इसका नाम स्पुतनिक (Sputnik) रखा गया। मई 1958 में साम्यवादी दल को पूर्ण सक्रिय एव सतर्क बनाया गया तथा दल के सदस्यो को आदेश दिया गया कि वे 'लम्बी छलाग' कार्यक्रम को सफल बनाएं। जून के अन्त तक अकेले हॉपाइ प्रान्त (Hopei Province) मे ही लगभग पांच लाख फैक्ट्री और वर्कशाप स्थापित किये गये जिनमे करोड़ों चीनियो को काम पर लगाया गया। अगस्त 1958 से साम्यवादी दल के नेतृत्व ने सम्पूर्ण चीन मे कम्यून प्रणाली की स्थापना करने का आदेश दिया।

कम्यून व्यवस्था को लागू करने के पूर्व चीन मे सामूहिक खेती (Collective Farming) प्रचलित थी। इस कार्य के लिये लगभग 7,40,000 कृषि उत्पादक सहकारी संस्थाएं (Agricultural Producers' Cooperatives) सक्रिय थी। किन्तु

46 चीन मे कम्यून व्यवस्था की पृष्ठभूमि के लिये देखिए–
Dutt, Gargi, Rural Communes of China, pp 1—20.

कम्यून प्रणाली के अन्तर्गत 'जन-स्वामित्व' के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। के सभी कृषि उत्पादक सहकारी सस्थाओ को लगभग 25000 कम्यूनो मे परिवर्तित कर म दिया गया। प्रत्येक कम्यून के अन्तर्गत औसतन 10,000 एकड भूमि तथा 5000 परिवार सम्मिलित किये गये। एक कम्यून पर सामान्यत दस हजार व्यक्तियो को काय पर लगाने का सामान्य प्रावधान है। अन्य शब्दो मे, 'एक एकड़, एक व्यक्ति' का सिद्धान्त लागू किया गया।[47]

1958 म डा एस चन्द्रशेखर तथा उनके कुछ अन्य साथियो ने अपने चीन भ्रमण के समय चगचो (Chengchow) के निकट एक आदर्श कम्यून का अवलोकन किया। यहा साम्यवादी सिद्धान्त—'प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करे तथा प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार मिले'—का प्रयोग किया जा रहा था। यहा कुछ अपवादो को छोड कर मुद्रा विनिमय समाप्त कर दिया गया था। कार्य के उपलक्ष मे यहा प्रत्येक व्यक्ति को निम्नलिखित सोलह गारण्टियाँ (सुविधाए या अधिकार) दी गयी-

1 कपड़ा, 2. भोजन, 3 रहने का स्थान, 4 कार्यस्थल तक आने जाने की सुविधा, 5 प्रसूति सुविधा, 6 बीमारी के समय अवकाश तथा मुफ्त दवा, 7 मुफ्त वृद्धावस्था हिफाजत, 8. मुफ्त अन्त्येष्टि व्यवस्था (जिसके अन्तर्गत मृत व्यक्तियो को को सामान्यत दस फीट की गहराई पर दफनाया जाना है ताकि भूमि के ऊपर खेती हो सके तथा वह स्थान श्मशान बनकर बेकार न हो जाये) 9. मुफ्त शिक्षा, 10 बच्चो का मुफ्त लालन पालन, 11 मुफ्त मनोरजन, 12 विवाह के लिये कुछ अनुदान तथा नवविवाहितो के स्वागत तथा विवाह भोज की मुफ्त व्यवस्था, 13 एक वर्ष म बारह बार बाल कटाने की मुफ्त सुविधा, 14 एक वर्ष मे गर्म जल से बीस बार नहाने की व्यवस्था, 15 कपडे सिलाने की व्यवस्था तथा 16 मुफ्त बिजली।[48] ये सुविधाए उस समय कुछ आदर्श कम्यून व्यवस्थाओ के लिये ही उपलब्ध थी।

कम्यून दिनचर्या का प्रारम्भ प्रात गलियो मे लाउडस्पीकर की आवाज से होता था। यह आवाज व्यक्तियो को जगाने के लिये की जाती थी। आधे घन्टे खुली हवा मे व्यायाम के उपरान्त सामूहिक नाश्ता, तदुपरान्त व्यक्तिया का विभिन्न कार्य समूहो म विभक्त होकर खेत या कारखाने के कार्य पर जाना था। यह आवश्यक नही था कि एक परिवार के सदस्य एक ही समूह मे रहे। दोपहर सभी भोजन के लिये एकत्रित होते थे। यदि कार्य स्थान अधिक दूर है तो वही भोजन भेज दिया जाता था। भोजन मे चावल, मीठे आलू तथा कभी-कभी थोडा मास आदि दिया जाता था भोजन करने के बाद फिर कार्य पर प्रस्थान करना था। सायकाल कक्षाए लगती थी जहा सभी व्यक्तियो को रेडियो तथा अखबारो की खबरें सुनाई जाती थी। उसके उपरान्त सिनेमा या नाटक या सर्कस जैसे कुछ कार्यक्रम प्रस्तुत किय जाते थे।

47 Clubb, Edmund, 20th Century China, p 356, pp 357 58

43 Chandrasbekar, S, and Others, A Decade of Mao's China, pp, 31—32.

अन्त में साम्यवादी दल की बैठक होती थी जिसमें सभी श्रमिक भाग लेते थे। यह दिनचर्या का अन्त था। इसके बाद सभी को आठ घन्टे की निद्रा, विश्राम आवश्यक था।[49]

आलोचना—कम्यून निर्माण कार्य बडी ही जल्दबाजी से किया गया। जुलाई 1958 मे कम्यून कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ तथा लगभग पाच सप्ताह मे ही चीन के बारह करोड ग्रामीण परिवारो को कम्यून प्रणाली के अन्तर्गत लाया गया। इस प्रकार प्रारम्भ मे कम्यून प्रणाली ठीक प्रकार से व्यवस्थित नही हो पाई।

कम्यून प्रणाली के अन्तर्गत मनुष्य से पशु की तरह काम लिया जाता है। मनुष्य की कार्य रुचि का कोई विशेष ध्यान नही रखा जाता। उनसे खेती, कारखाने, पहाडो को तोडना, कोयले की खानो मे कार्य आदि सभी करवाया जाता है। एक कम्यून मे काम करने वाला व्यक्ति एक ही साथ किसान है, श्रमिक है, सैनिक है।[50] इसके अतिरिक्त कम्यून मे काम करने वालो को पर्याप्त विश्राम भी नही मिलता। उन्हे प्रतिदिन 12-14 तथा कभी-कभी 20 घन्टे कार्य करना पडता है। इस परिस्थिति मे जब व्यक्ति को शारीरिक विश्राम का पूर्ण समय नही मिल पाता तब इस प्रकार के व्यक्ति से किसी भी प्रकार का चिन्तन करने की कल्पना व्यर्थ होगी। कम्यून प्रणाली मे कार्य करने वाला व्यक्ति चीनी साम्यवादी नेतृत्व तथा नपी तुली विचारधारा के पीछे अन्धी भेड चाल चलने तथा अनुकरण करने वाला व्यक्ति ही बन सकता है और वास्तव मे चीनी साम्यवादी ऐसे ही स्तर का व्यक्ति चाहते है। वही उनकी योजना और कल्पना मे फिट हो सकता है।

कम्यून प्रणाली मानव प्रवृत्ति के प्रतिकूल है। परिवार तथा सम्पत्ति अर्जन मानव से स्वभावतः सम्बद्ध है। कम्यून-जीवन परिवार प्रथा तथा सम्पत्ति संस्था का उन्मूलन है। साम्यवाद, राष्ट्रवाद, आदि के प्रचार द्वारा मनुष्य के मस्तिष्क की सफाई द्वारा विचार परिवर्तन कर उसे कम्यून जीवन के उपयुक्त बनाया जाता है। उसका स्वयं का कोई व्यक्तित्व नही रहता। मनुष्य की मनोवृत्ति फिर भी विद्रोह कर दे तो शक्ति का प्रदर्शन उसे कम्यून साचे मे ढालने के लिये पर्याप्त है। यदि मनुष्य को थोड़ा भी स्वतन्त्र वातावरण प्रदान किया जाय तो वह इस प्रकार के कठोर, नियन्त्रित समूहवादी जीवन मे कभी भी रहना पसन्द नही करेगा।

आर्थिक प्रगति एव पहल (initiative) के लिये व्यक्ति को थोडा बहुत प्रोत्साहन भी आवश्यक है। यह प्रोत्साहन उसे कुछ उचित लाभाश या अपने उत्पादन का कुछ भाग देकर भी दिया जा सकता है। कम्यून प्रणाली मे प्रोत्साहन और लाभांश आदि पर कोई ध्यान नही दिया गया। परिणामस्वरूप साग-सब्जी उत्पादन तथा

49. Ibid, p. 31.
50. Clark, Gerald, Impatient China: Red China Today, p 91.

मास की पूर्ति मे काफी कमी आयी। कहीं-कहीं व्यक्तियो ने अपने उत्पादन को छुपा कर रखना प्रारम्भ कर दिया।

कम्यून प्रणाली का रूस तथा चीन के प्रारम्भिक मतभेदो मे वृद्धि करने मे भी योगदान रहा है। रूस के साम्यवादी बुद्धिजीवियो तथा दल के नेतृत्व ने चीनी कम्यून व्यवस्था को अव्यावहारिक एव बेहूदा कहा है। उनका विचार है कि रूस मे जब यह प्रणाली असफल रही फिर चीन म सफल होना सदिग्ध है।

चीन के साम्यवादी नेतृत्व ने कम्यून प्रणाली की त्रुटियो का अध्ययन किया है तथा जहा तक सम्भव हो सका है उसमे थोडा बहुत परिवर्तन कर उसे अधिक व्यावहारिक बनाने का प्रयत्न किया। किन्तु अब यह निश्चित है कि कम्यून प्रणाली चीन की आर्थिक व्यवस्था का एक प्रमुख आधार है। इस समय चीन मे लगभग 80000 कम्यून ग्रामीण क्षेत्र मे हैं। इनके द्वारा वहा के उत्पादन म काफी वृद्धि हुई है।

चीन के साम्यवादी दल को अपनी कम्यून व्यवस्था पर बडा गर्व है। उनका विश्वास है कि यह व्यवस्था जो रूस म सफल नहीं हो सकी चीन इस इस क्षेत्र म रूस से कहीं आगे बढ गया है। अधिक से अधिक जनसख्या को कम्यून प्रणाली क अन्तर्गत लाने मे उनकी कल्पना है कि सम्पूर्ण देश को एक वृहद् कम्यून बनाया जाय।

कम्यून व्यवस्था क माध्यम मे चीनी साम्यवादी कुछ दूरगामी राजनीतिक उद्देश्यो की प्राप्ति करना चाहते ह। उनका विचार है कि यदि सभी सैनिक लोग सामूहिक भोजन करेंगे, उनके बच्चों का पालन बाल-गृहो म उन द्वारा पालन किया जायेगा इससे परम्परागत परिवार प्रणाली अधिक दिनो तक जीवित नही रह सकेगी तथा व्यक्तियो की श्रद्धा तथा प्रेम को आकर्षित करने वाली सबसे महत्वपूर्ण कठोर कडी एव केन्द्र समाप्त हो जायेगा। ऐसे नागरिक साम्यवादी व्यवस्था के अधिक अनुकूल होंगे तथा शुद्ध मार्क्सवादी आदर्श साम्यवादी समाज की उपलब्धि म सहायक होग।

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद

माओ त्से-तु ग के साम्यवादी विचार राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय दोनो ही हैं। उन्होने प्राचीन चीन की गरिमा एव अहम् तथा साम्यवादी उग्रता का समन्वय किया है। वे किसी भी राज्य के अन्तगत चीन की स्थिति स्वीकार नही कर सकते। इसलिए वे एक साम्यवादी महाशक्ति रूस से सैद्धान्तिक एव राजनीतिक लोहा ले रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र म माओ विश्व साम्यवाद म भी विश्वास रखते हैं। वे चीन मे साम्यवादी क्रान्ति को विश्व क्रान्ति का ही एक अ ग मानते हैं। साम्यवादी चीन के प्रसार कई राज्यो मे वहा की सरकारो के विरुद्ध विद्रोह का आह्वान करते हैं। इनके विचारो के ही कारण विश्व के लगभग सभी राज्यों म चीन समर्थित साम्यवादी दल है। माओ त्से-तु ग के साम्यवादी विचार का प्रमुख केन्द्र एशिया है। इस विचार की

अभिव्यक्ति, सम्भवतः माम्रो रचित वह कविता, जिसका शीर्षक—East is Red-है, से होता है, जिसे चीन द्वारा भेजा गया अन्तरिक्ष यान निरन्तर प्रसारित कर रहा था।

माम्रोवाद का मूल्यांकन

चीन के अतिरिक्त विश्व के कई भागो मे माम्रोवाद के समर्थक है। वे माम्रोवाद को मार्क्सवाद-लेनिनवाद-स्टालिनवाद के आगे की एक कड़ी मानते हैं। किन्तु माम्रो त्से-तुंग को एक उच्च कोटि के राजनीतिक चिन्तक की श्रेणी मे नहीं लिया जा सकता। उनके विचारो मे राजनीतिक दर्शन जैसी कोई बात नही है। उनका चिन्तन कुछ व्यावहारिक विचार, कुछ नये साम्यवादी शब्दावली, कुछ वयोवृद्ध जैसी शिक्षाओ का संकलन है।

माम्रोवाद के समर्थको का यह दावा भी संदिग्ध है कि माम्रो ने मार्क्सवादी विचारधारा को महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। वास्तव मे माम्रोवाद मे मौलिकता का अभाव है। माम्रो त्से-तुंग ने जो कुछ भी कहा है उसका अधिकाश भाग चीन मे विचार या व्यवहार के क्षेत्र मे पहले ही व्यक्त किया जा चुका है। माम्रो त्से-तुंग ने उन्हें या तो मार्क्सवादी आवरण पहना दिया है या चीन की नवीन परिस्थितियो के अनुकूल उनका विवेचन प्रस्तुत किया है।

एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ और नेतृत्व की दृष्टि से माम्रो त्से-तुंग सफलतम व्यक्ति कहे जा सकते है। चीन मे साम्यवादी क्रान्ति का संगठन करना; विश्व के सबसे बड़े जनसख्या वाले देश मे साम्यवादी क्रान्ति को सफल बनाना, तदुपरान्त चीन को एक महाशक्ति के स्तर तक लाना, सम्पूर्ण देश को अपने अंगूठे के नीचे दवा कर रखना और इस प्रकार लगभग आधी शताब्दी तक चीन पर एक छत्र की भाति छाये रहना किसी असाधारण व्यक्ति का ही कार्य हो सकता है। चीन मे माम्रो त्से-तुंग का वही स्थान रहेगा जो रूस मे लेनिन का है।

साम्यवाद के अन्य प्रमुख पक्ष

लेनिनवाद, स्टालिनवाद, माम्रोवाद आदि के अध्ययन से साम्यवाद के कुछ विशिष्ट सिद्धान्त स्पष्ट हो जाते हैं। किन्तु साम्यवाद के कुछ अन्य सामान्य पक्ष भी हैं जो काफी महत्त्वपूर्ण है। अगले पृष्ठो मे साम्यवाद के कुछ और प्रमुख पक्षों का विवेचन प्रस्तुत है।

साम्यवादी साधन: क्रान्ति एवं शक्ति राजनीति

सम्पूर्ण साम्यवादी व्यवस्था का केन्द्र शक्ति है। प्रारम्भ से लेकर जब तक वर्ग विहीन और राज्य विहीन साम्यवाद की स्थापना नही हो जाती, जो कोरी कल्पना है, साम्यवादी विचारधारा क्रान्ति एव शक्ति–साधनो पर आधारित है। पूंजीवर्ग और सर्वहारा वर्ग मे शक्ति संघर्ष आदि का आधार शक्ति ही है। पूंजीवादी ढांचे का उन्मूलन करने के लिए सभी रक्तपात तथा क्रान्ति मे विश्वास करते हैं।

साम्यवादी घोषणा पत्र की अन्तिम पंक्तियों में उल्लेख किया गया है कि *साम्यवादी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति शक्ति द्वारा करना चाहते हैं।* क्रान्ति द्वारा ही वे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को उखाड़ फेंकेंगे। लेनिन का क्रान्ति एवं शक्ति में पूर्ण विश्वास था। उनके नेतृत्व में ही सर्वप्रथम सफल साम्यवादी क्रान्ति रूस में हुई। पूंजीवाद की समाप्ति के लिये ही शक्ति की आवश्यकता नहीं है, किन्तु सर्वहारा वर्ग को सत्ता में बनाये रखने, विरोधियों का दमन करने आदि सभी के लिए लेनिन ने शक्ति अर्जन और प्रयोग का समर्थन किया। लेनिन के अनुसार सर्वहारा वर्ग शक्ति में विश्वास करता है। संक्रमण काल में सर्वहारा अधिनायकत्व द्वारा राज्य-यन्त्र का प्रयोग इसलिए किया जाता है क्योंकि यह संस्था शक्ति का स्रोत है जिसकी आवश्यकता फिलहाल अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।[51] प्रसिद्ध मार्क्सवादी टीकाकार कामानेव (Kamanev) ने लिखा है कि हिंसा को सत्ता हस्तगत करने के लिए तो उपयुक्त स्वीकार करना ही है, परन्तु जो समुदाय साम्यवादियों से पुनः सत्ता प्राप्त करना चाहते हैं उनसे आत्मरक्षा के लिए उसे साधन न मानना मूर्खता होगी।[52]

इसी प्रकार स्टालिन ने भी क्रान्ति एवं शक्ति के विषय में विचार व्यक्त किये हैं। स्टालिन ने अपने शासन काल में बल-प्रयोग खुल कर किया। समस्त विरोधियों को निष्कासित या मौत के घाट उतार दिया गया। फरवरी 1956 में साम्यवादी दल के बीसवें अधिवेशन में स्टालिन की निंदा करते हुए ख्रुश्चेव ने कहा कि स्टालिन ने देश में भय-शासन (Reign of terror) स्थापित कर रखा था। माओ त्से तुंग का प्रसिद्ध कथन कि 'सत्ता शक्ति से प्राप्त की जाती है," सर्व-विदित है।

साम्यवादी दल

साम्यवादी शासन एक-दलीय व्यवस्था होती है। इसके अन्तर्गत विरोधी दलों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता। इस शासन व्यवस्था में साम्यवादी दल का सबसे महत्वपूर्ण स्थान रहता है। यह सत्ताधारी दल होता है। राजनीतिक गतिविधियों, विवाद, परिचर्चा आदि का मुख्य फोरम साम्यवादी दल ही रहता है। साम्यवादी क्रान्ति, विरोधी विचारधारा का उन्मूलन, राज्य सम्बन्धी नीतियों का निर्धारण जनता को दलीय विचारधारा से अवगत कराने आदि का उत्तरदायित्व साम्यवादी दल पर ही होता है। इसलिये साम्यवादी राज्यों के संविधानों में इस दल की विशेष स्थिति का सदैव ही उल्लेख किया जाता है। सोवियत रूस के संविधान में यह लिखा गया है कि श्रमिक वर्ग के हित को ध्यान में रखते हुए देश समस्त राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक समुदाय एवं संघ साम्यवादी दल द्वारा एकता के सूत्र में बन्धे हुए हैं।[53]

---

51 Lenin, Imperialism The State and Revolution, Vanguard Press, New York, 1926, pp 27–28

52 Kamanev, The Dictatorship of the Proletariat, 1920, p 12

53 अनुच्छेद 26.

साम्यवादी समाज के निर्माण संघर्ष में यह श्रमजीवियों का अग्रणीय (या पथ प्रदर्शक) है तथा श्रमिक संगठनों, राजकीय या सार्वजनिक, का प्रधान केन्द्र स्थान है।[53] किन्तु दल की भूमिका एवं सक्रियता उस राज्य के नेतृत्व के ऊपर निर्भर करती है। स्टालिन के कार्य-काल में साम्यवादी दल सदैव ही ऊपर से नियन्त्रित रहता था तथा तानाशाह की इच्छाओं को कार्यान्वित करने का एजेण्ट-मात्र था।[54]

साम्यवादी दल व्यवहार में राज्य के भीतर एक समानान्तर राज्य के रूप में कार्य करता है। हेरॉल्ड ज़िक के मतानुसार सोवियत रूस में साम्यवादी दल और राज्य का विलय है यद्यपि दल और राज्य के कार्य अलग-अलग हैं, दोनों की अभिन्नता इतनी पूर्ण है कि यह कह सकना सम्भव नहीं है कि दल के कार्यों का अन्त और सरकार के कार्य-क्षेत्र का प्रारम्भ कहाँ से होता है।[55]

युगोस्लाविया के विद्रोही साम्यवादी नेता एवं विचारक मिलोवेन जिलास (Milovan Djilas) ने साम्यवादी राज्य को 'पार्टी राज्य' (The Party State) की संज्ञा दी है। उनके स्वयं के ही शब्दों में—

> "साम्यवादी शक्ति-यंत्र बिल्कुल साधारण है जो शुद्ध निरंकुशता तथा अत्यन्त क्रूर शोषण की ओर अग्रसर करता है। इस शक्ति-यंत्र का अभ्युदय इस तथ्य से होता है कि सिर्फ एक ही दल-साम्यवादी दल-सम्पूर्ण राजनीतिक, आर्थिक और सैद्धान्तिक गतिविधियों का मूल आधार है। सम्पूर्ण सार्वजनिक जीवन का एक स्थान पर बना रहना, आगे बढ़ना, पीछे जाना या मुड़ना यह सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि दल में क्या हो रहा है।"[56]

साम्यवादी दल के सदस्यों का महत्व एवं शक्तियों की व्याख्या करते हुए मिलोवेन जिलास ने कहा है कि इससे एक 'नये वर्ग' (The New Class) का प्रादुर्भाव हुआ है।[57] मुनरो (William Munro) ने इसे 'राज्य का कुलीनवर्ग' (Aristocracy of the state) नाम से सम्बोधित किया है।[58]

व्यक्ति-पूजा (Cult of Personality)

सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व साम्यवादी दल करता है; दल के अधिकार कुछ अग्रणीय सदस्यों के सामूहिक नेतृत्व में निहित रहते हैं; सामूहिक नेतृत्व व्यवहार में एक व्यक्ति की तानाशाही के अलावा और कुछ नहीं। सैद्धान्तिक रूप में सर्वहारा वर्ग

---

54. Munro, W. B, and Ayearst., The Governments of Europe, p 691.
55. Zink, Harold, Modern Governments, D. Van Nostrand Co., New York, 1958, p. 571
56. Milovan Djilas., The New Class, An Analysis of the Communist System, Thames and Hudson, London 1957, p 70.
57. The New Class, जिलास की पुस्तक के तृतीय अध्याय का शीर्षक है।
58. Munro and Ayearst., The Governments of Europe, p. 683.

व साम्यवादी दल पूजनीय है। लेकिन सामूहिक नेतृत्व म जैस ही किसी एक शक्तिशाली व्यक्ति का अभ्युदय हुआ, वह सब सत्ता का स्रोत बन जाता है। जैसे ही यह व्यक्ति कुछ लम्बे समय तक सत्ता में टिक जाता है तो उसकी पूजा और प्रशसा होने लगती है जिसे हम व्यक्ति-पूजा (Cult of personality) कहते हैं। स्टालिन और माओ त्से-तुग की व्यक्ति-पूजा' असदिग्ध है। स्टालिन के लिए प्रश सा गीतो और कविताओ का सृजन हुआ जिनमें उसे महान् एव ईश्वर तुल्य माना गया। रूस के प्रसिद्ध कवि जेम्बॉल जेबाव (Djamboul Djabaev) की कविता स्टालिन की व्यक्ति-पूजा का ज्वलन्त उदाहरण है। इस कविता का अर्थ इस प्रकार है—

> मैं उसकी समता पर्वत से करता—
> किन्तु पवत के शिखर है,
> मैं उसकी समता समुद्र से करता—
> किन्तु समुद्र के सतह है,
> मैं उसकी समता चमकीले चन्द्रमा से करता—
> किन्तु चन्द्रमा अर्धरात्रि म ही चमकता है, दोपहरी में नहीं,
> मैं उसकी समता प्रतिभावान् सूर्य से करता—
> किन्तु सूर्य दोपहरी म ही प्रकाश देता है, मध्यरात्रि में नहीं।

इसी तरह सोवियत साम्यवादी दल के मुखपत्र प्रावदा (Pravda) के अगस्त 28, 1936, के अ क म प्रकाशित कविता—

> O great Stalin, O leader of the peoples
> Thou who broughtest man to birth,

स्टालिन पूजा ही थी जिसका पाठशालाओं आदि म स्तुति के रूप मे प्रयोग किया जाता था।[59] स्टालिन-पूजा की निन्दा करते हुए 1956 में सोवियत साम्यवादी दल काग्रेस के बीसवें अधिवेशन म निकिता ख्रुश्चेव ने कहा—

> "इस समय हम उस प्रश्न से अधिक सम्बन्धित है, जो दल के वर्तमान और भविष्य के लिए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है, कि स्टालिन-पूजा का किस प्रकार विकास हुआ और एक निश्चित समय पर वह इस सीमा तक बढ गई, जिसने दल के सिद्धान्तो, दल का लोकतन्त्र और क्रान्ति की वैधानिकता को गम्भीर रूप से भ्रष्ट कर दिया।"[60]

---

59 Quoted Hallowell J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 514

60 निकिता ख्रुश्चेव का यह भाषण Supplement, Freedom First, July 1956, म न्यूयॉर्क टाइम्स (New York Times) की स्वीकृति से अमरीकी विदेश विभाग ने प्रकाशित किया।

यही स्थिति चीन मे माग्रो त्से-तुंग की है। "स्टालिन की तरह माम्रो भी भ्रब सार्वजनिक व्यक्ति नहीं रहे, वे भ्रान्ति बन गये हैं। कोई भी निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि वे कहां रहते हैं; उन्हें केवल पीकिंग के प्रत्यन्त ही महत्वपूर्ण कार्यक्रमों को छोड़कर, सम्भवतः ही वहीं देखा जा सकता है। इस पर भी सभी को यह ग्राभास कराया जाता है कि वे चीन में साम्यवादी शासन के मार्ग-दर्शक हैं। उनकी तस्वीरें प्रत्येक घर और सार्वजनिक भवनों को सुशोभित करती हैं।[61] वे भ्रब चीनी जनता के देव-तुल्य एवं पैगम्बर बन गये हैं। उनके लिये भी गीतों और प्रार्थनाम्रों का निर्माण हुम्रा है। निम्नलिखित कविता माम्रो-स्तुति के रूप में बहुत लोकप्रिय है—

The East Shines red,
the Sun arises,
Mao Tse-tung appears in China,
Toiling for the happiness of the people;
The savior of the people.[62]

म्रर्थात्, 'पूर्व में साम्यवाद का विस्तार हो चुका है, सूर्य की भांति माम्रो त्से-तुंग का प्रादुर्भाव श्रमिकों की खुशहाली और जनता के संरक्षक के रूप में हुआ।' वास्तव में व्यक्ति पूजा साम्यवादी व्यवस्था का एक ग्रंग बन गई है। व्यक्तिपूजा व्यक्तिगत तानाशाही की ग्रभिव्यक्ति के म्रतिरिक्त और कुछ नहीं।

साम्यवाद व राज्य (Communism and State)

साम्यवादी विचारधारा में राज्य बुराई माना जाता है किन्तु विशेष परिस्थिति मे वे राज्य की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। राज्य के विषय मे साम्यवाद के निम्नलिखित दृष्टिकोण हैं—

प्रथम, साम्यवादियों के अनुसार राज्य पूंजीवादी यन्त्र है, जिसके माध्यम से वे श्रमिकों का शोषण करते हैं। राज्य के कानून पूंजीपतियों की शोषण इच्छा की ग्रभिव्यक्ति हैं। वर्ग संघर्ष में राज्य पूंजीपतियों की सहायता करता है। जब तक राज्य का म्रस्तित्व है वर्ग-द्वेष समाप्त नहीं हो सकता।

द्वितीय, साम्यवादी राज्य की समाप्ति करना चाहते हैं किन्तु पूंजीवाद और साम्यवाद के मध्य संक्रमण काल में वे राज्य-सत्ता का अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये प्रयोग करना चाहते हैं। संक्रमण काल में सर्वहारा-म्रधिनायकत्व राज्य-शक्ति द्वारा विरोधियों का बलपूर्वक दमन करके साम्यवादी मार्ग की ओर म्रग्रसर करेगा।

61. Walker, Richard L., *China Under Communism*, George Allen & Unwin, London, 1956, pp. 180-81.
62. Ibid., p. 181.

तृतीय, राज्य का महत्व केवल संक्रमण काल में ही है। वे राज्य को स्थाई संस्था नहीं मानते। उनकी धारणा है कि जैसे ही साम्यवादियों की कल्पना के समाज की रचना प्रारम्भ हो जावेगी राज्य धीरे-धीरे स्वत. ही समाप्त हो जायेगा।

उपर्युक्त तीन दृष्टिकोणों में प्रथम एवं द्वितीय ही साम्यवाद के सन्दर्भ में सही हैं। तृतीय दृष्टिकोण जिसमें साम्यवादी राज्य के लोप होने की बात कहते हैं व्यावहारिक नहीं हो सकता। सर्वहारा अधिनायकत्व की अस्थाई अवधि एक 'दीर्घ ऐतिहासिक युग' भी हो सकता है।[63] यदि साम्यवाद को हम मार्क्सवाद या वैज्ञानिक समाजवाद का व्यावहारिक पक्ष कहते हैं तो राज्य के लोप होने की बात साम्यवाद के अन्तर्गत नहीं आती।

साम्यवाद तथा जनतंत्र

साम्यवाद में जनतंत्र व्यवस्था का क्या स्थान है? इस बात पर साम्यवादी तथा अन्य जनतान्त्रिक विचारधाराओं में मूल मतभेद हैं। साम्यवादी पश्चिमी देशों में प्रचलित जनतंत्र को वास्तविक जनतन्त्र नहीं मानते। यह पूंजीवादी जनतन्त्र है, यह निर्धनों का नहीं धनिकों का जनतन्त्र है। इसी प्रकार वे संसदीय प्रणाली को भी बकवास तथा पूंजीवादी सदन कह कर उसकी भर्त्सना करते हैं। लेकिन यदि साम्यवादी पश्चिमी जनतन्त्र की निन्दा करते हैं तो साम्यवादी व्यवस्था स्वयं किसी भी दृष्टि से जनतान्त्रिक नहीं है।[64] साम्यवादी राज्य आर्थिक जनतन्त्र प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करते हैं, किन्तु राजनीतिक जनतन्त्र से वे बड़ी दूर रहते हैं। साम्यवादी राज्यों म न तो विरोधी विचारधारा पनप सकती है और न विरोधी दल ही। यहाँ तक कि साम्यवादी दलों म भी आन्तरिक जनतंत्र का पूर्ण अभाव रहता है।

सैद्धान्तिक रूप से भी साम्यवादी व्यवस्था शक्ति एवं तानाशाही से पूर्णत बंधी हुई है। वर्ग-संघर्ष तथा पूंजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन के लिये क्रान्तिकाल म जनतान्त्रिक व्यवस्था का प्रश्न ही नहीं उठता। संक्रमण काल में वे स्वयं ही सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की बात करते हैं। इसके बाद की व्यवस्था जिसे वे साम्यवादी व्यवस्था कहते हैं, अभी तक सिर्फ आदर्श और कल्पना ही है। अत इस विचारधारा के अन्तर्गत व्यापक जनतन्त्र के लिये बहुत कम क्षेत्र शेष रहता है।

साम्यवाद एक विस्तारवादी विचारधारा के रूप में

साम्यवाद प्रकृति से ही एक विस्तारवादी विचारधारा है। इसकी कोई सीमा या कोई मर्यादा नहीं है। जॉर्ज केनन (George Kennan) ने, जो साम्यवादी जगत के अमरीकी विशेषज्ञ हैं, यह विचार प्रतिपादित किया कि "साम्यवाद विस्तारवाद म

---

63 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 194.

64 इसके लिये देखिये जोड, पृ 101-103

विश्वास करता है।" जॉर्ज केनन के ये विचार रूस के सम्बन्ध में थे, किन्तु यह अन्य साम्यवादी राज्यों, विशेषतः चीन पर पूर्णतः लागू होते हैं।[65]

साम्यवादी विचारधारा विस्तार के दो प्रमुख पक्ष है। प्रथम, जिस राज्य में साम्यवाद शासन की स्थापना हो चुकी है उस राज्य के अन्दर किसी अन्य विचारधारा को स्वीकार नहीं किया जाता। सिर्फ साम्यवाद का ही अनुमोदन, विमोचन हो सकता है। और इसमे भी नेतृत्व के विचार ही सही समझे जाते हैं। स्टालिन को उसके कार्यकाल में मार्क्सवाद और साम्यवाद का सही विमोचनकर्त्ता समझा जाता था। उसके शब्द ही समाजवाद थे।[66] चीन में माओ त्से-तुंग के विचारों (Thought of Mao Tse-tung) को श्रेष्ठ विज्ञान और मूल दर्शन माना जाता है।[67] यही बात आजकल उत्तर कोरिया के साम्यवादी नेता किम इल सुंग (Kim IL Sung) के विषय में कही जाती है। वे भी मार्क्सवाद-लेनिनवाद में परिवर्धन कर रहे हैं।

द्वितीय पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय है। एक बार सत्ता में आने के बाद साम्यवादी शेष विश्व का पुन. निर्माण अपनी इच्छानुसार करने का प्रयत्न करते हैं।[68] इस्लाम की भाँति साम्यवाद आक्रामक विचारधारा (offensive ideology) है। साम्यवादी युद्ध और शक्ति द्वारा विचारधारा का प्रचार और प्रसार अपना कर्त्तव्य समझते हैं।[69] मार्क्स ने साम्यवाद का अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में ही प्रतिपादन किया था। विश्व वर्ग-संघर्ष मार्क्सवाद की प्रमुख विशेषता थी। इसलिये उसने विश्व के समस्त मजदूरों के लिए एकता का आह्वान किया था। उसके अनुसार श्रमिकों का न तो कोई देश है और न कोई राष्ट्रीयता। साम्यवाद एक राज्य या क्षेत्र तक सीमित नहीं रह सकता।[70] समस्त विश्व साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत आना चाहिए।

साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों ने भी इस सिद्धान्त का समय समय पर पूर्ण समर्थन किया। 1919 में कॉमिनटर्न (Comintern or Third Communist International) की स्थापना का उद्देश्य रूस की भाँति अन्य राज्यों में क्रान्ति का नेतृत्व करना था। 1928 में तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय (Comintern) के विश्वसम्मेलन में सम्पूर्ण विश्व में पूंजीवादी व्यवस्था के स्थान पर साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना का प्रस्ताव स्वीकार किया गया था।[71] जब साम्यवादी राज्य अपनी सैनिक शक्ति

65 द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त रूस ने पूर्वी यूरोप के राज्यों का जब साम्यवादकरण प्रारम्भ किया उस समय जॉर्ज केनन ने यह विचार प्रतिपादित किया था।
66 Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, p. 514.
67. Walker, Richard L., China Under Communism, p 180.
68 Djilas, Milovan, The New Class, p. 1.
69 Straus-Hupe and Possony., International Relations, 1950, p. 423
70 The Communist Manifesto, p. 71.
71. Burns, Emile, (Ed.) A Hand-book of Marxism, London, 1935, p 964

म वृद्धि कर विश्व-शक्तियों की श्रेणी मे आ जाते हैं, इससे विश्व मे साम्यवादी आक्रमण तथा विस्तार का भय और भी बढ़ जाता है।[72]

साम्यवादियो ने अपने इस दृष्टिकोण में समय समय पर परिवर्तन किया है। यह विवाद का विषय भी रहा है। स्टालिन व ट्रॉट्स्की का सघर्ष इसी परिवेक्षण मे देखा जा सकता है, जिसमे स्टालिन के 'एक देश में समाजवाद' की विजय हुई। किन्तु कॉमिनटर्न का अस्तित्व यथावत् बना रहा। तात्कालिक युद्ध स्थिति को देखते हुए कॉमिनटर्न को मई 22, 1943, को भग कर दिया। इसका तात्पर्य यह नही कि रूस या अन्य साम्यवादियो ने अपना अन्तर्राष्ट्रीय चोला सदैव के लिए उतार दिया हो। उसे सिर्फ कुछ समय के लिए शीत-गृह मे सुरक्षित रख दिया गया। *अक्टूबर 5, 1947 को अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद को कॉमिनफॉर्म (Cominform or Communist Information Bureau)* के नाम से पुन सगठित किया गया किन्तु यूगोस्लाविया से सम्बन्ध सुधारने की उत्सुकता मे इसे भी समाप्त कर दिया।

इसी समय निकिता ख्रुश्चेव ने पचशील या शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व (Peaceful Co-existence) के सिद्धान्तों का समर्थन देना प्रारम्भ किया। इसका पुन यही अर्थ लगाया जा सकता था कि साम्यवादी विश्व मे यथा–स्थिति (*Status quo*) स्वीकार कर रहे हैं। विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक प्रणालियो के *अन्तर्गत रहते हुए भी विश्व के राज्य शान्तिपूर्वक सहयोग कर सकते हैं।*

इस सम्बन्ध मे साम्यवादी दुरगी बातो (double talks) और धोखा देने मे अधिक उलझे प्रतीत होते हैं। उनके दृष्टिकोण मे समय समय पर जो परिवर्तन हुए हैं, वे सिर्फ चाल या राजनीतिक दाँव पेच के रूप मे ही हुए हैं, अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद को त्यागने के लिए नही। सह–अस्तित्व की बात राष्ट्रीय हित को ध्यान म रखते हुए, दूसरे देशो से आर्थिक सहयोग, व्यापार या मित्रतापूर्ण सम्बध बनाने के लिये ही कही जाती है।[73] इतना अवश्य है कि साम्यवादी अब यह स्वीकार करने लगे हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद क्रान्ति के द्वारा आजकल सम्भव नही है। यह केवल ख्रुश्चेव के विचार, जिसम पूँजीवादी राज्यों के साथ शान्तिपूर्ण प्रतिस्पर्धा की बात कही गई है, के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। साम्यवादी स्थिति के अनुसार कभी भी क्रान्ति या शातिपूवक साम्यवादी प्रसार मे विश्वास कर सकत है।

(7) राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध (Wars of National Liberation)

पराधीन राज्यो द्वारा राष्ट्रीय मुक्ति तथा स्वाधीनता के लिये सघर्ष एव युद्ध के लिये आह्वान करना तथा उन्हें समर्थन प्रदान करना साम्यवादी विचारधारा का एक प्रमुख तत्व बन गया है। यद्यपि मार्क्स ने इस सम्बन्ध म प्रत्यक्ष विचार प्रस्तुत नही किये तथा लेनिन ने राष्ट्रीय विद्रोह के समर्थन म विचार व्यक्त किये, किन्तु इस

72 Jay, Douglas, Socialism in the New Society, pp 77

73 Munro and Aycarst, The Governments of Europe, p 695.

दिशा में निकिता ख्रुश्चेव ने सर्वप्रथम स्पष्टतः अपने विचार व्यक्त किये। 1961 में ख्रुश्चेव ने मुक्ति-युद्ध या स्वाधीनता संघर्ष की व्यापक व्याख्या की। मुक्ति-युद्ध या स्वाधीनता संघर्ष का तात्पर्य एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमरीकी राज्यों द्वारा उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी राज्यों के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करते रहना है। साम्यवादी ऐसे संघर्ष एवं युद्ध को पूर्णतः उचित बतलाते हैं। यह पराधीन राज्यों की जनता का कर्तव्य है कि वे पूंजीवादी-उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी बेड़ियों से स्वयं को संघर्ष द्वारा मुक्त करें। चीन में एक समय माओ त्से-तुंग के उत्तराधिकारी लिन पियाओ (Lin Piao, 1910–1971) ने भी एक दूसरे सन्दर्भ में ऐसे ही विचारों का प्रतिपादन किया। विश्व विजय के उद्देश्य से लिन पियाओ ने एक युक्ति सुझाई थी जिसका तात्पर्य एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमरीकी राज्यों की जनता पूंजीवादी खेमे द्वारा समर्थित सरकारों के विरुद्ध मुक्ति संघर्ष द्वारा देहाती क्षेत्रों पर अधिकार कर नगरों को घेर लेना चाहिये तथा बाद में शहरों पर अधिकार कर सम्पूर्ण राज्य को प्रतिक्रियावादियों से मुक्त कर लेना चाहिये। लगभग सभी उग्रवादी साम्यवादी मुक्ति संघर्ष एवं स्वाधीनता के लिये युद्ध का समर्थन करते हैं।

राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध द्वारा साम्यवादी विश्व को साम्यवादी प्रणाली के अन्तर्गत लाने के स्वप्न को साकार करना चाहते हैं। परमाणु युग में इस विचार का और भी अधिक महत्व बढ़ गया है। परमाणु युग में साम्यवादी तथा पूंजीवादी राज्यों द्वारा युद्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। इस स्थिति में साम्यवादी राष्ट्रीय मुक्तियुद्ध द्वारा इस उद्देश्य की प्राप्ति करने का विचार रखते हैं। ऐसे संघर्ष एवं युद्ध में साम्यवादी राज्य प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित तो नहीं होंगे किन्तु संघर्षरत जनता की सहायता एवं समर्थन करते रहेंगे। वियतनाम युद्ध, अफ्रीका में पुर्तगाली उपनिवेश अंगोला तथा मुजाम्बिक में स्वाधीनता संग्राम तथा कई लेटिन अमरीकी राज्यों में गुरिल्ला संघर्ष को साम्यवादी राष्ट्रीय मुक्तियुद्ध मानते हैं।

साम्यवादी विचारधारा बनाम राष्ट्रीय हित

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की समस्याएँ तथा रूस-चीन के सैद्धान्तिक मतभेदों के सन्दर्भ में साम्यवादी विचारधारा एवं राष्ट्रीय हित में प्राथमिकता के प्रश्न को समझ लेना आवश्यक है। एक साम्यवादी राज्य के लिये विचारधारा का विस्तार महत्वपूर्ण है या उसका स्वयं का राष्ट्रीय हित ? यदि विचारधारा को प्राथमिकता दी जाय तो प्रत्येक साम्यवादी राज्य का कर्तव्य है कि वह दूसरे देशों में साम्यवाद का विस्तार करे, विचारधारा के प्रसार में सभी साम्यवादी राज्य सहयोग करें। किन्तु व्यवहार में यह बात नहीं है।

प्रत्येक राज्य, साम्यवादी या गैर-साम्यवादी, अपने राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि महत्व देता है। साम्यवादी राज्यों में यदि हितों का टकराव है तो विचारधारा की एकता होते हुए भी उनमें सहयोग नहीं हो सकता और इसका साम्यवाद की

अन्तर्राष्ट्रीयता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। रूस और चीन दोनों ही साम्यवादी देश हैं लेकिन दोनों के परस्पर-विरोधी हितों के कारण वे विचारधारा को उतना महत्व नहीं देते जितना कि राष्ट्रीय हित को।

इसके अलावा यदि दो विरोधी विचारधाराओं के पालन करने वाले राज्यों में राष्ट्रीय हितों का समाधान होता है तो वे विचारधारा को सहयोग के मार्ग में बाधा नहीं बनने देते। चीन और अमरीका परस्पर-विरोधी विचारधाराओं के समर्थक हैं, लेकिन रूस के विरुद्ध दोनों के सहयोग में वृद्धि हो रही है। इसके पहले 1939 में रूस और नाजी जर्मनी ने अनाक्रमण सन्धि पर हस्ताक्षर किये, जिसने दूरदर्शी राजनीतिज्ञों को भी आश्चर्य में डाल दिया। साम्यवाद और नाजीवाद दोनों ही एक दूसरे के कट्टु शत्रु थे लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों में राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए विचारधारा सम्बन्धी तथ्य को ताक पर रख यह समझौता किया। इसका यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि साम्यवाद का अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष उतना सबल नहीं है जितना कि समझा जाता है। साम्यवादी राज्यों में हमेशा सहयोग और भ्रातृत्व की भावना रहे, यह भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार राष्ट्रीय हित और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ने साम्यवाद के अन्तर्राष्ट्रीय पहलू को कमजोर एवं विभाजित कर दिया है।

रूस-चीन मतभेद तथा इसका साम्यवादी विचारधारा पर प्रभाव

रूस और चीन के मतभेदों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाला एक नया तत्व प्रदान किया है। विश्व के प्रमुख राज्यों की विदेश नीति निर्धारण पर इसकी छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। दोनों पड़ोसी राज्य विश्व शक्तियाँ हैं, दोनों ही साम्यवादी व्यवस्थाएँ हैं। दोनों राज्यों में जो तनाव उत्पन्न हुआ उसे एक नवीन शीत-युद्ध (A new Cold War) कहा गया है।[74] इन मतभेदों का वास्तविक कारण दोनों देशों के राष्ट्रीय हितों का टकराव है। किन्तु साम्यवादी होने के कारण रूस और चीन ने अपने मतभेदों को प्रारम्भिक वर्षों में सैद्धान्तिक मतभेदों के रूप में प्रस्तुत किया।[75] दोनों राज्यों ने सैद्धान्तिक पक्ष लेकर एक दूसरे की कटु आलोचना की है। इसमें सैद्धान्तिक मतभेदों की वास्तविकता है या नहीं निश्चित रूप से कहना आसान नहीं। फिर भी इन मतभेदों के सन्दर्भ में साम्यवाद की जो व्याख्या हुई है वह महत्त्वपूर्ण है तथा इस विचारधारा की नवीन प्रकृति एवं स्वभाव पर प्रकाश डालती है।

रूस और चीन के सैद्धान्तिक मतभेदों में रूस अधिक नमनीय, व्यावहारिक और प्रगतिशील प्रतीत होता है। चीन रूढ़िवाद या परम्परावादी मार्क्सवाद–लेनिनवाद-

74 एडवर्ड क्रेन्कशॉ (Edward Crakshaw), जो साम्यवादी राजनीति के एक प्रमुख टीकाकार हैं, की रूस-चीन विवाद पर लिखी पुस्तक का शीर्षक ही— The New Cold War, Moscow V p king—है।

75 Lowenthal, Richard, World Communism, p 132

स्टालिनवाद में ही उलझा है। माओ त्से-तुंग तथा चीन के साम्यवादी दल ने ख्रुश्चेव के लगभग सभी विचारों का खण्डन किया है। रूस द्वारा स्टालिन की जो निन्दा की गई है चीन ने उसे मान्यता नहीं दी है। यद्यपि स्टालिन ने कुछ भूलें अवश्य की, चीन साम्यवादी जगत तथा रूस में स्टालिन के महत्वपूर्ण योगदान को स्वीकार करता है। चीन के दृष्टिकोण से स्टालिन मार्क्सवाद-लेनिनवाद का कट्टर समर्थक था। चीन साम्यवादी विस्तार के लिए शान्तिपूर्ण साधनों को मान्यता नहीं देता। माओ त्से-तुंग ख्रुश्चेव के इस मत से सहमत नहीं है कि लोकतान्त्रिक तरीकों से समाजवाद लाया जा सकता है। साम्यवादी प्रसार केवल क्रान्ति एवं युद्ध से ही सम्भव है।

दोनों साम्यवादी राज्यों का साम्राज्यवाद के प्रति भी अलग-अलग दृष्टिकोण है। चीन रूस के इस तर्क को स्वीकार नहीं करता कि पूंजीवादी-साम्राज्यवादी शांति चाहते हैं। माओ के अनुसार साम्राज्यवादियों की प्रकृति में कोई आन्तरिक परिवर्तन नहीं हुआ है। समाजवादी देशों को उनके विरुद्ध संघर्ष करने के लिए अधिक शक्तिशाली बनना चाहिए। इसलिए चीन सर्वहारा राज्यों का साम्राज्यवादी-पूंजीवादी राज्यों के साथ सह-अस्तित्व में विश्वास नहीं करता।

चीन और रूस ने एक दूसरे की आर्थिक नीतियों की भी आलोचना की है। चीन ने ख्रुश्चेव की कृषि नीति की आलोचना की जिसके अन्तर्गत रूस लाभ के लिए कुछ गुंजाइश छोड़ता है। चीन के अनुसार लाभ सिद्धान्त पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में ही सम्भव है। इसके विपरीत रूस ने चीन में प्रारम्भ हुई 'कम्यून प्रणाली'[1] (Commune System) की कटु निन्दा की है।

इन सैद्धान्तिक मतभेदों के बाद अब दोनों राज्यों का वास्तविक संघर्ष स्पष्ट हो गया है। उनके सीमा विवाद, उनकी एशिया और अफ्रीका में विस्तारवादी नीति तथा आर्थिक स्पर्धा से विश्व पूर्णतः अवगत है।

रूस और चीन के सैद्धान्तिक विवाद का अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद पर व्यापक विपरीत प्रभाव पड़ा है। प्रथम, साम्यवाद की व्याख्या के विषय में साम्यवादी राज्य एक मत होकर निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। उनके विचारों में परस्पर-विरोध ही दृष्टिगोचर होता है। इससे साम्यवाद का सैद्धान्तिक पक्ष निर्बल हुआ है। द्वितीय, इस विवाद ने साम्यवादी राज्यों को दो गुटों में विभाजित कर दिया है। एक ओर चीन, अलबानिया आदि तथा दूसरी ओर रूस और अन्य पूर्वी यूरोप के राज्य हैं। कुछ राज्य, जैसे रूमानिया, लगभग तटस्थ रहते हैं। साम्यवादी राज्यों की एकता समाप्त होने से इनकी शक्ति विभाजित हो चुकी है। इससे गैरसाम्यवादी राज्यों में साम्यवादी विस्तार के खतरे में भी भारी कमी आई है। तृतीय, रूस-चीन मतभेदों से विश्व में अन्य राज्यों के साम्यवादी दल भी विभाजित हुए हैं। दल का एक भाग रूस समर्थक तथा दूसरा चीन का प्रशंसक रहता है। भारत में इस आधार पर अलग अलग दल बन गये हैं, जैसे भारतीय साम्यवादी दल रूस समर्थक है तथा भारतीय

साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) चीन का समर्थक है। जो भी हो इनमें दल की शक्ति एवं प्रतिष्ठा पर बड़ा आघात हुआ है।[76] लेबेड्ज एवं अर्बन (Labedz and Urban) ने रूस-चीन मतभेदों का अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद पर प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस विवाद ने—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद आन्दोलन के अन्त का प्रारम्भ कर दिया है;

(ii) समस्त विश्व की सर्वहारा राष्ट्रीयता की भ्रान्ति का खण्डन कर दिया है, तथा

(iii) साम्यवादी क्रान्ति के अवश्यम्भावी स्वरूप को समाप्त कर दिया है।[77]

भविष्य में इन दोनों राज्यों के परस्पर-विरोधी हितों को ध्यान में रखते हुए इनमें सुलह होना असम्भव सा लगता है। किन्तु एक बात निश्चित है कि इस समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में चीन को भी रूस जैसा ही उदारवादी नमनीय नीति अपनानी पड़ेगी। चीन को भी सह-अस्तित्व, सहयोग, तटस्थ राज्यों का समर्थन आदि की नीति ग्रहण करनी पड़ेगी। फरवरी 1972 में अमरीकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन की चीन यात्रा ने यह और भी स्पष्ट कर दिया है कि चीन इस मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। चाहे यह दृष्टिकोण परिवर्तन बाह्य दिखावे के लिए ही क्यों न हो, लेकिन हो रहा है।

मूल्यांकन

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है मार्क्सवाद ही साम्यवाद का आधार एवं स्रोत है। साम्यवादी, मार्क्सवाद के जो सिद्धान्त स्वीकार करते हैं, जैसे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, वर्ग-संघर्ष, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त, सर्वहारा अधिनायकत्व आदि, उनका आलोचनात्मक अध्ययन मार्क्सवाद के सन्दर्भ में पहले ही किया जा चुका है। उन्हीं तत्वों को यहां प्रस्तुत करना पुनरावृत्ति ही होगी। फिर भी यह नहीं भूल जाना चाहिए कि मार्क्सवादी सिद्धान्त साम्यवाद के प्रमुख आधार हैं। यहां सिर्फ साम्यवाद से सम्बन्धित विशेष समस्याओं का आलोचनात्मक विवेचन किया जा रहा है।

मार्क्सवाद को भ्रष्ट करने का आरोप

आलोचकों का यह कहना है कि साम्यवाद, मार्क्सवाद का न तो तर्कसंगत विस्तार है और न सही परिवर्धन। साम्यवादियों ने मार्क्सवाद का संशोधन किया है। या, साम्यवादियों ने मार्क्सवाद को भ्रष्ट कर दिया है। यद्यपि मार्क्स ने क्रान्ति

76 भारतीय साम्यवादी दल के विघटन का विवरण मोहन राम लिखित पुस्तक—Indian Communism split within split, (1969) में काफी अच्छा दिया हुआ है जिसका अध्ययन उपयोगी होगा।

77 Labedz and Urban., The Sino-Soviet Conflict, p 9

और सर्वहारा अधिनायकत्व का समर्थन किया था किन्तु उसका दृष्टिकोण लोक-तान्त्रिक था। उसका विश्वास था कि किसी देश मे क्रांति तभी सम्भव होगी जबकि वहाँ मजदूरों का बहुमत हो जायेगा। इसके अलावा मार्क्स का विचार स्वतन्त्रता से बड़ा प्रेम था। अपने तात्कालिक युग मे प्रशा (Prussia) तथा अन्य निरकुशवादी राज्यो की प्रेस विरोधी नीतियो की मार्क्स ने कटु आलोचना की थी।

साम्यवाद विरोधियों के अनुसार मार्क्स के अनुयायियों ने, जिन्हे साम्यवादी कहा जाता है, मार्क्सवाद की इस प्रकार व्याख्या की है जो उनकी स्वार्थ-सिद्धि की पूर्ति और उनकी त्रुटियों पर आवरण डालने मे सहायक हो। मिलोवेन जिलास Milovan Djilas) के शब्दो मे—

"मूल मार्क्सवाद का अब लगभग कुछ नही बचा है। पश्चिम मे यह समाप्त हो चुका है या समाप्त होने जा रहा है। पूर्व मे साम्यवादी शासन की स्थापना से मार्क्स के द्वन्द्ववाद और भौतिकवाद की सिर्फ औपचारिकता और ढोंगवादिता ही शेष रही है जिसका प्रयोग उन्होने सत्ता को सुदृढ करने, निरकुशता को सही सिद्ध करने तथा मानव-आत्मा का उल्लंघन करने के लिए किया है।[78]

साम्यवादियो ने मार्क्सवाद की विचार-आत्मा को नही समझा है। साम्यवादी राज्यो मे जनतन्त्र के स्थान पर अल्पसंख्यकों की तानाशाही, सर्वहारा के स्थान पर दल अधिनायकत्व और व्यक्तिपूजा की स्थापना होती है, जिसका मार्क्स ने शायद ही समर्थन किया हो।

काल्पनिक उद्देश्य (2)

मार्क्सवादी सिद्धान्तो का अन्तिम उद्देश्य 'साम्यवादी समाज' की स्थापना करना है जिसमे न तो शोषण, न कोई वर्ग और न कोई राज्य ही होगा। मार्क्सवाद का यह उद्देश्य काल्पनिक है किन्तु साम्यवाद को मार्क्सवाद या वैज्ञानिक समाजवाद का व्यावहारिक रूप समझा जाता है। साम्यवाद के अन्तर्गत व्यावहारिक दृष्टि से राज्य का लोप होना असम्भव है। इसके विपरीत राज्य की शक्तियो मे दिनों दिन वृद्धि होती जा रही है। साम्यवादी इतने व्यावहारिक होते हुए न जाने क्यो इस काल्पनिक उद्देश्य मे अनावश्यक रूप से उलझे हुए है।

---

78 "Almost nothing remained of original Marxism In the West it had died out or was in the process of dying out; in the East, as a result of the establishment of Communist rule, only a residue or formalism and dogmatism remained of Marx's dialectics and materialism, this was used for the purpose of cementing power, justifying tyranny and violating human conscience"

Djilas, Milovan, The New Class, p 9

साम्यवाद का नवीन विवेचन एक धोखा है

लेनिन, स्टालिन, ख्रुश्चेव, माओ त्से-तुंग ने मार्क्सवाद में जो व्यावहारिक परिवर्धन किये हैं उनसे मूल आधारों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इन सभी को वर्ग संघर्ष, क्रान्ति, आदि में पूर्ण आस्था है। जब ख्रुश्चेव जैसे साम्यवादियों ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व, लोकतान्त्रिक साधनों का समर्थन किया, इससे उन्होंने विश्व को भ्रम में डालने का प्रयत्न किया है। यदि साम्यवादी लोकतन्त्र और शान्तिपूर्ण साधनों को स्वीकार करते हैं तो फिर वे साम्यवादी कहलाने का दावा नहीं कर सकते। इस प्रकार के सैद्धान्तिक परिवर्तनों का आशय मूल उद्देश्यों में परिवर्तन करना नहीं किन्तु इन उद्देश्यों की उपलब्धि के लिए अपनी कूटनीति और चालों में परिवर्तन करना है। इसलिए यदि विश्व की जनता से यह कहा जाय कि साम्यवादी अब शान्तिपूर्ण लोकतान्त्रिक साधनों में विश्वास रखते हैं तो यह उनके साथ धोखा करना है। साम्यवाद से अवगत व्यक्ति शायद ही साम्यवादियों के इस रंग-परिवर्तन पर विश्वास करे।

अधिनायकवादी व्यवस्था (Totalitarian system)

साम्यवाद पूर्णतः आरोपित एवं ऊपर से नियन्त्रित व्यवस्था है। इसमें एक दल, एक विचार, एक रंग, एक ढंग में ही व्यक्ति बन्दी रहता है। कला, साहित्य दर्शन, विज्ञान सभी को एक ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया जाता है। साम्यवाद के अंकुश में रहना ही स्वतन्त्रता है। व्यक्तिगत अधिकारों की बात करना व्यर्थ है। साम्यवादी दल के बीसवें अधिवेशन में (1956) में तात्कालिक महामन्त्री निकिता ख्रुश्चेव का भाषण स्टालिन युग के रूस में प्रचलित अधिनायकवादी व्यवस्था का ही प्रतिवेदन था। राज्य का हस्तक्षेप व्यक्तिगत जीवन में भी रहता है, यहां तक कि लेनिन की पत्नी (Nadezhda Konstantinovna Krupskaya) ने भी स्टालिन द्वारा उनके व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करने का आरोप लगाया। इस विषय में लेनिन ने स्टालिन को एक पत्र लिखकर उससे क्षमा मांगने के लिए कहा था।[79]

---

79 Form Lenin to Stalin—
Dear Comrade Stalin
You permitted yourself a rude summon of my wife to the telephone and a rude reprimand of her Despite the fact that she told you that she agreed to forget what was said, nevertheless Zenoviev and Kamenev heard about it from her I have no intention to forget so easily that is being done against me, and I need not stress here that I consider it as directed against me which is being done against my wife I ask you therefore that you weigh carefully whether you are agreeable to retracting your words and apologizing or whether you prefer the severance of relations between us
Sincerely,
March 5, 1923
Lenin
This letter was produced by Nikita Khruschev before the Twentieth Congress of the CPSU, 1956 Supplement Freedom First July 1956 State Department U S A

स्टालिन की पुत्री स्वेतलाना की भी यही शिकायत थी। उन्हें अपनी इच्छानुसार विवाह करने पर सोवियत सरकार ने कई प्रकार की बाधाएँ पैदा की। कुछ समय बाद स्वेतलाना को गुप्त रूप से रूस छोडना पडा। यह सब कुछ तब हुआ जब स्टालिन की मृत्यु के बाद रूस मे कुछ उदारवादी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होने लगी थी। इस समय भी यह सुनने मे आता है कि रूस मे विचारको और प्रमुख लेखको को यातनायें भोगनी पडती हैं क्योंकि वे सरकार द्वारा निर्देशित विचार-मार्ग का अनुसरण नही करना चाहते है। 1974 के प्रारम्भ मे रूस के प्रसिद्ध साहित्यकार एलेग्जेन्डर सॉलजेनितसिन को देश से निष्कासित किया गया है। इस प्रकार अब आलोचकों को निष्कासित करने का एक नया कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ है। 1968 मे चेकोस्लोवाकिया के उदारवादी आन्दोलन का दमन भी वर्तमान नेतृत्व के समय मे ही हुआ है।

चीन मे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि सभी पहलू माओ त्से-तुग के विचारो के अन्तर्गत आने चाहिए। माओ के विचारो का विरोध करना अपराध करने जैसा है। चीन के राष्ट्रपति ल्यू शाओ ची (Liu Shao Chi), विदेश मंत्री चेन यी (Chen Yi), 1965 मे मनोनीत माओ के उत्तराधिकारी लिन पिआओ (Lin Piao) तथा अन्य माओ-विचारो को ठीक तरह ग्रहण नही कर सके, परिणामस्वरूप सभी को अपमानित हो अपने पदों से हाथ धोना पडा। इस प्रकार के अधिनायकवादी तत्त्व सभी साम्यवादी राज्यो मे विद्यमान रहते है। मनुष्य का अच्छा बुरा बहुत कुछ गुप्तचर विभाग पर निर्भर करता है। इस व्यवस्था में मनुष्य आर्थिक चिन्ताओं से मुक्ति पा सकता है किन्तु आत्मिक शान्ति एवं स्वतन्त्रता नही मिल सकती।

साम्यवादी सम्पूर्ण विश्व की समस्याओ का हल एक मात्र अपने ही मार्ग से मानते हैं। यह विश्वास भ्रान्तिपूर्ण है। विश्व विविधताओ का पुञ्ज है। अलग अलग राज्यों या क्षेत्रों मे जीवन पद्धति, संस्कृति, राजनीतिक व्यवस्था में विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार इस विश्व-विभिन्नता से सम्बन्धित समस्याओ की जटिलता भी इतनी ही व्यापक होगी। साम्यवाद अकेला ही इन सबका समाधान नही कर सकता। लास्की (H.J. Laski) के अनुसार—

> "सामान्य अर्थ मे, नि:सन्देह साम्यवाद की भूल यह है कि वह विश्व की जटिलता को स्वीकार नही करता। उसका बतलाया उपचार अवास्तविक है, क्योंकि विश्व बड़ा पेचीदा है और सम्पूर्ण विश्व के लिए कोई एक उपचार नही हो सकता।"[80]

---

80 Laski, H J, Communism, p 243,
Deane, Herbert A, The Political Ideas of Harold Laski, p 132,

पाठ्य–ग्रन्थ

1	Clark, Gerald	Impatient China, Chapter 7, The People's Communes
2	कोकर, फ्रांसिस,	आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, अध्याय 3, समाजवादी आन्दोलन तथा मार्क्स के कट्टर अनुयायी, प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व।
3	Deutscher, Isaac,	Russia, China and the West, Chapter 5, The Twentieth Congress of the Soviet Communist Party
4	Djilas, Milovan,	The New Class An Analysis of the Communist System, Chapter 3, The New Class Chapter 4, The Party Sta..
5	Donnelly, Desmond,	Struggle for the World Chapter 2, Socialism in One Country
6	Dutt, Gargi	Rural Communes of China
7	Gargi Dutt and V P Dutt,	China s Cultural Revolution
8	Ebenstein W,	Today's isms, Chapter 1, Totalitarian Communism
9	Fainsod, Merle	How Russia is Ruled, Chapter 5, The Dictatorship of the Party in Theory and Practice Chapter 13, Terror as a System of Power
10	Gray, Alexander,	The Socialist Tradition, Chapter XVII, Lenin
11	Hallowell J H.,	Main Currents in Modern Political Thought, Chapter 14, Socialism in the Soviet Union
12	Hunt, R N carew,	The Theory and Practice of Communism An Introduction, Chapter XV, Lenin's Contribution to Marxist Cheory

Chapter XVI, Stalin's Contribution to Marxist-Leninist Theory.

13. जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, अध्याय 5, साम्यवाद तथा अराजकतावाद

14. Lowenthal, Richard., World Communism, Chapter, 5, The Distinctive Character of Chinese Communism.

15. Paloczi-Horvath G., Khrushev : The Road to Power, Chapter 14, Who is to Lead the Communist World.

16. Schapiro Leonard, The Communist Party of the Soviet Union, Chapter 16, The Defeat of Trotsky Chapter 17, Party Composition : Relations with the Government.

17. Stankiewicz, W. J. (Ed), Political Thought Since World War II, Part III, Marxism and Communism

18. Wanlass, Lawrence, D, Gettell's History of Political Thought, Chapter XXVII, Communism

7

पुनर्विचारवाद एवं संशोधनवाद

बर्न्सटीन, कॉट्स्की आदि

मार्क्स तथा ऐन्जिल्स के विचारों ने यूरोपीय समाजवादी चिन्तन तथा श्रमिक आन्दोलन को एक नवीन प्रेरणा एवं चेतना, एक नयी गति और एक नया मोड प्रदान किया। कोई भी चिन्तक एवं राजनीतिज्ञ मार्क्सवाद की व्यापकता से स्वयं को अछूता नहीं रख सका। सभी उसके समर्थक अथवा आलोचक के रूप में उससे सम्बद्ध थे।

पुनर्विचार एवं संशोधनवाद से तात्पर्य

पूर्व अध्याय में उल्लेख किया गया है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मार्क्सवाद की आलोचना करने वालों की संख्या में दिन प्रतिदिन वृद्धि हो रही थी। यूरोप में बहुत से समाजवादियों ने यह स्वीकार किया कि मार्क्सवाद की जो आलोचना हो रही है उसमें तथ्य है। मार्क्सवाद के आलोचकों का विचार था कि यूरोपीय समाज के परिवर्तित परिप्रेक्ष में मार्क्सवाद पिछड़ा हुआ सा लगता है। मार्क्सवाद को परिस्थितियों तथा समय के अनुकूल बनाना आवश्यक सा हो गया। इसलिए यूरोप में कुछ समाजवादियों ने मार्क्सवाद पर पुनः विचार करने पर जोर दिया। वास्तव में इसने एक छोटे मोटे आन्दोलन का स्वरूप ले लिया। वे जो मार्क्सवाद में पुनः विचार कर संशोधन करना चाहते थे उन्हें कट्टर मार्क्सवादियों ने घृणात्मक दृष्टि से पुनर्विचारवादी या संशोधनवादी कहा तथा इस आन्दोलन एवं कार्यक्रम को पुनर्विचारवाद तथा संशोधनवाद (Revisionism) कहते हैं।[1]

पुनर्विचारवाद एवं संशोधनवाद दो प्रमुख प्रवाहों एवं प्रवृत्तियों में विभाजित हो जाता है। प्रथम संशोधनवाद श्रेणी में एडवर्ड बर्न्सटीन जैसे समाजवादी आते हैं जो मार्क्सवाद के सम्पूर्ण सिद्धान्तों को अपनी आलोचनाओं से अछूता नहीं छोड़ते। वे मार्क्सवाद को अधिक तार्किक, वैज्ञानिक, सामयिक, व्यावहारिक बनाने के लिये पुनर्विचार और संशोधनवाद का सुझाव देते हैं। यूरोप, विशेषतः जर्मनी, में सोशल

1 संशोधनवाद के व्यापक अध्ययन के लिए देखिए—
Labedz, L., Ed., Revisionism, 1962

डेमोक्रेटिक पार्टी इस प्रकार के संशोधनवाद का प्रमुख केन्द्र थी। इस श्रेणी के समर्थकों ने मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी तत्वों को छोड़ दिया तथा वे अपने दर्शन मे विकासवादी और नीति मे सुधारवादी हो गये।[2] संशोधनवाद का यह प्रवाह उदारवादी समाजवाद, लोकतान्त्रिक समाजवाद तथा विकासवाद की ओर ले जाता है।

पुनर्विचारवाद एव संशोधनवाद की दूसरी श्रेणी मे साम्यवादी संशोधनवादी आते हैं। साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत, चाहे वह राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय हो, संशोधनवाद एक स्थाई तत्त्व बन गया है। लेकिन यह संशोधनवाद राष्ट्रीय राजनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी जगत मे सत्ता एव प्रभाव संघर्ष का एक माध्यम बन गया है। ट्रॉट्स्की तथा स्टालिन के मतभेद, रूस तथा चीन के सैद्धान्तिक मतभेद, यूगोस्लेविया के मार्शल टीटो का पृथक दृष्टिकोण आदि सभी इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। इस दृष्टि से प्रायः प्रत्येक साम्यवादी संशोधनवादी है। स्टेन्कीविक्ज (W. J. Stankiewicz) ने साम्यवादी जगत मे इस संशोधनवादी स्थिति को 'बहुकेन्द्रवाद' (Polycentrism) की संज्ञा दी है।[3]

मार्क्सवादी-साम्यवादी साहित्य मे पुनर्विचारवाद एव संशोधनवाद एक निन्दात्मक शब्दावली बन गया है। इसकी अभिव्यक्ति कई प्रकार से होती है। यदि अपने किसी साथी की भर्त्सना करनी होती है तो उसे आजकल विचलनवादी (Deviationist); सामाजिक साम्राज्यवादी (Social imperialist), भगोड़ा (Renegade) आदि कहकर सम्बोधित किया जाता है। सूक्ष्म मे किसी भी व्यक्ति को पुनर्विचारवादी एव संशोधनवादी निम्नलिखित आधारों पर कहा जा सकता है:—

प्रथम, वह व्यक्ति मार्क्सवादी या साम्यवादी होने का दावा करता हो। द्वितीय, वह मार्क्सवाद-लेनिनवाद का आलोचक हो किन्तु प्रत्येक आलोचक संशोधनवादी की श्रेणी मे नही आता। इस शब्द का प्रयोग उस 'काली भेड़' (black sheep) के लिये किया है जो मार्क्सवादी आन्दोलन मे रहते हुए भी पुनर्विचार का सुझाव देता हो। तृतीय, जिसका मार्क्सवादी मार्ग से विचलन हो चुका हो। चतुर्थ, जिसने तत्कालीन स्थिति के संदर्भ मे मार्क्सवाद-लेनिनवाद (चीन मे माओवाद भी) की व्याख्या की हो किन्तु साम्यवादी राज्यों मे सत्ता संघर्ष मे पराजित हो चुका हो।

पुनर्विचार की पृष्ठभूमि

मार्क्सवाद कभी भी एक निश्चित विचारधारा नही बन सका जिसे सभी मार्क्सवादी सर्व सम्मति से स्वीकार कर सकते थे। मार्क्स के जीवन के अन्तिम वर्षों में तथा मरणोपरान्त मार्क्सवादियो तथा अन्य समाजवादियो मे मार्क्सवाद के विवेचन को लेकर मतभेद प्रारम्भ हो चुके थे। 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' (First International,

2 सेबाइन, जार्ज एच., राजनीति-दर्शन का इतिहास (अनुदित) पृ० 748.

3. Stankiewicz, W.J., Political Thought Since World War II, pp 125-128.

अब दो गुटों में विभाजित हो गया। इन मतभेदों से सम्बन्धित एक गुट कट्टरपंथी मार्क्सवादी (Orthodox Marxists) तथा दूसरा गुट पुनर्विचारवादी या संशोधनवादी (Revisionists) कहलाया।

यूरोप मे इस 'नरम तथा व्यावहारिक समाजवाद' के सिद्धान्त कई विद्वानों जैसे जर्मनी मे एडुअर्ड बर्न्सटीन, फ्रास मे जीन जोरेस (Jean Jaures), बेल्जियम मे अन्सीले (Edouard Anseele), रूस मे बेरोनोव्स्की (Tugan Baronowsky) तथा स्वीडन मे कार्ल ब्रेन्टिंग (Karl Branting) के वक्तव्यो तथा ग्रन्थो मे, बेल्जियम का मजदूर दल, जर्मनी मे सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी, फ्रान्स तथा इटली के समाजवादी दलो के सिद्धान्तो एवं कार्यक्रमो से व्यक्त होते हैं।[4] किन्तु जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी तथा एडुअर्ड बर्न्सटीन को संशोधनवादी आन्दोलन के प्रमुख प्रतिनिधि मानकर इसके अध्ययन को समझा जा सकता है।

एडुअर्ड बर्न्सटीन

Eduard Bernstein, 1850–1932

एडुअर्ड बर्न्सटीन जर्मनी के प्रमुख समाजवादी थे। इनका जन्म बर्लिन मे एक यहूदी इन्जीनियर परिवार मे हुआ। प्रारम्भ मे बर्न्सटीन ने एक बैंक मे नौकरी की किन्तु वे तत्कालीन राजनीति से स्वय को पृथक नहीं कर सके। 1878 में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी पर जब सरकार द्वारा प्रतिबन्ध लगा दिया गया बर्न्सटीन को जर्मनी छोड़कर जाना पड़ा। स्विट्जरलैंड में बर्न्सटीन ने 1880 से 1888 तक-Social Democrat-पत्र का सम्पादन किया। जर्मनी मे इस पत्र पर प्रतिबन्ध होने हुए भी इसका गुप्त रूप से काफी वितरण होता रहा। बिस्मार्क के दबाव के कारण बर्न्सटीन को स्विट्जरलैंड छोड़कर इंग्लैंड जाना पड़ा जहाँ अनेक मार्क्सवादियों से इन्होने मित्रता स्थापित की। लगभग 22 वर्ष की अवस्था मे ये जर्मनी मे समाजवादी दल 'सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी' के सदस्य बने। बर्न्सटीन ने इंग्लैंड तथा स्विट्जरलैण्ड का काफी भ्रमण किया। सम्भवत: वे वहाँ के उदारवादी वातावरण से प्रभावित हुए हों। 1932 में बर्न्सटीन की मृत्यु के पहले जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी ने उनके विचारों को अपने कार्यक्रम का सैद्धान्तिक आधार स्वीकार किया।

अपने चिन्तन एवं राजनीतिक जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में एडुअर्ड बर्न्सटीन मार्क्सवाद के समर्थक थे किन्तु ऐन्जिल्स की मृत्यु से बाद बर्न्सटीन ने मार्क्सवाद के प्रति पुनर्विचार और संशोधनवाद का अभियान प्रारम्भ किया। बर्न्सटीन ने अपने समाजवादी विचारो को एक जर्मन पत्र– Die Neue Zeit-में एक लेखमाला-'समाजवाद की समस्याएं' के अन्तर्गत 1896 से 1918 के मध्य प्रकाशित किया। इन लेखों के परिणामस्वरूप बर्न्सटीन का मार्क्सवाद के कट्टरपन्थी कार्ल कॉट्स्की

4. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 115.

से एक वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ। बर्न्सटीन को अब पूर्ण रूप से अपने विचारों को प्रस्तुत करने की आवश्यकता महसूस हुई। 1899 में बर्न्सटीन द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ –Evolutionary Socialism [5] (विकासवादी समाजवाद)–इसी विवाद का प्रत्युत्तर था। इस पुस्तक में वह बहुचर्चित पत्र भी है जिसे बर्न्सटीन ने अक्टूबर 1898 में जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के अधिवेशन के लिए लिखा था।

बर्न्सटीन पत्र, 1898

बर्न्सटीन जर्मन डेमोक्रेटिक पार्टी के प्रमुख सिद्धान्त व्याख्याता थे। अक्टूबर 1898 में *स्टग्गार्ट* (Stuttgart) में आयोजित जर्मन डेमोक्रेटिक पार्टी के अधिवेशन *के लिये लिखे गये एक महत्वपूर्ण पत्र में बर्न्सटीन ने कट्टरपंथी मार्क्सवादियों* पर करारा प्रहार किया तथा मार्क्सवाद के सम्बन्ध में आपत्तियों को सामने रखा। इस *सम्मेलन में बर्न्सटीन ने* मार्क्स के कई विचारों का खण्डन कर संशोधित विचारों को प्रस्तुत किया। इस पत्र के माध्यम से बर्न्सटीन ने *निम्नलिखित तत्वों की ओर* समाजवादियों का ध्यान आकर्षित किया—

(i) पूँजीवाद के पतन की धारणा पर विश्वास करना एक भूल होगी।

(ii) सामाजिक सम्पत्ति में जो व्यापक वृद्धि हुई है, या हो रही है उसका कारण, जैसा कि मार्क्स ने कहा है, बड़े बड़े पूँजीपतियों की संख्या में कमी होना नहीं है। सामाजिक सम्पत्ति में वृद्धि पूँजीपतियों की संख्या में वृद्धि के कारण ही सम्भव हो सकी है।

(iii) उद्योगों का केन्द्रीकरण उस गति से नहीं हो रहा जैसा कि मार्क्स ने कहा था और न यह प्रक्रिया एक समान तथा एकरूप हो रही है।

(iv) समाजवाद ऐतिहासिक आवश्यकता नहीं है। यदि समाजवाद अवश्यम्भावी होता तो विश्व में समाजवादी दलों को गठित करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये थी।

(v) कोई भी व्यवस्था अन्तिम नहीं होती। इसलिये समाजवाद के अन्तिम उद्देश्य में विश्वास नहीं किया जा सकता।

(vi) बर्न्सटीन ने समाजवादी आन्दोलन में भी अपना विश्वास व्यक्त किया। श्रमिक वर्ग की प्रगति, समाज को व्यापारिक वर्ग से मुक्त कराना, प्रत्येक क्षेत्र में लोकतन्त्र को प्रोत्साहन देना तथा वे जो श्रम करते हैं, जो उत्पादन में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं उनके हितों को संरक्षण देना आवश्यक है।[6]

---

5 इस पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद 1909 में प्रकाशित हुआ।
इस सम्बन्ध में देखिये —Western Social Thought by Kilzer and Ross, p 275.

6 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, pp 445-50

सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के इस अधिवेशन से एडुअर्ड बर्नस्टीन तथा कट्टर मार्क्सपंथी कॉट्स्की के मध्य खुले रूप से विचार संघर्ष प्रारम्भ हुआ। बर्नस्टीन ने अपने पत्र में मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्तों पर प्रहार किया था। मार्क्सवादी इसे सहन नहीं कर सके। परिणामस्वरूप बर्नस्टीन के विचारों को यूरोप के श्रमिक और अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी मंच पर मान्यता नहीं मिल सकी।[7] किन्तु बर्नस्टीन द्वारा मार्क्सवाद के विरोध में कमी नहीं आई। उन्होंने और अधिक तीव्रता से मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के खण्डन का अभियान आगे बढ़ाया।

बर्नस्टीन द्वारा मार्क्सवादी सिद्धान्तों का खण्डन

बर्नस्टीन ने अपने ग्रन्थ–Evolutionary Socialism–में मार्क्सवाद के प्रमुख सिद्धान्तों का खण्डन कर उनमें संशोधन का सुझाव दिया है। विभिन्न मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रति बर्नस्टीन का निम्नलिखित पुनर्विचारवादी-संशोधनवादी दृष्टिकोण है.–

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या बर्नस्टीन ने मार्क्स द्वारा इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को केवल संशोधित रूप में ही स्वीकार किया। उनका कहना था कि सामाजिक विकास तथा परिवर्तनों में उन कारकों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है जो आर्थिक नहीं हैं। आर्थिक कारक विचार निर्माण में अवश्य सहायक होते हैं लेकिन उसके बाद उन्हें क्या रूप दिया जाय यह बहुत से अन्य कारकों के प्रभाव पर निर्भर करता है।

वर्ग-संघर्ष—मार्क्स वर्ग-संघर्ष को अवश्यम्भावी मानता है। वर्ग-संघर्ष में निरन्तर वृद्धि तथा अन्त में श्रमिक शासन के विचार को बर्नस्टीन स्वीकार नहीं करते। इस सम्बन्ध में बर्नस्टीन का तर्क है कि, प्रथम, पूँजीवाद के विकास के साथ साथ वर्ग-संघर्ष में शिथिलता आई है। द्वितीय, श्रमिकों के शोषण के स्थान पर उनकी स्थिति में सुधार हुआ है। तृतीय, मध्य वर्ग और छोटे छोटे व्यापारियों की संख्या में वृद्धि से समाज के दो वर्गों में ध्रुवीकरण के अवसर कम होते जा रहे हैं। चतुर्थ, लोकतन्त्र के विकास ने क्रान्ति की सम्भावना को और भी कम कर दिया है। सूक्ष्म में, बर्नस्टीन का कहना था कि श्रमिक आन्दोलन के कारण श्रमिकों के शोषण में कमी आई है। कारखानों के विषय में नए नए कानूनों के बनने, शासन में लोकतन्त्र के विकास से, श्रम संगठनों पर प्रतिबन्ध उठने, सहयोगी व्यापार में वृद्धि होने आदि से क्रान्ति के अवसर कम होते जा रहे हैं।[8] बर्नस्टीन ने श्रमिकों को आह्वान किया कि वे वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप क्रान्ति की प्रतीक्षा में अनिश्चित काल तक न बैठे रहें। उन्हें तत्कालीन व्यवस्था को ही अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करना चाहिये।

साधन—सामाजिक परिवर्तनों के साधन के रूप में बर्नस्टीन ने क्रान्ति तथा हिंसा का समर्थन नहीं किया। वह कानूनी के माध्यम से परिवर्तन लाना चाहते थे। हिंसा

7. Crossland, C A R , The Future of Socialism, p 98.
8. Lancaster, Lane , Masters of Political Thought, Vol III, p. 306.

के द्वारा उद्देश्यों की प्राप्ति में शीघ्रता हो सकती है किन्तु कानूनों के द्वारा सुधार अधिक स्थायी होते हैं। कानूनों द्वारा परिवर्तनों से भावना के ऊपर बुद्धि तथा विवेक की विजय होती है किन्तु क्रान्ति में भावना विवेक पर हावी रहती है। बर्नस्टीन कानून को एक व्यवस्थित शक्ति मानते थे। समाजवादी आन्दोलन में सभी को साथ लेकर रचनात्मक विचार की आवश्यकता है न कि विध्वंसक भावना की।

सामाजिक युग परिवर्तन—मार्क्स की धारणा थी कि जब जब उत्पादन के साधनों या अन्य आर्थिक उपादानों में परिवर्तन होता है समाज एक अवस्था से दूसरी अवस्था में छलांग लगाकर प्रवेश करता है। मार्क्स का यह विचार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या तथा वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्तों का निष्कर्ष था। बर्नस्टीन ने इस धारणा को भी स्वीकार नहीं किया है। बर्नस्टीन के अनुसार सामाजिक परिवर्तनों का कारण जीवन की मूलभूत परिस्थितियों में परिवर्तन होना है। परिवर्तनों का कारण वर्ग-संघर्ष नहीं किन्तु मनुष्य का परिवर्तित परिस्थितियों के साथ स्वयं का सामन्जस्य करना तथा आवश्यकतानुसार अपनी संस्थाओं को परिस्थितियों के अनुकूल ढालने का सामर्थ्य है।

मूल्य का श्रम सिद्धान्त—इसी प्रकार बर्नस्टीन ने मूल्य के श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value) के विषय में शंकाएं व्यक्त की हैं। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित मूल्य का श्रम सिद्धान्त, बर्नस्टीन के अनुसार, पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था के दुर्गुणों का भण्डाफोड़ करने में अवश्य ही उपयोगी सिद्ध हुआ है, किन्तु इस सिद्धान्त को मूल्य तथा श्रम से सम्बन्धित सभी तत्त्वों एवं तथ्यों को समझने के लिये एक कुंजी मानना भूल होगी। यह सभी जानते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था में अतिरिक्त मूल्य का अस्तित्व तथा व्यापक प्रचलन है, किन्तु इस आधार पर कि श्रमिक को उसके श्रम तथा उत्पादन का पूर्ण फल नहीं मिलता एक वैज्ञानिक समाजवाद का आधार प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

श्रम संगठन—श्रम संगठनों के विषय में बर्नस्टीन का कहना है कि सामाजिक एवं उत्पादन कार्यों में उनके महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता किन्तु बर्नस्टीन श्रम संगठनों को सर्वव्यापी तथा उत्पादन प्रक्रिया में केवल एक ही कारक मानने के विरुद्ध था। यदि श्रम संगठनों के इतने व्यापक महत्त्व को स्वीकार किया जाय तो ये श्रम संगठन स्वयं ही उत्पादन में एकाधिकार (monopoly) का रूप धारण कर लेंगे। एकाधिकार चाहे वह पूंजीपतियों का हो या श्रम संगठनों का, समाजवाद तथा लोकतन्त्र के मूल सिद्धान्तों तथा सामाजिक न्याय के विरुद्ध होगा।

सर्वहारा समाजवाद—बर्नस्टीन सर्वहारा अधिनायकवाद के माध्यम से समाजवाद की स्थापना के विरुद्ध था। जिस समय सामाजिक लोकतन्त्र के प्रतिनिधि सरकारों के विभिन्न पदों पर आसीन होते जा रहे हैं, बर्नस्टीन का कहना था कि ऐसे समय सर्वहारा वर्ग अधिनायकत्व का प्रचार करना अति आपत्तिजनक था। सामाजिक

लोकतन्त्रवादी (Social Democrats) जिनके बर्न्सटीन स्वयं एक प्रमुख नेता थे, यह प्रयत्न कर रहे थे कि प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर एक उच्च सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जाय किन्तु अधिनायकवादी माध्यम द्वारा नहीं। किसी एक वर्ग की तानाशाही, बर्न्सटीन के अनुसार, एक निम्न सभ्यता को ही शोभा दे सकती है। यह राजनीतिक प्रगति के विपरीत है। बर्न्सटीन व्यापक तथा पूर्ण प्रतिनिधि-प्रणाली को सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का समुचित विकल्प मानता था।

राज्य का स्वभाव—मार्क्स के अनुसार राज्य एक वर्ग संगठन है। यह पूँजीपतियों तथा उच्च वर्ग के हितों को संरक्षण देने वाली संस्था है। मार्क्सवाद के अन्तर्गत साम्यवादी समाज में राज्य के लोप होने की बात कहते हैं। बर्न्सटीन राज्य के स्वभाव के विषय में मार्क्स के विवेचन से सहमत नहीं थे। वह राज्य को एक वर्ग संगठन न मानकर सहयोगी संस्था मानते हैं जिसके कार्यों में सभी को भाग लेना चाहिये।

राष्ट्रीय बनाम अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद—बर्न्सटीन ने इस विचार का विरोध किया कि सर्वहारा वर्ग की कोई मातृभूमि नहीं होती, वह एक मातृभूमि से सीमित होकर नहीं रहता तथा वह विश्व नागरिक है। बर्न्सटीन के अनुसार श्रमिक जैसे जैसे समाजवाद के प्रभाव में आता जायेगा वह सर्वहारा से हट कर नागरिक बनता चला जायेगा। बर्न्सटीन का प्रश्न था कि किस दृष्टि से सर्वहारा वर्ग को मातृभूमि से वंचित रखा जा सकता है जब कि उसे और उसकी सन्तान को उसका समुदाय (अथवा राज्य) शिक्षा का प्रबन्ध, स्वास्थ्य रक्षा तथा सुरक्षा प्रदान करता है। अपने विचारों से बर्न्सटीन ने राष्ट्रीय समाजवाद का समर्थन किया। बर्न्सटीन को राष्ट्रीय समाजवादी (National Socialist) भी कहा जा सकता है।[9]

मार्क्सवादी यूटोपियायी—बर्न्सटीन के अनुसार कार्ल मार्क्स के विचार वैज्ञानिक कम किन्तु यूटोपियायी अधिक हैं। बर्न्सटीन ने मार्क्स की इन धारणाओं को भ्रम बतलाया कि पूँजीवाद का अन्त निकट है, पूँजीवाद के स्थान पर श्रमिकवर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना होगी, तथा समाज समाजवाद से साम्यवादी अवस्था में प्रवेश करेगा। बर्न्सटीन ने मार्क्स के इन विचारों को कोरा काल्पनिक बतलाया जिन्हें व्यावहारिक रूप देना असम्भव था।

उदारवाद को समर्थन—बर्न्सटीन उदारवादी प्रवृत्तियों का प्रबल समर्थक था। यद्यपि सामन्तवादी व्यवस्था का उन्मूलन पूर्ण आवश्यक है किन्तु इसके साथ-साथ उदारवाद को समाप्त नहीं कर देना चाहिए। समाजवाद को उदारवादी विचारों तथा संस्थाओं को समर्थन देना चाहिये। उदारवाद के समर्थन से समाजवाद व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास में सहायक बन सकता है। बर्न्सटीन ने यह स्वीकार किया है कि "समाजवाद, कालक्रम तथा भावना से उदारवाद का वैध

9. Gray, A., The Socialist Tradition, p. 406.

उत्तराधिकारी है। वह कहता है कि ऐसा कोई भी सही उदारवादी विचार नहीं है जिसका समाजवाद में स्थान न हो, समाजवाद का कार्य वास्तव में उदारवाद को व्यवस्थित करना है।"[10]

मूल्यांकन

एडुअर्ड बर्नस्टीन ने मार्क्सवादी ज्वर एवं ज्वार का डट कर सामना किया। एलेक्जेण्डर ग्रे के अनुसार बर्नस्टीन ने इस सम्बन्ध में यह कभी दावा नहीं किया कि वह किसी नवीन विचार को प्रस्तुत कर रहे थे। वह केवल उन तथ्यों का अनुमोदन कर रहे थे जो सामने आ चुके थे तथा समाज में जिनका रहस्योद्घाटन हो चुका था।[11] यद्यपि उनकी गणना मार्क्सवादियों में की जाती है किन्तु पूर्णत वे न मार्क्सवादी थे और न मार्क्सवाद जैसी उग्रता और विचार क्षमता ही थी।

पूँजीवादी व्यवस्था के दोषों के विषय में वे मार्क्सवादी विचारों से अवश्य सहमत थे किन्तु उनके विचारों का प्रवाह दूसरी ओर ले जाता है। वे प्रमुख संशोधनवादी थे जिन्होंने मार्क्सवाद अवरोध (Containment of Marxism) अभियान को तीव्रता के साथ सचालन कर पश्चिम यूरोप को मार्क्सवादी विचारधारा से मुक्त रखने का प्रयत्न किया। उनके विचारों से प्राय यह आभास मिलता है (जैसा कि कट्टर मार्क्सवादी कहते हैं) कि बर्नस्टीन पूँजीपतियों की पूँछ थे जिन्होंने उच्च वर्ग का अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन किया। बर्नस्टीन तथा संशोधनवाद पूँजीवादी व्यवस्था के दोषों एवं दुर्बलताओं को भी दूर करना चाहते थे। जैसा कि लास्की ने कहा है उनका मुख्य विचार था कि यदि राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था में श्रमिकों के योगदान को स्वीकार किया जाय तो पूँजीवादी विकास सिद्धान्तों का प्रत्युत्तर दिया जा सकता है।

यथार्थता कुछ भी हो, लोकतान्त्रिक समाजवाद के विकास में बर्नस्टीन के योगदान की अवहेलना नहीं की जा सकती और यदि आज के मार्क्सवादियों पर दृष्टि डाली जाय तो वास्तव में सभी (साम्यवादियों सहित) संशोधनवादियों की श्रेणी में आते हैं।[13] बर्नस्टीन तथा अन्य संशोधनवादियों को यह देखकर सम्भवत आश्चर्य होता।[14]

---

10 Gray, A , The Socialist Tradition, p 406
11 Gray, A , The Socialist Tradition, p 402
12 Deane, Herbert A , The Political Ideas of Harold J Laski, p 183
13 Stankiewicz, W J (Ed) Political Thought Since World War II, p 137
14 Anderson, Thornton , Masters of Russian Marxism, p 260

छोटे उद्योगों की संख्या अधिक होने हुए भी मार्क्स की इस बात से मना नही किया जा सकता कि पूंजीवाद मे स्वयं को केन्द्रित कर एकाधिकार की प्रवृत्ति नही होती। कॉट्स्की ने बड़े-बड़े आर्थिक निगमों (Corporations) की आलोचना की है। पूंजीपतियों के इन बड़े बड़े निगमो से समाज मे सम्पत्ति के वितरण मे बाधा आई है। इससे समाज का उत्पादन कुछ मालिकों तथा पूंजीपतियो के एक मुठ्ठी भर वर्ग के हाथों मे केन्द्रित हो जाता है। निगम की स्थापना निर्धनों से धन इकट्ठा करके की जाती है। लेकिन इस धन का वे प्रयोग नही कर सकते। निगमो की राशि का प्रयोग केवल पूंजीपति ही कर सकते हैं। इससे पूंजीवादी व्यवस्था मे निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

कॉट्स्की तथा बर्नस्टीन के मध्य सबसे तीव्र मतभेद इस बात पर था कि पूंजीवाद को समाजवादी व्यवस्था मे किस प्रकार परिवर्तित किया जाय। अन्य शब्दो मे यह चालों तथा साधनो को लेकर मतभेद था। बर्नस्टीन व्यापक मताधिकार तथा कानूनों के माध्यम से समाजवाद की स्थापना करना चाहते थे। इस प्रकार वह शान्तिपूर्ण प्रगति के समर्थक थे। कॉट्स्की बर्नस्टीन के इस विचार से सहमत नही थे। कॉट्स्की के अनुसार समाजवाद केवल क्रान्ति के द्वारा ही सम्भव है यद्यपि क्रान्ति मे कम से कम हिंसा का प्रयोग किया जाना चाहिये। क्रान्ति मे शक्ति तथा हिंसा का कितना अंश हो यह विरोधी शक्ति पर निर्भर करता है।

कॉट्स्की श्रमिक एवं सहकारी आन्दोलन के पक्ष मे थे। एक सीमा तक श्रमिकों को संसद तथा कानून निर्माण मे भाग लेना चाहिये ताकि श्रमिकों की दशा मे सुधार किया जा सके। किन्तु इन गतिविधियों एवं ऐसे कार्यक्रमो को ही समाजवाद नहीं समझ लेना चाहिये। ये केवल समाजवाद की ओर दिशा बोध कराते हैं। संसद के कार्यों मे भाग लेना, सहकारी आन्दोलन का विस्तार, श्रमिक संगठनों की वृद्धि तथा सुधार कानून ही पर्याप्त नही होते। ये गतिविधियां, कॉट्स्की के अनुसार इसलिए अधिक सफल नही हो सकती क्योंकि सहकारिता की अपेक्षा पूंजी संचय तथा एकाधिकार मे वृद्धि अधिक गति के साथ होती है। श्रमिकों के वेतन से लाभ, अनुपात मे अधिक बढता है। इस प्रकार ये गतिविधियां अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती।

कॉट्स्की तथा अन्य कट्टरपन्थी मार्क्सवादी सिद्धान्त मे ही कट्टर थे व्यवहार मे नही। यद्यपि कॉट्स्की ने बर्नस्टीन की आलोचना की थी, व्यवहार मे उन्होंने बर्नस्टीन जैसा ही कार्य किया। राजनीति मे भाग लेने, अन्य गैर-समाजवादी दलो के साथ सहयोग करने आदि का काट्स्की ने अनुमोदन किया। काट्स्की का संशोधनवादियों की भांति लोकतन्त्र के प्रति भी लगाव था।

जैसा कि जोर्डन (Z A. Jordon) ने लिखा है काट्स्की और बर्नस्टीन दोनो ही समाजवाद के आदर्श को स्वीकार करते थे किन्तु दोनों यह भी स्वीकार करते

थे कि समाजवाद की आधारशिला लोकतंत्र है। उद्देश्यों के विषय में एक मत होते हुए भी वे इस विचार पर सहमत नहीं थे कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये कौनसे प्रभावकारी साधन अपनाए जाएं। इस विचार असहमति ने बर्नस्टीन को पुनर्विचारवादी बना दिया किन्तु जिन बातों को लेकर उनमें सहमति थी उसमें बर्नस्टीन किसी विशेष राजनीतिक दल या राजनीतिक विचार शाखा का संस्थापक नहीं बन सका। बर्नस्टीन और कॉट्स्की न तो पूर्णत सही थे न पूर्णत गलत। लेकिन पश्चिम यूरोप के समाजवादी विकास ने कॉट्स्की की अपेक्षा बर्नस्टीन से प्रेरणा ग्रहण की।[15]

कॉट्स्की तथा बर्नस्टीन के विवाद से कॉट्स्की के निम्नलिखित विचार स्पष्ट होते हैं—प्रथम, कॉट्स्की ने मार्क्स के आर्थिक विवेचन को स्वीकार किया है। द्वितीय, कॉट्स्की ने हिंसात्मक क्रांति के माध्यम से समाजवादी उद्देश्यों की प्राप्ति का अनुमोदन नहीं किया है। तृतीय, कॉट्स्की ने राजनीतिक लोकतन्त्र को श्रमिकों द्वारा स्वीकार करने पर जोर दिया। चतुर्थ, एरफर्ट कार्यक्रम को स्वीकार करते समय कॉट्स्की ने एक महत्वपूर्ण सुझाव दिया कि श्रमिक एवं सर्वहारा वर्ग को बुद्धिजीवियों का मार्गदर्शन स्वीकार करना चाहिये।[16] डा० आशीर्वादम् के शब्दों में "कॉट्स्की अपने को विकासवादियों में गिनने को तैयार न थे। जहां तक उनके सिद्धान्त का सम्बन्ध है यह दावा ठीक था किन्तु व्यवहार में वह विकासवादियों के बिल्कुल नजदीक थे। वह लोकतन्त्र और लोकतान्त्रिक तरीकों के समर्थक थे और सम्भवतः उनकी दृष्टि में लोकतन्त्र समाजवाद से भी ज्यादा महत्त्व रखता था। वह दक्षिणपक्षीय और वामपक्षीय दोनों ही प्रकार के विचलन (deviation) के विरोधी थे।[17]

कॉट्स्की तथा लेनिन

1917 में रूस में साम्यवादी क्रान्ति से कॉट्स्की के मन में एक प्रकार की ग्लानि उत्पन्न हुई। उन्होंने यह अनुभव किया कि रूस की क्रान्ति तथा इस क्रान्ति का नेतृत्व करने वाले (विशेषतः लेनिन) मार्क्सवाद के सही अनुयायी सिद्ध नहीं हुए। काट्स्की तथा लेनिन के मतभेद मार्क्सवाद को समझने और उसकी व्याख्या के विषय में थे। कॉट्स्की तथा लेनिन ने मार्क्सवाद को अलग अलग रूप में समझा। कॉट्स्की के अनुसार मार्क्स ने व्यापक मताधिकार से सर्वहारावर्ग द्वारा नियन्त्रित लोकतान्त्रिक शासन का समर्थन किया था। लेनिन के अनुसार मार्क्स ने सर्वहारावर्ग के लिये साम्यवादी दल के अधिनायकत्व का अनुमोदन किया था।

---

15 Jordon, ZA., The Philosophical Background of Revisionism, in Political Thought Since World War II, Ed. by W.J. Stankiewicz, p 261

16 Anderson, T., Masters of Russian Marxism, p. 47.

17 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 637.

क्रान्ति के उपरान्त रूस में जिस तानाशाही व्यवस्था का उदय हुआ कॉट्स्की ने इसे मार्क्सवाद के अनुरूप नहीं माना। रूसी क्रान्ति के नेता रूस में ऐतिहासिक तथा आर्थिक विकास के अनुपात में अधिक गति से बढ़ रहे हैं। कॉट्स्की ने रूसी क्रान्ति का अल्पसंख्यकों द्वारा सत्ता को छीनना तथा शक्ति के शासन की संज्ञा दी। जब तक सर्वहारा बहुमत का सक्रिय योगदान नहीं है, कॉट्स्की के अनुसार, कोई भी क्रान्ति सफल नहीं हो सकती। वह बोलशेविज्म का विरोध यह कह कर करते थे कि यह अल्पमत का शासन है और पशुबल का प्रतिनिधित्व करता है।

कॉट्स्की केवल पूंजीवर्ग के शोषण को ही नहीं, सभी प्रकार के शोषण को समाप्त करना चाहते थे चाहे यह शोषण किसी वर्ग, एक दल, लिंग या जाति का ही क्यों न हो। इस प्रकार कॉट्स्की ने रूस में साम्यवादी क्रान्ति तथा लेनिन की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कटु आलोचना की।

मार्क्सवाद के विषय में कॉट्स्की के विचार तथा रूस में साम्यवादी क्रान्ति की कटु आलोचना को लेनिन सहन करने वालों में से नहीं थे। लेनिन ने कॉट्स्की की पुस्तक-Dictatorship of the proletariat-का प्रत्युत्तर अपनी पुस्तक-The Proletarian Revolution Kautsky the Renegade1, 919-से दिया। लेनिन के अनुसार कॉट्स्की मार्क्सवाद को बिल्कुल ही नहीं समझ सका। मार्क्स तथा कॉट्स्की में, लेनिन के अनुसार, उतना ही अन्तर है जितना एक सर्वहारा क्रान्तिकारी और तुच्छ पूंजीपति में है। लेनिन ने काट्स्की को एक दस वर्षीय बालिका जैसा अनभिज्ञ तथा निष्क्रिय विद्वान बेवकूफ (most learned arm-chair fool) कह कर भत्सना की।

लेनिन के अनुसार कॉट्स्की जिस लोकतन्त्र की बात करता है वह एक पूर्ण विवेकहीन विचार है। यहाँ कॉट्स्की वही त्रुटि करता है जो सभी पूंजीवादी लोकतन्त्र में विश्वास रखने वाले करते हैं। ऐसे लोकतन्त्र में काट्स्की का समानता सम्बन्धी विचार बिल्कुल बनावटी और धोखा है। पूंजीवादी लोकतन्त्र के अन्तर्गत शोषण तथा शोषित वर्ग के मध्य समानता का प्रश्न ही नहीं उठता।

कॉट्स्की जिस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था को समाजवाद में परिवर्तित करने की बात कहता है लेनिन के अनुसार, इससे समस्या का समाधान नहीं होता। लेनिन ने प्रश्न किया कि क्या पूंजीपति, भूमिपति, कारखानों के मालिक जो सदैव शोषक रहे हैं शोषित बहुमत के शासन को बिना शक्ति प्रयोग किये मान सकते हैं?

काट्स्की का कहना था कि जब यह दावा किया जाता है कि रूस में सर्वहारा वर्ग का बहुमत है तो फिर तानाशाही व्यवस्था स्थापित करने की क्या आवश्यकता है। इसके उत्तर में लेनिन ने मार्क्स तथा एन्जिल्स के विचारों को उद्धृत करते हुए कहा कि सर्वहारा अधिनायक की आवश्यकता पूंजीपतियों तथा प्रतिक्रियावादियों के विरोध

को कुचलने तथा जन-शासन को बनाये रखने के लिए अधिनायकवादी व्यवस्था के औचित्य को चुनौती नहीं दी जा सकती।

लेनिन ने संशोधनवादियों का सामना एक धर्मयुद्ध के समर्थन की भांति किया। उसने द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय तथा बर्नस्टीन और कॉट्स्की की कटु आलोचना की। लेनिन ने बर्न्सटीन तथा कॉट्स्की को मार्क्सद्रोही, समाजवाद को धोखा देकर भागने वाला कहा। कॉट्स्की के लिये लेनिन ने एक लुच्चा तथा पूँजीपतियों के हाथों बिका हुआ हीन मस्तिष्क वाला कहा।[18] अपनी एक पुस्तिका—The Task of the Proletariat-में लेनिन ने कहा है कि अवसरवादी तथा द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय के समर्थकों के विचारों का समय एक भ्रष्ट युग है। लेनिन ने सर्वहारावर्ग के लिये आह्वान किया कि वे संशोधनवादियों के भुलावे में न आकर साम्यवादी घोषणापत्र की ओर वापस जायें। साम्यवादी बर्न्सटीन के साथ-साथ कॉट्स्की को संशोधनवादी कहकर निन्दा करते हैं। वे कॉट्स्की के विचारों को मार्क्सवाद के प्रति विश्वासघात समझते हैं। 1961 में रूस के साम्यवादी दल ने लेनिन द्वारा संशोधनवादियों की जो तीव्र आलोचना की गई थी उसे पुन. दोहराया। समय-समय पर इसकी पुनरावृत्ति होती रहती है।

कार्ल कॉट्स्की के समाजवाद के विकास में योगदान को एक सीमा तक स्वीकार करना पड़ेगा। इस बात को नहीं भूल जाना चाहिये कि लेनिन द्वारा प्रतिपादित कुछ व्यक्तियों की तानाशाही के विरुद्ध लोकतन्त्र का अनुमोदन कर कॉट्स्की ने समाजवाद की एक बड़ी सेवा की है। यही कारण था कि लेनिन ने कॉट्स्की को सैद्धान्तिक भगोड़ा (renegade) की संज्ञा दी।[19] उनके विचारों को एडुअर्ड बर्न्सटीन तथा लेनिन के मध्य रखा जा सकता है। जैसा कि हेलोवेल ने लिखा है कॉट्स्की ने लोकतान्त्रिक परम्परा और मार्क्सवादी समाजवाद का समन्वय कर जर्मनी में सामाजिक लोकतान्त्रिक दल को विचार आधार प्रदान किया। कहीं-कहीं कॉट्स्की ने यह भी विचार दिया है कि लोकतन्त्र समाजवाद से अधिक महत्त्वपूर्ण है। समाजवाद शोषण का अन्त करने के लिये आवश्यक साधन है, स्वयं में साध्य नहीं। लोकतन्त्र तथा समाजवाद पृथक होकर शोषण का अन्त नहीं कर सकते। शोषण का अन्त करने के लिये लोकतन्त्र और समाजवाद दोनों ही आवश्यक है, यही कॉट्स्की के विचारों का मूल है।

पुनर्विचारवाद एवं संशोधनवाद का वर्तमान स्वरूप

एडुअर्ड बर्न्सटीन, कार्ल कॉट्स्की, प्लेखनॉव (George V. Plekhanov, 1856-1918) आदि को मार्क्सवाद पर पुनर्विचार करने या मार्क्सवाद विरोधी

18 Gray, A., The Socialist Tradition, p. 464.

19. Jordon, Z. A., The Philosophical Background of Revisionism, opp cit, p. 261.

20. Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought, pp. 457-458.

विचारों को व्यक्त करने के आधार पर सशोधनवादी होने की सज्ञा दी गई। उन्हे मशोधनवादी कहने का कारण सैद्धान्तिक मतभेद था तथा यह मतभेद मार्क्सवाद तक ही सीमित था। आगे चल कर मार्क्सवाद के साथ लेनिनवाद और जोड दिया गया। अब मार्क्सवाद लेनिनवाद पर सैद्धान्तिक मतभेदो के आधार पर सशोधनवादियो का निर्धारण होने लगा। स्टालिन के शासन काल मे उसके विरोधियो को इसी आधार पर सशोधनवादी कह कर निन्दा की गई थी। ट्रॉट्स्की का सोवियत साम्यवादी दल तथा रूस से निष्कासन इसी कारण किया गया। उस पर यह आरोप लगाया गया था कि उसने मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विरुद्ध कार्य कर सशोधनवाद को प्रोत्साहन दिया। इसी प्रकार रूस के कई अन्य शीर्षस्थ नेताओ जैसे—बुखारिन (Nikolai I Bukharin 1888-1938) जिन पर लेनिन विरोधी विचारो का आरोप लगाकर मृत्यु दण्ड दिया, तथा कामेनेव (Kamenev) जिनोवेव (Zinovev) तथा रायकोव (Rykov) आदि का भी इन्ही आरोपो के साथ उन्मूलन कर दिया गया। स्टालिन की मृत्यु के उपरान्त निकिता ख्रुश्चेव ने भी स्टालिन पर अन्य आरोपो के साथ लेनिनवाद विरोधी कहकर लगभग सशोधनवादी कोष्ठक मे सम्मिलित करने का प्रयास किया गया।

अभी तक पुनर्विचारवादी शब्द का प्रयोग उनके लिए किया जाता था जिन्होने मार्क्सवाद मे पुनर्विचार और सशोधन का सुझाव दिया हो। किन्तु चीन के सन्दर्भ मे पुनर्विचारवाद का अब व्यापक अर्थ मे प्रयोग किया जाने लगा है। चीन मे मार्क्सवाद के अतिरिक्त माओवाद की आलोचना करने वालो को भी पुनर्विचारवादियो की श्रेणी मे लिया जाता है। चीन मे तथाकथित सास्कृतिक क्रान्ति के समय ल्यू शाओ ची, चेन यी आदि को माओवाद के विषय मे पुनर्विचारवादी और सशोधनवादी कहकर अपमानित किया गया एव पदो से हटाया गया। इस श्रेणी मे चीन के कई और शीर्षस्थ नेता आते जा रहे हैं। लिन पिआओ के बाद चेन पोटा (Chen Po-to) को आजकल प्रमुख सशोधनवादी कहा जाता है। जुलाई 1974 मे चेन पोटा पर यह आरोप लगाया गया कि 1969-70 मे उन्होने अपने 'पुनर्विचारवादी भाषण' मे माओवाद के कुछ पक्षो पर शका व्यक्त की। साथ ही साथ माओ द्वारा निर्देशित सम्पूर्ण देश मे 'क्रान्तिकारी समितियो' को अधिक कार्यशील बनाने की अवहेलना की। इस प्रकार चीन मे पुनर्विचारवाद या सशोधनवाद के दो पक्ष निर्धारित कर दिये गये हैं। चीन द्वारा दूसरे देश के व्यक्ति को जब सशोधनवादी कहा जाता है इसका सम्बन्ध मार्क्सवाद-लेनिनवाद से है। जब चीन के किसी नेता पर सशोधनवादी होने का आरोप लगाया जाता है इसका तात्पर्य माओवाद के विषय मे पुनर्विचार करने से है।

सशोधनवाद, साम्यवाद सत्ता सघर्ष

यदि सशोधनवाद का सही विवेचन किया जाय तो प्रत्येक प्रमुख साम्यवादी सशोधनवादी की श्रेणी मे आता है। लेनिन, स्टालिन, ख्रुश्चेव, मार्शल टीटो, माओ

त्से-तुंग आदि सभी संशोधनवादी है। इन सभी ने मार्क्सवाद पर पुनर्विचार कर संशोधन किये यद्यपि साम्यवादी इसे संशोधन न कह कर परिवर्तन कहते हैं। लेकिन साम्यवाद के सन्दर्भ मे सशोधनवाद को केवल सत्ता सघर्ष के सन्दर्भ मे ही समझा जा सकता है। ट्रॉट्स्की को सशोधनवादी एव विचलनवादी (deviationist) इसलिए कहा जाता है क्योंकि वे स्टालिन से सत्ता सघर्ष मे असफल रहे। इसी प्रकार चीन मे लिन पियाओ एव लू शाओ ची को सशोधनवादियो की श्रेणी मे लिया जाता है क्योंकि वे सत्ता सघर्ष मे पराजित हुए। यदि स्टालिन या माओ त्से-तुंग सत्ता संघर्ष मे पराजित एवं असफल होते तो सम्भवत ये दोनो सबसे महान सशोधनवादी-विचलनवादी कहलाते। इसलिए वर्तमान मे सशोधनवाद मार्क्सवाद के विवेचन से उतना सम्बन्धित नही जितना कि साम्यवादी राज्यो के अन्तर्गत सत्ता-सघर्ष से है।

साम्यवादी राज्यो के आपसी सम्बन्धो के विषय में भी संशोधनवाद और पुनर्विचारवाद का प्रयोग किया जाने लगा है। मार्शल टीटो के नेतृत्व मे जब यूगोस्लाविया ने रूस से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया मार्शल टीटो पर भी साम्यवाद विरोधी और पुनर्विचारवादी होने का आरोप लगाया। किन्तु रूस और चीन ने अपने बिगडते हुए पारस्परिक सम्बन्धो के परिप्रेक्ष्य मे एक दूसरे पर मार्क्सवाद-लेनिनवाद विरोधी तथा पुनर्विचारवादी कह कर निन्दा की है। आजकल यह लगभग एक स्थायी तत्त्व बन गया है।

पाठ्य-ग्रन्थ

1. Anderson, T., — Masters of Russian Marxism.
2. कोकर, फ्रांसिस., — आधुनिक राजनीतिक चिन्तन अध्याय 4, प्रजातान्त्रिक एव विकासवादी समाजवादी
3. Cole, G.D H., — A History of Socialist Thought, Chapter V, Germany:The Revisionist Controversy.
4. Gray, A., — The Socialist Tradition Chapter 14 (b) Eduard Bernstein and Revisionism.
5. Hallowell J. H. — Main Currents in Modern Political Thought, Chapter 13, Socialifm After Marx
6. Labedz. eopold., Ed. — Revisionism
7. Stankiewicz, W.J., Ed. — Political Thought since World War II, Part III, Revisionism and Polycentrism.

8

फासीवाद एवं नात्सीवाद

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् इटली में फासीवाद का प्रादुर्भाव हुआ। फैसिज्म (Fascism) शब्द की उत्पत्ति इटली भाषा के शब्द 'फैसियो' (Fascio) से हुई है फैसियो' शब्द का अर्थ है लकड़ियों का बन्धा हुआ गट्ठा'। लकड़ियों का बन्धा हुआ गट्ठा एकता, अनुशासन और शक्ति का प्रतीक माना जाता है। प्राचीन काल में रोमन साम्राज्य का राज्य-चिह्न फैसियो तथा कुल्हाड़ी था क्योंकि रोमन राजनीति एकता और शक्ति पर बल देती थी।

प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने के लगभग एक वर्ष पश्चात् 1915 में मिलान (Milan) शहर में मुसोलिनी (Benito Mussolini, 1883–1945) के नेतृत्व में फैसियो (Facio) नामक संस्था की स्थापना हुई। इस संस्था की स्थापना का उद्देश्य इटली के व्यक्तियों को एकता और अनुशासन के सूत्र में बाँधना था जो राष्ट्र के लिये मर मिटने को तैयार हों। इस दल ने भी फैसियो को अपना चिह्न बनाया। इसके सदस्य 'फैसिस्ट' कहलाते थे तथा इस दल की नीति एवं विचारधारा फैसिज्म कहलायी जाने लगी। युद्ध के उपरान्त 1919 में कई कारणों से इस संस्था का पुनर्निर्माण किया गया। इटली की समकालीन परिस्थितियों ने मुसोलिनी का साथ दिया। अक्टूबर 1922 के अन्तिम सप्ताह में इटली की शासन सत्ता मुसोलिनी के हाथों आयी जो जुलाई 24, 1943 तक इटली के एक-छत्र तानाशाह रहे।

जर्मन फासीवाद राष्ट्रीय समाजवाद

प्रथम विश्व युद्ध के बाद ही फासीवाद का एक अन्य नामकरण के अन्तर्गत जर्मनी में प्रादुर्भाव हुआ। जिस फासीवादी विचारधारा का जर्मनी में उद्भव हुआ उसे नात्सीवाद (Nazism) के नाम से जाना जाता है। कुछ ही तत्वों को छोड़कर ये दोनों विचारधाराएँ एक ही हैं।[1] जर्मनी में हिटलर (Adolf Hitler, 1889–1945) के नेतृत्व में नात्सीवाद, जिसे राष्ट्रीय समाजवाद भी कहा जाता था, का

1 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 591

प्रादुर्भाव हुआ। जिन परिस्थितियों में इटली में फासीवाद पनपा लगभग वैसी ही परिस्थितियों से जर्मनी में नात्सीवाद का उद्भव हुआ। प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी एक पराजित राज्य था। पेरिस शान्ति सम्मेलन में जर्मन प्रतिनिधि मण्डल को बड़ा ही अपमानित किया गया। वर्साय की शान्ति सन्धि (Treaty of Versailles, 1919) जर्मनी पर थोपी गई सन्धि थी, जो शान्ति सन्धि न होकर युद्ध का आमन्त्रण थी। वर्साय की सन्धि के अन्तर्गत जर्मनी का बहुत सा क्षेत्र छीन लिया तथा उसका पूर्णतः विसैन्यीकरण किया गया। युद्ध क्षति के रूप में जर्मनी को बहुत सी राष्ट्रीय सम्पत्ति विजेता राज्यों को देनी पड़ी। वास्तव में युद्ध क्षति के नाम पर विजेता राज्यों ने जर्मनी की आर्थिक लूट की। परिणामस्वरूप जर्मनी में भारी असन्तोष था। आर्थिक अराजकता और राजनीतिक अस्थिरता ने जर्मनी में फासीवादी शासन की स्थापना करने में बड़ी सहायता दी। इस असन्तोष का लाभ हिटलर ने उठाया तथा 1933 के प्रारम्भ में वह जर्मनी का तानाशाह बन बैठा।

हिटलर के फासीवादी (या नात्सीवादी) विचार हमें उसकी आत्मकथा-Mein kampf (मेरा संघर्ष)–में मिलते हैं। हिटलर तथा मुसोलिनी, अन्य शब्दों में फासीवाद और नात्सीवाद, के विचारों में तत्वतः कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसलिये इनके विचारों को एक ही अध्याय के अन्तर्गत लेना अनुपयुक्त नहीं होगा। राष्ट्र राज्य, व्यक्ति, दल, नेता, साध्य एवं साधन, विस्तारवाद आदि के विषय में इन दोनों के विचार लगभग समान ही हैं। इस अध्याय में कई स्थलों पर इन दोनों के विचारों को एक रूप में प्रस्तुत कर इनकी समानता को भी व्यक्त किया गया है।

फासीवाद केवल इटली और जर्मनी राज्य तक ही सीमित नहीं रहा, पूर्वी यूरोप के राज्य जैसे स्पेन और पुर्तगाल, तथा कुछ लैटिन अमरीकी राज्यों में भी फासीवादी अधिनायकतन्त्र का प्रादुर्भाव हुआ। दोनों विश्व युद्धों के मध्य फासीवाद यूरोप पर छाया रहा। इटली तथा जर्मनी से समस्त यूरोप भयावह सा प्रतीत होने लगा। मुसोलिनी तथा हिटलर ने विस्तारवादी नीतियों को अपनाया। इन्हीं विस्तारवादी नीतियों के सन्दर्भ में इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने सन्तुष्टिकरण की नीति (Policy of Appeasement) स्वीकार कर फासीवादी विस्तारवाद को अप्रत्यक्ष रूप से बड़ा समर्थन दिया। परिणामस्वरूप इटली ने अबीसीनिया तथा अलबानिया, जर्मनी ने आस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उधर स्पेन में जनरल फ्रेन्को (General Franco) ने उस देश में फासीवादी व्यवस्था की स्थापना की। अन्त में मुसोलिनी तथा हिटलर की विस्तारवादी नीति तथा इसके प्रत्युत्तर में इंग्लैण्ड-फ्रांस के संतुष्टिकरण दृष्टिकोण ने विश्व को दूसरे महायुद्ध में धकेल दिया। द्वितीय विश्व युद्ध में फासीवादियों को क्षणिक विजय अवश्य प्राप्त हुई; किन्तु अन्त में उन्हें पराजित होना पड़ा। इस प्रकार विश्व को जो फासीवाद का भय था वह समाप्त हो गया। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह विचारधारा

सदैव के लिए समाप्त हो गई हो। समय समय पर यह विचारधारा कई देशों में अपना क्रूर सर ऊपर उठा लेती है। लेकिन अमरीकी राज्य अभी भी फासीवादी विचारधारा के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये हैं।

प्रेरणा एवं पृष्ठभूमि

फासीवाद के बहुत कुछ सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव या प्रचलन इटली में किसी न किसी रूप में प्रत्येक युग में रहा है। प्राचीन काल में इसी क्षेत्र में कई प्रमुख राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ नगर राज्य निरंकुशता और एकता के लिए प्रसिद्ध थे। जब रोम साम्राज्य का अभ्युदय एवं विस्तार हुआ, इटली तथा प्रसिद्ध नगर रोम इस साम्राज्य का केन्द्र थे। उग्र राष्ट्रवाद, एकता, शक्ति राजनीति, विस्तारवाद और निरंकुशवाद रोम साम्राज्य के शासन-सिद्धान्त थे। मुसोलिनी ने रोमन परम्परा का पूर्णतः अनुकरण किया और ये तत्व फासीवाद के प्रमुख आधार बन गये।

रोम की देवी (The Godess Rome) के स्मारक का निर्माण 1870 में किया गया। इस स्मारक को बनाने का उद्देश्य इटली की एकता और एकीकरण को मूर्तरूप देना था। रोम की देवी के प्रति मुसोलिनी की अटूट श्रद्धा थी। इटली की सत्ता सम्हालने के उपरान्त मुसोलिनी ने प्रधानमन्त्री के रूप में अपना सर्व-प्रथम भाषण रोम की देवी के चरणों के पास खड़े होकर दिया। सम्पूर्ण इटली तथा विशेषतः फासीवादियों के लिए यह मूर्ति एक विशेष प्रेरणा की स्रोत थी।[2]

एकता, गौरव तथा सीमा-विस्तार की आकांक्षा इटली की परम्परा रही है रोमन साम्राज्य के पतन के उपरान्त इटली शताब्दियों तक अव्यवस्था और विघटन के अंधकार में डूबा रहा। चौदहवीं शताब्दी में दान्ते (Dante, 1265–1321) इटली की एकता और विस्तार का प्रथम पैगम्बर सिद्ध हुआ। यह श्रेय दान्ते को ही जाता है कि उसने उस समय इटली की सीमा को स्पष्ट किया। दान्ते के अनुसार इटली की सीमा के अन्तर्गत व सभी क्षेत्र आने चाहिये जिन्हें आजकल, इटली, आस्ट्रिया तथा भूमध्य-सागरीय क्षेत्र कहा जाता है। दान्ते के ग्रन्थ - *De Monarchia* – में रोम को विश्व-विचार का स्रोत तथा विश्व शासन का केन्द्र कहा गया है। दान्ते के विचारों को मुसोलिनी ने ग्रहण किया। फासीवाद दान्ते के विचारों को पूर्णतः कार्यरूप देना चाहता था। सितम्बर 1933 में फासीवादी क्रान्ति दशक के समारोह का अन्त दान्ते के मकबरे पर ही हुआ था। यह मकबरा फासिस्टों के लिये एक तीर्थस्थल के समान था।[3]

पन्द्रहवीं शताब्दी में मेकियावली (Niccolo Machiavelli, 1469–1527) प्रसिद्ध व्यवहारवादी और कूटनीतिक विचारक हुआ। वह राष्ट्रवाद, निरंकुशवाद

2 Munro, Ion S., Through Fascism to World Power, see footnote to Frontis piece—The Shrine of Italy

3 पूर्व सन्दर्भ पृ 7–9

तथा शक्तिवाद का समर्थक था। इस पूर्वगामी विचारक का मुसोलिनी पर बड़ा प्रभाव पड़ा। फासिस्टों की शिक्षा और आचरण से ऐसा प्रतीत होता था कि कुख्यात मेकियावेली एक बार फिर जीवित हो उठा हो।[4]

इटली की एकता, गौरव एवं गरिमा में वृद्धि करने वाले प्रत्येक कार्य को फासिस्ट उचित मानते थे। 1870-71 में इटली का एकीकरण फासिस्टवादियों के समक्ष एक आदर्श घटना थी। इटली के एकीकरण ने इस क्षेत्र के कई छोटे-छोटे राज्यों को एकता के सूत्र में बांध कर एक नये राष्ट्र को जन्म दिया। इस एकीकरण ने इटली की शक्ति और समृद्धि में वृद्धि की तथा इसकी गणना योरोप के अग्रणीय राज्यों में की जाने लगी। मुसोलिनी इस एकीकरण को अंतिम रूप देना चाहता था। उसका उद्देश्य इटली को एक भूमध्य-सागरीय शक्ति बनाना था जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रभावशाली योगदान दे सके।

फासीवाद के प्रेरणा-स्रोत अठ्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में प्रचलित आदर्शवाद (Idealism), डार्विनवाद (Darwinism), अबुद्धिवाद (Irrationalism) और परम्परावाद (Traditionalism) आदि विचारधाराएँ थीं। इन विचारधाराओं से फासीवाद और नात्सीवाद ने बहुत से सैद्धान्तिक तत्त्व ग्रहण किये हैं। आदर्शवादियों में कान्त (Immanuel Kant, 1724-1804) तथा हीगल (Friedrich Hegal, 1770-1831) ने फासीवादियों को बहुत प्रभावित किया। हीगल का आदर्शवाद पूर्णतः राजसत्ताधारी और निरंकुशवादी था। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इटली में नव-हीगलवाद का प्रादुर्भाव हुआ। यह व्यक्तिवादी, उदारवादी परम्पराओं के विरुद्ध था। राज्य को ये अवयवी (Organic) और स्वयं-राज्य तथा व्यक्ति को साधन मात्र मानते थे। सूक्ष्म में इन्होंने राज्य की सर्वोपरिता का प्रतिपादन किया। इटली के प्रसिद्ध विद्वान् गियोवानी जेंटाइल (Giovanni Gentile) नव-हीगलवाद के प्रबल समर्थक थे जो मुसोलिनी के शासन काल में राज्य के शिक्षा मन्त्री तथा राष्ट्रीय फासीवादी सांस्कृतिक संस्थान के निदेशक रहे। इन्होंने फासीवादी विचारधारा का समय-समय पर विवेचन कर शासन व्यवस्था को बड़ा प्रभावित किया।

डार्विनवाद—उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin) से फासीवादियों ने बहुत कुछ ग्रहण किया। डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary Theory) के अनुसार प्राणियों को जीवित रहने के लिये संघर्ष करना पड़ता है। जो सबल है वही जीवित और अपना अस्तित्व बनाये रखने में सक्षम होता है; निर्बल नष्ट हो जाते हैं। अन्य शब्दों में डार्विनवाद इन तत्त्वों पर आधारित था कि—

(i) प्रगति के लिये संघर्ष आवश्यक है;

(ii) यह संघर्ष व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं, समूहों में भी चलता है;

4. आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 664.

(iii) वह समूह विजयी होता है जिसमें एकता और अनुशासन होता है। समाजिक डार्विनवाद के इन सिद्धान्तों ने फासीवाद-नात्सीवाद को अत्यधिक प्रभावित किया। फासीवाद के संघर्ष तथा विस्तारवादी विचार-सूत्र इन्हीं से प्रेरणा प्राप्त हैं।

अविवेकवाद—फासीवाद बीसवीं शताब्दी में 'बुद्धि के प्रति विद्रोह' (Revolt against Reason) का व्यावहारिक रूप था।[5] अबुद्धिवाद अथवा अविवेकवाद में बुद्धि तथा विवेकपूर्ण तर्क का कोई स्थान नहीं होता। फासीवादियों पर अबुद्धिवादी विचारक शॉपनहोर (Arthur Schopenhaur, 1788–1860) नीत्शे (Friedrich Wilhelm Nietzsche, 1844–1900) सोरेल (George Sorel, 1847-1922) और बर्गसा (Henry Bergson, 1859–1941) का प्रमुख प्रभाव था। वे सोरल और बर्गसा के अन्तःप्रेरणा सिद्धान्त को स्वीकार करते थे। इसके अनुसार मनुष्य बुद्धि से प्रेरित होकर कार्य नहीं करता। वास्तविकता यह है कि मनुष्य अपने आचरण में मूल प्रवृत्तियों एवं भावनाओं के वशीभूत रहता है न कि विवेक या तर्क से।[6] फासीवाद तर्कसंगत विचारधारा तो थी नहीं। इसको जनप्रिय बनाने का प्रमुख साधन यही था कि मनुष्य की भावनाओं को यश राष्ट्रवाद आदि से उकसाया जाय जो अन्धविश्वास की तरह उनका पालन करें। मुसोलिनी तथा हिटलर ने इन्हीं मनोवैज्ञानिक पद्धतियों का अनुसरण किया था। वे राष्ट्र एवं जाति के नाम पर ऐसी श्रद्धा एवं विश्वास का सर्जन करना चाहते थे जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति कार्य करे। वे सत्य के स्थान पर भ्रान्ति (myth) को प्राथमिकता देते थे। यही कारण है कि फासीवाद तर्क या प्रमाणों से सिद्ध नहीं किया जा सकता, यह तो केवल इच्छा और विश्वास के कारण ही सत्य है।[7]

परम्परावाद—अविवेकवाद पर आधारित परम्परावाद फासीवाद का मूल प्रेरणा तत्व था। परम्परावाद क्रान्तिकारी विचारधाराओं के विपरीत है। क्रान्तिकारी विचारधाराएँ पुरातन एवं परम्परागत व्यवस्था को उखाड़कर नई व्यवस्था की स्थापना करती हैं। लेकिन परम्परावादी रूढ़ियों तथा पुरातन तत्वों के समर्थक होते हैं। इटली के प्रसिद्ध परम्परावादी विचारक जॉजफ मत्सीनो का विचार था कि किसी भी राष्ट्र की प्रगति एवं विकास में परम्पराओं का विशेष योगदान रहता है। जिन राष्ट्रों ने अपने समाज की परम्पराओं का पोषण किया है वे बड़े राष्ट्र बने हैं। शासन सत्ता प्राप्त करने, उसे बनाये रखने के लिये फासीवादियों ने परम्परावादी दृष्टिकोण का ही आश्रय लिया। फासीवादी शासन के समर्थन में मुसोलिनी सदैव प्राचीन परम्पराओं के उदाहरण देता था। वह रोम साम्राज्य के गौरव को जनता के समक्ष रखकर उनकी भावनाओं को शासन के प्रति श्रद्धा में परिवर्तित करता था।

5 Hallowell, J H, Main currents in Modern Political Thought, p 604
6 Lancaster, L W, Masters of Political Thought, Vol III, p 267.
7 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ 662.

फासीवाद के उत्थान एवं प्रगति में इटली के निम्न मध्य-वर्ग से अत्यधिक समर्थन प्राप्त हुआ। मुसोलिनी स्वयं इसी वर्ग से सम्बन्धित था। फासीवादी दल के अधिकतर सदस्य बुनकर, लोहार, डबल रोटी बनाने वाले, छोटे-छोटे दुकानदार एवं पूंजीपति थे। यह वर्ग श्रमिक वर्ग एवं पूंजीवर्ग दोनों से ही द्वेष रखता है। यह समाजवादी व्यवस्था से डरता है क्योंकि इसके अन्तर्गत उसकी छोटी सी पूंजी का अन्त होकर कहीं उनकी स्थिति श्रमिकों जैसी ही न हो जाय। निम्न मध्यवर्ग पूंजीपतियों की सम्पत्ति और वैभव से भी वैमनस्य रखता है। मुसोलिनी का कार्यक्रम इस मध्यवर्ग की मनोवृत्ति की सन्तुष्टि करना था, उसका कार्यक्रम इसी वर्ग के अनुरूप था। चूंकि मुसोलिनी पूंजीपतियों के एकाधिकार और श्रमिकों की क्रान्ति दोनों का ही विरोधी था, इसलिये निम्न मध्यवर्ग ने उसका पूरी तरह साथ दिया। यही वर्ग मुसोलिनी की लोकतान्त्रिक भ्रान्ति की सन्तुष्टि कर फासीवादी व्यवस्था पर लोकप्रिय आवरण डालने में सहायक हुआ।

तत्कालीन परिस्थितियों की उपज: अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति—इटली में फासीवाद तथा जर्मनी में नात्सीवाद के उद्भव के तत्कालीन कारण प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त शान्ति सन्धियों में निहित थे। इन्हीं शान्ति सन्धियों के प्रावधानों के परिणामस्वरूप यूरोप में अधिनायकवाद का प्रादुर्भाव हुआ और इन्हीं शान्ति सन्धियों ने द्वितीय विश्व युद्ध को आमन्त्रण दिया। यद्यपि इटली प्रथम विश्वयुद्ध में विजयी राज्य था, जिन आशाओं को लेकर उसने इंग्लैंड, फ्रांस आदि का साथ दिया थे युद्ध के उपरान्त पूरी नहीं हुई। युद्ध के पूर्व इटली 'त्रिदेशीय सन्धि' (Triple Alliance, 1882) का सदस्य था। किन्तु अप्रेल 26, 1915, को लन्दन में इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस और इटली के मध्य एक गुप्त सन्धि हुई जिसके अन्तर्गत इटली को धन तथा बहुत सा प्रदेश देने का वचन दिया। युद्ध के उपरान्त इटली को आशा थी कि शान्ति सन्धियों के अन्तर्गत उसे आस्ट्रिया का कुछ भाग तथा अफ्रीका में कुछ उपनिवेश प्राप्त होंगे। उसे प्रमुख भूमध्यसागरीय शक्ति के रूप में स्वीकार किया जायगा।[8] इंग्लैण्ड तथा फ्रांस अपने साम्राज्यवादी ध्येयों की ही पूर्ति में लीन रहे तथा पराजित क्षेत्रों को इन्होंने स्वयं ही हड़प लिया। इटली को निराशा के अतिरिक्त और कुछ न मिल सका। भूमध्यसागरीय प्रदेश न तो इटली के प्रभाव क्षेत्र में आ सके और न ही वह राष्ट्रसंघ में कोई प्रभाव अर्जित कर सका। इटली ने युद्ध के उपरान्त सभी व्यवस्थाओं को सदैव अपना अपमान समझा। इस असन्तोष का मुसोलिनी ने अपने लिए सत्ता में लाने के लिए पूर्णतः प्रयोग किया। मुसोलिनी स्वयं ही इस गहरे असन्तोष की भावना का मूर्तरूप था।[9]

---

8 Marriot, J A R., Modern England, 1885, 1945, p 393.
9 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ० 660.

आन्तरिक परिस्थिति—इटली में लोकतान्त्रिक एवं संसदीय परम्पराओं की जड़ें कभी भी गहराई तक नहीं पहुंच पायी। 1861 से, जबकि इटली के कई राज्य, इटली के राज्य में परिणत हो गये उस समय से अंग्रेजी ढंग की संसदीय पद्धति स्थापित की गई, किन्तु यह व्यवस्था सफल न हो सकी। इटली में जो छोटे-छोटे राज्य सम्मिलित हुए वे मध्ययुग से ही स्वतन्त्र रहते आये थे, जिनकी राजनीतिक परम्पराएं भिन्न थी वहां उत्तरदायी शासन प्रणाली की सफलता संदिग्ध ही थी। 'राजनीतिक दलों की अधिकता और अस्थिरता, स्थानीय परम्पराओं की शक्ति और जनता में निरक्षरता की व्यापकता के कारण वहां संसदीय शासन प्रणाली को कार्यान्वित करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।[10]

व्यावहारिक राजनीति में नौकरशाही, निर्वाचन सम्बंधी भ्रष्टाचार, अयोग्य एवं महात्वाकांक्षी नेतृत्व, जनता की राजनीतिक उदासीनता एवं अज्ञानता का लोकतन्त्र की असफलता में मुख्य योगदान था। डिप्रेटिस (Depretis) 1878 से 1887 तक आठ बार प्रधानमंत्री बने। इससे प्रशासनिक अस्थिरता की अभिव्यक्ति तो होती ही है किन्तु शासन-सत्ता को ग्रहण करने के लिए डिप्रेटिस ने आम चुनावों में खुली धमकी, रिश्वतखोरी तथा दबाव आदि का प्रयोग किया। क्रिस्पी (Crispi) का शासनकाल स्वेच्छाचारिता निरंकुशता, श्रमिकों का दमन और लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रताओं का अपहरण करने के लिए प्रसिद्ध था। प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व जिओलिटी (Giolitti) जो उदार एवं प्रजातन्त्रवादी था, राजनीतिक गतिविधियों में दबाव एवं भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं था। लोकतन्त्र के इस असफल प्रयोग का विकल्प इटली के लोगों को फासीवाद में मिला।

प्रथम विश्व युद्ध के कारण इटली की अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न सी हो चुकी थी। विश्व का वित्तीय नियन्त्रण अन्य विजेता राज्यों के हाथों में पहुंच चुका था। लंदन सन्धि के अन्तर्गत इटली को लगभग पांच करोड़ पौंड का ऋण मिलने को था, वह भी नहीं मिल सका। युद्ध बन्द होने के उपरान्त सेना तथा अन्य उद्योगों में छंटनी की गयी जिससे बेरोजगारी में काफी वृद्धि हुई। दूसरी ओर श्रमिकों द्वारा हड़तालों से उत्पादन में निरन्तर कमी होती जा रही थी। इटली की जनता बढ़ती हुई कीमतों, आवश्यक वस्तुओं के अभाव से परेशान हो चुकी थी उसमें असंतोष व्याप्त था। इटली की तत्कालीन लोकतान्त्रिक सरकार इन परिस्थितियों का सामना करने में असमर्थ सिद्ध हुई। शान्ति एवं व्यवस्था लगभग भंग सी होती चली जा रही थी। 1922 के मध्य इटली में तनाव, असंतोष और गृह-युद्ध जैसी स्थिति थी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और इटली की आन्तरिक परिस्थिति ने मुसोलिनी को सत्ता प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया।

---

10 बोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 487.
Ebenstein, William, Modern Political Thought, p 357

इसके साथ-साथ मुसोलिनी के व्यक्तित्व में सैनिकवाद[11], अधिनायकवाद, राष्ट्रवाद, अवसरवाद आदि के तत्त्व विद्यमान थे ही। वह सम्पूर्ण इटली को एक सूत्र में बांध कर देश में शान्ति, व्यवस्था, अनुशासन, समृद्धि लाकर उसे यूरोप में प्रथम श्रेणी की शक्ति बनाना चाहता था। पहली अगस्त 1922 को फासीवादियों ने समस्त देश में हड़ताल की घोषणा की। यह हड़ताल काफी सफल रही। 28 अक्टूबर 1922 को मुसोलिनी ने अपने अनुयायियों के साथ रोम पर धावा बोलकर शासन पर लगभग अधिकार सा कर लिया। 30 अक्टूबर को इटली के सम्राट ने मुसोलिनी को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। यहीं से इटली में फासीवादी अधिनायकवाद का युग प्रारम्भ हुआ।

फासीवादी प्रादुर्भाव की मार्क्सवादी व्याख्या

फासीवादी उत्थान के विषय में मार्क्सवादी व्याख्या भी उल्लेखनीय है।[12] मार्क्सवादियों के अनुसार फासीवाद पूँजीपतियों का षडयन्त्रमात्र था। प्रथम विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप यूरोप में भुखमरी, बेरोजगारी, निर्धनता में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। कुछ समय पहले (1917) रूस में साम्यवादी क्रान्ति हो चुकी थी। यूरोप का श्रमिक-वर्ग रूसी क्रान्ति से प्रेरणा प्राप्त कर साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना करना चाहता था। इस आशय को लेकर इटली में एक समाजवादी दल भी विकसित हुआ। 1919 में साम्यवादियों के नेतृत्व में हड़तालों की शृंखला प्रारम्भ हुई। 1920 में लगभग दो हजार हड़तालें हुईं, जिससे जनजीवन बड़ा ही अस्त-व्यस्त रहा। इसी वर्ष श्रमिकों ने उद्योगों तथा अन्य आर्थिक प्रतिष्ठानों पर भी अधिकार करना प्रारम्भ कर दिया था। 1920 के अन्त में जब नगर पालिकाओं के चुनाव हुए, उनमें साम्यवादियों को भारी सफलता मिली तथा उन्होंने कई नगरों पर अपनी प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना भी करली थी।[13]

मुसोलिनी को समाजवादियों से घृणा थी तथा उसने समाजवादियों का खुलकर विरोध किया। फासीवादी अनुगामियों ने साम्यवादी तथा समाजवादी सभाओं को भंग किया, उनके समाचार-पत्रों के कार्यालयों को जला डाला तथा उनके नेताओं के साथ दुर्व्यवहार किया गया। साम्यवादी तथा समाजवादियों के प्रति फासीवादियों ने आतंक-

---

11. मुसोलिनी स्वयं ही सैनिक रह चुका था। प्रथम विश्व युद्ध में वह दो वर्ष तक सक्रिय सैनिक था।

12. फासीवादी उत्थान के लिये मार्क्सवादी व्याख्या का विस्तृत विवरण इस पुस्तक में मिलता है—
Bradly, Robert A., The Spirit and Structure of German Fascism, New York, 1937.

13. Charouss and Ewen, Profits and Politics in the Post War World ...

वादी मार्ग अपनाया। फासीवाद का नारा था 'समाजवादी खतरे का अन्त करो।' समाजवाद विरोधी नीति ने मुसोलिनी को पूँजीपति क्षेत्र में बड़ा लोकप्रिय बना दिया।

इटली के पूँजीपतियों को उस समय साम्यवाद का सबसे अधिक भय था। रूस, आस्ट्रिया, हंगेरी आदि के उदाहरणों से प्रोत्साहित हो इटली का श्रमिक-वर्ग पूँजीपतियों के लिए एक खतरा बन गया था। साम्यवादी ज्वार एवं ज्वार का सामना करने के लिये पूँजीवाद कोई नई व्यवस्था चाहता था। इटली की लोकतान्त्रिक व्यवस्था साम्यवादी विस्तार का सामना करने में असमर्थ थी। जिस समय यह स्थिति थी उस समय इटली में कोई ऐसा राजनीतिक दल नहीं था जिसका संसद में बहुमत हो तथा स्थाई सरकार बना सके। उग्रवादी दल आपस में ही विभाजित थे। इसलिये इटली के पूँजीपति मुसोलिनी के समाजवाद विरोधी विचारों से बड़े प्रभावित हुए।

पूँजीपतियों के लिये मुसोलिनी से अधिक उपयोगी और कौन हो सकता था जिसने समाजवादी आन्दोलन को समाजवादी शब्दावली से ही काट करने की क्षमता हो। अतः उन्होंने लोकतन्त्र का आवरण उतार कर अधिनायकवाद को समर्थन देना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार फासीवाद पूँजीपतियों द्वारा साम्यवादी क्रान्ति को रोकने के लिए एक साधन था। यही कारण था कि इटली और जर्मनी के अधिनायकों ने श्रमिक आन्दोलनों को दबाने तथा साम्यवादी विचारों का दमन करने के लिये जब राज्य शक्ति का पूरा प्रयोग किया, पूँजीपतियों ने इनका पूरी तरह से साथ दिया। इससे फासीवादियों और पूँजीपतियों का सहयोग एवं षड्यन्त्र व्यक्त होता है।[14] साम्यवादियों ने फासीवाद को पूँजीवाद के पतन की चरम सीमा कहा है।[15]

फासीवाद को पूँजीवाद का ही षड्यन्त्र मानना भूल होगी। मुसोलिनी का व्यक्तित्व अवसरवादिता पर आधारित था। स्वयं को सत्ता में बनाये रखने के लिये मुसोलिनी सभी वर्गों का समर्थन किसी न किसी प्रकार प्राप्त करता रहता था। उसने श्रमिकों का सहयोग प्राप्त करने के लिये पूँजीवादी विरोधी नारों का भी खूब प्रयोग किया।[16] सम्भवतः उसने पूँजीपतियों और श्रमिकों दोनों की ही कमजोरियों का लाभ उठाया। फिर भी यह सत्य है कि पूँजीपतियों ने फासीवाद को खूब चन्दे दिये, समर्थन दिया और साम्यवादी खतरे को सदैव ही दूर रखा।

फासीवादी विचारधारा

फासीवाद लगभग इक्कीस वर्ष तक इटली की राजकीय विचारधारा रहकर भी कोई निश्चित एवं तर्कसंगत दर्शन नहीं बना सका। रोम पर धावा बोलने के पहले फासिस्टों के पास सिद्धान्तों में उलझने का समय ही नहीं था। इसके अलावा फासीवादियों का सिद्धान्तों से बंधकर रहने में भी कोई विश्वास नहीं था। अपने एक

14 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 592
15 Ebenstein, W, Modern Political Thought, p 359
16 Ebenstein W, Modern Political Thought, p 357

लेख17 में मुसोलिनी ने इस पक्ष को कई स्थलों पर स्पष्ट किया है। मुसोलिनी ने लिखा है कि "औपचारिक सिद्धान्त लोहे तथा टीन की बेड़ियाँ हैं। फासिस्ट इटली की राजनीति के जिप्सी हैं। वे किन्ही निश्चित सिद्धान्तों से बंधे नही हैं।" "हम विवाद और सिद्धान्त के बादलों मे निकलना चाहते हैं। मेरा कार्यक्रम कार्य है, बातें नही" इसके आगे मुसोलिनी ने लिखा है—

> "हमारा कार्यक्रम सरल है। हम इटली पर शासन करना चाहते हैं। वे हमसे कार्यक्रम पूछते है, किन्तु पहले से ही बहुत से कार्यक्रम हैं। वास्तव मे इटली की मुक्ति के लिए कार्यक्रमों की कमी नही। आवश्यकता है मनुष्यों की तथा इच्छाशक्ति की।"[18]

इस तथ्य को प्रसिद्ध फासीवादी विचारक एलफ्रेडो रोको (Alfredo Rocco) ने व्यक्त करते हुए लिखा है—

> "यह सत्य है कि फासीवाद मुख्यतः कार्य तथा भावना है और उसे ऐसा ही बना रहना चाहिए। यदि इसके विपरीत बात हुई, तो वह अपनी उस प्रेरक शक्ति को, उस नवीनीकरण की शक्ति को स्थिर नही रख सकता जो उसमे इस समय है, और उस समय वह कुछ चुने हुए व्यक्तियों की मनन की ही चीज रह जायेगा।"[19]

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि फासीवादी दर्शन कार्य साधक रहा है। किये हुए कार्यों का औचित्य सिद्ध करना, आने वाली परिस्थितियों का सामना करना और आवश्यकता पड़ने पर समय-समय पर विचारों में परिवर्तन करना, फासीवाद की प्रमुख नीति थी। फासीवाद मे कार्य को प्राथमिकता होने के कारण सिद्धान्तों का निर्णय एवं निर्माण कार्य द्वारा ही हुआ। उन्होंने पहले कार्य किया तथा बाद मे उस कार्य को सही बतलाने के लिए विचार व्यक्त किये। जब मुसोलिनी की स्थिति सुदृढ़ हो गयी तो उसने मनमाने ढंग से कार्य किये। उन्हें उचित ठहराने तथा सैद्धान्तिक बनाने मे उसने फासीवादी दर्शन की रचना कर डाली। वास्तव मे फासीवादी विचारधारा तदर्थ (Ad hoc) विचारों का संकलन था। सैबाइन ने लिखा है कि फासीवाद विभिन्न स्रोतों से लिये गये उन विचारों का योग है जो परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार एकत्रित किए गए है।[20]

यह कहना कि फासीवाद का कोई विचार-दर्शन नही था, फासीवाद के जो भी विचार सूत्र थे वे तर्कहीन, असगत तथा तदर्थ थे, इनमे सत्यता तो है लेकिन पूर्ण सत्य नही कहा जा सकता। यद्यपि फासिस्ट राज्य की स्थापना किसी पूर्व प्रचलित

17. The Political and Social Doctrine of Fascism, 1935.
18 Ibid..
19 Alfredo Rocco, The Political Doctrine of Fascism, 1926, p. 10.
20. Sabine, A., History of Political Theory, p. 710.

विचारधारा पर नहीं की गयी, लेकिन जैसे ही इटली म फासिस्ट व्यवस्था की स्थापना हुई फासीवाद को एक क्रमबद्ध या दार्शनिक रूप देने का प्रयत्न किया गया। मुसोलिनी तथा अन्य सहायकों ने फासीवाद के विषय में समय समय पर विस्तारपूर्वक विचार व्यक्त किये हैं, जिनका प्रकाशन दिन प्रतिदिन की पुस्तिकाओं—The Political and Social Doctrine of Fascism—Day to day Pamphlet—में होता रहता था। लगभग दस वर्ष के पश्चात् मुसोलिनी को फासीवादी विचारधारा के विषय में चिन्तन करने का समय मिला। 1932 म मुसोलिनी ने –The Doctrine of Fascism (फासीवाद के सिद्धान्त) नामक निबन्ध लिखा जिसका प्रकाशन एनसाइक्लोपीडिया इटेलियाना (Encyclopaedia Italiana) म हुआ।[21] यह फासीवाद का प्रारम्भिक अधिकृत अभिकथन है। इसम मुसोलिनी ने फासीवाद के दार्शनिक, नैतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, व्यावहारिक वैयक्तिक, सामूहिक राजनीतिक आदि पक्षों की स्पष्ट व्याख्या की है।

मुसोलिनी के अतिरिक्त कुछ अन्य फेसिस्ट सिद्धान्तवादियों के नाम प्रसिद्ध एव उल्लेखनीय है। एल्फ्रेडो रोको (Elfredo Rocco) जो पहले पेडुआ के विश्वविद्यालय मे व्यावसायिक कानून का प्रोफेसर और फैसिज्म के उदय के पूर्व उत्साही राष्ट्रवादी था, सन् 1925 से 1932 तक न्याय मन्त्री रहा और इटली के फैसिस्ट शासन क अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कानूनो का निर्माता था। जियोवेनी जेण्टाइल (Giovanni Gentile) जो इटली का प्रसिद्ध हेगलवादी दार्शनिक था और 1922 के बाद ही फैसिस्ट बना, सन् 1922 से 1924 तक शिक्षामन्त्री रहा तथा इटली की शिक्षा प्रणाली मे मौलिक सुधार किये। एनरिको कोरादिनी (Enrico Corradini) जो फैसिज्म के एक दशाब्दी पूर्व सीनेटर तथा राष्ट्रीयता का प्रचारक था, ल्यूगी फेडरजोनी (Luigi Faderzoni) राष्ट्रवादी दल का एक सस्थापक, प्रथम फैसिस्ट केबिनेट म उपनिवेश मन्त्री, बाद मे गृहमन्त्री और उपनिवेश मन्त्री तथा सन् 1929 से सीनेट का अध्यक्ष था, मौरजियो मारविगलिया (Maurizio Maraviglia) जो पहले फैसिस्ट प्रचार-कार्यालय का प्रमुख था, रॉबर्टो फोर्जे-देवा-ज़ति (Roberto Forges-Davanzati) नामक राष्ट्रीयवादी (बाद म फासिस्ट) समाचार पत्र भी फासीवादी विचारधारा का एक प्रमुख मुखपत्र समझा जाता था।[22]

फासीवादी राज्य

राष्ट्र की कल्पना या भ्रान्ति (myth of nation)

फासिस्ट विचारधारा सकुचित एव उग्र राष्ट्रवाद पर आधारित है। राष्ट्र व्यक्तियों का एक ऐसा अनुरूप समूह है जो सामान्य भाषा, प्रथा परम्पराओं तथा धम

21 This essay has been reproduced in Through Fascism to World Power by Ion Munro, part II, Chapter 1

22 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ 502.

से बंधा हुआ है। राष्ट्र को गौरवान्वित करना उनका धर्म है। फासीवादियों के अनुसार राष्ट्र स्वयं का एक व्यक्तित्व, एक इच्छा तथा उद्देश्य होता है। राष्ट्र अपने में एक आत्मनिर्भर इकाई है, जिसका जीवन स्थिर तथा स्थाई होता है। राष्ट्र समस्त सामाजिक जीवन का उद्देश्य है। व्यक्तियों का महत्व केवल राष्ट्रीय प्रसंग में है, उससे पृथक होकर नहीं। व्यक्तियों का कर्त्तव्य राष्ट्र की सेवा करना है तथा उनके वे ही कार्य विचार तथा भावनाएँ अच्छी समझी जायेंगी जो राष्ट्र-शक्ति के विकास में सहायक हों। इस प्रकार फासीवादी एक राष्ट्र की कल्पना अथवा पौराणिकता अथवा भ्रान्ति अथवा 'मिथ' (myth of nation) में विश्वास करते हैं। यही उनके राज्य दर्शन का आदि एवं अन्त है। अपने एक महत्वपूर्ण भाषण में इस भावना को व्यक्त करते हुए मुसोलिनी ने कहा था कि—

> "हमने अपनी कल्पना (myth) का सर्जन कर लिया है। यह कल्पना विश्वास है, भावावेग है। यह आवश्यक नहीं है कि इसमें वास्तविकता हो। यह वास्तविक इसलिये है क्योंकि यह एक प्रेरणा है, एक विश्वास है, एक साहस है। हमारी कल्पना राष्ट्र है, राष्ट्र की महानता है। इस कल्पना, इस महिमा को हम पूर्ण वास्तविकता में परिणित करना चाहते हैं जिसकी प्राप्ति के लिये हम सब अधीनस्थ हैं।"[23]

प्रारम्भ में फासीवादी राष्ट्र तथा राज्य में राष्ट्र को प्राथमिकता देते हैं किन्तु बाद में वे राष्ट्र तथा राज्य में भेद नहीं करते। वे राज्य का तात्पर्य राष्ट्रीय राज्य से लेते हैं। राज्य, राष्ट्र-कल्पना की अभिव्यक्ति करता है। तथा उसे व्यावहारिक रूप प्रदान करता है। फासीवाद राज्य को एक ऐसी आध्यात्मिक इकाई मानते हैं जिसके द्वारा राष्ट्र को राजनीतिक तथा आर्थिक संगठन प्राप्त होता है। मुसोलिनी के शब्दों में "राज्य, राष्ट्र का राजनीतिक, वैधानिक तथा आर्थिक संगठन है, इसलिए उसे राष्ट्र की आत्मा का मूर्त रूप मानना चाहिए।[24] किन्तु आगे चलकर फासीवादी राज्य को अधिक महत्त्व देने लगते हैं। राष्ट्र संगठित एवं शक्तिशाली राज्य के माध्यम से ही हो सकता है। इस विचार प्रक्रिया में वे राज्य को राष्ट्र से एक स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान कर देते हैं। मुसोलिनी ने लिखा है:—

> "राष्ट्र राज्य को जन्म देता जैसा कि उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय राज्य के प्रचारकों ने समर्थन किया है। इसके विपरीत राष्ट्र का निर्माण राज्य के द्वारा होता है जो व्यक्तियों को उनकी नैतिक एकता, इच्छा तथा समर्थ अस्तित्व की चेतना प्रदान करता है।"[25]

23 Naples, October 24, 1922, Quoted by H. Finer in Mussolin's Italy, New York, 1935, p. 218.

24 Mussolini, B., The Political and Social Doctrine of Fascism, Day to day Pamphlet, No. 18, 1933, p. 22.

25. Quoted, Munro, Ion S., Through Fascism to World Power, p. 307.

राज्य का अधिनायकवादी स्वरूप

फासिस्टवाद अधिनायकवादी राज्य को प्रेरणा देता है। वे व्यक्तिवादी धारणा कि राज्य एक आवश्यक बुराई है, का पूर्ण खन्डन करते हैं। वे साम्यवाद, अराजकतावाद और सिन्डीकलवाद की भाँति राज्य के अन्त करने का विचार स्वीकार नहीं करते। इसके विपरीत फासीवाद राज्य हीगल के दर्शन पर आधारित था। तदनुसार राज्य एक नैतिक तथा धार्मिक विचार है जो समाज को आध्यात्मिक चेतना की प्राप्ति कराता है। फासीवादी धर्म राज्य को ईश्वर तुल्य मानने की प्रेरणा देता है, जिसके अन्तर्गत राज्य को अन्ध-विश्वास की तरह स्वीकार करना चाहिए। फासीवादी राज्य सर्वशक्तिमान एवं सर्वव्यापी है। उसे सब क्षेत्रों तथा गतिविधियों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार है, वह जीवन के प्रत्येक पहलू में हस्तक्षेप कर सकता है। मुसोलिनी के शब्दों में 'सब राज्य के अन्तर्गत है, राज्य के बाहर कुछ भी नहीं तथा कोई भी राज्य का विरोध नहीं कर सकता।"[26]

राज्य तथा व्यक्ति

फासीवादी राज्य में व्यक्ति की पूर्ण उपेक्षा की गयी है। इस विचारधारा में व्यक्ति राज्य या समाज में पूर्ण रूप से विलीन हो जाता है। इस सन्दर्भ में उनकी निम्नलिखित दो महत्वपूर्ण मान्यताएँ हैं—

प्रथम, फासीवादी राज्य व्यक्तिवादी आणविक सिद्धान्त का खण्डन कर सावयविक स्वरूप (Organic nature) को स्वीकार करते हैं। व्यक्तियों का राज्य में वही स्थान होता है जो शरीर में अंगों का। राज्य के बिना व्यक्ति अपना अस्तित्व नहीं रख सकते। राज्य से पृथक व्यक्तियों का कोई आध्यात्मिक और नैतिक जीवन नहीं हो सकता। राज्य एक अनिवार्य प्राकृतिक संस्था है।

द्वितीय, फासीवादी राज्य स्वयं में साध्य है तथा व्यक्ति साधन। राज्य का प्रमुख उद्देश्य अपनी शक्ति तथा सम्मान में वृद्धि करना है, इसकी प्राप्ति के लिए व्यक्ति का बलिदान किया जा सकता है। राज्य तथा व्यक्ति के सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए मुसालिनी ने कहा था—

> "राज्य मनुष्य के ऐतिहासिक अस्तित्व की सार्वभौम इच्छा और अन्तःकरण है। उदारवाद ने विशिष्ट व्यक्ति के स्वार्थों के लिये राज्य को अंगीकार किया, किन्तु फासीवाद राज्य को ही व्यक्ति की सच्ची वास्तविकता मानता है। अतः फासीवाद के लिये सब कुछ राज्य के अन्तर्गत ही है, राज्य के बाहर किसी मानवीय अथवा आध्यात्मिक तत्व का अस्तित्व नहीं हो सकता, मूल्य का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसी अर्थ में फासीवाद समग्रवादी है और फासीवादी राज्य सब मूल्यों और मान्यताओं की एकता है, वह

26 पूर्व सन्दर्भ।

जनता के सम्पूर्ण जीवन का निर्वचन, उसका विश्राम और उसे शक्ति देता है ।"27

फासीवादी लोग राज्य को केवल वर्तमान से ही नहीं ,अतीत और भविष्य से भी बधा हुआ एवं सम्बन्धित मानते है । राज्य सदियो से भाषा, विश्वास, रीति-रिवाजो के विकास का परिणाम है, जिसकी तुलना मे मनुष्य का अल्प जीवन कुछ भी नही होता । राज्य को व्यक्ति की सीमाओ से किसी भी प्रकार नही बाधा जा सकता । राज्य व्यक्तियो और पीढियो को एक परम्परा और उद्देश्य सूत्र मे बाधता है । इससे व्यक्ति-जीवन को विस्तार मिलता है । इन धारणाओ से स्पष्ट है कि फासीवादी राज्य मे स्वतन्त्रता का कोई स्थान नही है । राज्य के विरुद्ध व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कोई महत्त्व नही । व्यक्ति राज्य मे विलीन होकर ही अपना विकास तथा स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है । स्वतन्त्रता क्या है, स्वतन्त्रता किन-किन बातो मे निहित है, कौन-कौन सी स्वतन्त्रताएँ व्यक्ति को प्राप्त होनी चाहिये, इसका निर्णायक राज्य है, न कि व्यक्ति । कानून और स्वतन्त्रता की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति राज्य है, राज्य की अधिकतम शक्ति ही व्यक्ति की अधिकतम स्वतन्त्रता है । राज्य मे व्यक्ति का निषेध नही बल्कि स्वय कई गुना हो जाता है । प्रसिद्ध फासिस्ट विचारक अल्फ्रेड रोको (Alfred Rocco) ने राज्य तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विषय मे इस प्रकार व्याख्या की है—

> "फासीवादियों को व्यक्तियों के अधिकारो का घोषणा-पत्र स्वीकार नही है जो व्यक्ति को राज्य से श्रेष्ठतर बना देता है और उसे समाज के विरुद्ध कार्य करने का अधिकार प्रदान करता है । हमारा स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार यह है कि व्यक्ति राज्य की ओर से अपना विकास करे ।"

इन सिद्धान्तो पर आधारित इटली तथा जर्मनी के फासीवादी राज्य अधिनायकवादी थे, जहाँ राज्य के कार्य-क्षेत्र की कोई सीमाएँ नही थी, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे राज्य का हस्तक्षेप था । सामाजिक जीवन, सास्कृतिक गतिविधियाँ जैसे शिक्षा, संगीत, विज्ञान, चित्रकला, फैशन आदि सब पर शासन का नियन्त्रण था । प्रेस राज्य के हाथो कठपुतली था नये विचारो के प्रतिपादको के लिए कारागार के कपाट सदैव खुले रहते थे ।

फासिस्ट दल

यदि राज्य राष्ट्र की भावना व्यक्त करता है, तो राज्य व्यवस्था का मुख्य दायित्व फासीवादी दल पर रहता है । दल फासीवादी शासन व्यवस्था का आधार निर्देशन केन्द्र था । फासिस्ट प्रणाली 'एक दलीय राज्य' (Mono-party State) पर आधारित थी । दल तथा राज्य के सगठन प्राय. समान थे । या, दल तथा राज्य

27 उद्धृत, गैटल., राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ. 444.

के कार्यों मे कोई अन्तर स्थापित करना असम्भव था।[28] मुसोलिनी और हिटलर दोनों ही पार्टी के सगठन, एकता अनुशासन मे विश्वास रखते थे। इटली मे फासिस्ट दल के सदस्यों की सख्या बडी सीमित थी, सदस्यों की भर्ती बडी सावधानी और सतर्कतापूर्वक की जाती थी। उन्हे व्यापक प्रशिक्षण तथा कठोर अनुशासन से होकर निकलना पडता था। लेकिन जो भी व्यक्ति दल के सदस्य होते थे, समाज मे उनकी प्रतिष्ठा थी तथा उनका महत्व एव प्रभाव उच्च प्रशासनिक अधिकारियो से भी अधिक रहता था।

एक-दलीय व्यवस्था होने के कारण फासिस्ट दल ही सत्ताधारी दल था। इसमे विरोधी दलो के अस्तित्व को स्वीकार नही कि ा जाता। फासीदल के विरोध का तात्पर्य राज्य का विरोध करना था। कोई भी दल या सरकार का विरोध नहीं कर सकता था। 1926 मे इटली मे समस्त राजनीतिक दलो पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। इटली की ससद के एक प्रसिद्ध सदस्य मटिओटी (Matteoti) की विरोधी होने के नाते रहस्यमयी ढग से हत्या कर दी गई। उनका अपराध केवल यह था कि ससद म उन्होंने अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त किये। इसी प्रकार काउन्ट वाल्बो (Count Balbo) के जीवन का अन्त अफ्रीका म बडी ही सदिग्ध परिस्थितियो मे हुआ। इन सब मे फासिस्टो का हाथ बतलाया जाता है[29] चू कि फासिस्ट दल सीमित तथा विशिष्ट योग्यता वाले सदस्यों का ही समुदाय होता है जिनका कोई विरोध नही कर सकता, शासन की वास्तविक बागडोर इसी विशिष्ट वग के हाथो म आ जाती है। यह जनता का न होकर एक कुलीनतन्त्रीय जैसा हो जाता है।

फासिस्ट नेतृत्व

फासीवादी दल की नीतियो के निर्धारण एव कार्यान्वित करने म नेतृत्व का सबसे प्रमुख स्थान रहता है। फासीवादियो की यह धारणा थी कि साधारण जनता न तो राजनीति मे रुचि रखती है और न ही सामान्य व्यक्तियो मे, जिनका समाज मे भारी बहुमत होता है, स्वशासन की कोई क्षमता होती है। व्यक्ति अच्छी जीविका प्राप्त करने मे ही अपनी पूर्ण सन्तुष्टि समझता है। यह तभी सम्भव होता है यदि जनता को ऐसा योग्य नेता मिल जाय जो राष्ट्र की आत्मा और व्यक्ति की भावना को अच्छी तरह समझ सके। ऐसे नेतृत्व द्वारा ही जनता की इच्छा व्यक्त होती है। वह जनता की सामूहिक इच्छा का मूर्तरूप होता है। इन धारणाओ को मानकर तथा इटली की तत्कालीन स्थिति का पूर्ण अध्ययन कर मुसोलिनी ने इटली की जनता के समक्ष स्वय को एक नेता के रूप मे प्रस्तुत किया। लगभग यही स्थिति हिटलर की थी। इन्होंने अपने नेतृत्व को इतना व्यापक एव सबल बनाया कि ये तानाशाह बन बैठे।

---

28 Laski, H J, Reflections on the Revolution of Our Time, p 86
29 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 663.

फासीवादी नेतृत्व की मूलतः निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

(i) फासीवादी नेतृत्व अधिनायकवादी होता है।
(ii) फासीवादी नेता दल एवं सरकार दोनों का ही प्रमुख होता है।
(iii) यह नेतृत्व व्यक्ति-स्तुति (Hero Worship) को प्रोत्साहित करता है, आदि।

फासीवाद तथा राष्ट्रीय समाजवाद पर आधारित इटली तथा जर्मनी की शासन व्यवस्थाएँ सर्वसत्ताधारी अधिनायकवादी थी। सर्वाधिकारवादी शासन व्यवस्था में राष्ट्रीय शक्ति में अभिवृद्धि करने हेतु व्यक्ति और उनके समूह के प्रत्येक कार्य एवं हित को नियन्त्रित किया जाता है। प्रत्येक आर्थिक, नैतिक और सांस्कृतिक पक्ष को राष्ट्रीय शक्ति का स्रोत माना जाता है, जिसका उपयोग शासन द्वारा होना चाहिये। बिना आज्ञा के राजनीतिक दल, श्रम संगठन तथा व्यावसायिक संगठनों का निर्माण नहीं हो सकता था। वस्तुओं का निर्माण, व्यापार तथा सम्बन्धित कार्य नियन्त्रणहीन नहीं छोड़े जा सकते। प्रकाशन तथा सभाएँ शासन के मार्गदर्शन के बिना आयोजित नहीं की जा सकती थी। शिक्षा, धर्म आदि राज्य के हित में वृद्धि के साधन समझे जाते थे। विश्राम एवं मनोरंजन के क्षणों का प्रयोग प्रसार या प्रोपेगेण्डा के लिए किया जाता था। व्यक्ति के गोपनीय पारिवारिक जीवन के लिए समुचित वातावरण का पूर्ण अभाव था। सब पर शासन की वक्र दृष्टि रहती थी।[30]

सर्वाधिकारवादी शासन सैद्धान्तिक रूप में अधिनायकवादी या तानाशाही व्यवस्था होती है। इटली तथा जर्मनी में मुसोलिनी और हिटलर जैसे तानाशाहों का शासन था। इन अधिनायकों ने शासन का केन्द्रीकरण कर संघीय एवं स्थानीय स्व-शासन संस्थाओं की समाप्ति कर दी। उदार राजनीतिक संस्थाओं तथा न्यायपालिका की स्वतन्त्रता जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। इटली में अधिनायकतंत्र की स्थापना बड़ी ही शीघ्रतापूर्वक की गई। 1923 से 1928 तक कानूनों एवं आदेशों द्वारा पूर्ण केन्द्रीकरण और निरंकुशता की स्थापना हो गई। जनवरी 1925 में मुसोलिनी ने खुले रूप में वैधानिक प्रणाली का अन्त कर दिया और अगले कुछ ही वर्षों में उसने स्वयं कानून का निर्देशन करके, फासिस्ट नीतियों को कानूनी रूप दिया। 1926 में मन्त्रिमण्डल का संसद के प्रति उत्तरदायित्व भी समाप्त कर दिया। इसी वर्ष नवम्बर में समस्त विरोधी दलों को भंग कर दिया गया। वैधानिक लोकतन्त्र की संस्थाओं पर अन्तिम प्रहार 1928 में कानूनों द्वारा किया गया। इन कानूनों के अनुसार प्रतिनिधि सभा का अन्त कर, उसके स्थान पर एक 'कॉरपोरेटिव संसद' (Corporative Parliament) की स्थापना की गई।[31] जर्मनी में भी हिटलर ने लोकतान्त्रिक संस्थाओं को समाप्त कर दिया।

30 Sabine, G H, A History of Political Theory, pp. 745-46.
31. कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 495-97.

कॉरपोरेट अथवा निगमित राज्य
The Corporate State

फासीवादी अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र मे मध्य-मार्ग का अनुसरण करते हैं। वे न तो व्यक्तिवादी नियन्त्रणहीन अर्थ-व्यवस्था का और न समाजवादियों की भांति राष्ट्रीयकरण नीति का समर्थन करते है। उनकी अर्थ-व्यवस्था राष्ट्रीय हित में पूंजीवाद और समाजवाद दोनों का सम्मिश्रण थी। इसका तात्पर्य था कि राष्ट्रीय महत्व के उद्योग सरकार द्वारा संचालित हो तथा शेष उद्योगों को व्यक्तिगत क्षेत्र म छोड देना चाहिए। लेकिन निजी क्षेत्र म भी उद्योगो के ऊपर राज्य का नियत्रण आवश्यक था। इस प्रकार फासीवाद अर्थ व्यवस्था के नियन्त्रण और नियमन के पक्ष मे थे।

कारपोरेट प्रणाली आर्थिक क्षेत्र मे फासिस्ट सिद्धान्तो का व्यावहारिक रूप था। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यापार को राज्य द्वारा नियन्त्रित एकाधिकार सगठनो म विभाजित किया जाता था, जिन्हे कोरपोरेशन (निगम) कहते थे। राज्य मे इस प्रकार के कई कोरपोरेशन थे, इसलिए फासिस्ट राज्य को कोरपोरेट राज्य भी कहते थे। फासीवादी राज्य को निगमित राज्य (Corporate State) इसलिए भी कहा जाता था क्योंकि फासीवाद लोग राज्य को व्यक्तियो का समुदाय नहीं मानते। राज्य की इकाई व्यक्ति नही है, राज्य व्यावसायिक सघो का समूह होता है। फासिस्ट इटली मे इस प्रकार के कई व्यावसायिक सगठन थे जो राज्य की प्रत्येक गतिविधियो की प्रमुख इकाई थे।

फासीवादियो का उद्देश्य राज्य को सबल बनाना तथा एकता स्थापित करना था। इसके लिए राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि तथा सार्वजनिक कल्याण की सिद्धि आवश्यक थे। यह तभी सम्भव था जब मालिक, श्रमिक और उपभोक्ताओ के हितो का समन्वय हो क्योंकि इन तीनो के हित एक दूसरे से बंधे हुए है। इनके सहयोग मे राष्ट्र की शक्ति एव समृद्धि निहित थी। राज्य के अधीन निगम ऐसे स्रोत थे जिनके माध्यम से राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति तथा विशेष उद्देश्यो की पूर्ति हो सके।

इन हितो का समन्वय पूंजीवादी व्यवस्था से सम्भव नहीं था क्योंकि इसके अन्तर्गत श्रमिक और मालिक दो विरोधी दलो म सगठित रहते हैं। दूसरी ओर समाजवादी व्यवस्था वर्ग-सघर्ष को प्रोत्साहित करती है। फासीवादियो के अनुसार समाज मे केवल दो ही वर्ग नही है, कई वर्ग होते हैं और जहां तक राष्ट्र हित मे सम्भव हो सके इन सब हितो को सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध म मुनरो (W B Munro) ने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि कारपोरेट प्रणाली पूंजीवादी व्यवस्था और व्यक्तिगत सम्पत्ति सस्था को बनाये रखते हुए निगमो की स्थापना करने का कार्यक्रम था, जो मालिक और श्रमिक को निकट लाकर राष्ट्रीय

एकता और उत्पादन में वृद्धि करे।[32] निगम व्यवस्था के अन्तर्गत, जैसा कि मुसोलिनी ने कहा, राज्य की एकता को ध्यान में रखते हुए सब हितों का समन्वय किया गया। यह पूंजीवाद समाजवाद के कुछ तत्वों तथा श्रमिक, मालिक और उपभोक्ताओं के स्वार्थों को सामजस्य करने का प्रयत्न था। फासिस्ट इस व्यवस्था को पूंजीवादी-उदारवाद तथा समाजवाद दोनों से ही श्रेष्ठतर मानते थे।[33]

कारपोरेशन व्यवस्था

इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यवसाय एवं उद्योग में कच्चे माल से लेकर निर्मित वस्तु तक का सारा काम एक निगम के अन्तर्गत होता है। फासिस्ट इटली में प्रत्येक जिले में स्थानीय श्रमिकों और मालिकों के पृथक-पृथक संघ हुआ करते थे। स्थानीय संघों को मिलाकर प्रान्तीय संघों का निर्माण होता था। प्रान्तीय संघों के ऊपर राष्ट्रीय निगम होते थे। राष्ट्रीय निगमों की संख्या 1925 में सम्भवत: 22 थी। प्रत्येक निगम की एक परिषद् हुआ करती थी जिसमें श्रमिक और मालिकों के प्रतिनिधि बैठते थे। ये प्रतिनिधि सामान्यत: फासिस्ट दल के सदस्य या समर्थक ही होते थे। इन 22 निगम परिषदों के ऊपर एक राष्ट्रीय निगम-परिषद् थी। राष्ट्रीय निगम परिषद् की केन्द्रीय समिति में विभिन्न निगमों के प्रतिनिधि, फासिस्ट दल का सचिव तथा राज्य के सभी मंत्री सम्मिलित हुआ करते थे। सरकार के निगम-मंत्रालय (Ministry of Corporations) का अध्यक्ष स्वयं मुसोलिनी था। इस प्रकार इटली की आर्थिक व्यवस्था इन निगमों के अन्तर्गत थी जिसमें फासिस्ट दल का सर्वत्र प्रभाव था।

निगमों की शक्तियाँ व्यापक थीं। ये श्रमिक विवादों का निपटारा, सामूहिक श्रमिक अनुबन्ध, उत्पादन में वृद्धि, वेतन, कार्य के घण्टे, वस्तुओं के मूल्य, आयात-निर्यात आदि प्रश्नों का निर्णय करते थे। लेकिन ये कार्य परामर्श देने तक ही सीमित थे। वास्तविक कार्य सरकार के ही नियन्त्रण में होता था। राज्य तथा फासिस्ट दल इन विवादों में निर्णायक का कार्य करता था। इसके साथ-साथ इटली की प्रतिनिधि प्रणाली पर भी इनका प्रभाव था। फासिस्ट काल में इटली की प्रतिनिधि सभा (Chamber of Deputies) का प्रतिनिधित्व इन्हीं निगमों द्वारा किया जाता था।

समीक्षा

कारपोरेट प्रणाली मुसोलिनी के वर्णसंकरीय विचारों का प्रतिफल थी। यह धारणा मध्यकालीन गिल्ड व्यवस्था तथा आधुनिक सिन्डीकलवाद का मिश्रण थी। सिन्डीकलवाद पहले से ही इटली में प्रभावशाली था तथा इसके प्रमुख समर्थक जॉर्ज सोरेल (George Sorel) का मुसोलिनी पर विशेष प्रभाव था। गिल्ड समाजवादी राज्य को समुदायों का समुदाय मानते हैं। ये सभी विचारधारायें बहुलवादी (Pluralist) हैं जो सामाजिक संगठन में समुदायों की महत्ता पर जोर देती

32. Munro, W. B , The Government of Europe; p. 685.
33. Munro, Ion S , Through Fascism to World Power, pp. 306—07.

है। लेकिन कारपोरेट प्रणाली, सिन्डीकलवाद तथा गिल्ड व्यवस्था को एक समझना भ्रम होगा। इनमें मूलभूत भिन्नता थी। सिन्डीकलवादी एवं गिल्ड समाजवादी व्यावसायिक समुदायों की स्वायत्तता के प्रबल समर्थक हैं और इस आधार पर राज्य के सर्वशक्तिशाली और सर्वव्यापकता को स्वीकार नहीं करते। फासीवादी निगम प्रणाली के अन्तर्गत केवल सैद्धान्तिक स्वायत्तता ही थी। इन पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण था। ये राज्य की सर्वोच्चता के अन्तर्गत ही कार्य कर सकते थे। इनका संगठन राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया गया था। इस प्रकार कारपोरेट व्यवस्था एक साधन मात्र ही थी।

कारपोरेट प्रणाली स्वायत्तता सिद्धान्त पर आधारित रहती है। निगमों की स्थापना राष्ट्रीय हित में राज्य के द्वारा की जाती है, कानून के अन्तर्गत इन्हें अधिकार दिये जाते हैं। निगमों की स्थापना के बाद इन्हें अधिकारों की सीमा के अन्तर्गत पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त होती है। इन्हें अपने कार्यों और सदस्यों के प्रति सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त होते हैं। अन्य शब्दों में, राज्य के अन्तर्गत सार्वजनिक कल्याण को ध्यान में रखते हुए इन्हें स्वशासन का अधिकार प्राप्त होता है। किन्तु फासीवादी निगम व्यवस्था इसमें भिन्न थी। ये निगम पूरी तरह राज्य पर आश्रित थे। इनका सारा संगठन फासिस्ट दल पर निर्भर करता था। इससे इनकी स्वायत्तता का प्रश्न नहीं उठता था। ये सरकारी विभाग की ही तरह कार्य करते थे। इन्हें किसी भी प्रकार की पहल तथा जोखिम उठाने का अधिकार नहीं था।

सैद्धान्तिक रूप में कारपोरेट प्रणाली उचित प्रतीत होती है। इसमें पूंजीवादी, समाजवादी तत्वों का सम्मिश्रण कर श्रमिक, मालिक और उपभोक्ताओं के हितों का संरक्षण किया गया। लेकिन व्यवहार में यह बात सम्भव नहीं हो सकी। फासीवादी अधिनायकत्व जिसकी स्वयं की कुछ मूल मान्यताएँ थीं, के अन्तर्गत कारपोरेट व्यवस्था सफल नहीं हो सकती थी।

कारपोरेट प्रणाली में यह दावा किया गया कि यह श्रमिक वर्ग के हितों का समुचित एवं समान ध्यान रखेगा। इसलिये निगमों में श्रमिकों और मालिकों को समान प्रतिनिधित्व दिया गया। लेकिन यह मानना भूल होगी कि समान प्रतिनिधित्व का अर्थ समान अधिकार या सरकार तक समान पहुंच थी। यहां पर मालिकों की तुलना में श्रमिक पीछे रह जाते थे और उनके हितों का संरक्षण पूरी तरह नहीं हो सकता था। अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिये समस्त श्रमिक-साधन जैसे हड़ताल, तालाबन्दी पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया गया था तथा इसका उल्लंघन करने पर कड़ा दण्ड व्यवस्था थी। श्रमिक न्यायालय श्रमिकों के मामलों में हस्तक्षेप कर सकते थे। श्रम-मालिक विवादों में राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए, इन न्यायालयों के निर्णय श्रमिकों के विरुद्ध हो जाते थे।[34]

[34] आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 667-68.

कारपोरेट राज्य की एक त्रुटि यह थी कि इसका संगठन युद्ध की तैयारी के लिये किया गया था। इनका निर्माण शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था के लिये नहीं था। सम्पूर्ण योजना का उद्देश्य साम्राज्यवादी विस्तार और युद्ध था। निगमों का सम्पूर्ण संगठन सैनिक सिद्धान्त और अनुशासन पर आधारित था। इसलिये इनका जो समुचित एवं शनैः शनैः विकास होना चाहिये था वह नहीं हो पाया। इतना सब होने हुए भी द्वितीय विश्व युद्ध के समय इटली की कॉरपोरेशन प्रणाली युद्ध की चुनौती का सामना नहीं कर सकी। इटली उतना सैनिक मोर्चे पर असफल नहीं हुआ, जितना कि आर्थिक मोर्चे पर। निगमित व्यवस्था की निर्बलता इसमें और स्पष्ट होती है कि मुसोलिनी के पतन के उपरान्त यह प्रणाली इटली से समाप्त हो गई। इस प्रणाली में स्थायित्व के तत्व नहीं थे।

इटली में कॉरपोरेट राज्य की उपलब्धियाँ

आर्थिक प्रगति—यद्यपि कॉरपोरेट राज्य का समर्थन नहीं किया जा सकता, इटली में कॉरपोरेट प्रणाली की कुछ ऐसी उपलब्धियाँ थी जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। इसके अन्तर्गत सुनियोजित अर्थ-व्यवस्था पर बल दिया गया। निगमों की स्थापना के कारण उत्पादन में अवश्य ही वृद्धि हुई, जिसके परिणामस्वरूप इटली एक शक्तिशाली राज्य के रूप में माना जाने लगा।

निगम व्यवस्था के अन्तर्गत बहुत सी आर्थिक बुराइयों का उन्मूलन कर दिया गया। सट्टेबाजी और अधिक लाभ पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। सरकारी आदेशों द्वारा (1930 तथा 1933 में) वस्तुओं के मूल्यों को कम कर दिया गया जिससे उपभोक्ता वर्ग को बहुत राहत मिली।

श्रमिक मेग्ना कार्टा—निगम प्रणाली द्वारा मालिकों को अधिक संरक्षण प्राप्त था, लेकिन इस व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिकों की दशा में भी सुधार हुआ। श्रमिकों के लिए अधिकार-पत्र की घोषणा कर उन्हें कुछ अधिकार दिये गये। इन अधिकारों में सवेतन अवकाश, चिकित्सा सहायता, बुढ़ापे और मृत्यु सम्बन्धी बीमा अधिकार तथा अन्य सहायताएँ प्रमुख थी। जोड ने इन अधिकारों को 'श्रमिकों का अधिकार पत्र' (Magna Carta of Labour) कहा है।[35]

औद्योगिक शांति—इटली के कॉरपोरेट राज्य में उन सभी तत्वों का उन्मूलन करने का प्रयत्न किया गया जो मालिक और श्रमिकों के बीच तनाव उत्पन्न करते तथा औद्योगिक प्रगति में बाधक थे। विभिन्न निगमों में मालिक और श्रमिकों के हितों का प्रतिनिधित्व, इनके विवादों को सुलझाने के लिए विशेष न्यायालयों की व्यवस्था तथा इन सभी पर राज्य का प्रतिबन्ध ऐसा था कि इटली में न तो अधिक मुनाफा के लिए गुंजाइश थी और न हड़तालों आदि को प्रोत्साहन। फासिस्ट

35. उद्धृत, आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 668.

इटली में सबसे औद्योगिक शान्ति थी जिससे एकता तथा आर्थिक प्रगति में अत्यधिक सहायता मिली।

रेवरेण्ड पी कार्टी तथा डा आशीर्वादम् का मत है कि यद्यपि निगमित राज्य की धारणा द्वारा नहीं, पर निगमित समाज की धारणा में अवश्य ही आधुनिक राज्य के पुनर्गठन का आधार मिल सकता है। इस समय ऐसे निगमित समाज की आवश्यकता है जिसका संगठन शान्ति के लिये हो, जिसका निर्माण राज्य द्वारा न होकर व्यक्तियों द्वारा हो तथा जहाँ समाज का सार्वजनिक कल्याण, राज्य और व्यक्तियों के अधिकार आदि का समुचित सम्मान और विकास हो।[36]

फासिस्टवादियों का दावा था कि कॉरपोरेशन व्यवस्था आर्थिक क्षेत्र में उनका सबसे अधिक मौलिक योगदान था। मुसोलिनी का कहना था कि निगमवाद (Corporatism) अथवा कॉरपोरेट राज्य का निर्माण सबसे अधिक साहसपूर्ण मौलिक और क्रान्तिकारी कार्य था। इटली की कारपोरेट राज्य व्यवस्था ने बहुत से तत्कालीन राज्यों की अर्थ व्यवस्था को प्रभावित किया। 1933 में पुर्तगाली संविधान के अन्तर्गत पुर्तगाल को कॉरपोरेट राज्य स्वीकार किया गया। पुर्तगाल के तानाशाह सालाजार ने मुसोलिनी के ही पदचिह्नों पर चलकर पूँजी और श्रम के मेल का प्रयत्न किया। 1938 में आस्ट्रिया में भी निगम व्यवस्था लागू की गई और श्रमिक संघों को तोड़ दिया गया। स्पेन में गृह-युद्ध (1936) के उपरान्त जनरल फ्रान्को ने कई निगमों की स्थापना की। 1937 का ब्राजील का संविधान तथा 1943 के बाद पीरू तथा अर्जेन्टाइना की व्यवस्था भी इस कॉरपोरेट प्रणाली पर आधारित थी। इटली की व्यवस्था उनके प्रेरणा स्रोत थे। लेकिन किसी भी प्रजातान्त्रिक राज्य ने फासिस्ट कॉरपोरेट प्रणाली को नहीं अपनाया। यह सिर्फ अधिनायकों और तानाशाहों को ही आकर्षित कर सकी।

फासीवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद

फासीवादी विचारधारा में अन्तर्राष्ट्रीयता को कोई स्थान नहीं था। फासीवादी उग्र राष्ट्रवाद में विश्वास करते थे, जिसके अनुसार वे अपने हितों को ही सर्वोपरि मानते थे। अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए दूसरे राष्ट्रों को हड़पने एवं बलिदान करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। उनका राष्ट्र उत्थान दूसरे राष्ट्रों के लोप से ही सम्भव हो सकता था।

फासीवाद शान्ति विरोधी तथा युद्ध समर्थक था। उग्र राष्ट्रवाद में शान्ति का वैसे ही कोई महत्त्व नहीं होता। सैद्धान्तिक रूप से वे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को कायरता का प्रमाण मानते थे। फासीवाद मनुष्य, जाति, राष्ट्र, राज्य की उन्नति के लिये युद्ध को आवश्यक एवं स्वाभाविक मानते थे। मुसोलिनी के शब्दों में

[36] उपर्युक्त, पृ 666, 668-69.

'पुरुष जीवन में युद्ध का वही स्थान है जो नारी के जीवन में मातृत्व का है।' हिटलर भी युद्ध को खूब गौरवान्वित करता था। हिटलर के अनुसार अविराम युद्धों से ही मानव जाति की उन्नति हुई है, शान्ति की स्थापना से मानव जाति विनाश के गर्त में चली जायगी।

फासिस्ट केवल अपने राष्ट्र तक ही सीमित एवं उत्तरदायी है। वह दूसरे व्यक्ति की अन्तरात्मा, कोई धार्मिक वर्ग, किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था या समाज, अथवा किसी विश्व-सर्वहारा वर्ग के प्रति भक्ति को स्वीकार नहीं करता। फासीवादी विश्व-सहयोग के विरुद्ध है। उसका विश्वास था कि भावी युद्ध अनिवार्य है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के परामर्शों द्वारा शान्ति सम्भव नहीं। इटली को दूसरे महान राष्ट्रों के समान मानना ही होगा। वह अपमान सहन नहीं करेगा। वह शान्ति को उसी समय स्वीकार करेगा जबकि वह रोमन शान्ति होगी।[37]

फासीवादी राज्य शक्ति और विस्तार पर आधारित था। तदनुसार राज्य को निरन्तर अपनी शक्ति और विस्तार में अभिवृद्धि करते रहना चाहिए। यदि राज्य का प्रसार रुक जाता है तो उसका नाश हो जाता है। इसलिए, जैसा कि सेबाइन ने व्यक्त किया है, राज्य केवल वह सत्ता ही नहीं है जो व्यक्तियों की इच्छाओं को कानूनों का रूप और आध्यात्मिक जीवन का मूल्य प्रदान करती है, किन्तु ऐसी शक्ति भी है जो अपनी इच्छा को दूसरे देशों पर स्थापित करती और अपना सम्मान बढ़ाती है। अन्य शब्दों में वह अपने विकास की सभी आवश्यक दिशाओं में अपनी इच्छा की सार्वभौमता के तथ्य का प्रदर्शन करती है। इस प्रकार इसकी तुलना मनुष्य की इच्छा से की जा सकती है जिसके विकास की सीमाएँ नहीं होती, जो अपनी असीमता की परीक्षा करके ही अपने को परिपूर्ण बनाती है।[38]

फासीवादी नस्ल की श्रेष्ठता में विश्वास करते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में मुसोलिनी की अपेक्षा नात्सीवाद में नस्ल की श्रेष्ठता सिद्धान्त का विशेष एवं विस्तार-पूर्वक प्रतिपादन किया गया है। हिटलर नस्ल के सिद्धान्तों को लेकर चला और उनकी सहायता से उसने राजनीति दर्शन को एक नया आधार देने का प्रयत्न किया। मेन केम्फ (Mein Kampf) में नस्ल-श्रेष्ठता का सिद्धान्त सर्वत्र फैला हुआ है। इसमें हिटलर ने बतलाया है कि इतिहास न तो व्यक्ति की मुक्ति का संघर्ष है, और न वर्ग-संघर्ष की कहानी। वह तो उत्कृष्ट नस्ल-आर्य नस्ल—की प्रतिभा के प्रस्फुटन का सिद्धान्त है। विश्व में विभिन्न नस्लें जीवित रहने और अपने आप को शक्तिशाली बनाने के लिये संघर्ष करती हैं। इनमें जो नस्ल सर्वाधिक शुद्ध होती है वही सबसे शक्तिशाली होती है। हिटलर आर्य नस्ल को सर्वश्रेष्ठ मानता था जिसको

37. कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 519-11.
38. सेबाइन., राजनीति चिन्तन का इतिहास, पृ. 444-45.

सुरक्षा राज्य का परम कर्त्तव्य था। वह ऐसे राज्य को लोक राज्य (Folkish State) कहता था।[39] हिटलर का श्रेष्ठ एवं पवित्र नस्ल का सिद्धान्त विस्तारवादी है। उसने लिखा है कि आर्य नस्लें अल्प-संख्यक होते हुए भी विदेशी जातियों को अपने अधीन कर लेती हैं। नस्ल के इस शक्ति विस्तार में राज्य को सहायक होना चाहिए। जैसे-जैसे नस्ल की संख्या में वृद्धि होती है वैसे-वैसे ही उसकी आर्थिक आवश्यकताएँ भी बढ़ती हैं तथा अतिरिक्त भूमि की आवश्यकता अनुभव होती है। इसी अनुपात में श्रेष्ठ नस्ल को अपनी अतिरिक्त जनसंख्या को बसाने तथा उसकी आर्थिक समृद्धि के लिये सीमा विस्तार करने का अधिकार है।[40]

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हिटलर और मुसोलिनी दोनों ने ही अपनी विस्तारवादिता का परिचय दिया। इटली की अतिरिक्त जनसंख्या को अन्यत्र बसाने, या आर्थिक स्रोतों की प्राप्ति के लिए मुसोलिनी ने ईथोपिया को हड़पने की योजना बनाई। ईथोपिया के साथ सीमा विवाद उत्पन्न कर 1936 में उस पर इटली का आधिपत्य हो गया। इसके अलावा मुसोलिनी भूमध्यसागरीय क्षेत्र को इटली के प्रभाव-क्षेत्र में लाना चाहता था। मुसोलिनी का उद्देश्य इटली को एक बड़ी शक्ति के रूप में प्रस्तुत करना था। *विस्तारवाद के क्षेत्र में हिटलर मुसोलिनी से और भी आगे बढ़ा हुआ था।* प्रथम, हिटलर वर्साय की सन्धि (Treaty of Versailes, 1919) के अन्तर्गत जर्मनी की सीमा निर्धारण को मान्यता नहीं देता था। वर्साय की संधि के द्वारा वे क्षेत्र जो जर्मनी से छीन लिए गये थे हिटलर उन्हें वापस लेना चाहता था। द्वितीय, हिटलर अन्तिम बार जर्मनी के एकीकरण की प्रक्रिया को पूर्ण करना चाहता था। इसलिए यूरोप में वे क्षेत्र जिनमें जर्मन जनसंख्या रहती थी, हिटलर उनका जर्मनी में विलयीकरण चाहता था। आस्ट्रिया तथा चेकस्लोवाकिया को जर्मनी में मिला कर एक सीमा तक इस उद्देश्य की पूर्ति की गई। तृतीय, हिटलर यहीं तक सन्तुष्ट नहीं था, अन्तिम उद्देश्य सम्पूर्ण यूरोप को अपने आधिपत्य में करना था। जब हिटलर ने यूरोप के अन्य छोटे-छोटे राज्यों पर अधिकार करने की चेष्टा की, परिणामस्वरूप द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया।

उपरोक्त तथ्य फासीवाद तथा नात्सीवाद की विस्तारवादी नीति का स्पष्ट प्रमाण है। यह विस्तारवाद कोई आकस्मिक नहीं था किन्तु फासीवाद के विस्तारवादी सिद्धान्तों पर आधारित योजनाबद्ध था। आन्तरिक असन्तोष को ध्यान में रखते हुए तथा व्यक्तियों की महत्त्वाकांक्षाओं को उकसाने के लिये इस प्रकार की विदेश नीति स्वाभाविक ही थी।[41] इंग्लैण्ड और फ्रान्स की सन्तुष्टिकरण की नीति फासीवादी विस्तार में और भी सहायक सिद्ध हुई।

39 Sabine, G H, A History of Political Theory, p 731
40 Mein Kampf, p 523
41 Laski, H J, Reflectons on the Revolution of Our Time, p 87.

फासीवादी साधन

शक्ति-राजनीति (Power-Politics) फासीवाद का एक महत्वपूर्ण पक्ष था। राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये उन्होंने शक्ति का साधन के रूप में प्रयोग किया। फासीवादियों ने शक्ति द्वारा सत्ता प्राप्त की तथा सत्ता में बने रहने के लिये शक्ति का निरन्तर प्रयोग करते रहे। शक्ति उनका धर्म बन गया। विरोधियों का हिंसात्मक साधनों द्वारा उन्मूलन किया गया। बन्दीगृह फासीवादी विरोधियों से भरे पड़े थे। फासीवादी शासन के अन्तर्गत इटली और जर्मनी में शक्ति एवं हिंसा का जैसा नग्न प्रदर्शन हुआ, सम्भवत ही किसी सभ्य समाज में हुआ हो।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फासीवादी शान्तिपूर्ण साधन या वार्ता द्वारा समस्याओं का समाधान करने में विश्वास नहीं रखते। उनके अनुसार शान्ति कायरों का स्वप्न है। अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये वे युद्ध को राष्ट्रीय नीति का एक प्रमुख अंग मानते थे। यह दृष्टिकोण ईथोपियाई संकट से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। ईथोपिया की समस्या का समाधान करने के लिये जब इंग्लैण्ड ने ईथोपिया का कुछ क्षेत्र इटली को देने का प्रस्ताव किया तो मुसोलिनी ने बड़े ही अपमानजनक शब्दों में कहा—"यदि मुझे ईथोपिया को चांदी की प्लेट पर भी रख कर प्रस्तुत किया जाये तो मैं सधन्यवाद मना कर दूंगा, क्योंकि ईथोपिया को मैंने शक्ति से लेने का निश्चय कर लिया है।" इन साधनों के विषय में लास्की (H. J. Laski) ने लिखा है कि—

> फासिस्ट प्रणाली शक्ति को छोड़ सभी मूल्यों का हनन करती है, यह युद्ध को राष्ट्रीय नीति के स्वाभाविक साधन के रूप में प्रयोग करने के लिये तैयार है, इसके द्वारा या तो मानव जाति को दास बनाना चाहिये या स्वयं नष्ट हो जाना चाहिये। इसमें इन विकल्पों के अतिरिक्त और कोई अन्य मार्ग नहीं।[42]

propaganda.

प्रसार (Propaganda)

फासीवादी विचारधारा में प्रसार का विशेष महत्त्व रहा है। फासीवादी प्रबुद्धवादी तो थे ही। अपने प्रत्येक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्यों की भावनाओं को उभारना तथा भड़काना आवश्यक समझा जाता था। यह कार्य केवल प्रभावशाली प्रसार द्वारा ही सम्भव था।

प्रसार नात्सीवाद का मूल स्तम्भ था। हिटलर ने अपनी आत्मकथा–Mein Kampf–में प्रसार और संगठन के विषय में एक अलग ही अध्याय लिखा है। इस अध्याय में वह दल, संगठन आदि से भी प्रसार को अधिक महत्त्व एवं प्राथमिकता

42. Laski, H. J., Reflections of the Revolution of Our Time, p. 97.

देना है। प्रारम्भ में जब हिटलर ने नाजी लेबर पार्टी की सदस्यता ग्रहण की तो सर्वप्रथम उसने प्रसार शाखा का अपने अधीन किया। वह प्रसार के महत्त्व को समझता था। हिटलर की प्रसार प्रणाली एक बड़ा शस्त्र बन गई थी। जो कार्य युद्ध से सम्भव नहीं था हिटलर उसे प्रसार के द्वारा ही प्राप्त कर सकता था। बिना युद्ध के ही प्रसार द्वारा हिटलर ने आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया को अपने अधिकार में कर लिया था। इस प्रकार फासीवादी शासन व्यवस्था में प्रसार का एक साधन के रूप में विशेष स्थान था।

फासीवाद और साम्यवाद

फासीवाद और साम्यवाद में कई समान तत्व दृष्टिगोचर होते हैं। कोकर ने लिखा है—

> पश्चिम तथा रूसी साम्यवाद में कुछ आवश्यक पक्षों में परस्पर विरोध होते हुए भी घनिष्ट आध्यात्मिक सम्बन्ध है और कई बातों में उनके शासन की रीतियाँ समान हैं।[43]

कोकर ने साम्यवाद और फासीवाद में निम्नलिखित समानताओं का उल्लेख किया है[44]—

(i) फासिस्टों और बोल्शेविकों दोनों ने शासन-सत्ता अहिंसा अथवा हिंसा का प्रयोग से प्राप्त की और दोनों ही बल प्रयोग को राजनीतिक कार्य का सर्वोच्च साधन मानते हैं।

(ii) दोनों ही विचारधाराएँ लोकतन्त्र तथा उदारवाद की हँसी उड़ाते हैं तथा उन्हें अज्ञानियों के अन्धविश्वास या कल्पना प्रिय लोगों के अव्यावहारिक आदर्श मानते हैं।

(iii) दोनों प्रणालियाँ स्वतन्त्रता विरोधी हैं। ये ऐसी कोई व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं मानते जिसका राज सत्ता विनाश नहीं कर सकती। ये समाचार-पत्रों तथा स्कूलों को अपने प्रचार का साधन मानकर उन पर अपना एकाधिकार मानते हैं। ये स्वतन्त्र विचार-प्रकाशन से डरते हैं और बड़ी निर्दयता के साथ उसका दमन करते हैं।

(iv) दोनों व्यवस्थाओं में शासन तथा राजनीतिक दल में अभिन्नता है। ये एकदलीय शासन व्यवस्था में आस्था रखते हैं।

इनके अलावा सबाइन[45] ने राष्ट्रीय समाजवाद (नात्सीवाद) के सन्दर्भ में फासीवाद और साम्यवाद में कुछ अन्य समानताओं का निम्नलिखित विवरण दिया है—

---

43 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन पृ 513

44 उपर्युक्त पृ 513

45 Sabine G H A History of Political Theory p 751

(i) इन विचारधाराओं का अभ्युदय प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उस समय दयनीय आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हुआ।

(ii) ये अधिनायकवादी शासन का समर्थन करती है।

(iii) इनमें सत्ता कुछ मुट्ठी भर व्यक्तियों के हाथों में रहती है।

(iv) ये विचारधाराएँ मूलतः अन्ध सिद्धान्तवादी हैं। एक नस्ल की श्रेष्ठता तथा दूसरा सर्वहारा वर्ग की महत्ता मे विश्वास रखते है।

(v) ये राजनीति को शक्ति ग्रहण करने का साधन मानते हैं। इस प्रकार दोनों शक्ति-राजनीति मे विश्वास करते हैं।

फासीवाद और साम्यवाद उद्भव, सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि तथा व्यवहार मे कही समान तथा कही अत्यधिक निकट है। फिर भी आलोचक इनमे साम्यवाद की श्रेष्ठता को स्वीकार कर विभिन्नताओं का उल्लेख करते है। साम्यवाद तत्वतः मानवतावादी है। उसकी निर्धन वर्ग की सेवा की नीयत को चुनौती नही दी जा सकती। साम्यवादी विचारधारा लगभग दो पीढ़ियों के मार्क्सवादी अन्वेषण का परिणाम है। यह मार्क्सवादी वैज्ञानिक एव क्रमबद्ध दर्शन पर आधारित है। इसके विपरीत फासीवाद अवसरवादी विचारों का बन्डल था जिन्हे आवश्यकतानुसार संगृहीत कर लिया गया। यह बौद्धिक झूठ एव प्रोपेगेन्डा था। साम्यवाद पूँजीवाद का शत्रु है। यह पूँजीवाद को एक शोषण व्यवस्था मानता है। फासीवादी मूलतः उच्च वर्ग और पूँजीवर्ग के समर्थक थे।

वर्ग व्यवस्था के विषय में इन दोनों में मूल अन्तर है। साम्यवाद वर्ग-संघर्ष पर आधारित है। इसमे वर्ग-संघर्ष स्वाभाविक है। अन्तिम रूप मे पूँजीवर्ग की समाप्ति और सर्वहारा वर्ग के शासन की स्थापना मे साम्यवादी विश्वास करते हैं। किन्तु फासीवादी वर्ग-संघर्ष का खण्डन तथा सहयोग के आधार पर शासन रचना का समर्थन करते है। फासीवाद विभिन्न वर्गों की उग्रता को कुंठित कर उनका एक प्रणाली के अन्तर्गत समन्वयपरक है।

राज्य के प्रति इनके दृष्टिकोण में मूलभूत भेद है। फासीवादी सर्वसत्ताधारी राज्य में विश्वास करते हैं। वे राज्य को अत्यधिक महत्त्व देते है। किन्तु साम्यवाद मे केवल संक्रमण काल में ही राज्य के महत्त्व को स्वीकार किया जाता है। एक अन्तिम उद्देश्य के रूप में साम्यवादी राज्य-रहित समाज की स्थापना चाहते हैं।

फासीवाद और साम्यवाद मे एक मूल अन्तर और है। फासीवादी उग्र राष्ट्रवाद मे आस्था रखते हैं। किन्तु साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीयता मे विश्वास करते हैं। इसका यही तात्पर्य है कि साम्यवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है। यह समस्त विश्व को साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत लाना चाहता है।

वैसे आजकल फासीवाद और साम्यवाद की तुलना का केवल बौद्धिक सन्दर्भ ही रह गया है। फासीवादी व्यवस्था समाप्त हो चुकी है जबकि साम्यवाद ने अपने

प्रसार में बहुत प्रगति की है। आलोचकों ने जब फासीवाद तथा साम्यवाद को एक ही स्तर पर रखने का प्रयत्न किया, सम्भवत. उनका उद्देश्य साम्यवाद को अपमानित करना है। साम्यवाद में बहुत त्रुटियां हैं फिर भी इसे फासीवाद के साथ एक ही कोष्ठक में नहीं रखा जा सकता।

सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फासीवाद और साम्यवाद एक दूसरे के विरोधी थे। फासीवाद के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में मार्क्सवादी व्याख्या का इस अध्याय के प्रारम्भ में उल्लेख किया जा चुका है।[46] साम्यवादियों ने फासीवाद को पूंजीपतियों का षड्यन्त्र तथा पूंजीवाद के पतन की चरम सीमा बतलाया था। साम्यवादियों का लगभग यही दृष्टिकोण नात्सीवाद एवं हिटलर के प्रति था। साम्यवाद के प्रति फासीवाद का भी बड़ा आक्रामक दृष्टिकोण रहा है। मुसोलिनी ने इटली के अन्दर साम्यवादियों, समाजवादियों आदि का पूर्ण सफाया कर दिया था। हिटलर साम्यवाद तथा रूस का कट्टु शत्रु था। उसने अपनी आत्मकथा में साम्यवाद के प्रति कई स्थलों पर निन्दनीय शब्दों का प्रयोग किया है। वह साम्यवादियों को खूनी, अपराधी, लुटेरा आदि कहता है। हिटलर का विचार था कि रूस का शीघ्र पतन होगा।[47] यूरोपीय राजनीति में भी इन राज्यों का कभी भी सहयोग नहीं रहा। यदि कभी सहयोग भी हुआ, जैसे रूस-जर्मनी की अगस्त 1939 में अनाक्रमण सन्धि, वह अवसरवादिता पर ही आधारित था। इन्होंने एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न किया। अन्त में यह द्वितीय विश्व युद्ध के संघर्ष में परिवर्तित हो गया।

फासीवाद का मूल्यांकन

फासीवाद का अध्ययन करने के पश्चात् इस विचारधारा में दोष ही अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। फासीवाद के प्रत्येक सिद्धान्त-सूत्र (यदि फासीवाद को सैद्धान्तिक माना जाय तब) की कई दृष्टिकोणों से आलोचना हुई है। फासीवाद के कुछ प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं —

संदिग्ध विचारधारा (1)

सर्वप्रथम फासीवाद को एक विचारधारा के रूप में स्वीकार करना ही संदिग्ध है। इसका न तो कोई पूर्व दर्शन है और न विचार-सूत्रों में क्रमबद्धता। यह विचार धारा तदर्थ एवं अवसरवादी विचारों का संग्रह है। इस सम्बन्ध में लास्की ने लिखा है-

> "फासीवाद का किसी भी रूप में कोई दर्शन नहीं है। इसके समर्थकों ने इसके जो सिद्धान्त-सूत्र प्रस्तुत किये हैं उनका परीक्षण करने पर प्रोपेगेन्डा प्रतीत होते हैं जिनका अपनी सत्ता में वृद्धि करने के अलावा और कोई अर्थ नहीं।"[48]

46. इसके लिए इस अध्याय के प्रारम्भ में मार्क्सवादी व्याख्या देखिए।
47. Mein Kampf, Chapter XIV, Germany's Policy in Eastern Europe
48. Laski, H J, Reflections on the Revolution of Our Time, p 97
Also see, Markl, Peter, Political Continuity and Change, p 523

फासीवादियों ने निरन्तर निषेधात्मक एवं विरोधात्मक दृष्टिकोण अपनाया। इनके प्रवक्ताओं और कार्यकर्त्ताओं ने कभी भी न तो रचनात्मक विचार व्यक्त किए और न कार्य ही किए। फासीवाद ने सभी प्रचलित आदर्शों का विरोध किया। व्यक्तिवाद, उदारवाद, मानववाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि विचारधाराओं की समस्त आधारभूत मान्यताओं और मूल्यों को उखाड फेंका। ध्वंसात्मक प्रकृति के कारण फासीवाद मे कोई भी ग्रहण करने योग्य आदर्श नही मिलता।

वर्णसंकरीय विचारधारा

फासीवाद का अध्ययन करने से कभी-कभी यह भ्रम होता है कि यह विचारधारा कई विचारधाराओं का समन्वय है। सम्भवतः मुसोलिनी तथा अन्य समर्थकों ने इसे सर्व-ग्राह्य बनाने के लिए सभी विचारधाराओं से सिद्धान्त ग्रहण किए। ऐसा समझना भूल होगी। फासीवाद अवसरवादिता पर आधारित तदर्थ (ah hoc) विचारों का संकलन था। उन्होंने अलग-अलग अवसरों पर अलग प्रकार की बातें एवं विचार कहे। इनमें सभी वर्गों को बेवकूफ बनाने का प्रयत्न किया गया। वे जिस वर्ग का समर्थन चाहते थे उसी के पक्ष में अपने विचार व्यक्त कर देते थे। उनके ऐसे विचार चाहे परस्पर-विरोधी भी हों, उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं थी। वास्तव में फासीवाद बहुत कुछ धोखा था। श्रमिकों को अपने पक्ष में करने के लिये मुसोलिनी ने कुछ पूँजीवादी विरोधी नारों का प्रयोग किया। किन्तु साथ ही साथ पूँजीवादियों को यह भी आश्वासन दे दिया कि इन नारों से उन्हें घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। यही हाल जर्मनी का था। 1930 में एक नात्सी नेता ने एक उद्योगपति को पत्र लिखकर यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि—

> "हमारे कथन तथा व्यवहार से आप अपने लिए दुविधा (असमन्जस) मे न डालें। कुछ आकर्षक नारे हैं जैसे 'पूँजीवाद का नाश हो', लेकिन ये आवश्यक हैं। हमें असन्तुष्ट एवं क्रुद्ध समाजवादी श्रमिक की भाषा का प्रयोग करना चाहिए। कूटनीति को ध्यान मे रखते हुए ही हम स्पष्ट कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं करते।"[49]

फासीवादियों ने पूँजीवाद, समाजवाद, हीगलवाद, सिन्डीकलवाद, राष्ट्रवाद, अविवेकवाद आदि से बहुत से तत्व ग्रहण किये, किन्तु इन सबका प्रयोग उन विचारधाराओं के सही सन्दर्भ में कभी भी नहीं किया। इसलिए फासीवाद इन विचारों का सही समन्वय न होकर वर्णसंकरीय विचारधारा बन गया।

फासीवाद धनिक-वर्ग के षड्यन्त्र के रूप में

इस तर्क मे भी सत्यता है कि फासीवाद इटली के पूँजीवर्ग का षड्यन्त्र था। मुसोलिनी और हिटलर दोनों को ही पूँजीवादियों का समर्थक माना जाता है। इनमे

49. Quoted, Sabine, G H., A History of Political Theory, p. 710.

और पूँजीपतियों में बड़ी घनिष्ठता थी। इन लोगों को राशि बड़े-बड़े पूँजीपतियों से मिलती रहती थी। यही कारण है कि जैसे ही मुसोलिनी को सत्ता मिली उसने अपना समाजवादी कार्यक्रम त्याग दिया। उसने श्रमिकों की इच्छाओं का विरोध किया।[50] वास्तव में इस व्यवस्था में धनिक अधिक धनी और निर्धन और भी निर्धन होते चले गए। सामान्य जनता की आर्थिक चिन्ताओं से मुक्ति के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं किये गये। उन्हें केवल भावनाओं के भोजन से ही सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न किया गया।

सर्वसत्ताधारी राज्य की स्थापना

फासीवादी राज्य सर्वसत्ताधारी होता है। इसके दो प्रमुख पक्ष हैं। प्रथम, **राज्य साध्य है और व्यक्ति साधन। द्वितीय, शासन व्यवस्था का आधार शक्ति है।** राज्य अथवा राष्ट्र को साध्य तथा व्यक्ति को साधन मानना भूल होगी। ऐसी शासन व्यवस्था में व्यक्तियों की स्थिति दासों के समान हो जाती है। प्रत्येक कार्य राष्ट्र की प्रतिष्ठा एवं शक्ति वृद्धि करने के लिए किया जाता है, जिसमें मानव मूल्य एवं मनुष्यों की गरिमा का कोई भी महत्त्व नहीं होता। यह अत्याचारी शासन का दूसरा नाम है। इसी तरह फासीवादी शक्ति को राज्य का स्थाई आधार मानकर चलते हैं। इतिहास में इस प्रकार के अनेकों दृष्टान्त हैं कि शक्ति और हिंसा के आधार पर कोई भी व्यवस्था स्थाई नहीं रह सकती। शक्ति का शक्ति द्वारा ही पतन होता है। **राज्य का आधार,** जैसा कि ग्रीन ने कहा है, शक्ति नहीं, वरन् इच्छा है।

जिस समय इटली में फासीवाद अपनी चरम सीमा पर था बहुत से पर्यवेक्षकों का मत था कि यह बल पर आधारित व्यवस्था अधिक दिनों तक नहीं चल सकेगी। प्रसिद्ध विद्वान् दार्शनिक बेनेदेटो क्रोस (B Crose) तथा इतिहासकार फेरेरो (Guglelmo Ferrero) ने उस समय मत व्यक्त करते हुए लिखा था कि बल-प्रयोग पर आधारित शासन केवल पतनोन्मुख जातियों में ही अधिक काल तक बने रह सकते हैं। जो देश आगे बढ़ रहे हैं या जिनमें प्रगतिशीलता के अंकुर किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं, यह व्यवस्था सफल नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त शक्ति ने जिस शासन का निर्माण हुआ है, उसका नाश भी शक्ति ने ही किया है। रोम साम्राज्य का सेना द्वारा निर्माण हुआ था, और उसका अन्त भी सेना ने ही किया। फासीवादी शासन-व्यवस्थाओं का भी यही भविष्य होगा। वास्तव में ऐसा हुआ भी। फासीवाद लगभग दो दशाब्दी तक ही चल सका। द्वितीय विश्व युद्ध ने इटली तथा जर्मनी दोनों से ही फासीवाद को समाप्त कर दिया।[51]

फासीवाद और लोकतन्त्र

फासीवाद लोकतान्त्रिक व्यवस्था को महत्त्व नहीं देते। उनके अनुसार यह जन-

50 Laski, H J, Reflections of the Revolution of Our Time, p 86, वर्मा, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ० 493

51 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ० 520

शासन नही हो सकता, क्योंकि साधारण जनता स्वार्थ के वशीभूत रहती है। वह स्वार्थ से ऊपर उठकर सम्पूर्ण सामाजिक हित में नही सोच सकती। इसके अतिरिक्त इस व्यवस्था में थोड़े से चालाक नेता हमेशा सत्ताधारी बने रहते हैं। इसे बहुसंख्यक सम्पत्ति का शासन समझना भ्रम होगा। फासीवादी लोकतन्त्र को 'सड़ा हुआ शव' और संसद को 'बातूनी दुकान' कहते हैं। फासीवादियों द्वारा लोकतन्त्र की आलोचना में आंशिक सत्यता तो है, किन्तु इस आलोचना से वे लोकतन्त्र में सुधार नही करना चाहते, वे उसे जड़ से उखाड़ फेंकना चाहते है। लोकतन्त्र व्यवस्था में कुछ दोष होते हुए भी फासीवादी व्यवस्था से तो अति उत्तम है।

फासिस्ट विचारधारा स्वतन्त्रता और समानता के आदर्शों के विरुद्ध है। उनका यह विचार कि स्वतन्त्रता एक विचार न होकर कर्तव्य है तथा शक्तिशाली राज्य के अनुशासन में ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता निहित है, गलत है। वे अधिनायकवाद की वेदी पर स्वतन्त्रता का बलिदान कर देते हैं। फासीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य एक मशीनी पुरजे के समान रह जाता है, जिसमे उसके व्यक्तित्व का पूर्ण लोप हो जाता है।

समानता के विषय में फासीवादी प्रकृति के आधार पर व्यक्तियों को असमान मानते हैं। उनके अनुसार समाज में व्यक्ति समान नही हो सकते। इससे मना नही किया जा सकता कि शारीरिक क्षमता, बौद्धिक प्रतिभा तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियो की दृष्टि से मनुष्य एक दूसरे से भिन्न होते हैं। किन्तु यही समझ कर राज्य उनको असमान माने यह भारी भूल होगी। राज्य के समक्ष सब व्यक्ति समान होने चाहिएँ, राज्य किसी भी आधार पर नागरिकों में भेदभाव नही कर सकता। राज्य का कर्तव्य सभी नागरिकों को समान अवसर प्रदान करना होता है। इस सम्बन्ध में फासीवादी आलोचना के विषय में लास्की ने लिखा है कि फ्रांस के उपरान्त जिन संवैधानिक आचार और प्रतिनिधित्व लोकतन्त्र का विकास हुआ फासीवाद ने उन सभी को उखाड़ फेंका। यह मनुष्य को एक साध्य के रूप में कैसे भी स्वीकार नही करता।[52]

कला एवं विज्ञान की अवनति (6)

फासीवादी राज्य में कला एवं विज्ञान की प्रगति नही हो सकती। अधिनायकवादी शासन में समाज एवं व्यक्ति के प्रत्येक पक्ष पर राज्य का नियन्त्रण रहता है। विज्ञान तथा कला को भी प्रोपेगेन्डा का एक साधन माना जाता है। इस स्थिति में कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञान का ह्रास होता चला जाता है इस प्रकार के अनुशासित और नियन्त्रित राज्य सामाजिक प्रगति के लिए कभी भी उपयुक्त नही हो सकते। अधिनायकतन्त्र का संचालन एक विशाल सगठित संशोधन-गृह की भांति होता है। इस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को नियत कार्य दिया जाता है और उसके सम्पादन पर सतर्क दृष्टि रखी जाती है। यह पद्धति समाज-दोषी तथा अयोग्य एवं अनपढ़ व्यक्तियो के लिये ठीक हो सकती है, किन्तु बुद्धिमान, साहसी श्रेष्ठ

52. Laski, H. J., Reflections on the Revolution of Our Time. p. 87.

तथा चरित्रवानों के लिए बिल्कुल ही अनुपयुक्त है। ऐसे व्यक्तियों को अधिनायक-तन्त्र, और वह भी अविवेकवाद पर आधारित, पशुबल और पशुबुद्धि का सामना करने के सिवाय कुछ भी नहीं। किसी राष्ट्र के सार्वजनिक एवं सांस्कृतिक जीवन का अत्यन्त केन्द्रीभूत एवं दमनकारी निर्देशन साहित्य, विज्ञान तथा कला के विकास की सम्भावनाओं को नष्ट कर देता है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर आइन्स्टाइन (Albert Einstein) ने अपने एक सूक्ष्मतम 19 शब्दों के निबन्ध में लिखा है—

> 'अधिनायकतन्त्र का अर्थ है सब ओर से प्रतिबन्ध और उसके परिणामस्वरूप निरर्थक प्रयत्न। विज्ञान केवल स्वतन्त्र भाषण के वातावरण में ही अभिवृद्धि प्राप्त कर सकता है।' [53]

7 अन्तर्राष्ट्रीय विचारों की आलोचना

फासीवादियों के अन्तर्राष्ट्रीय विचार अति भर्त्सना योग्य हैं। वे प्रथम, उग्र राष्ट्रवाद में विश्वास करते हैं। द्वितीय स्वयं की नस्ल श्रेष्ठता के औचित्य को सिद्ध करते हैं। तृतीय, क्षेत्रीय विस्तारवाद को मान्यता देते हैं। चतुर्थ, युद्ध को राष्ट्रीय नीति का एक प्रमुख साधन मानते हैं। ये सभी विचार अन्तर्राष्ट्रीयता के शत्रु हैं। व अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को कायरों का स्वप्न कहते हैं, किन्तु शान्ति का कोई अन्य विकल्प हो ही नहीं सकता। यदि निरन्तर युद्ध चलते रहे सभी राष्ट्र विस्तारवादी नीति अपना लें तो ऐसी स्थिति हो जायेगी जैसा कि हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था के विषय में लिखा है। इसका परिणाम यह होगा कि सार्वजनिक कल्याण की ओर न तो ध्यान ही जायेगा और न समय ही मिल पायेगा। युद्धों पर अत्यधिक धनराशि व्यय होने से विकास और उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जायेगा। फासीवादियों के अन्तर्राष्ट्रीय विचार अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति के विरुद्ध हैं। ये अव्यावहारिक और मानव जाति के लिए घातक हैं।

यद्यपि द्वितीय विश्व युद्ध ने फासीवादी-नाजीवादी उद्देश्यों को पूरा नहीं होने दिया, यह सोचना भूल होगा कि फासीवाद मर चुका है। गटिल ने लिखा है कि उदारवाद इतना खर्चीला है कि बहुत कम लोग उसकी कीमत चुकाने को तैयार हैं अथवा इस योग्य हैं। जो विचार मनुष्य के मस्तिष्कों में घर कर जाते हैं उन्हें युद्ध द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता। इस समय ऐसा विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि विश्व के बहुत से देशों से अधिनायकतन्त्र को त्यागने की वास्तविक इच्छा उत्पन्न हो गई है। वास्तविकता तो यह है कि यदि साम्यवाद के विरुद्ध दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया का जोर बढ़ा तो फासीवाद पुनः भयंकर शक्ति के रूप में उठ खड़ा होगा।[54]

---

53 उद्धृत, कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन पृ० 519

54 गटिल, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ० 453–54

फासीवाद एव राष्ट्रीय समाजवाद समकालीन परिस्थितियो के विरुद्ध विद्रोही थे। भविष्य मे यदि इस प्रकार की परिस्थितियाँ पुनः उत्पन्न होती है तो असदिग्ध रूप मे इसी प्रकार की विचारधाराओ का फिर उद्‌भव होगा। इस प्रकार के विचारो का आगे विकास न हो, उसके लिये यह अति आवश्यक है कि हम अपनी समस्याओ का बुद्धिमानी के साथ सामना करें। फासीवाद तथा राष्ट्रीय समाजवाद की प्रेरणा शक्ति राष्ट्रीयता की उग्र भावना थी जिसका अभी भी अभाव नही है।[55] इसके विकल्प रूप मे हमे शान्ति, सद्भाव, सहयोग के सिद्धान्तो को ही राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे अपनाना पडेगा। अन्य विकल्पों का तात्पर्य विश्व को उन्ही निर्दयी, अमानवीय शक्तियो को समर्पण करना होगा जिनसे हम एक पीढी पहले ही जूझ चुके हैं। एक कामना के रूप मे इस प्रकार की परिस्थिति पुनः नही आनी चाहिये।

पाठ्य-ग्रन्थ

1. Ashton., The Fascist, Chapter 2, What is Fascism
2. आशीर्वादम्, ए डी राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, अध्याय 22, सर्वाधिकारवादी राज्य
3. Charques and Ewen., Profits and Politics in the Post-War World (1934), Chapter IV, Italy.
4. कोकर, फ्रान्सिस., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, अध्याय 17, फेसिज्म.
5. Ebenstein, W., Today's Isms, Chapter II, Totalitarian Fascism.
6. गेटिल, रेमन्ड गारफील्ड., राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, अध्याय 26, फासीवाद.
7. Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought., Chapter 17, Fascism and National Socialism.
8. Laski, H. J., Reflections on the Revolution of Our Time, Chapter 3, The Meaning of Fascism.

55 Sabine, G. H A History of Political Theory, p. 711.

9 Merkı, Peter A — Political Continuity and Change, Chapter 14, Fascism and National Socialism.

0 Munro, Ion S — Through Fascism to World Power

11 Sabine G H — A History of Political Theory, Chapter 35, Fascism and National Socialism

10

लोकतान्त्रिक समाजवाद

लोकतान्त्रिक समाजवाद (Democratic Socialism) के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। इसलिये सर्वप्रथम उनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। कभी-कभी समष्टिवाद (Collectivism) तथा लोकतान्त्रिक समाजवाद को एक ही समझा जाता है, यह त्रुटिपूर्ण है। समष्टिवाद एक व्यापक विचार है, जिसके अन्तर्गत वे सभी विचारधाराएँ आती हैं जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को किसी न किसी रूप में सीमित कर किसी सस्था जैसे राज्य आदि को व्यापक अधिकार प्रदान करती हैं। इस प्रकार समाजवाद, साम्यवाद, फासीवाद आदि सभी समष्टिवादी विचारधाराएँ हैं। समाजवाद के सन्दर्भ में समष्टिवाद का तात्पर्य राज्य तथा स्थानीय संस्थाओं के आर्थिक तथा अन्य कार्यों में विस्तार के रूप में ही लिया जाता है।

समष्टिवाद को राज्य समाजवाद कहा जा सकता है क्योंकि इसमें समाजवादी कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने में राज्य को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जाती है। लोकतान्त्रिक समाजवाद भी समष्टिवादी होता है, किन्तु लोकतान्त्रिक समाजवाद में लोकतान्त्रिक शक्तियों, सिद्धान्तों एवं मूल्यों को साध्य के रूप में स्वीकार किया जाता है तथा राज्य जो समष्टिवादी होता है, इन आदर्शों की प्राप्ति का साधन होता है। अन्य शब्दों में यह कह सकते हैं कि समष्टिवाद एक तटस्थ राज्यवाद है जिसे विभिन्न आदर्शों के अनुसार किसी भी प्रकार के समाजवाद में परिवर्तित किया जा सकता है। यदि मार्क्सवादी आदर्शों की प्राप्ति करता है तो यह साम्यवाद है; यदि हिटलर और मुसोलिनी के उद्देश्यों की उपलब्धि करता है तो यह नात्सीवाद और फासीवाद हो सकता है; तथा यदि लोकतान्त्रिक मूल्यों में अभिवृद्धि करता है तब यह लोकतान्त्रिक समाजवाद कहा जा सकता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद को परिभाषित करना कठिन कार्य होने के साथ-साथ असम्भव सा प्रतीत होता है। "इसका एक सुपरिभाषित विचारधारा का होना तो दूर रहा, यह विभिन्न चिन्तकों और राजनीतिक शक्तियों के योगदान का समूह जैसा लगता है। सम्भवतः कोई भी समाजवादी एक ही साथ इन विचारों और सिद्धान्तों

का तार्किक (या विवेकपूर्ण ढग से) निर्वाह नहीं कर सकता ।'[1] एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका म समाजवाद की निम्नलिखित परिभाषा उल्लेखनीय है —

> 'समाजवाद उस नीति या सिद्धान्त को कहते हैं जिसका उद्देश्य एक केन्द्रीय लोकतान्त्रिक सत्ता द्वारा प्रचलित व्यवस्था की अपेक्षा धन का उत्तम वितरण एव उसके अधीन रहते हुए धन का उत्तम उत्पादन उपलब्ध करना है।''[2]

यह परिभाषा वास्तव म लोकतान्त्रिक समाजवाद की ओर ही इंगित करती है । इसम समाजवाद के उद्देश्य, साधन एव प्रक्रिया का जो उल्लख है वह लोकताान्त्रिक समाजवाद क सन्दर्भ म ही सही लगता है। फिर जब समाजवाद क विभिन्न सम्प्रदाय *अपना विशिष्ट नाम ग्रहण कर चुके हैं, तब प्रचलित भाषा मे समाजवाद का अर्थ* लोकतान्त्रिक समाजवाद से ही लगाया जाता है ।

लोकतान्त्रिक समाजवाद का कोई निश्चित दशन नही है । इसका विकास विभिन्न समय एव देशो मे विभिन्न परिस्थितिया के सन्दर्भ म हुआ है। लेकिन इसका मूल सैद्धान्तिक पक्ष जितना स्पष्ट है शायद ही किसी अन्य समाजवादी शाखा का हो । लोकतान्त्रिक समाजवाद मे 'लोकतन्त्र' और 'समाजवाद' दोनो ही स्वय स्पष्ट हैं । कोई भी समाजवादी विचारधारा जिसमे लोकतन्त्र को साध्य एव साधन दोना ही रूप मे स्वीकार किया जाता है, लोकतान्त्रिक समाजवाद कहलाता है। लोकतान्त्रिक समाजवाद मे लोकतान्त्रिक आदर्शों की उपलब्धि लोकतान्त्रिक साधनो से ही होनी चाहिये। सूक्ष्म म, लोकतान्त्रिक समाजवाद के तीन प्रमुख पक्ष हैं । प्रथम, समाज का उद्देश्य समस्त जनता का कल्याण होता है, किसी वर्ग विशेष का नही । द्वितीय, जन-कल्याण सम्बन्धी गतिविधियो का माध्यम राज्य या अन्य राजकीय सस्थाए होती हैं। तृतीय, उद्देश्यो की प्राप्ति लोकतान्त्रिक साधनों से होनी चाहिय ।

लोकतान्त्रिक समाजवाद का विकास

उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ तक यूरोप मे न तो लोकतन्त्र था और न समाजवाद । शासन व्यवस्था के रूप मे निरकुशवाद और सामतवाद का ही सर्वत्र प्रभुत्व था । कुछ थोड से व्यक्तियो के हाथो म राजसत्ता और अर्थ-व्यवस्था केन्द्रित थी । उच्च वर्ग द्वारा साधारण जनता का दमन और शोपण एक सामान्य बात थी । **लोकतन्त्र और समाजवाद के उदय मे औद्योगिक क्रांति तथा उससे उत्पन्न परिस्थितियो का मूल योगदान रहा है ।** यहाँ पर यह समझना दुर्लभ है कि पहले लोकतन्त्र का प्रादुर्भाव हुआ या समाजवाद का। औद्योगिक क्रान्ति के युग म लोकतन्त्र और समाजवाद का कहीं समानान्तर तथा कहीं मिला जुला सा विकास

1 Merkl, Peter H, Political Continuity and Change, p 139.

2 देखिये पृ 4

हुआ। किन्तु जैसे ही लोकतन्त्र और समाजवादी विचारधाराएँ अपना अलग-अलग अस्तित्व स्पष्ट करने लगी, इन दोनों की त्रुटियाँ एवं कमजोरियाँ दृष्टिगोचर होने लगी।

उन्नीसवीं शताब्दी मे उदारवादी और लोकतान्त्रिक विचारधारा का धीरे-धीरे विकास हो रहा था। लेकिन यह उदारवाद व्यक्तिवाद पर आधारित था जो पूर्णत पूँजीवादी व्यवस्था के रूप मे विकसित हुआ। यह वह युग था जब लोकतान्त्रिक तथा उदारवादी सिद्धान्तों के प्रति चेतना मे तो वृद्धि हुई पर राज्य का कोई विशेष महत्त्व नही था। राज्य को कुछ निश्चित कार्यों तक ही सीमित रखकर इसके कार्यक्षेत्र के विस्तार का प्रतिरोध किया गया। इस समय राज्य के अहस्तक्षेप की नीति को सर्वव्यापी मान्यता प्राप्त थी। गैटिल के अनुसार उस काल मे इस विचार का आधिपत्य था कि सर्वोत्तम राज्य वह है जो कम से कम शासन करता है। 'सरकार से स्वतन्त्रता न कि सरकार के द्वारा स्वतन्त्रता' उस काल का मुख्य आदर्श था। उस समय यह मान्यता थी कि सरकार का काम केवल व्यवस्था स्थापित करना है दूसरे के कार्यों मे हस्तक्षेप का अधिकार नही। यह व्यक्तिवाद का प्रतिवादी रूप था।[3] समाज की शक्तियाँ शुद्ध व्यक्तिवाद की दिशा मे जा रही थी।

औद्योगिक क्रान्ति से उत्पादन मे अत्यधिक वृद्धि हुई। अब व्यक्ति को यह आशा हो गई कि वह अपने परिश्रम से अधिकाधिक धन कमा सकता है। उसने अपने साधन और शक्ति से यूरोप तथा अमेरिका की अर्थ-व्यवस्था को कायापलट कर दी।

व्यक्तिवादी विचारधारा और औद्योगिक-क्रान्ति के समन्वय ने पूँजीवादी व्यवस्था को जन्म दिया। इससे साधन-सम्पन्न व्यक्ति तो उद्योगपति पूँजीपति बन गये किन्तु श्रमिकों की दशा अत्यन्त ही दयनीय थी। "नगरों की गन्दी बस्तियो मे रहने वाले मजदूरों के रहन-सहन का स्तर अत्यन्त नीचा था; वे लगभग भुखमरी अवस्था मे रहते थे। उनके सम्बन्ध मे माल्थस ने जो भविष्यवाणी की थी वह मानो पूरी हो गई। आठ-आठ और नौ-नौ वर्ष के बच्चे प्रतिदिन जितने घण्टे कार्य करते थे, उतने घण्टे आज का पूरा आदमी भी नही करता। मालिक लोग समझते थे कि मजदूर तो अन्य विक्रय वस्तुओं की भांति ही है, मजदूरों की तत्वत: वही स्थिति थी जो कि विक्रय वस्तुओं की, अत: उनका उस मूल्य मे जिसका वे अपने परिश्रम से सर्जन करते थे, वेतन के अतिरिक्त कोई साझा नही था। सम्पूर्ण मूल्य उन मालिकों की जेब मे जाता जो कारखाना चलाते और जोखिम उठाते थे। इन परिस्थितियों मे सबकी स्वतन्त्रता की बात करना तो सम्भव था किन्तु वास्तव मे स्वतन्त्रता थोड़े लोगों को ही उपलब्ध थी। बहुसख्यक लोग तो केवल इस अर्थ मे स्वतन्त्र थे कि 'स्वतन्त्रतापूर्वक पुल के नीचे सो सकते थे' जैसा कि कार्लाइल

---

3 गटिल, राजनीतिक चिन्तन इतिहास, पृ. 397.

Thomas Carlyl« 1795–1881) ने कहा था।"[4] जब उच्च वर्ग श्रमिकों की दयनीय दशा स ही द्रवित नहीं हुआ, तो श्रमिको के राजनीतिक अधिकारो की कल्पना का प्रश्न ही नही था। समस्त राजनीतिक-आर्थिक अधिकार उच्च वर्ग तक ही सीमित थे।

इस स्थिति म प्रश्न यह था कि इस अन्याय और शोषण का किस प्रकार उन्मूलन किया जाय ? या, इस दुर्भाग्यपूर्ण व्यवस्था के विकल्प मे और कौन सी व्यवस्था की स्थापना हो, जो इस प्रकार के दमन और शोषण से मुक्त कर सके। वास्तव म उस समय इस बात की अत्यन्त आवश्यकता प्रतीत हुई कि—

(I) समाज के उत्पादन साधनो पर किसी एक वर्ग विशेष का नियन्त्रण न हो,

(II) समाज की सम्पत्ति का न्यायोचित वितरण हो,

(III) समाज के श्रमिक वर्ग को उसके श्रम के उपलक्ष म उचित वेतन मिले। यह वेतन उसे किसी वर्ग विशेष से आभार रूप म न मिले वरन् उसका यह अधिकार हो।

(IV) अर्थ व्यवस्था का उद्देश्य निजी लाभ के स्थान पर समाज सेवा को प्रतिष्ठित करना हो।

लेकिन इस कार्य का उत्तरदायित्व कौन ले ? उस समय समस्त आर्थिक व्यवस्था पर पूँजीपतियों का आधिपत्य था। इन शोषण-कर्त्ताओं से यह अपेक्षा नही की जा सकती थी कि वे स्वय ही न्यायोचित समाज की स्थापना म पहल करें। उदार भावना से प्रेरित हो धनिक लोग कुछ कार्य कर सकते थ किन्तु इससे समस्या का समाधान नहीं हो सकता था। एक शोषण-रहित समाज की स्थापना के दायित्व के लिए राज्य ही एक उपयुक्त सस्था थी, जो समाज की ओर से उत्पादन क साधनो पर नियन्त्रण कर सामाजिक सम्पत्ति का न्यायोचित वितरण कर सके। इस प्रकार उस समय यह माग जोर पकडने लगी कि राज्य को सामाजिक व्यवस्था म सक्रिय भाग लेना चाहिए। अहस्तक्षेप की नीति से अन्याय का उन्मूलन नही हो सकता था। अब राज्य क सकारात्मक कार्यों की भूमिका को मान्यता मिलना प्रारम्भ हुआ।

उस समय जिस प्रकार से राज्य सगठित था, क्या वह इस प्रकार क उत्तरदायित्व के लिए समर्थ था ? क्या वह इस दायित्व का निष्पक्षतापूर्वक निर्वाह कर सकता था ? यह भी उस समय असम्भव सा जान पडा क्योकि जिन लोगो का अर्थ-व्यवस्था पर नियन्त्रण था उन्ही का शासन-व्यवस्था पर नियन्त्रण था। उन्ही का शासन-व्यवस्था पर आधिपत्य था। उन्होंने ही तो हस्तक्षेप की नीति को प्रोत्साहन दिया था और यदि राज्य कोई सक्रिय कदम उठाये भी तो राज्य एसा करन म असमर्थ था, क्योकि राज्य का स्वरूप राजतन्त्र, धनिकतन्त्र या सामन्तवादी जैसा ही था, जो अपने वर्ग हित की साधना क लिए कटिबद्ध था।

4 गैटिन, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ० 398

अब आवश्यकता इस बात की थी कि राज्य के वास्तविक स्वरूप में ही परिवर्तन किया जाय। राज्य की शासन व्यवस्था लोकतान्त्रिक ढग से हो ताकि वह सही अर्थ मे समाज का प्रतिनिधित्व कर सके। यही से राज्य को लोकतान्त्रिक सिद्धान्तो पर सगठित करने की माग ने महत्व ग्रहण किया। इस प्रकार उस समय सामाजिक सम्पत्ति के स्रोतो का समाजीकरण करने तथा लोकतन्त्र की स्थापना के लिए चिन्तन और आन्दोलन का ही प्रादुर्भाव हुआ। यही लोकतान्त्रिक समाजवाद का आधार एव प्रारम्भ था।

मार्क्सवादी विचारो से यूरोप मे वास्तविक समाजवादी विचार आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। मार्क्सवादी समाजवाद वर्ग-सघर्ष और क्रान्ति पर आधारित था। मार्क्सवाद को वैज्ञानिक समाजवाद भी कहते है, क्योकि मार्क्स-ऐन्जिल्स के विचार ऐतिहासिक तथ्यो, सामाजिक प्रभावो, मानव स्वभाव के मनोवैज्ञानिक अध्ययन, कारण-परिणाम के सम्बन्धो पर आधारित था। सभी लोकतान्त्रिक समाजवादी मार्क्सवादी विवेचन से प्रभावित तो हुए किन्तु मार्क्सवादी सिद्धान्त जैसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की भौतिकवादी व्यवस्था, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धात, वर्ग-सघर्ष, श्रमिक-क्रान्ति, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व तथा राज्यरहित, शोषणरहित अन्तिम साम्यवादी-व्यवस्था आदि को स्वीकार नही करते। यद्यपि मार्क्सवाद उस समय सम्पूर्ण यूरोप पर छाया रहा, किन्तु वह लोकतान्त्रिक समाजवादियो के लिए प्रेरणास्रोत न बन सका। वास्तव मे लोकतान्त्रिक समाजवाद का विकास मार्क्सवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे हुआ।

यूटोपियायी समाजवादी (सेन्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर, रॉबर्ट ओवन आदि) प्रारम्भिक समाजवादी थे जिनके विचारो मे समाजवाद के सभी सिद्धान्तो की झाकी मिलती है। वे उस समय प्रचलित पूँजीवादी व्यवस्था, स्पर्धा लाभ आदि के कटु आलोचक थे तथा उनसे सम्बन्धित बुराइयो के उन्मूलन के पक्ष मे थे। किन्ही कारणो से उन्हे यूटोपियायी कहा जाता है, किन्तु वे वास्तव मे लोकतान्त्रिक समाजवादी थे। यूटोपियायी समाजवादियो ने लगभग उन सभी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो लोकतान्त्रिक-समाजवाद के सिद्धान्त-सूत्र है, उदाहरणार्थ—

(i) यूटोपियायी समाजवादी वर्गभेद मे विश्वास नही करते थे। उनका समाजवाद सम्पूर्ण समाज का था।
(ii) सामाजिक बुराइयो को दूर करने तथा समाजवादी सुधारो के लिए वे राज्य एव विधि निर्माण के महत्व को स्वीकार करते थे।
(iii) वे शान्तिपूर्ण एव विकासवादी साधनो को मान्यता देते थे।

बेन्थम (Jeremy Bentham, 1748-1832) प्रमुख उपयोगितावादी थे। किन्तु उनके विचारो ने आधुनिक उदारवाद एवं समाजवाद को प्रभावित किया। बेन्थम का उपयोगितावादी सिद्धान्त — अधिकतम व्यक्तियो की अधिकतम

भला (greatest happiness of the greatest numb r) —इस समय प्रगतिशील सुधारों का मुख्य आधार बन गया।[5] इस सिद्धान्त ने सुधारों में उच्च वर्ग की परिधि तोड़कर यह मान्यता प्रदान की कि कल्याणकारी गति विधियों के अन्तर्गत समाज के अधिक से अधिक व्यक्ति आने चाहिए। वह मानव स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था किन्तु व अधिकार प्रकृति से नहीं राज्य या विधि द्वारा प्राप्त होते हैं। बेंथम ने कई सुधारों का सुझाव दिया। बेंथम ने जिन व्यावहारिक विधायी सुधारों पर बल दिया उनकी बड़ी संख्या थी जिनमें सर्वधानिक लोक शिक्षा लोक स्वास्थ्य दरिद्र वर्ग से सम्बन्धित कानूनों में सुधार असैनिक सेवा सुधार आदि की योजनाएँ सम्मिलित थीं। यहाँ पर बेंथम को यह विश्वास हुआ कि ये सभी सुधार व्यर्थ हैं जब तक कि समाज में प्रतिनिधि प्रणाली व्यवस्था में लोकतान्त्रिक परिवर्तन न किए जायें।[6] इस प्रकार बेंथम लोकतान्त्रिक सुधार और राज्य द्वारा सुधारवादी कार्यक्रम का समर्थक था। बेंथम राज्य को इतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं देना चाहता था जिससे वह आदर्शवादी अधिकार्य का स्थान ग्रहण करले। व्यक्ति के सन्दर्भ में वह राज्य को सीमित मानता था। बेंथम के अनुसार सामाजिक हित व्यक्तियों का ही सामूहिक हित है इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।[7] इस प्रकार वह सर्वसत्ताधारी राज्य का पूर्णतः विरोधी था। सुधारों द्वारा बेंथम जिन बुराइयों को दूर करना चाहता था उनके सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण था कि जिस बुराई का उन्मूलन किया जाय वह वास्तव में बुराई हो तथा जिन साधनों का प्रयोग किया जाय वे उन बुराइयों से कम बुरे होने चाहिए।[8] इस प्रकार वह साधनों की नैतिकता के पक्ष में था उसने बुरे साधनों को कभी मान्यता नहीं दी। बेंथम के विचारों का समाजवादी तो नहीं कह सकते किन्तु जिन तत्वों को लोकतान्त्रिक समाजवाद मान्यता देता है उनका बहुत कुछ आधार बेंथम के विचारों में मिलता है।

जान स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill 1806 73) व्यक्तिवादी विचार धारा से जुड़े हुए हैं किन्तु उनकी व्यक्तिवादिता व्यक्ति के स्वयं तक ही सीमित थी। उन्होंने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सामाजिक सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। उनके विचारों में लोकतन्त्र और सामाजिकता दोनों का ही दिग्दर्शन होता है। मिल के ही शब्दों में —

> मनुष्य जीवन में वैयक्तिक और सामाजिक दोनों अंशों के साथ न्याय होगा यदि ये दोनों अपने को उन्हीं बातों तक सीमित रखते हैं जिन

---

5 Sab ne G H A H story of Pol t cal Theory p 566

6 गटिन राजनीतिक चिन्तन का इतिहास पृ 369
Sab ne G H A H story of Pol cal Theory p 567

7 Hallowell J H Ma n Cu rents n Modern Pol ical Thought p 214
गटिन राजनीतिक चिन्तन का इतिहास प 368
Hallowell J H Ib d p 214

बातों से उनका विशेष और गहरा सम्बन्ध है। उन बातों में जिनसे कि केवल व्यक्ति के निज का सम्बन्ध है, वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति की अनियन्त्रित स्वतन्त्रता होनी चाहिए। व्यक्ति के जिस आचरण और व्यवहार से समाज पर प्रभाव पड़ता है, उस आचरण और व्यवहार पर समाज का अधिकार होना चाहिए।"[9]

मिल के विचारों से किसी समाजवादी सम्प्रदाय की सृष्टि नहीं हुई है किन्तु उन्होंने एक ओर तो अनियन्त्रित स्वतन्त्रता का विरोध किया, दूसरी ओर राज्य के अधिकार क्षेत्र में वृद्धि का समर्थन किया। व्यावहारिक राजनीति में वे परिवर्तनवादी थे तथा उस समय प्रचलित तमाम बुराइयों के उन्मूलन के लिए विधि निर्माण का समर्थन करते थे। उनके विचार किसी न किसी रूप में लोकतन्त्र और समाजवाद के समन्वय की ओर इंगित करते हैं। आगे चलकर इन्हीं विचारों की पूर्ण अभिव्यक्ति इंग्लैंड की समाजवादी प्रवृत्ति में मिलती है।

ग्रीन (T. H. Green 1836–1882) आदर्शवादी-उदारवादी थे। उनके विचारों ने लोकतान्त्रिक समाजवाद को किसी न किसी रूप में प्रोत्साहन दिया। ग्रीन के पहले उदारवादी (Liberal) कानूनों का तदर्थ रूप (ad hoc) में कभी-कभी निर्माण होता था। ग्रीन ने उदार कानूनों को स्थाई आधार पर सम्पूर्ण समाज के लिए निर्मित करने का सुझाव दिया। ग्रीन ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक उत्तरदायित्व को समन्वित तथा संतुलित करने का प्रयत्न किया। एक ओर तो उन्होंने मानव अधिकारों का समर्थन किया जो लोकतन्त्र के प्राण होते हैं, दूसरी ओर इन अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य को आवश्यक बतलाया तथा राज्य के सकारात्मक कार्यों का सुझाव दिया जो समाजवाद का मुख्य तत्व है। ग्रीन के शब्दों में—

> "राज्य को अधिकारों की पूर्व कल्पना होती है, और ये अधिकार व्यक्तियों के अधिकार होते हैं। उन्हें बनाये रखने के लिए समाज यह रूप ग्रहण करता है।"[10]

ग्रीन की नैतिकता का आधारभूत सिद्धान्त व्यक्ति और सामाजिक समुदाय जिसका कि वह सदस्य है, की पारस्परिकता है।[11] ग्रीन का यह कथन कि 'स्वयं' *सामाजिक है (Self is a Social Self) अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।*[12] ग्रीन द्वारा उदारवाद की नयी व्याख्या का परिणाम यह हुआ कि राजनीति और अर्थशास्त्र के

9 Mill J S, Liberty and Repreventative Government, Hindi Translation by P. C Jain, Hindi Samiti, Suchna Vibhag, Uttar Pradesh, 1953, p 99

10 Green, T H, Lectures on the Principles of Political Obligation, Hindi Translation, by Dr. B M Sharma, Hindi Samiti, Suchna Vibhag, Uttar Pradesh, 1956, p. 137.

11. Sabine, G. H, A History of Political Theory. p. 611.

12. Ibid, p. 617.

मध्य जो एक कठोर सीमा थी वह समाप्त हो गई। ग्रीन के पहले उदारवादी अर्थशास्त्र तथा बाजार की स्वतन्त्र प्रक्रिया म राज्य कोई भी हस्तक्षेप नहीं चाहते थे। ग्रीन के अनुसार मुक्त एव स्वतन्त्र बाजार प्रक्रिया भी एक सामाजिक सस्था है जिसे पूर्णत स्वतन्त्र रखने के लिए विधि निर्माण एव राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। मेराइन ने इस सम्बन्ध मे लिखा है —

> 'ग्रीन मे उदारवाद म राज्य को स्पष्टत एक सकारात्मक साध्य स्वीकार किया गया है, जिसका प्रयोग सकारात्मक स्वतन्त्रता (positive freedom) मे योगदान हेतु विधि निर्माण के लिए किया जा सकता है। सूक्ष्म म राज्य का उपयोग सामान्य कल्याण के किसी भी उद्देश्य के लिए हो सकता है।"13 राज्य बुराइयो मे वृद्धि नही बल्कि उनका उन्मूलन करता है।

ग्रीन ने सामाजिक हित म राज्य के कार्यक्षेत्र म वृद्धि करने का सुभाव दिया। उनका विश्वास था कि राज्य द्वारा सार्वजनिक शिक्षा सिर्फ अनुदान ही नही बल्कि उसे इससे अधिक कुछ और भी करना चाहिए। राज्य को स्वास्थ्य एव सफाई, अच्छे भवन निर्माण, श्रमिको के साथ समझौता पर नियन्त्रण करने म अपने उत्तरदायित्वो का विस्तार करना चाहिए। राज्य अपने कार्यक्षेत्र मे जो भी विस्तार करे, वह शक्ति द्वारा नही जन-इच्छा द्वारा होना चाहिए। ग्रीन के य विचार अवश्य ही लोकतान्त्रिक समाजवाद मे योगदान के रूप म स्वीकार किए जा सकते है।

इ ग्लैण्ड म फेबियन समाजवादियो ने वहाँ के चिन्तन को बडा प्रभावित किया। अग्रेजो को उसम मार्क्सवाद के विकल्प के तत्व दृष्टिगोचर हुए। जोड (C E M Joad) ने फेबियनवाद को इ ग्लैण्ड म लोकतान्त्रिक समाजवाद (जिसे जोड न समष्टिवाद कहा है) का अग्ररूप माना है। फेबियन बुद्धिजीवियो न यह स्वीकार किया कि पूँजीवादी और प्रतियोगितावादी अर्थ व्यवस्था से कुछ ही लोगो को सुख व आराम मिला है तथा बहुसख्यको के कष्टो म वृद्धि हुई है। सामान्य लोगो का सुख एव सुविधाएँ प्राप्त हो इसलिए समाज की ऐसी व्यवस्था की जाय जिसम भूमि और औद्योगिक पूँजी को व्यक्ति या वर्ग विशेष के स्वामित्व से मुक्त करा कर सामाजिक स्वामित्व की स्थापना हो। फेबियन विचारको ने क्रान्ति के स्थान पर लोक-तान्त्रिक सवैधानिक साधनो का समर्थन किया। फेबियन समाजवादियो की लोकतान्त्रिक समाजवाद प्रगति मे महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यूटोपियायी समाजवादियो से ऊपर उठकर तथा मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारो का सैद्धान्तिक सामना कर फेबियनवादियो ने लोकतान्त्रिक या विकासवादी समाजवाद के मार्ग को प्रशस्त एव स्पष्ट किया।

एडुअर्ड बर्न्सटाइन, जिन्हे प्रमुख सशोधनवादी कहा जाता है, की लोकतान्त्रिक समाजवाद के मार्ग प्रशस्त करने म महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सशोधनवादी श्रमिको

13 Ibid p 615

के हितैषी थे। वे मानते थे कि सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए आवश्यक है कि राज्य उत्पादन का अधिक अच्छे ढग से वितरण करे। इनके नेतृत्व मे सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी ने एक व्यापक समाजवादी कार्यक्रम[14] स्वीकार किया जिसे यूरोप के विकासवादी समाजवादियो ने सामान्यत स्वीकार किया था। इस कार्यक्रम की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थी:—

1. सार्वजनिक, प्रत्यक्ष तथा समान मताधिकार,
2. जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व,
3. लोकमत के आधार पर विधि निर्माण करना,
4. नि शुल्क चिकित्सा
5. क्रमिक आय-कर (progressive income tax),
6. प्रति दिन आठ घन्टे काम,
7. रात्रि मे काम लेने पर निषेध,
8. बच्चो से काम लेने पर निषेध, तथा
9. प्रत्येक नागरिक का जीवन बीमा आदि।

उपर्युक्त कार्यक्रम उस समय प्रगतिशील एव समाजवादी था जिसने राज्य को एक महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की। किन्तु लैस्ले, बर्न्सटाइन आदि सभी की यह नीति थी कि यह कार्यक्रम वर्ग-सघर्ष म निहित हिंसा के बिना ही सम्पादित किया जाय। उन्होने परिवर्तनो के लिये लोकतान्त्रिक साधनो का समर्थन किया।

इंग्लैण्ड के मजदूर दल (The British Labour Party) का समाजवाद

लोकतान्त्रिक समाजवाद का व्यावहारिक कार्यक्रम निर्धारित करने मे इंग्लैड के मजदूर सघ (Labour Party) का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जोड के अनुसार ब्रिटिश मजदूर दल बड़ी ही स्पष्टता के साथ समाजवादी गति-दिशा की ओर सकेत तथा शालीनतापूर्वक उनका अनुसरण करता है। 1918 मे इस दल ने 'मजदूर और नवीन सामाजिक व्यवस्था' शीर्षक कार्यक्रम स्वीकार किया जो निम्नलिखित चार मौलिक सूत्रो पर आधारित था:—

1. सबके लिये न्यूनतम राष्ट्रीय आय,
2. उद्योग का लोकतन्त्रीय नियन्त्रण,
3. राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में क्रान्ति,
4. अतिरिक्त सम्पत्ति का सार्वजनिक कल्याण के लिये उपयोग।

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत शिक्षा सम्बन्धी सुझाव भी स्वीकृत किये गये, जिनको

[14] यह कार्यक्रम गोथा कन्वेंशन (Gotha Convention, 1875) तथा एरफर्ट प्रोग्रेम (Erfurt Programme, 1891) पर आधारित था।
See Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, pp 447—450.

कार्यान्वित करते समय सामाजिक वर्गों के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त दल नौकरशाही और अति केन्द्रीकरण के भय से भी सजग है। इसलिये स्थानीय संस्थाओं की गतिविधियों को व्यापक बनाने का प्रयत्न किया गया। महत्वपूर्ण सेवाओं के राष्ट्रीयकरण और नगरपालिकाकरण के फलस्वरूप बहुत से अतिरिक्त धन का निजी स्वामित्व स्वयमेव ही समाप्त हो जायेगा। आनुक्रमिक आय कर से पूंजीपतियों के लाभ का अधिकांश भाग राज्य के पास चला जायगा। इस तरह राज्य जो धन राशि प्राप्त करेगा उसका प्रयोग राष्ट्र भर में शिक्षा फैलाने, न्यूनतम आय वालों का मानदण्ड ऊँचा करने, बीमारों और निर्बलों की चिकित्सा और उनका पालन-पोषण करने, माता बनने वाली स्त्रियों की सहायता, वैज्ञानिक शोधों को प्रोत्साहित और समाज के सामान्य जीवन स्तर को ऊँचा करने के लिये किया जायगा। मजदूर दल के ये आदर्श, जो उस समय निश्चित किये गये, ऐसे लक्ष्य हैं जिन्हें समाजवादी राज्य में ही प्राप्त किया जा सकता है।[15]

1929 में 'मजदूर और राष्ट्र' के नाम से एक और घोषणा-पत्र प्रकाशित किया गया जिसमें मजदूर दल ने कोयले की खानों, भूमि, यातायात, जीवन बीमा के सामाजीकरण तथा बैंक ऑफ इंग्लैंड के राष्ट्रीयकरण का वचन दिया। 1940 में लेबर पार्टी ने एक कार्यक्रम प्रकाशित किया जो 'मजदूर, युद्ध और शान्ति' के नाम से प्रसिद्ध है।[16] 1942 में लेबर पार्टी के अधिवेशन में पारित प्रस्ताव का यह भाग महत्वपूर्ण है—

> "देश के मौलिक उद्योगों और सेवाओं का सामाजीकरण तथा सामाजिक उपयोग की दृष्टि से उत्पादन की योजना बनाना, क्योंकि यही एक ऐसी न्याय संगत समृद्ध आर्थिक व्यवस्था की स्थाई आधार-शिला है जिसमें राजनीतिक लोकतन्त्र और व्यक्तिगत स्वाधीनता के साथ सभी नागरिकों के लिए जीवन के एक न्याय संगत मानदण्ड की संगति बैठाई जा सकती है।"[17]

यूरोप में द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त होते ही इंग्लैण्ड में चुनाव हुए। लेबर पार्टी के इतिहास में 1945 के आम चुनावों का विशेष महत्त्व है। इसी वर्ष लेबर पार्टी पूर्णतः सत्ताधारी दल के रूप में सामने आई। यद्यपि इसके पहले भी लेबर पार्टी 1924 और 1929-31 में सत्ता में आई थी, किन्तु उसे अपने कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए समुचित अवसर नहीं मिल सका। यह अवसर अब 1945 में आया। 1945 के आम चुनावों के पहले लेबर पार्टी ने वचन दिया था कि वह सत्तारूढ़ होते ही आर्थिक व्यवस्था के प्रमुख साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व की

---

15 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ 56-58.

16 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ 55.

17 उद्धृत, आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 625-26

स्थापना कर देगा।[18] क्लोमेण्ट ऐटली (C. R. Attlee) के नेतृत्व में गठित मन्त्रि-मण्डल ने कोयले और इस्पात के उद्योगों, बैंक ऑफ इंग्लैण्ड, नागरिक उड्डयन, विद्युत, दूर-संचार, रेल और मोटर-बस परिवहन, जलमार्गों और गैस आदि का राष्ट्रीयकरण कर दिया। राष्ट्रीयकरण स्वयं में एक साध्य नहीं है, किन्तु इसके द्वारा कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति होनी है। अर्थ-व्यवस्था पर नियन्त्रण आवश्यक है, क्योंकि इससे सरकार को उद्योगपतियों द्वारा सरकार पर नियन्त्रण बनाए रखने से मुक्ति मिल जाती है।[19] परिणामस्वरूप राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का लगभग 20 प्रतिशत सार्वजनिक नियन्त्रण में आ गया। इसके अतिरिक्त रोटी और दूध के व्यवसाय को आर्थिक सहायता दी गई। आवास योजनाओं, वृद्धावस्था में पेन्शन की व्यवस्था पर ध्यान दिया गया। राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा मजदूर दल की महानतम सफलताओं में से एक है।[20]

इस शताब्दी के लगभग सम्पूर्ण छठे दशक तथा 1974 के प्रारम्भ से हेरॉल्ड विल्सन (Herold-Wilson) के नेतृत्व में लेबर दल की सरकार का फिर प्रभुत्व स्थापित हुआ। विल्सन सरकार ने इस समाजवादी कार्यक्रम को और भी आगे बढ़ाने का प्रयास किया है। स्कैनेडेवियन राज्य

स्कैनेडेवियन राज्यों में लोकतान्त्रिक सहकारी समाजवाद

स्कैनेडेवियन राज्यों (नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क) में लोकतान्त्रिक समाजवाद की विशेष भूमिका रही है वे छोटे-छोटे राज्य कई राजनीतिक-आर्थिक सुधारों की प्रयोगशाला रहे हैं।[21] विशेषतः इनके लोकतान्त्रिक वातावरण में कई समाजवादी सुधारों का विकास हुआ है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही स्कैनेडेवियन राज्यों में मजदूर आन्दोलनों ने काफी गति और शक्ति का परिचय दिया है। इन सभी राज्यों में समाजवादी दलों ने सत्ता प्राप्त की और अपने कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने का सफल प्रयत्न किया है। 1935 में स्वीडन तथा 1945 में नार्वे में समाजवादी दल सत्तारूढ़ हुए। इन समाजवादी दलों ने जो सुधार किये या जो समाजवादी नीतियाँ अपनाईं, उनका लोकतान्त्रिक समाजवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। स्कैनेडेवियन समाजवाद की कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

प्रथम, समस्त अर्थ-व्यवस्था पर राज्य का नियन्त्रण नहीं है। जिन-जिन क्षेत्रों में राज्य के नियन्त्रण का विस्तार किया है वह शनैः शनैः हुआ है।

द्वितीय, अर्थ-व्यवस्था का एक बड़ा भाग निजी क्षेत्र के लिए छोड़ गया है। वहाँ यह माना जाता है कि जन-कल्याण और कुशलता के लिए सार्वजनिक और

18. Attlee, C R , As It Happened, pp. 162-63.
19 Attlee,C.R., As It Happened, pp. 163.
20 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 626.
21. Albjerg and Albjerg, Europe from 1914 to the Present, p. 411.

निजी क्षेत्र मे सद्भावपूर्ण स्पर्धा होनी चाहिए। इस प्रकार स्कनेडवियन राज्यो की अर्थ–व्यवस्था प्रत्येक दृष्टि से सन्तुलित है।

तृतीय स्कैनेडवियन समाजवाद की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता वहाँ का सहकारी समाजवाद है। इन राज्यो की अर्थ व्यवस्था म सहकारी सस्थाओ विशेषत उपभोक्ता सहकारिता का विशेष योगदान है।

चतुर्थ इन राज्यो म राशन प्रणाली (Rationing System) बहुत ही कुशल है। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरा त स्वीडन म प्रत्यक व्यक्ति को एक कमीज और एक सूट प्रतिवर्ष मिलता था।[22] राज्य द्वारा वितरण व्यवस्था और मूल्य नियन्त्रण अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं।

इस प्रगति का श्रेय स्कैनेडवियन राज्यो क श्रमिक वर्ग को है जो अत्यन्त बुद्धिमान एव कुशल हैं। वे सुधार चाहते है क्राति नही।

इजराइल की समाजवादी व्यवस्था[23]

इजराइल की लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था सम्भवत सर्वाधिक प्रगतिशील एव आकर्षित है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि इजराइल की समाजवादी *व्यवस्था साम्यवादी सिद्धा तो से भी कई कदम आगे है।* इजराइल म इस समय प्रचलित व्यवस्था कोई नवीन विकास नही है। यह सदियो क विकास का परिणाम है। यह व्यवस्था यहूदी जाति की परम्परा का अभिन्न अ ग है।

इजराइल मे लेबर पार्टी एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति है। सबसे शक्तिशाली आर्थिक सस्था इजराइल श्रमिक सघ (General Fede ation of Israel Labour) तथा लेबर पार्टी दोनो मिलकर इजराइल को श्रमिक राष्ट्र बनाना चाहते हैं। कृषि क्षेत्र म इस उद्देश्य की प्राप्ति सामान्यत हो चुकी है औद्योगिक क्षेत्र म इस लक्ष्य की उपलब्धि अभी शेष है।

इजराइल का आधुनिक समाजवादी विकास उसी समय से प्रारम्भ हो गया था जब फिलिस्तीन पर अ ग्रेजो का सरक्षण था। उन्नीसवी शताब्दी के अ त म रूस और रूमानिया से आये हुए यहूदियो ने छोटे छोटे कृषि फार्म का निर्माण किया। बीसवी शताब्दी क प्रारम्भ म पूर्वी यूरोप स कुछ बुद्धिजीवी यहूदियो का भी आगमन हुआ। य समाजवादी थे जो बुद्धिजीवी होते हुए भी श्रम को महत्ता समझते थ तथा सम्पत्ति के सामाजिक स्वामित्व म विश्वास करते थे जो यहूदी परम्परा के पूर्ण अनुरूप था। प्रथम विश्व युद्ध क पहले गलिला क्षेत्र म एक दो सहकारी सामूहिक ग्रामो (Collective Settlements) की स्थापना हुई। बाद म इनम वृद्धि हो गई। इन सहकारी सामूहिक ग्रामो का स्वामित्व सभी व्यक्तियो

22 Ibid p 735

23 In th s connect on see Israel by Norman Bentw ch Chapter 8 The Soc al st Order

या समाज का था। यहूदी भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व मे सामान्यत: विश्वास नही करते। कृषि सहकारी सामूहिक ग्रामो को दो श्रेणियो मे विभाजित कर सकते है। प्रथम, छोटे-छोटे कृषको के सहकारी ग्राम जहाँ प्रत्येक परिवार अपनी भूमि पर स्वय श्रम करता तथा उससे पारिवारिक आय प्राप्त करता। भाड़े पर श्रमिको को लगाने पर प्रतिबन्ध था। केवल कृषि-ऋण, विक्रय आदि सहकारिता पर आधारित थी।

दूसरी श्रेणी मे वे समूह आते है जिन्हे किबुट्ज (Kibbutz) कहा जाता है। इस व्यवस्था मे सम्पूर्ण ग्राम को एक ही इकाई माना जाता है, जहाँ किसी की निजी सम्पत्ति नही होती, प्रत्येक व्यक्ति समानरूप से भागादार है। बच्चो की देख-रेख समाज करता है। व्यक्ति पूरे समाज के लिए कार्य करते है तथा इस व्यवस्था का सचालन ग्राम-सभा (Assembly of the Community) करती है। यह व्यवस्था इस सिद्धान्त पर आधारित है — कि-प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कार्य करे तथा प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार मिले।

इजराइल की समाजवादी व्यवस्था मे राज्य और विभिन्न समुदायो के अधिकारो और उत्तरदायित्वो का बडा अच्छा समन्वय किया गया है। इजराइली राज्य वास्तव मे इन्ही समुदायो का विस्तार है। इस व्यवस्था से इजराइल ने जो प्रगति एव शक्ति सचय किया है वह आश्चर्यजनक है।

भारतीय समाजवाद

भारतवर्ष वैसे समाजवादी राज्य नही है किन्तु स्वाधीनता के उपरान्त जो संविधान का निर्माण किया गया उसमे ऐसे उद्देश्यो को स्वीकार किया गया है जो लोकतान्त्रिक समाजवाद ही हो सकता है। सविधान मे राज्य के नीति निर्देशक तत्वो के अन्तर्गत वास्तव मे कल्याणकारी समाजवादी कार्यक्रम को स्पष्टत मान्यता प्रदान की गई है। इन निर्देशक तत्वो मे सभी व्यक्तियो को समुचित जीविका का अधिकार, अर्थ-व्यवस्था पर सामाजिक स्वामित्व एव नियन्त्रण, सम्पत्ति संचय का विरोध, श्रमिको के उत्थान, पिछड़े हुए वर्ग की प्रगति आदि को सम्मिलित किया गया है। इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस, जो स्वाधीनता से ही केन्द्र मे सत्ताधारी रहा है, समाजवादी कार्यक्रम स्वीकार किया है। इस समाजवादी व्यवस्था की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं —

प्रथम, समाज के प्रत्येक आर्थिक साधनो पर राज्य का स्वामित्व है।

द्वितीय, राज्य के महत्त्व और व्यक्ति की गरिमा को स्वीकार किया गया है।

तृतीय, आर्थिक क्षेत्र में मिश्रित-अर्थ व्यवस्था (Mixed Economy) अपनायी गई है। महत्त्वपूर्ण उद्योगो, आर्थिक गतिविधियो, एव सेवाओ का राष्ट्रीयकरण किया गया है। निजी क्षेत्र के लिए भी व्यापक क्षेत्र छोड़ा गया है। किन्तु निजी क्षेत्र को नियन्त्रणहीन नही छोड़ा गया है।

चतुर्थ, देश के आर्थिक साधनों का न्यायोचित वितरण करने के लिये शहरी एवं ग्रामीण सम्पत्ति का सीमा निर्धारण भी इस समाजवादी व्यवस्था का प्रमुख अंग है।

पंचम श्रमिक आय-स्तर जिससे धनिक वर्ग सम्पत्ति संचित न कर सकें किन्तु सभी वर्गों का आर्थिक प्रगति में योगदान रहे।

भारत में जो भी समाजवादी व्यवस्था का अभ्युदय हो रहा है उसके बहुत से तत्व निश्चितता ग्रहण नहीं कर पाए हैं। हमारे बहुत से सुधार तदर्थ योजना से लगते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारत लोकतान्त्रिक व्यवस्था की ओर अग्रसर हो रहा है तथा उसे अधिक सफल बनाने के लिये आर्थिक पक्ष को मजबूत बनाना अति आवश्यक है। लोकतन्त्र और समाजवाद के समुचित एवं कुशलतापूर्वक क्रियान्वित करने से ही देश में कल्याणकारी राज्य का स्वप्न साकार हो सकता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद के विचार सूत्र

लोकतान्त्रिक समाजवाद भी समाजवादी विचारधारा की एक प्रमुख शाखा है। इसलिये इसके तथा अन्य समाजवादी सम्प्रदायों के कुछ आधार सूत्रों में कोई भिन्नता नहीं है। व्यक्तिवाद, पूंजीवाद आदि के दोषों के प्रति इन सभी का दृष्टिकोण लगभग एक सा ही है। लोकतान्त्रिक समाजवाद अन्य समाजवादी शाखाओं से राज्य के प्रति दृष्टिकोण, साधन, उद्देश्य एवं कार्यक्रम में स्पष्टतः भिन्न है। इन्हीं क्षेत्रों में भिन्नता होने के कारण ही लोकतान्त्रिक समाजवाद का स्वयं का पृथक अस्तित्व है।

(1) व्यक्तिवाद का खण्डन

लोकतान्त्रिक समाजवाद में समष्टिवादी तत्व व्यक्तिवाद की मूल धारणाओं और प्रस्थापनाओं का या तो पूर्ण खण्डन या बहुत सीमा तक विरोध करते हैं। व्यक्तिवादी सिद्धान्तों के अनुसार—

(i) व्यक्ति अपने में एक पूर्ण इकाई है,

(ii) समाज व्यक्तियों का समूह मात्र है,

(iii) समाज कृत्रिम है

(iv) समाज या राज्य व्यक्ति विकास का साधन मात्र है,

(v) स्वतन्त्रता ही सुख और विकास है, तथा

(vi) किसी भी संस्था को व्यक्ति के मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

समष्टिवादी इन सब सिद्धान्तों का खण्डन करते हैं। इसीलिये यह कहा गया है कि समष्टिवाद का प्रादुर्भाव व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ।

2. पूंजीवादी व्यवस्था का विरोध

समाजवादी विचारधारा के विकास को औद्योगिक क्रान्ति और पूंजीवादी व्यवस्था के विकास के सन्दर्भ में भी समझा जा सकता है। समाजवाद पूंजीवादी दोषों के प्रति विद्रोह था। इसलिये लोकतान्त्रिक समाजवाद भी पूंजीवादी व्यवस्था का

आलोचक है, क्योकि इस व्यवस्था मे राजनीतिक और आर्थिक पक्षो पर थोड़े से व्यक्तियो का आधिपत्य स्थापित हो जाता है। पूंजीवादी व्यवस्था सीमित व्यक्तियो मे धन-सचय, एकाधिकार, लाभ, स्पर्धा आदि को प्रोत्साहन देती है। लोकतान्त्रिक समाजवाद पूंजीवादी शोषण, उससे सम्बन्धित अन्य बुराइयो को उन्मूलन करने का कार्यक्रम है। इसके अन्तर्गत आर्थिक साधनो पर सामाजिक नियन्त्रण तथा उनके न्यायोचित वितरण को पूर्णत: स्वीकार किया जाता है।[24]

व्यक्ति और समाज का सावयव सम्बन्ध

समष्टिवादी मनुष्यो और समाज के सम्बन्धों के विषय मे अवयवी सिद्धान्त के समर्थक है। उनके अनुसार समाज मनुष्य के लिये स्वाभाविक है। शारीरिक रचना और कार्य प्रणाली की ही भांति समाज के विभिन्न अंगो का कल्याण परस्पर सहयोग पर निर्भर करता है। व्यक्ति और समाज के हित मे कोई अन्तर नही होता। व्यक्ति का सुख समाज की समृद्धि और सम्पन्नता मे है तथा सुखी और प्रगतिशील व्यक्ति समाज के पूर्ण विकास मे सहायक होता है।

लोकतान्त्रिक समष्टिवाद और स्वतन्त्रता

व्यक्तिवादी और पूंजीवादी व्यवस्था व्यक्ति की अधिकतम स्वतन्त्रता पर आधारित है। लोकतान्त्रिक समष्टिवादी इस स्वतन्त्रता को वास्तविक नही मानते। यह तथाकथित स्वतन्त्रता है। प्रतियोगी समाज मे केवल सबल की स्वतन्त्रता ही सुरक्षित रह सकती है। इस तथाकथित स्वतन्त्रता से बहुसंख्यक लोग शक्ति और साधन सम्पन्न मुट्ठीभर लोगो के परतन्त्र हो जाते है। इस व्यक्तिवादी, पूंजीवादी स्वतन्त्र समाज मे भारी बहुमत अपनी आवश्यकताओ की वस्तुएँ भी उपलब्ध नही कर सकता, वे दरिद्रता के भार से दबे रहते हैं। या, यह कहना उपर्युक्त होगा कि व्यक्ति व्यक्तिवादी और पूंजीवादी जुआ जीवन भर अपने कन्धो पर लादे रहता है जिसमे मुक्ति इस तथाकथित स्वतन्त्र समाज मे मिलना मुश्किल है। इस दशा या स्थिति को स्वतन्त्रता कहना अन्याय और उपहास दोनों ही होगा।

लोकतान्त्रिक समष्टिवादियों का स्वतन्त्रता सिद्धान्त व्यापक और सकारात्मक है। वास्तविक और व्यावहारिक स्वतन्त्रता समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही सम्भव है। स्वतन्त्रता का तात्पर्य केवल बन्धनो का निराकरण ही नही हैं। राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल अधूरी और एकपक्षीय है। जब तक मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं से मुक्त नही होता, तब तक स्वतन्त्रता का कोई महत्त्व नही है। वास्तविक स्वतन्त्रता निषेधात्मक और सकारात्मक राजनीतिक और आर्थिक सभी है। इन उपलब्धियों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था मे ही मनुष्य का चतुर्मुखी विकास हो सकता है।

---

24. पूंजीवादी व्यवस्था के दोष और समाजवाद के लिये पूर्व अध्याय देखिये।

लोकतान्त्रिक समाजवाद और राज्य (5)

अन्य समाजवादी सम्प्रदायों की भाँति लोकतान्त्रिक समाजवाद में भी राज्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। कल्याणकारी कार्यक्रमों को लागू करने का मुख्य दायित्व राजकीय संस्थाओं—केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय संस्थाओं आदि—पर रहता है। राज्य द्वारा समाजवादी नीतियों का निर्धारण एवं उन्हें क्रियान्वित किया जाता है। जैसा कि बार्कर ने लिखा है कि यदि किसी भी प्रकार की समाजवादी व्यवस्था की कल्पना की जाती है तो वह राज्य समाजवाद ही हो सकता है।[25]

प्राचीनकाल में ही माना जाता है कि जीवन का उद्देश्य जीवित रहना ही नहीं, अच्छा जीवन जीना है। यह मनुष्य के बहुमुखी विकास की अभिव्यक्ति है। लोकतान्त्रिक समाजवाद में यही उद्देश्य राज्य का है। "राज्य केवल अपनी शक्ति के लिए जीवित नहीं रहता जिसका अर्थ उसके समस्त सदस्यों की या कुछ सदस्यों का जीवन रक्षा होता है अपितु उसके जीवन का उद्देश्य है कि उसके सदस्य वह प्राप्त कर सकें जो प्राप्त योग्य है।"[26] लोकतान्त्रिक समाजवाद में राज्य को व्यापक कार्य करने पड़ते हैं उससे विभिन्न प्रकार के सकारात्मक कार्यों की अपेक्षा की जाती है। इस सम्बन्ध में राज्य के कार्यों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

प्रथम, सामाजिक हित में बहुत से महत्त्वपूर्ण कार्यों को राज्य स्वयं करता है। बड़े बड़े उद्योग धन्धों तथा महत्त्वपूर्ण सेवाओं का राष्ट्रीयकरण किया जाता है।

द्वितीय, जो उद्योग एवं सेवाएँ जिन्हें निजी क्षेत्र में छोड़ दिया जाता है उन पर भी राज्य का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। निजी क्षेत्रों से सम्बन्धित कानूनों का निर्माण, नीति निर्धारण, व्यापक निर्देश आदि सभी शासन द्वारा ही दिये जाते हैं।

(5) राज्य के इतने व्यापक कार्य एवं अधिकार का तात्पर्य यह नहीं कि राज्य सर्वसत्ताधारी बन जाय। यह सब जन-हित में तथा जनतान्त्रिक साधनों द्वारा ही किया जाता है। लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था में राज्य और व्यक्ति के महत्त्व का समुचित समन्वय होता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में राज्य की प्रतिष्ठा तथा व्यक्ति की गरिमा दोनों की ही बात कही गई है। ऐसे ही विचार राज्य के विषय में लोकतान्त्रिक समाजवाद के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। यह तथ्य बिल्कुल स्पष्ट है कि इस व्यवस्था में न तो राज्य कभी साध्य बन सकता है और न व्यक्ति साधन। जिस सीमा तक राज्य को शक्तिशाली बनाया जाता है उसका उद्देश्य व्यक्ति का हित है न कि केवल राज्य को शक्ति-सत्ता सम्पन्न करना है। इसी प्रकार जब व्यक्ति को किसी सीमा तक नियन्त्रित किया जाता है उसका तात्पर्य व्यक्ति को सामाजिक हित की दृष्टि से देखना है। उचित सामाजिकता में ही व्यक्तिगत हित निहित है।

---

25 Barker, Ernest., Political Thought in England, p 293

26 उद्धृत, जाड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ 49

राज्य के अधिकारों से सम्बन्धित एक विचार और महत्त्वपूर्ण है । लोकतान्त्रिक समाजवाद का अर्थ केन्द्रीकरण नहीं है । राज्य अपने अधिकारों और कार्यों को प्रान्तों और स्थानीय संस्थाओं में भी विभाजित करता है । इन सभी स्तरों पर संस्थाएँ लोकतान्त्रिक हों तथा उन्हें राज्य कार्यों मे समुचित रूप से भागीदार होना चाहिए । बार्नर्ड शॉ (Bernard Shaw) ने लिखा है—

> " कोई भी प्रजातन्त्रवादी रा य उस समय तक प्रजातान्त्रिक समाजवादी राज्य नही बन सकता जब तक उसकी जनसंख्या के प्रत्येक केन्द्र मे कोई ऐसा स्थानीय शासकीय निकाय न हो जिसका संगठन उतना ही प्रजातान्त्रिक हो जितना केन्द्रीय ससद का है ।"[27]

लोकतान्त्रिक समाजवाद और जन समुदाय

लोकतान्त्रिक समाजवाद राज्य-समाजवाद है जिसमे राज्य की भूमिका को विशेषत: स्वीकार किया जाता है । किन्तु यह वह व्यवस्था नही है जिसमे राज्य आदेश देता रहे तथा जनता उनको मूक या भेड़-चाल के रूप मे स्वीकार करती रहे। लोकतान्त्रिक समाजवाद मे साधारण जनता की सचेतता, सतर्कता, सहयोग तथा सक्रियता अति आवश्यक है । इसी पक्ष का सबसे अधिक महत्त्व है । तभी तो समाजवाद जनता का तथा जनता के लिए हो सकता है । एक लोकतन्त्र व्यवस्था के अन्तर्गत समाजवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित करने मे जनता का प्रत्येक क्षेत्र मे सम्मिलित रहना एक आवश्यक दशा है ।

लोकतान्त्रिक समाजवाद का उद्देश्य : कल्याणकारी राज्य की स्थापना

लोकतान्त्रिक समाजवाद स्वयं में कोई साध्य नही है । यह एक ऐसी व्यवस्था एवं कार्यक्रम है जिसमे मनुष्य के बहुमुखी विकास को सम्भव बनाने का प्रयास किया जाता है । इसका उद्देश्य जनहित है । जनहित का तात्पर्य केवल उसकी आर्थिक प्रगति से ही नहीं है, इसके अन्तर्गत उसका आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक पक्ष सभी कुछ आ जाता है । अन्य शब्दो में यह कल्याणकारी राज्य की व्यवस्था करता है ।

इंग्लैंड के प्रसिद्ध समाजवादी स्टेफर्ड क्रिप्स (Stafford Cripps) ने समाजवाद के तीन उद्देश्यों को प्राथमिकता दी है, ये है—स्वतन्त्रता, शान्ति, और आर्थिक साधनों का न्यायोचित वितरण ।[28] इसका तात्पर्य लोकतान्त्रिक समाजवाद सामाजिक सेवाओं का लक्ष्य है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता और समता को सर्वाङ्गीण पूर्णता प्रदान करता है ।

व्यक्तिवादी और पूंजीवादी व्यवस्था मे व्यक्ति भौतिक शक्तियों के भार से कुचल जाता है । समाजवाद व्यक्ति को भौतिक चिन्ताओं के भार से मुक्त कर देना चाहता है ताकि वह अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत कर सके तथा स्वतन्त्रतापूर्वक

27. उद्धृत, जोड., आधुनि कराजनीतिक सिद्धान्त–प्रवेशिका, पृ. 54.
28 Cripps, Stafford , Why This Socialism, p. 15.

व्यक्तित्व का विकास कर सके । "जीवन का उद्देश्य केवल जीवन का चिरस्थायीकरण ही नहीं है परन्तु इससे अधिक है, उत्कृष्ट जीवन केवल जीवन से अधिक महत्वपूर्ण है । यह सभ्यता का कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति को अस्तित्व के संघर्ष की नितान्त चिन्ताओं से विमोचित करे और उच्चतम गुण-सम्पन्न जीवन व्यतीत करने की क्षमता प्रदान कर सके ।"[29] जोड ने लिखा है—

> "यद्यपि हम यह मान लेते हैं कि सत्-जीवन अंशत आध्यात्मिक मान्यताओं के अनुसार आचरण करने की हमारी योग्यता पर निर्भर करता है और इस बात पर भी कि हम उन आध्यात्मिक आदर्शों की प्राप्ति के लिये सतत् रूप से प्रयत्नशील हैं । सत्य का शोध सत्य के लिये ही करना, सुन्दर वस्तुओं का उनके सौन्दर्य के लिये निर्माण करना, ठीक काम करना, इसलिये कि वह ठीक है, ये सब बातें शारीरिक और मानसिक संस्कृति के एक निश्चित स्तर, रुचि के विकास और परिष्कृत शिष्टाचार सहित सत् जीवन तत्व हैं ।"[30]

किन्तु इस चतुर्मुखी विकास के लिये आवश्यक ज्ञान और वित्तीय क्षमता की भी आवश्यकता पड़ती है । यह तभी सम्भव है जब मनुष्य नितान्त अस्तित्व के लिये किये जाने वाले संघर्ष का अतिक्रमण कर सकता है । इस क्षमता में वृद्धि तथा आर्थिक चिन्ताओं से मुक्ति के लिये लोकतान्त्रिक समाजवाद एक महत्वपूर्ण विकल्प है ।

लोकतन्त्र और समाजवाद एक दूसरे के पूरक (ए)

लोकतन्त्र की उपलब्धि से राजनीतिक स्वतंत्रता और समानता आदि तो प्राप्त हो जाते हैं, लेकिन इसे वास्तविक लोकतन्त्र नहीं कह सकते । यद्यपि लोकतान्त्रिक संस्थाओं की स्थापना तथा अधिकारों को मान्यता देना भी अधिक महत्वपूर्ण है, लोकतन्त्र को यहीं तक सीमित रखना तथा बिना आर्थिक पक्ष के यह सब अधूरा है । एक निर्धन, भूखे व्यक्ति के लिए लोकतान्त्रिक संस्थाओं तथा मान्यताओं का कोई मूल्य नहीं होता । वह अपने अधिकारों का आर्थिक चिन्ताओं के मध्य सदुपयोग कर ही नहीं सकता । इसके लिये आवश्यक है कि व्यक्ति के आर्थिक पक्ष को मजबूत किया जाय । यह समाजवाद के द्वारा सम्भव है । समाजवाद लोकतन्त्र के पूर्ण एवं समुचित विकास के लिये आवश्यक है । दूसरी ओर समाजवाद का महत्व शान्तिपूर्ण एवं लोकतान्त्रिक साधनों में ही निहित है, ताकि लोकतान्त्रिक मूल्यों में अभिवृद्धि हो सके । इस प्रकार लोकतन्त्र और समाजवाद एक दूसरे के पूरक हैं ।

लोकतान्त्रिक समाजवादी अर्थ-व्यवस्था (बी)

आर्थिक सिद्धान्तों के विषय में लोकतान्त्रिक समाजवादियों के अलग-अलग

---

29 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका पृ. 48–9

30 पूर्व सन्दर्भ, पृ 49

विचार है। कुछ समष्टिवादी उग्र विचारकों पर मार्क्सवाद का अधिक प्रभाव है। वे पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना के लिए मार्क्सवादी शब्दावली का ही प्रयोग करते है। इसके विपरीत अधिकतर राज्य-समाजवादी व्यक्तिवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध है, लेकिन इनके विषय मे वे मार्क्स के विवेचन को स्वीकार नही करते।

अधिकतर समाजवादी मार्क्स के श्रम-सिद्धान्त और मूल्य सिद्धान्त को स्वीकार नही करते। उत्पादन किसी एक वर्ग विशेष द्वारा नहीं होता बल्कि उसमे किसी न किसी रूप मे पूरे समाज का योगदान रहता है। किन्तु वे इस बात को भी स्वीकार नही करते कि पूँजीपति को पूँजी लगाने के कारण पूरे लाभ को हड़प लेने का अधिकार है।

लोकतान्त्रिक समाजवादी आर्थिक क्षेत्र मे श्रमिक और पूँजीपतियो के बीच सघर्ष को भी स्वीकार नही करते। यह सघर्ष श्रमिक और मालिकों के बीच नही, बल्कि समाज और उन कतिपय लोगों के बीच है जो सामाजिक हित को ध्यान मे न रखकर स्वय धनी होने का निरन्तर प्रयास करते रहते है और ये ही लोग राज्य पर अपना अधिकार बनाये रखना चाहते है।

समाजवादी, पूँजीवादी व्यवस्था का प्रमुख दोष यह मानते है कि इसमे थोड़े से लोग कार्य-विहीन और सेवा-विहीन सम्पत्ति के द्वारा धन के अधिकाश भाग पर अपना आधिपत्य करते है। बिना कार्य किये हुए तथा सामाजिक सेवा की अवहेलना कर जो सम्पत्ति का सचय होता है उससे समाज मे द्वेष और वैमनस्य फैलता है। इस प्रकार व्यक्तिवाद और पूँजीवाद के दोषों को ध्यान मे रखते हुए लोकतान्त्रिक समाजवादी निम्नलिखित आर्थिक व्यवस्था का समर्थन करते हैं—

(i) प्रत्येक व्यक्ति को वह चाहे हाथ या मस्तिष्क का कार्य करता हो परिश्रम का पूरा प्रतिफल मिलना चाहिये।

(ii) समाज मे धन का न्यायपूर्ण वितरण हो जिससे साधारण व्यक्ति भी अपने व्यक्तित्व का विकास कर सुख एवं सुविधापूर्वक जीवन व्यतीत कर सके।

(iii) उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनो पर सामाजिक स्वामित्व हो, ताकि भूमि और औद्योगिक पूँजी को किसी विशेष हित के स्वामित्व से मुक्त करा कर उसका पूर्ण समाज कल्याण के लिए प्रयोग किया जा सके।

आर्थिक साधनों के स्वामित्व के विषय मे इन समाजवादियों मे मतभेद है। कुछ राज्य के स्वामित्व या राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे है; विशेषत: बैंक, खानें, इस्पात उद्योग, परिवहन के साधन आदि का अविलम्ब राष्ट्रीयकरण होना चाहिये। अन्य आर्थिक क्षेत्रो मे राज्य-नियन्त्रण मे वृद्धि कर व्यक्तिगत क्षेत्र के लिए छोड़ देना चाहिए।

कुछ लोकतान्त्रिक समष्टिवादी रूस तथा अन्य साम्यवादी राज्यों में राज्य-स्वामित्व को देखकर भयभीत हैं। जहाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई है। वे राष्ट्रीयकरण के स्थान पर सामाजीकरण (Social Control) का समर्थन करते हैं। राज्य के स्थान पर यह कार्य सहकारी समितियों द्वारा चलाये जाने की व्यवस्था नार्वे, स्वीडन डेनमार्क आदि देशों में बड़ी लोकप्रिय है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद और साधन

लोकतान्त्रिक समाजवाद उदार प्रजातन्त्र की पूर्व कल्पना करता है। लोकतन्त्र व्यवस्था में अतिवादी साधनों का कोई महत्त्व नहीं है। लोकतन्त्र और हिंसा एक दूसरे के परस्पर विरोधी है। इसलिए लोकतान्त्रिक समाजवादी विकासवादी, लोकतान्त्रिक, संवैधानिक, शान्तिपूर्ण साधनों को ही मान्यता देते हैं।[31] एडुमर्ड बर्नस्टाइन ने 1909 में प्रकाशित अपनी पुस्तक–Evolutionary Socialism—में लिखा है—

> "मुझे समाजवादी आन्दोलन में विश्वास है और मजदूरों की भावी प्रगति में विश्वास है। मजदूरों को अपने उद्धार के लिए एक एक कदम आगे बढ़ना चाहिए, जिससे कि आज का समाज, जिसमें अल्पसंख्यक व्यापारियों तथा भू-स्वामियों का आधिपत्य है, वास्तविक लोकतन्त्र का रूप धारण कर सके और उसके प्रत्येक विभाग का संचालन इस ढंग से हो कि काम करने वालों और सर्जन करने वालों के हितों की रक्षा हो सके।"[32]

रेमजे मेक्डानेल्ड, जो ब्रिटेन के प्रथम समाजवादी प्रधानमन्त्री थे, ने 1921 में लोकतान्त्रिक समाजवाद के साधनों की व्याख्या करते हुए लिखा है—

> "जिस बात का हमें प्रयत्न करना है वह यह है कि हम बिना विवेकपूर्ण योजना और उद्देश्य तथा व्यावहारिक ज्ञान के निर्देशन के बिना आगे न बढ़ें। समाजवादी यह दावा कर सकता है कि उसने यह सतर्कता काम में ली है।"[33]

जोड (C E M Joad) ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार व्यक्त किये हैं—

> "समाजवादियों का कहना है कि समाज में परिवर्तन क्रमशः ही हो सकता है, और हर परिवर्तन समाज की पूर्ववर्ती स्वभाव की दशाओं के अनुकूल होना चाहिये। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि हम वर्तमान अवस्था से ही अपना कार्य आरम्भ करें, और वर्तमान स्थिति के अनुसार ही भविष्य की दिशा, द्रुतता तथा उठाये जाने वाले चरण निर्धारित करें।"[34]

31 See Merkl, Peter H, Political Continuity and Change, p 141
32 उद्धृत, गेटिल, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ० 407.
33 Ramsay MacDonald, J, Socialism Critical and Constructive; p 312
34 जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ 52–53

पीटर मर्कल(Peter H.Merkl) ने अपनी पुस्तक—Political Continuity and Change, 1967—मे लोकतान्त्रिक समाजवाद के विकासवादी साधनों के दो पक्ष बतलाए हैं। प्रथम, श्रमिकों को श्रम संगठनो का निर्माण करना चाहिये जिनके माध्यम से वे पूंजीपतियो से अच्छे वेतन, काम करने के लिए कम अवधि तथा उत्तम कार्य-परिस्थितियो के विषय मे सामूहिक सौदा कर सकें। द्वितीय, समाजवादी चुनावों द्वारा संसद मे बहुमत प्राप्त कर स्वय ही सरकार का संगठन कर समाजवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित करें। सूक्ष्म मे लोकतान्त्रिक समाजवादी साधनों की निम्नलिखित व्याख्या की जा सकती है:—

(i) लोकतान्त्रिक समाजवादी उस मार्क्सवादी धारणा का खंडन करते हैं कि समाज मे वर्ग-संघर्ष अवश्यम्भावी है और केवल मजदूर वर्ग की सहायता से समाजवाद की स्थापना की जायगी। लोकतान्त्रिक समाजवादी सभी वर्गों और बहुमत को साथ लेकर चलना चाहते हैं। उनके विचार मे एक वर्ग का उत्थान और दूसरे वर्ग का उन्मूलन ठीक नही।

(ii) इसका तात्पर्य यह हुआ कि लोकतान्त्रिक समाजवादी हिंसा या शक्ति द्वारा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति नही करना चाहते। हिंसात्मक क्रान्ति के द्वारा परिवर्तन स्थायी नहीं होते। इसके अतिरिक्त यदि एक बार आतंकवादी मार्ग अपना लिया जाता है तो हिंसा के आधार पर प्राप्त व्यवस्था का उन्मूलन करना असम्भव होगा। यह समाजवादी न होकर कोई अधिनायकवादी व्यवस्था होगी।

(iii) लोकतान्त्रिक समाजवादी विकासवादी हैं। वे समाज को एक अवयव की तरह मानते हैं। तदनुसार अवयव की तरह ही समाज का धीरे-धीरे विकास होता है। समाज मे अपने को बदलने की क्षमता होती है।

(iv) इन समाजवादियों ने प्रजातान्त्रिक एवं सवैधानिक साधनो का समर्थन किया है। इनका विश्वास था कि समाजवाद मे विश्वास रखने वालों का एक राजनीतिक दल स्थापित किया जाय। यह दल चुनावों मे भाग ले और बहुमत को अपने पक्ष मे लाने का प्रयत्न करे। बहुमत प्राप्त होने के बाद सरकारी मशीन का समाजवादी व्यवस्था लाने के लिए प्रयोग किया जाय।

(v) लोकतान्त्रिक समाजवाद रचनात्मक समाजवाद (Constructive Socialism) है। वैधानिक साधनो के माध्यम से समाज में ऐसा कार्यक्रम प्रारम्भ किया जाय जिससे कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो।

लोकतान्त्रिक समाजवाद के विषय में सतर्कता (2)

लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना एव प्रगति के विषय मे कुछ सतर्कता आवश्यक है। लोकतान्त्रिक समाजवाद का उद्देश्य लोकतन्त्र के आर्थिक पक्ष को सुदृढ़ बनाना है। लोकतन्त्र मे राजनीति स्वतन्त्रता एवं समानता की उपलब्धि तो हो

सकती है, किन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता एवं समानता के बिना यह सब व्यर्थ है। यह समाजवादी कार्यक्रम से ही सम्भव है। इसलिए यहाँ समाजवाद का ध्येय लोकतान्त्रिक शक्तियों में वृद्धि करना है। यह राज्य के माध्यम से ही सम्भव है। इसलिए यह किसी सीमा तक समग्रता की ओर अग्रसर करेगा। यहीं पर सतर्कता की आवश्यकता है। समाजवादी कार्यक्रम से राज्य अधिनायकवादी न हो जाय अन्यथा न तो लोकतन्त्र ही रहेगा न समाजवाद। राज्य के कार्य क्षेत्र में केवल उतनी ही वृद्धि होनी चाहिए जितनी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए आवश्यक हो तथा जिससे मनुष्यों के अधिकारों का हनन न होता हो। यह लोकतन्त्र तथा समाजवाद के समुचित समन्वय से ही सम्भव है।

जिन राज्यों में क्रान्ति द्वारा राजनैतिक परिवर्तन हुए हैं, या जहाँ अधिनायकवादी व्यवस्थाएँ पहले से ही विद्यमान हैं वहाँ लोकतान्त्रिक समाजवाद का पनपना असम्भव है। ऐसे राज्यों में समाजवादी कार्यक्रम को जनकल्याण के साधन के रूप में स्वीकार तो किया जाता है, लेकिन उसका उद्देश्य लोकतान्त्रिक शक्तियों में वृद्धि करना नहीं होता। साम्यवादी राज्य, विशेषत रूस और चीन जो अभी समाजवादी स्थिति (जिसे मार्क्स ने सक्रमण-युग कहा था) से गुजर रहे हैं, जन-कल्याण के लिए कार्य कर रहे हैं किन्तु जो वास्तव में लोकतान्त्रिक सिद्धान्त या मूल्य हैं वे वहाँ दृष्टिगोचर नहीं होते। साम्यवादी राज्य अपने लिये लोकतान्त्रिक तथा समाजवादी दोनों ही कहते हैं, पर वे समाजवादी तो हैं, लोकतान्त्रिक नहीं।

इस सन्दर्भ में अफ्रीकी राज्यों तथा एशिया के वे राज्य जहाँ सैनिक क्रान्तियाँ हो चुकी हैं, आदि के उदाहरण दिये जा सकते हैं। इन सभी राज्यों में किसी न किसी प्रकार के समाजवादी कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने का दावा किया जाता है, जिसका उद्देश्य सामान्य जनता की थोड़ी बहुत सुख सुविधा में वृद्धि करना तो रहा है, लोकतन्त्र को स्थापित करना नहीं। समाजवाद के नाम पर वहाँ राज्य की शक्तियों में जो वृद्धि हुई है, उसका उद्देश्य सैनिक तानाशाहों की शक्ति को सुदृढ़ कर विरोधियों को कुचलना है। मिश्र, लीबिया, सूडान, कांगो, घाना नाइजीरिया, तन्जानिया, उगान्डा, सीरिया, ईराक आदि कभी भी लोकतान्त्रिक समाजवाद के अन्तर्गत नहीं आ सकते। वास्तव में ये न तो लोकतान्त्रिक हैं और न समाजवादी। इन राज्यों में शुद्ध तानाशाही तथा विकृत समाजवाद जैसी ही कोई व्यवस्था हो सकती है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद का मूल्यांकन

(1) सर्वव्यापी राज्य की स्थापना

लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य को अधिकाधिक कार्य करने होंगे। उत्पादन और वितरण के समस्त साधन राज्य के नियन्त्रण में रहेंगे। इसलिए राज्य का क्षेत्राधिकार अधिक व्यापक हो जायगा। समाज में स्थानीय स्व-शासन से राष्ट्रीय स्तर तक समस्त कार्यों का या तो राष्ट्रीयकरण होगा या उनपर

ऊपर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होगा। अन्तिम रूप में, मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन राज्य के नियन्त्रण के अन्तर्गत होगा।

आर्थिक व्यवस्था पर राज्य नियंत्रण का परिणाम नौकरशाही के अधिकारों में वृद्धि होगी। राज्य कर्मचारियों में वृद्धि के साथ लाल फीताशाही, अकर्मण्यता और भ्रष्टाचार में भी वृद्धि होगी। समाजवादी व्यवस्था में जो भी लाभ मिलने की आशा है, वे बहुत कुछ नौकरशाही व्यवस्था में समाप्त हो जायेंगे। इसमें एक सम्भावना और हो सकती है। राज्यों के कार्यों में वृद्धि होने से प्रशासन इस बोझ को उठाने में असमर्थ रहे।

समाज में व्यक्तिवाद और पूँजीवाद के जिन दुर्गुणों का उन्मूलन करने के लिए जिस समष्टिवादी राज्य की स्थापना करना है, अन्तिम रूप में समष्टिवादी राज्य उन्हीं दुर्गुणों को जन्म देगा या प्रोत्साहित करेगा। समष्टिवाद व्यक्तिगत-पूँजीवाद के स्थान पर राज्य-पूँजीवाद की स्थापना करेगा। इससे श्रमिक वर्ग के स्तर में कोई अन्तर नहीं आयेगा। उसे तो व्यक्ति या राज्य के मजदूर के रूप में कार्य करते रहना पड़ेगा। समष्टिवाद में प्रगति धीरे धीरे होगी, उत्पादन में कमी होगी तथा निर्धनता में वृद्धि होगी।

मानव प्रवृत्ति के प्रतिकूल (2)

उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य-स्वामित्व के परिणामस्वरूप व्यक्तिगत प्रोत्साहन की सम्भावना समाप्त हो जायगी। यदि व्यक्ति को अपने कार्य का कुछ लाभ या पुरस्कार नहीं मिलता तो वह अपनी प्रतिभा का पूर्ण उपयोग नहीं कर सकता और न इच्छा एवं लगन से ही कार्य कर सकता है।

सम्पत्ति धारण करने की इच्छा मनुष्य में स्वाभाविक एवं मूल प्रवृत्ति है। वे व्यक्ति जो धन उपार्जन कर सकते हैं उन्हें प्रतिफल मिलना ही चाहिए। किन्तु दूसरी ओर वे व्यक्ति जिन्हें यदि यह विश्वास है कि राज्य की ओर से उन्हें काम और निर्वाह योग्य वेतन मिल जायगा तो वे आलसी, अनुत्तरदायी हो जायेंगे। उनमें नये प्रयोगों के प्रति न तो उत्साह और न जोखिम लेने की क्षमता का विकास हो सकता है।

शान्तिपूर्ण साधनों की अनुपयुक्तता

आलोचकों, जिनमें साम्यवादी प्रमुख है, का कहना है कि समाजवाद की स्थापना शान्तिपूर्ण संवैधानिक साधनों से नहीं की जा सकती। लोकतान्त्रिक साधनों से पूँजीवाद के दोषों को समाप्त करना असम्भव है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में पूँजीवादी शक्ति शासन-मशीन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने व्यक्तियों को रखते हैं। प्रतिनिधि सभाओं में वे अपने समर्थकों की अधिकाधिक संख्या में पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। यह कार्य उनके लिए असम्भव नहीं है। धन द्वारा वे निर्णय लेने वाली संस्थाओं को अपने पक्ष में प्रभावित करते रहते हैं।

पूँजीपति अपने विरोधी राजनीतिक दलों को भी नहीं पनपने देंगे। इस प्रकार पहली बात तो यह है कि समाजवादी दल सत्ता में आ ही नहीं सकता। दूसरे, यदि एक बार वह सत्ता में आ भी जाता है, तो यह गारन्टी नहीं है कि वह सदैव सत्ता में बना रहे और समाजवादी कार्यक्रमों को लागू कर सके। इंगलैण्ड में दो तीन बार समाजवादी दल ने यदि सरकार बना भी ली है तो वहां समाजवाद की पूर्ण स्थापना नहीं हो पाई है।

स्वतन्त्रता एवं समानता का भ्रम

समष्टिवादी व्यवस्था में राज्य द्वारा हस्तक्षेप में वृद्धि होगी। नियन्त्रण और हस्तक्षेप द्वारा मनुष्य की स्वतन्त्रता पर प्रहार होगा। व्यक्ति राज्य का दास बन जायगा और समष्टिवाद एक गुलाम राज्य की नींव डालेगा।

समष्टिवाद आर्थिक एवं सामाजिक समानता को व्यापक रूप देना चाहता है। वह समानता को साकार करना चाहता है। कुछ आलोचक समष्टिवाद के इस प्रमुख उद्देश्य को अनुचित और अव्यावहारिक मानते हैं। उनका कहना है कि प्राकृतिक दृष्टि से *मनुष्य समान नहीं हो सकते। मनुष्य शक्ति, बुद्धि आदि दृष्टि से असमान* होते हैं। व्यक्ति अपनी योग्यता और परिश्रम के अनुसार कम या अधिक धन उपार्जन करते हैं। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में समानता सम्भव नहीं है। जब योग्यता और परिश्रम से उपार्जित धन समानता लाने के लिए छीन कर दूसरे को दिया जाता है यह अनैतिक होगा। ऐसी समानता भी स्थायी नहीं होगी।

योगदान

लोकतान्त्रिक समाजवाद (विशेषतः इससे सम्बन्धित समष्टिवाद) की साम्यवादी, व्यक्तिवादी आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से आलोचना हुई है। इस आलोचना में बहुत कुछ तथ्य है, किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी लोकतान्त्रिक समाजवाद में गुणों का बाहुल्य है। परिणामस्वरूप यह समाजवादी सम्प्रदायों में सबसे अधिक महत्व अर्जित किए हुए है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद अन्य समाजवादी विचारधाराओं से अधिक व्यावहारिक एवं स्थाई सिद्ध हुआ है। सिन्डीकलवाद, गिल्ड समाजवाद आदि कभी भी प्रभावशाली और सफल नहीं हो सके। ऐसी स्थिति में लोकतान्त्रिक समाजवाद ही सर्वाधिक उपयोगी प्रतीत लगता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद मध्य-मार्गीय विचारधारा है। यह पूँजीवादी और सर्व-सत्ताधारी विचारधाराओं का सर्वोत्तम विकल्प है। लोकतान्त्रिक समाजवाद इन दोनों की बुराइयों और अतिवादिता को त्याग कर एक नई प्रणाली का प्रतिपादन करता है।

लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था लोकतन्त्र को पूर्ण बनाने का महत्वपूर्ण साधन है। वैसे लोकतन्त्र में कई दोष हैं, लेकिन ये दोष समाजवादी सहयोग से बहुत

कुछ दूर हो जाते हैं। यह लोकतन्त्र को स्थाई और प्रभावशाली बनाने के लिए उत्तम कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। इसमें सन्देह नहीं कि लोकतन्त्र सर्वोत्तम प्रणाली है, समाजवादी कार्यक्रम इसके दोषों का उन्मूलन कर गुणों में अभिवृद्धि करता है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद हिंसा, क्रान्ति, वर्ग-संघर्ष पर न होकर विकासवादी, सवैधानिक साधनों पर आधारित है। ये साधन स्वय मे ही नैतिक हैं तथा मनुष्य के चतुर्मुखी विकास मे ऐसे साधनो का सदैव ही महत्व रहा है। शान्तिपूर्ण साधनो से उपलब्ध लक्ष्य स्थाई होते हैं।

आजकल विश्व में दो प्रकार की ही समाजवादी व्यवस्थाएं प्रचलित हैं। प्रथम, अधिनायकवादी तथा सर्वसत्ताधारी समाजवाद जिसके अन्तर्गत साम्यवाद तथा कुछ अफ्रीकी राज्यो मे प्रचलित समाजवादी व्यवस्था को ले सकते हैं। किन्तु इनमें साम्यवाद ही सबसे प्रमुख एव प्रभावशाली है। द्वितीय, लोकतान्त्रिक समाजवाद, जिसका प्रचलन एव प्रभाव लोकतान्त्रिक राज्यो में विशेषकर है। ये दोनो व्यवस्थाएं विश्व मे एक दूसरे का विकल्प बनने का प्रयत्न कर रही हैं।

पाठ्य-ग्रन्थ

1. कोकर, फान्सिस., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन,
   अध्याय 4, प्रजातान्त्रिक एवं विकासवादी समाजवादी
2. Ebenstein, W., Today's Isms,
   Chapter IV, Democratic Socialism.
3. गेटिल, रेमन्ड गारफील्ड., राजनीतिक चिन्तन का इतिहास,
   अध्याय 22, लोकतान्त्रिक समाजवाद का उदय
4. Hallowell, J. H., Main Currents in Modern Political Thought,
   Chapter 13, Socialism after Marx.
5. जोड, सी. ई एम., आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रवेशिका
   अध्याय 3, समाजवाद: विशिष्टत: समष्टिवाद से सम्बन्धित
6. Sabine, G. H., A History of Political Theory,
   Chapter XXXI, Liberalism Modernized.
7. Stankiewicz, W. I. (Ed.), Political Thought Since World War II,
   Part IV, Section I, Democratic Socialism

11

गांधीवाद

गाधीवाद का अध्ययन करने से पहले कुछ बातो का स्पष्टीकरण आवश्यक है। सर्वप्रथम, क्या गाधीवाद, कोई 'वाद' है ? इसका उत्तर 'हा' या 'ना' दोनो मे ही हो सकता है। महात्मा गाधी हाब्स, लॉक रूसो, मिल, हीगल, ग्रीन आदि की भाति शास्त्रीय अर्थ मे राजनीतिक दार्शनिक नही थे। उन्होने अध्ययन कक्ष या एकान्त मे बैठकर या किसी विश्व-विद्यालय की कुर्सी को सुशोभित कर अपने विचारो का प्रतिपादन नही किया। महात्मा गाधी एक कर्मयोगी तथा व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उनके सामने सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न भारत की स्वाधीनता का था। अग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध सघर्ष चलाने की किस प्रणाली को अपनाया जाय ? स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त देश की शासन प्रणाली का क्या स्वरूप हो ? देश के समक्ष जो तमाम सामाजिक एव आर्थिक समस्याए थी उनका क्या समाधान हो ? अपने जीवन, भारतीय समाज तथा विश्व म जो भी समस्याए देखी, उन समस्याओ के सम्बन्ध मे उनसे जो पूछा गया उस सम्बन्ध म गाधी जी ने अपने विचार व्यक्त किये। साथ ही साथ उन्होने अपने विचारो को कार्यरूप देने का भी प्रयत्न किया जो विश्व के समक्ष आदर्श बन गये।

महात्मा गाधी ने कुछ पुस्तकें तथा काफी सख्या म लेख लिखे। नवजीवन प्रकाशन, हरिजन पत्रिका, यग इण्डिया, हिन्द स्वराज, आयन मार्ग (Aryan Path) आदि लगभग उन्ही के विचारो को प्रसारित करने के लिये सुरक्षित थे। इतना सब होते हुए भी उन्होने अपने विचारो को किसी 'वाद' का रूप नही दिया। इस सम्बन्ध मे मार्च 1636 म सावली सेवा सघ मे प्रवचन करते हुए गाधी जी न कहा था—

> "गाधीवाद नाम की कोई वस्तु नहीं है। मैं अपने बाद कोई सम्प्रदाय नही छोडना चाहता। मैं किन्ही नये सिद्धान्तो या किसी मत को चलाने का दावा नहीं करता। मैंने तो केवल अपने ढग से आधार-भूत सच्चाइयो को अपने नित्य प्रति के जीवन एव समस्याओ पर लागू करने का प्रयत्न किया है। मैंने जो निष्कर्ष निकाले हैं व सब अन्तिम नहीं हैं। मैं कल ही उन्हे परिवर्तित कर सकता हूँ। विश्व को सिखाने के लिए मेरे पास कुछ नहीं

है। सत्य और अहिंसा उतने ही पुरातन हैं जितने कि पर्वत के शिखर। मैंने तो केवल इन दोनों को यथासम्भव विस्तृत क्षेत्र में प्रयोग करने का प्रयत्न किया है। आप इसे गांधीवाद न कहें इसमें कोई वाद नहीं है।"[1]

गांधीवाद की स्पष्ट व्याख्या करना सम्भव नहीं है। महात्मा गांधी ने सम्भवतः सभी समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त किये। उनके विचारों का क्षेत्र इतना व्यापक था कि उन्हें किसी एक वाद तक सीमित रखना असम्भव है। वे व्यक्तिवादी, अराजकतावादी, बहुलवादी, समाजवादी सब कुछ थे। इसलिये गांधीवाद को किस वाद में सम्मिलित किया जाय या किस रूप में अलग रखा जाय, सम्भव नहीं है। गांधीवाद में कई विचारधाराओं का समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

गांधीवाद कभी भी एक क्रमबद्ध दर्शन नहीं बन पाया। गांधीजी के जीवन में कई उतार चढ़ाव आये। कभी वे सत्याग्रह में, कभी जेल में, तथा कभी नाना प्रकार के संवैधानिक सम्मेलनों में व्यस्त रहे। इस प्रकार गांधीजी को अपने विचारों को एक दार्शनिक के रूप में व्यवस्थित करने का समय ही नहीं मिल सका।

गांधीजी ने अपने विचारों को न तो कभी पूर्ण माना और न उन्होंने उन्हें अन्तिम रूप दिया। उन्हें अपनी आत्मकथा लिखने में भी काफी हिचक थी। जिस चीज को वे सिद्धान्तरूप मानते थे, यदि वैसा मानना छोड़ दें तब उन सिद्धान्तों का क्या होगा? यदि इन सिद्धान्तों में आगे परिवर्तन करना पड़ा तो?[2] और वास्तव में वे अहिंसा तथा सत्याग्रह को एक विकसित विज्ञान मानते थे।[3] इन कारणों से गांधीजी किसी भी विषय में अन्तिम शब्द नहीं कहना चाहते थे। वे जीवन पर्यन्त सत्य का प्रयोग करते रहे। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि महात्मा गांधी के विचारों ने कोई निश्चितरूप ही नहीं लिया हो। सत्य तथा अहिंसा के सिद्धान्त प्रगतिशील होते हुए भी स्थायित्व ग्रहण कर चुके थे। ये ही गांधीवाद की जान थे। अपनी आत्मकथा की प्रस्तावना में गांधीजी ने लिखा है—

"अपने प्रयोगों के सम्बन्ध में मैं किसी तरह की सम्पूर्णता का दावा नहीं करता। जैसे विज्ञान-शास्त्री अपने प्रयोग अत्यन्त नियम, विचार सहित और सूक्ष्मतापूर्वक करता है, फिर भी उससे उत्पन्न हुए परिणामों को वह अन्तिम नहीं कहता, अथवा यह नहीं कहता कि यही सच्चे परिणाम हैं, इस सम्बन्ध में वह सशंक नहीं तटस्थ रहता है, वैसे ही अपने प्रयोगों के विषय में मेरा भी मानना है। मैंने खूब आत्म निरीक्षण किया है, प्रत्येक भाव को जांचा है, उसका विश्लेषण किया है, पर उससे पैदा हुए परिणाम सबके लिए अन्तिम ही है अथवा यही सही हैं, ऐसा दावा मैं कभी करना

1. Sitaramayya, B P., Gandhi and Gandhism, p. 26.
2. गांधी मो. क., सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ. 8. (प्रस्तावना)
3. Dhawan, G. N., The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p 6

नही चाहता। हा, एक दावा जरूर करता हूँ कि मेरी नजरो मे ये सही हैं और इस समय तो आखिरी से लगते है।"[4]

गाधीजी के अनुयायियो, टीकाकारो ने उनके विचारो को क्रमबद्ध करने का प्रयत्न किया है। देश-विदेशो मे उनके विचारो पर शोध ग्रन्थ लिखे गये। परिणाम-स्वरूप गाधीजी के विचारो ने एक वाद जैसा रूप ग्रहण कर लिया। आज गाधीवादी सिद्धान्तो का एक सग्रह सा बन गया है। उनके प्रत्येक अनुयायी अपने विचारो को गाधीवाद की कसौटी पर रखते हैं तथा समस्त सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक समस्याओ का समाधान उनके विचारो म पाते हैं। गाधीवाद एक नैतिक मापदण्ड सा बन गया है। जीवन के प्रत्येक पहलू मे हम क्या करना या नही करना चाहिए इस सम्बन्ध मे गाँधी जी के विचार मार्ग-दर्शन और कार्य-पद्धति का काम करते हैं। डॉ पट्टाभि सीतारमैय्या के शब्दो मे गाधीवाद एक जीवन-शैली या जीवन दर्शन है जो एक नई दिशा की ओर सकेत करता है।[5]

प्रभाव एव पूर्ववर्ती दर्शन

महात्मा गाधी ने स्वय को एक मूल विचारक मानने का कभी भी दावा नही किया। सत्य अहिसा के क्षेत्र मे उन्होने जो भी योगदान दिया वह एक प्रकार से प्राचीन परम्परा को ही आगे बढाना था। उनके विचारो की व्यापकता और विभिन्नता को देखते हुए उनके विचार-स्रोत किसी एक देश या काल तक ही सीमित नही थे। उन्हे जहा जो भी अच्छा लगा, ग्रहण किया। इतना सब होते हुए भी उन पर भारत की परम्परा एव सस्कृति का सर्वाधिक प्रभाव पडा। यही कारण है कि गाधीवाद मे भारतीयता के दशन होते हैं।

महात्मा गाधी ने सत्य एव अहिसा के जो प्रयोग किये उसकी परम्परा अति प्राचीन है। भारत मे सत्य और अहिसा की जडे जितनी गहरी और मजबूत हैं शायद ही किसी अन्य देश म हो। गाधीजी के विचारो के स्रोत ऋग्वेद, जो प्राचीन-तम ग्रन्थो मे से एक है तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थो मे उपलब्ध हो सकते हैं। ऋग्वेद मे वर्णाश्रम धर्म ने, जिसके अन्तर्गत शूद्र भी अपने कर्मों के द्वारा ब्राह्मण बन सकता था, गाधीजी को प्रभावित किया। उपनिषदो मे अहिसा की महत्ता पर सदैव जोर दिया गया है। पतञ्जलि के योगशास्त्र मे अहिसा को कभी भी नकारात्मक या हिंसा का त्याग ही नहीं माना, बल्कि सरल मानवो के लिए सद्भावना प्रेरित करने वाला तत्व स्वीकार किया। उनका कथन था—

अहिसा प्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्याग

अर्थात् जैसे ही अहिसा पूर्णता को प्राप्त होती है अपने चारो ओर शत्रुता समाप्त हो जाती है।

---

4 गाधी, मो. क , सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ 5

5 Sitaramaya, B P. Ibid, p 35

सत्य और अहिंसा की परम्परा रामायण और महाभारत में और भी विकसित हुई। रामायण से गांधीजी का साक्षात्कार बचपन में ही हो गया था। उन्हें राम रक्षा स्तोत्र कंठस्थ था जिसका वे नित्य प्रातः स्नान के बाद पाठ किया करते थे। अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है कि "जिस चीज का मेरे मन पर गहरा असर पड़ा वह था रामायण का पारायण। मैं आज तुलसीदास की रामायण को भक्ति मार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ।[6]

महाभारत को गांधीजी ने युद्ध ग्रन्थ नहीं माना है। उनके अनुसार महाभारत के रचयिता वेद व्यास ने इस ग्रन्थ में युद्ध और हिंसा की निन्दा कर उसकी व्यर्थता पर जोर दिया है। युद्ध के पश्चात् विजेता में भी ग्लानि एवं पश्चाताप की भावना प्रदर्शित होती है। साथ ही साथ महाभारत में प्रत्यक्ष रूप से भी अहिंसा का उपदेश मिलता है। घायल भीष्म पितामह को मृत्यु शैय्या पर पड़े हुए कहते बतलाया गया है—

अहिंसा परमो धर्मः अहिंसा परमं तप
अहिंसा परमं सत्यम्, ततो धर्म प्रवर्तते

अर्थात् अहिंसा सर्वोच्च धर्म है, सर्वोत्तम तप है, सबसे बड़ा सत्य है जिससे समस्त कर्त्तव्यों का उद्‌भव होता है।

महाभारत में विशेषतः गीता से गांधीजी को सर्वाधिक प्रेरणा मिली। गीता के प्रति उनका इतना प्रेम और श्रद्धा थी कि गीताजी के लगभग तेरह अध्याय उन्होंने कंठस्थ कर लिये थे। गीता के प्रभाव के विषय में गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि "मेरे लिए तो वह पुस्तक आचार की एक प्रौढ़ पथ-प्रदर्शिका बन गई। वह मेरा धार्मिक कोष हो गई.. उसके अपरिग्रह, समभाव वगैरा शब्दों ने मुझे पकड़ लिया.. दूसरी शब्द का अर्थ गीताजी के अभ्यास के फलस्वरूप विशेष रूप से समझ में आया। विधान शास्त्र के लिए आदर बढ़ा....अपरिग्रही होने में, समभावी होने में हेतु का, हृदय का परिवर्तन आवश्यक है, यह मुझे दीपक की भाँति स्पष्ट दिखाई दिया।" [7] गांधीजी ने स्वयं भागवद् गीता की टीका लिखी थी उनकी गीता की व्याख्या नवीन प्रकार की है। वह गीता को अपने जीवन का 'आध्यात्मिक सन्दर्भ ग्रन्थ' (Spritual Reference Book) मानते थे।[8] वे जब कभी भी अपने लिए मानसिक उलझन या समस्याओं में फँसा पाते तब गीता अध्ययन से उन्हें सदैव सान्त्वना एवं समस्याओं का समाधान मिला। सत्य और अहिंसा के बारे में गीता से उन्होंने बहुत कुछ सीखा।[9]

6. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ० 38-39.
7. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ० 329-30.
8. Gandhi and Mahadev Desai, The Geeta According to Gandhi pp 122-123.
9. Kriplani, J B , Gandhi, His Life and Thought, p. 338.

जैन दर्शन में अहिंसा का प्रमुख स्थान है। अहिंसा के बिना जैन धर्म कुछ भी नहीं है। गांधीजी का परिवार वैष्णव था फिर भी जैन मुनियों के सत्संग में आता रहा। इसके अतिरिक्त जैन धर्म का प्रभाव जितना गुजरात में है भारत के अन्य भाग में नहीं। यहीं गांधीजी पैदा हुए तथा जीवन के प्रारम्भिक वर्ष बिताये। इस प्रकार अहिंसा का गांधीजी के जीवन पर बचपन में ही प्रभाव पड़ा।

जैन धर्म की भांति बौद्ध धर्म में भी अहिंसा का महत्व है। इसके साथ-साथ इसका पवित्रता से प्रारम्भ होकर प्रेम में अन्त होना है। बौद्ध अनुयायी विश्व की सभी प्रकार की पीड़ा एवं यातना का भार सहने की शपथ लेता है। बौद्ध धर्म में अहिंसा का अर्थ प्रेम तथा दूसरों को हानि न पहुंचाना है।

बौद्ध धर्म की शिक्षाओं को सम्राट अशोक ने साकार किया। कलिंग युद्ध (सम्भवत 262 ईसा के पूर्व) के बाद सम्राट अशोक हिंसा का त्याग करते हैं, इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासकार वेल्स (H G Wells) लिखते हैं कि इतिहास में अशोक ही ऐसे एक सम्राट हुए हैं जिन्होंने विजय के बाद युद्ध न करने की शपथ ली।[10] *अशोक की अहिंसा के प्रति लगन, जन सेवा-भाव तथा शिला लेखों के सूत्रों* ने गांधीजी को काफी विचार प्रेरणा दी।

गांधीजी की नैतिक और राजनीतिक विचारधारा पर लाओ त्से (Lao Tse) और उनके समकालीन कनफ्यूशियस (Confucious, about 551-478 B C) की शिक्षाओं का भी प्रभाव पड़ा। लाओ त्से का कहना था कि 'जो मेरे प्रति अच्छे हैं मैं उनके प्रति अच्छा हूं जो मेरे प्रति अच्छे नहीं हैं उनके प्रति भी मैं अच्छा हूं। इस प्रकार सभी अच्छे हो जायेंगे।" 'जो मेरे प्रति सच्चे हैं मैं उनके लिए सच्चा हूं, जो मेरे प्रति सच्चे नहीं हैं मैं उनके लिए भी सच्चा हूं और इस प्रकार सभी सच्चे होते जायेंगे।" लाओ त्से ने नम्रता की उपमा जल से देते हुए कहा कि सर्वोत्तम मनुष्य जल के समान है। जल सभी वस्तुओं को लाभ पहुंचाता है, वह उनके साथ प्रतियोगिता नहीं करता। जल ऐसे निम्नतम स्थानों पर रहता है जहां कोई भी रहना पसन्द न करेगा। गांधीजी ने कन्फ्यूशियस से वह सिद्धान्त सीखा जिसके अनुसार मनुष्यों को दूसरे के प्रति वैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जैसा व्यवहार वे स्वयं दूसरों के द्वारा अपने प्रति न चाहते हों। दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार करो जैसा तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें।

गांधीजी को गैर-हिन्दू स्रोतों में से बाइबिल में दी गई शिक्षाओं (Sermon on the Mount) ने काफी प्रभावित किया। गांधीजी का कहना था कि जब उन्होंने इसे पहली बार पढ़ा तो यह सीधा ही उनके मन में उतर गया। अहिंसक प्रतिरोध (non-violent resistance) की शिक्षा उन्हें ईसा मसीह के इन शब्दों में मिली—

10 Wells, H G, *The Outline of History*, 1932, p 400

"भगवान उन्हें क्षमा कीजिए क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं।"
"यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो उसके सामने दूसरा गाल भी कर दो।"
"अपने शत्रुओं को प्यार करो।"
"बद्दुआ देने वालों को दुआ दो।"
"जो तुमसे घृणा करते हैं उनके साथ नेकी करो।"
"जो तुम्हारे साथ अत्याचार करते हों उनके लिए तुम भगवान से प्रार्थना करो।"

दक्षिण अफ्रीका मे गांधीजी के एक मित्र रेवरेण्ड डोक (Rev. J J. Doak) का कहना है कि गांधीजी ने सत्याग्रह की प्रेरणा न्यू टेस्टामेण्ट (New Testament) और विशेषकर 'सर्मन ग्रॉफ दी माउण्ट' से ली।[11]

सामान्यतः इस्लाम धर्म को हिंसा और शक्ति के साथ जोड़ा जाता है। किन्तु गांधीजी ने इस्लाम को एक शान्ति के धर्म के रूप में मान्यता दी है। यह सत्य है कि इस्लाम के अनुयायियों ने दूसरे धर्मावलम्बियों पर अत्याचार किये हैं, तलवार के जोर से दूसरों पर अधिकार जमाने तथा इस्लाम प्रसार का प्रयत्न किया। गांधीजी को इस्लाम मे जो अच्छी बात लगी वह व्यक्तियों मे भ्रातृत्व की भावना थी। मोहम्मद साहब के प्रति भी गांधी जी की श्रद्धा थी। उन्होंने कुरान का खूब मनन किया तथा उसमे कई स्थलों पर उन्हें शान्ति, प्रेम, उदारता, सहिष्णुता के सन्दर्भ मिले।[12] यह नहीं कहा जा सकता कि इस्लाम ने गांधीजी पर कोई विशेष प्रभाव छोड़ा। चूँकि वे सब धर्मों का आदर तथा सभी धर्मों के मूल सिद्धांतों में विश्वास करते थे, गांधीजी का इस्लाम के प्रति आदर भाव होना स्वाभाविक ही था। इसके अतिरिक्त, भारत में हिन्दू और मुसलमानों की अधिक संख्या होने के कारण उनमें एकता और सहिष्णुता की भावना भरने के लिए भी उन्होंने इस्लाम का समर्थन किया। खिलाफत आन्दोलन (191 –20) मे टर्की के खलीफा का समर्थन धार्मिक भावना से नहीं जितना कि राजनीति तथा भारत मे हिन्दू मुस्लिम एकता में अभिवृद्धि करने के उद्देश्य से था।

धर्म-निरपेक्ष विद्वानों में से थोरो (David Thoreau, 1817-62), रस्किन (John Ruskin, 1819-1900), और टॉलस्टॉय (Count deo Tolstoi, 1828-1910) ने गांधीजी को सबसे अधिक प्रभावित किया। उनके सविनय अवज्ञा आन्दोलन, कर-विरोध, तथा राज्य के विषय में अराजकतावादी विचारों पर अमरीकी अराजकतावादी थोरो की ही प्रतिछाया थी। थोरो की पुस्तक—Essay on Civil Disobedience—के विचार कि "जनहित करने वाले सभी व्यक्तियों और संस्थाओं के साथ अधिकतम सहयोग, और यदि वे अहित करें तो असहयोग" को गांधोजी ने पूर्णतः आत्मसात किया था। थोरो की पुस्तक के भारतीय सस्करण की भूमिका मे

11. आशीर्वादम्., राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग. पृ 706.
12. Young India, Vol, III pp 43-44.

महात्मा गांधी ने लिखा है कि "मैं इस आदर्श को हृदय से स्वीकार करता हूँ कि वह सरकार सर्वोत्तम होती है जो कम से कम शासन करती है.. .इसका अर्थ अन्ततोगत्वा यह होता है और जिस पर मेरा पूरा विश्वास है कि वह सरकार सबसे अच्छी होती है जो बिल्कुल ही शासन नहीं करती।"[13]

जान रस्किन (John Ruskin) की पुस्तक—Unto This Last–का गांधीजी के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इसने उनके विचारों में बड़ा परिवर्द्धन किया। इस पुस्तक से उन्होंने यह सबक सीखा कि—

(i) व्यक्ति का कल्याण सभी व्यक्तियों के कल्याण में निहित है।

(ii) एक वकील के कार्य की महत्ता भी एक नाई के कार्य के ही बराबर है। इस प्रकार सभी को अपने कार्य से आजीविका कमाने का अधिकार है।

(iii) एक श्रमिक तथा खेतिहर का जीवन ही वास्तव में जीवित योग्य रहने वाला जीवन है।[14]

रस्किन के विचारों से गांधीजी ने शारीरिक श्रम की महत्ता को ग्रहण किया। आगे चल कर जब उन्होंने 'सर्वोदय' समाज की स्थापना के विषय में जो विचार व्यक्त किये वह रस्किन की इस पुस्तक पर ही आधारित थे। 'Unto This Last' का तात्पर्य ही 'सर्वोदय' है।

महात्मा गांधी टाल्सटॉय के विचारों के अति निकट थे। गांधीजी टॉल्सटॉय के बहुत प्रशंसक थे, तथा अपने जीवन में टॉल्सटॉय से बहुत कुछ ग्रहण किया। टॉल्सटॉय की पुस्तक—The Kingdom of God is Within you (अर्थात् ईश्वर का राज्य तुम्हारे भीतर है)—का गांधीजी ने उस समय ही मनन कर लिया था जिस समय वे दक्षिण अफ्रीका में थे। इसने गांधीजी में अहिंसा के प्रति भावना की दृढ़ स्थापना की। अहिंसा और प्रेम टॉल्सटॉय के विचारों के मूल आधार थे जिन्हें गांधीजी ने पूर्णतः स्वीकार किया। सितम्बर 7, 1910, को टॉल्सटॉय ने गांधीजी को जो पत्र लिखा उसमें टॉल्सटॉय ने प्रेम को जीवन का सर्वोच्च विधान बतलाया जो मानव में आत्मा की एकता तथा एक दूसरे के प्रति सद्भाव व्यक्त करता है।[15]

गांधीजी ने यदि ग्रन्थों में गीता से सर्वाधिक प्रेरणा ली तो व्यक्तियों में उन पर सबसे अधिक प्रभाव बम्बई के एक जैन कवि एवं सुधारक रायचन्द भाई का पड़ा। इगलैण्ड से आने के बाद गांधीजी इनके निकटतम सम्पर्क में आये। जिस प्रकार गांधीजी मानसिक उलझन तथा समस्याओं का समाधान पाने के लिए गीता का अध्ययन करते थे उसी प्रकार वे श्री रायचन्दजी से निरन्तर परामर्श और निर्देशन

13 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय भाग, पृ० 709-10

14 Dhawan, Gopinath, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p 31

15 Dhawan, Gopinath, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi pp 32 33

लेते रहते थे। रायचन्द भाई का गांधीजी से जब सम्पर्क हुआ। उस समय कवि की उम्र 25 साल की थी तथा हीरे जवाहरात के प्रसिद्ध व्यापारी थे। पहली ही भेंट मे गाधीजी बिना प्रभावित हुए न रह सके। रायचन्द भाई की जिस बात पर गाधीजी मुग्ध हुए 'वह था *उनका गम्भीर शास्त्र ज्ञान, उनका शुद्ध चारित्र्य और उनकी आत्म दर्शन की उत्कृष्ट लगन*।"[16] गाधीजो को कई धर्म आचार्यों से सम्पर्क बढाने का अवसर मिला किन्तु, गाधीजी के शब्दो में' "जो छाप मुझ पर रायचन्द भाई ने डाली वह दूसरा कोई न डाल सका। उनके बहुतेरे वचन सीधे मेरे अन्तर मे उतर जाते थे।"[17]

सभी व्यक्तिगत प्रभावो के विषय मे गाधीजी ने अपनी आत्मकथा में उल्लेख किया है:—

> " मेरे जीवन पर गहरी छाप डालने वाले आधुनिक मनुष्य तीन हैं– रायचन्द भाई ने अपने सजीव सम्पर्क से, टॉलस्टॉय ने अपना 'वैकुण्ठ तेरे हृदय मे है' नामक पुस्तक से, और रस्किन ने 'अनटू दिस लास्ट' (सर्वोदय) नामक पुस्तक से मुझे मुग्ध कर दिया।"[18]

गांधीवाद का आध्यात्मिक आधार

यदि महात्मा गाधी के जीवन एव कार्यों को समझना है तो इसके लिए उनके आध्यात्मिक एवं धार्मिक विचारों को समझना अति आवश्यक है। क्योकि उन्होने अत्याचार अन्याय के विरुद्ध जो भी संघर्ष किया इसके लिए उन्हें आध्यात्मिक आदर्शों से ही शक्ति प्राप्त हुई।[19]

धर्म के विषय मे गांधीजी के विचार बड़े उदार तथा संकीर्णता से पूर्ण परे हैं। हिन्दू धर्म के अनुयायी होते हुए भी उनके मन में सब धर्मों के प्रति आदर था। उनका कहना था कि सब धर्मों में कुछ समान सत्य हैं और इस प्रकार सब धर्म ठीक हैं। धर्म, गांधीजी के अनुसार, अलग अलग मार्गों की तरह हैं जो अन्त में एक ही आदर्श की ओर ले जाते हैं। यदि हम विभिन्न मार्गों से अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर लेते है तो अलग अलग मार्गों पर चलने में किसी को आपत्ति नही होनी चाहिये। सब धर्मों मे सत्यता होते हुए भी महात्मा गांधी किसी भी धर्म को पूर्ण नही मानते थे। सभी धर्मों का प्रतिपादन मनुष्यों के द्वारा ही किया गया है। जब मनुष्य ही पूर्ण नही है तो उनके द्वारा चलाये गये धर्म भी कैसे पूर्ण हो सकते हैं। धर्मों के विषय में उनका निष्कर्ष था कि सब धर्म सही हैं; सब धर्मों में त्रुटिया भी हैं।[20]

16 सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ. 109-110.

17. उपरोक्त,पृ. 109-110.

18. उपरोक्त पृ. 112.

19. Kriplani, J. B, Gandhi His Life and Thought, p. 336.

' Ibid, p 339

गाधीजी सब धर्मों को समान समझते थे। धर्मों की समानता उनकी धार्मिक सहिष्णुता का आधार था। किसी भी धर्म को दूसरो के मुकाबले में श्रेष्ठ अथवा घटिया मानना भूल है। इस प्रकार कोई धर्मावलम्बी अपने धर्म को श्रेष्ठ मानकर उसका प्रचार कर, सही धर्म यह कभी भी निर्देश नही देता। विशेषत गाधीजी धर्म परिवर्तन के कट्टर विरोधी थे। सब धर्मों को समान आदर दते हुए भी गाधीजी हिन्दू धर्म के सच्चे अनुयायी थे। 'हिन्दू धर्म' गाधी जी ने कहा था, "जैसा कि मैं समझता हूँ, मेरी आत्मा को पूर्ण सन्तुष्टि देता है, मेरे पूरे जीवन को भर देता है, और उससे मुझे सान्त्वना मिलती है।"[21]

हिन्दू धर्म, की मान्यताओ से ओत-प्रोत होते हुए भी गाधीजी ने रूढिवादिता को स्वीकार नही किया। हिन्दू धर्म के विभिन्न तत्त्वो की उन्होने वैज्ञानिक एव नवीन व्याख्या कर उसे जन-सेवा की ओर मोडने का प्रयत्न किया। हिन्दू धर्म मे पाखण्ड, ऊँच-नीच, जातियो तथा कई उप-सम्प्रदायो ने अपना स्थान जमा लिया था। गाधी ने इन कुरीतियो को हिन्दू धर्म से दूर करने का भरसक प्रयत्न किया।

गाधीजी आत्मा के अमरत्व तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्तो को मानते थे। हिन्दुओ का विश्वास है कि शरीर नश्वर है, तथा आत्मा अमर है। मनुष्य अपने जीवन म जो अच्छे बुरे कार्य करता है उसके अनुसार उसे मृत्योपरान्त नया जीवन धारण करना पडता है। जन्म-मरण का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। इस चक्र से छुटकारा केवल मोक्ष द्वारा ही हो सकता है। मोक्ष ही मानव जीवन का अन्तिम साध्य है। किन्तु महात्मा गाधी ससार को छोड सन्यास द्वारा मोक्ष का समर्थन नही करते थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य मानव जाति की सेवा करके ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। एक स्थान पर उन्होने लिखा है कि "मैं राष्ट्र की जो सेवा करता हूँ वह मेरी उस साधना का अ ग है जिसे मैं अपनी आत्मा को शरीर के बन्धन से मुक्त कराने के लिए किया करता हूँ।"[22]

महात्मा गाधी कभी-कभी उपवास आदि भी किया करत थे। कोई-कोई उपवास तो उनके ऐतिहासिक थे जो सप्ताहो तक चले। उपवास के पीछे गाधीजी का विचार था कि इससे मस्तिष्क केन्द्रित एव सतुलित रहता है तथा इसका विचार शुद्धता पर भी व्यापक असर पडता है। कभी-कभी अपने कार्यों के प्रति उन्ह ग्लानि होती या उनके सहयोगी और समर्थक कोई गलत काम कर लेते, उसका उत्तरदायित्व अपने ऊपर समझ कर पश्चाताप क रूप मे वे उपवास को ही एक मुख्य साधन मानते थे[23] गाधीजी ने लिखा है कि "उपवासादि सयमी मार्ग मे एक साधन के रूप मे

21 Young India, Vol II, pp 1078-79,
सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ 962

22 Harijan, December 24, 1934, p 363. Delhi Diary Vol I, p 185

23 Kriplani J B, Gandhi His Life and Thought, p 341

आवश्यक हैं, पर यही सब कुछ नही है। अगर शरीर के उपवास के साथ मन का उपवास न हो तो वह दम्भ मे परिणत हो जाता है और हानिकारक सिद्ध हो सकता है।"[24]

गो-प्रतिपालन हिन्दू-धर्म का प्रमुख तत्त्व है। गांधीजी के अनुसार "गो रक्षा के मानी है गोवश-वृद्धि, गोजाति सुधार, बैल से सीमित काम लेना, गोशाला को आदर्श दुग्ध-शाला बनाना इत्यादि।"[25] गाधीजी ने देश मे कई स्थानो पर गोशालाएँ खोली तथा अपने आदर्शों के अनुसार चलने का प्रयत्न किया एव करवाया भी। पर इस सम्बन्ध मे उन्हे जिस सफलता की अपेक्षा थी वह न मिल सकी। भारतीय संविधान मे राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वो मे (धारा 48 के अन्तर्गत) गोरक्षा का प्रयोजन है किन्तु हमने इस विषय मे कोई कारगर कदम नही उठाया है। यही नही गोरक्षा के सिद्धान्त को अक्सर राजनीति मे घसीटने का प्रयत्न किया जाता है, जिससे गोरक्षा लाभ के स्थान पर हानि ही हुई है।

महात्मा गाधी का ईश्वर मे अडिग विश्वास था तथा ईश्वर के अनन्य उपासक थे। लेकिन उनकी व्याख्या परम्परागत हिन्दू दार्शनिकों से भिन्न है। वे ईश्वर को कई रूपों में देखते थे तथा ईश्वर की प्राप्ति के कई साधन मानते थे। वे सत्य को ईश्वर मानते थे तथा सत्य पर आग्रह करना ईश्वर की उपासना के ही बराबर समझते थे। एक स्थान पर उन्होने नैतिकता को ही ईश्वर माना है। कही-कही उन्होने प्रेम को ईश्वर बतलाया है।[26] किन्तु गांधीजी को ईश्वर के साक्षात् दर्शन दरिद्रनारायण मे होते थे। वे दरिद्रों की सेवा या व्यापक रूप मे समस्त प्राणियो की सेवा को ईश्वर की सेवा ही मानते थे। समाज मे रामराज्य या सर्वोदय समाज की स्थापना करने का तात्पर्य ईश्वर से साक्षात्कार के लिये अग्रसर होना था।[27] ईश्वर के विषय मे गाधीजी ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है:—

> परमेश्वर की व्याख्याएँ अनगिनत हैं; क्योंकि उसकी विभूतियाँ भी अनगनित हैं। ये विभूतिया मुझे आश्चर्य में डाल देती है। मुझे तनिक देर के लिए मोह भी लेती हैं। पर मैं पुजारी तो सत्य रूपी परमेश्वर का हूँ। वही एक सत्य है और अन्य सब मिथ्या है। यह सत्य मुझे मिला नहीं; पर मैं इसका शोधक हूँ। इसकी शोध में अपनी प्यारी-से-प्यारी वस्तु भी त्यागने को तैयार हूँ।"[28]

---

24 सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ० 329.

25 सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ. 534.

26. हरिजन, अगस्त 28, 1947, पृ. 285.

27. Delhi Diary, Prayer Speeches, from 10.9.47 to 30. 1. 48, p 98

28 सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, प्रस्तावना पृ. 6.

गांधीजी को धर्म का अधिक महत्त्व इसलिये और था क्योंकि यह मानव जीवन की गतिविधियों को नैतिक आधार प्रदान करता है। जो धर्म मनुष्य के नैतिक स्तर मे वृद्धि नही कर सकता वह धर्म व्यर्थ है।[29]

महात्मा गांधी राजनीति का आध्यात्मीकरण (Spiritualisation of politics) करना चाहते थे। उनका दृढ विश्वास था कि यदि राजनीति को मानव जाति के लिये श्राप न होकर आशीर्वाद होना है तो उसे उच्चतम नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तो पर आधारित होना चाहिए।[30] यही कारण था कि वे धर्म को इतना महत्त्व देते थे। वास्तव म गांधी जी धार्मिक अधिक और राजनीतिक कम थे। उन्होने एक प्रसग मे कहा था कि 'बहुत से धार्मिक व्यक्तियो जिनसे मैं मिला हूँ, छुप हुए तौर पर राजनीतिज्ञ हैं, किन्तु मैं जो राजनीतिज्ञ का वेष रखता हूँ, हृदय से एक धार्मिक व्यक्ति हूँ।[31] धर्म के बिना राजनीति मृत्यु-जाल है जो आत्मा का हनन करदेती है।[32]

महात्मा गांधी यह तो मानते ही थे कि मनुष्य राजनीतिक समाज मे रहता है और इसलिये राजनीति अवगुण होते हुए भी उससे दूर नही रहा जा सकता। "यदि मैं राजनीति मे भाग लेता हूँ,' गाधीजी ने एक स्थल पर कहा था, 'इसका केवल यही कारण है कि राजनीति हम सब से साप के घेरे की भांति लिपटी हुई है जिससे कितनी भी चेष्टा की जाये बाहर नही निकला जा सकता। मैं उस राजनीति रूपी सर्प से लडना चाहता हूँ। मैं राजनीति मे धर्म को प्रविष्ट करने की चेष्टा कर रहा हूँ।"[33] इसका यही तात्पर्य था कि गाधीजी धर्म को राजनीति से अलग नही करना चाहते थे क्योंकि धर्म राजनीति के विषैलेपन को दूर कर आध्यात्मिक रूप तथा नैतिक आधार प्रदान करता है।

सत्याग्रह सिद्धान्त (The Theory of Satyagraha)

दक्षिण अफ्रीका मे महात्मा गाधी को एक आन्दोलन मे कूदना पडा। व भारतीय जो दक्षिण अफ्रीका चले गय थे उनक साथ वहा बडा अमानवीय व्यवहार किया जाता था। वे अनेक प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक अयोग्यताओ से ग्रसित थे। वहा रहने वाल भारतीयो को इन अयोग्यताओ से मुक्त करान हेतु महात्मा गाधी एक ऐसी पद्धति की खोज मे थे जो जीवन के मूल नैतिक सिद्धान्तो पर आधारित हो। वे चाहते थे कि जो सिद्धान्त व्यक्तिगत जीवन को निर्देशित करते हैं वे ही सामूहिक एव सामाजिक जीवन को नई दिशा प्रदान करें। हरिजन पत्रिका म गाधीजी ने लिखा था—

29 Dhawan, Gopinath, the Political Philosophy of Mahâtma Gandhi p 5
30 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ 709
31 Speeches and Writings of Mahatma Gandhi, p 40
32 Dhawan, Gopinath, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi p 3
33 Romain Rolland, Mahatma Gandhi, London, 1914, p 93

"व्यक्ति की दो अन्तरात्माएँ नहीं हो सकती—एक व्यक्तिगत एव सामाजिक और दूसरी राजनीतिक। मानवीय कार्यों के सभी क्षेत्रों में एक ही नैतिक संहिता का पालन किया जाना चाहिये।........ हमे सत्य और अहिंसा को केवल व्यक्तिगत व्यवहार के लिये ही नहीं, वरन् संघो, समुदायो और राष्ट्रों के व्यवहार का सिद्धान्त बनाना है।"[34]

इसलिये गांधीजी ने सत्य, अहिंसा और न्याय पर ही आधारित एक आन्दोलन का सूत्रपात किया। जो स्थिति दक्षिण अफ्रीका मे थी लगभग वही भारत मे थी। भारत अंग्रेजो के उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, तथा शोषण-नीति से दबा जा रहा था। वास्तव मे सत्याग्रह आन्दोलन का प्रयोग एक व्यापक तथा निश्चित विज्ञान के रूप मे गाधीजी ने भारतीय स्वाधीनता सग्राम मे ही किया।

सत्याग्रह शब्द की उत्पत्ति

दक्षिण अफ्रीका के लोग गोरी सरकार का विरोध पैसिव-रेजिस्टेन्स (passive resistence) द्वारा करते थे। पैसिव-रेजिस्टेन्स का वहाँ पर संकुचित अर्थ किया जाता था। उसे निर्बलो का ही हथियार माना जाता था। उसमे द्वेष की भी गुंजाइश थी और उसका अन्तिम स्वरूप हिंसा मे प्रकट हो सकता था। गांधीजो को न तो पैसिव-रेजिस्टेन्स शब्द ही पसन्द आया और न ही उससे सम्बन्धित उसका व्यावहारिक रूप। भारतवर्ष मे अंग्रेजों के विरुद्ध संग्राम परिचय देने के लिये वे किसी नये शब्द की खोज में थे लेकिन उन्हे कोई उचित शब्द सूझ नहीं रहा था। था। अतः उपयुक्त नामावली की खोज के लिये गाधीजी ने छोटा सा पुरस्कार रख कर "इण्डियन ओपिनियन" के पाठको मे इसके लिये प्रतियोगिता आयोजित की इस प्रतियोगिता के माध्यम से 'सदाग्रह' शब्द सामने आया। सदाग्रह शब्द को अधिक स्पष्ट करने के विचार से गाधीजी ने 'य' शब्द और बढा कर 'सत्याग्रह शब्द बनाया।[35] सत्याग्रह शब्द भारतीय स्वाधीनता संग्राम के संदर्भ मे अधिक प्रचलित एव लोकप्रिय हुआ।

सत्याग्रह का अर्थ सत्य की खोज है। सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ सत्य पर अटल रहना है। महात्मा गाधी सत्याग्रह का जो अर्थ समझते थे उसके अनुसार यह सत्य पर आरूढ रह कर प्रेमपूर्वक स्वयं कष्ट उठाने के लिये तत्पर रहना है। सत्य का उपासक सत्य को हिंसात्मक साधनो से सिद्ध करने का कभी प्रयास नहीं करेगा। सत्याग्रह सत्य की प्राप्ति का अहिंसात्मक साधन है। सत्याग्रही आत्म-कष्ट द्वारा विरोधी को गलत मार्ग से हटाने का प्रयत्न करेगा। वह घृणा का प्रेम से, असत्य को सत्य से, हिंसा को अहिंसा द्वारा विजय प्राप्त करने का प्रयास करता है। यह

34. हरिजन मार्च 2, 1934.

35. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा पृ. 809.

अत्याचारी से घृणा नहीं करता किन्तु अत्याचारी को अपने अन्याय को बनाये रखने में सहायता देने से मना करता है। गांधीजी ने इसे प्रेम बल तथा आत्म बल कहा है।

सत्याग्रह का एक अहिंसात्मक शस्त्र के रूप में प्रतिपादन करना गांधीजी के आध्यात्मिक विचारों का ही विस्तार है। उनका कहना था कि समस्त प्राणी ईश्वर की सन्तान हैं, इसलिये उनमें ईश्वरीय तत्व विद्यमान रहता है। मनुष्य के साथ हिंसा करने का अर्थ उसमें निहित ईश्वरीय शक्तियों का अपमान करना होगा। गांधीजी की धारणा थी कि मनुष्य में ईश्वरीय शक्तियाँ निहित हैं। व्यक्ति चाहे कितना ही भ्रष्ट और पतित क्यों न हो उसका नैतिक सुधार किया जा सकता है। उसकी नैतिक चेतना जागृत कर व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन को गांधी जी सत्याग्रह द्वारा असम्भव नहीं मानते थे।

गांधी का विश्वास था कि हिंसा के द्वारा कभी विजय नहीं हो सकती। यदि हिंसा के माध्यम से विजय उपलब्ध हो भी जाये तो वह कभी स्थाई नहीं रह सकती। हिंसा के द्वारा किसी भी समस्या का समाधान नहीं होता, संघर्ष निरन्तर बना रहता है क्योंकि पराजित पक्ष सदैव बदला लेने का प्रयत्न करता है। इसके विपरीत अहिंसात्मक प्रतिरोध से किसी भी पक्ष की हार नहीं होती। विरोधी अपनी भूल को स्वयं समझ लेता है और स्वेच्छापूर्वक नया व्यवहार प्रारम्भ करता है।

सत्याग्रह सिद्धान्त के अन्तर्गत जीवशास्त्र सम्बन्धी उस सिद्धांत को कोई स्थान नहीं है जिसके अन्तर्गत सबल को ही जीने का अधिकार होता है। यह हाब्स के उन विचारों को भी अस्वीकार करता है जिसके द्वारा यह माना जाता है कि मनुष्य का जीवन सबों का सबों के प्रति संघर्ष है। सत्याग्रह सिद्धान्त इन सबके विपरीत प्रेम, पारस्परिक सहयोग, सामाजिकता तथा मानव प्रगति में विश्वास रखता है। सत्याग्रह उस वेदान्त सिद्धान्त को स्वीकार करता है जिसके द्वारा 'समस्त मानव जीवन को एक' (all life is one) समझा जाता है। या, जैसा कि ईसाई धर्म में उल्लेख किया गया है कि 'हम सब एक दूसरे के सदस्य हैं' (we are members one of another) सत्याग्रह के बिलकुल अनुकूल है।[36]

युगों से यह प्रमाणित लगता है कि सामाजिक नैतिकता, राजनीतिक तथा अन्तर-सामुदायिक नैतिकता से काफी आगे बढ़ी हुई है। राजनीति में विभिन्न समुदायों के मध्य सम्बन्ध स्वार्थ, अविश्वास, घृणा, धोखा, हिंसा तथा युद्ध द्वारा निर्देशित होते हैं। जो सबल है वही अधिकारयुक्त होता है। एक राष्ट्र जब अपने हित की अपेक्षा अपने पड़ोसी राज्य के हित का ध्यान रखता है तो उसे मूर्ख समझा जाता है। आजकल राज्य अपनी समस्याओं का समाधान उन साधनों द्वारा करना चाहते हैं जिनके द्वारा समस्याओं का समाधान कभी नहीं होता। बुराई को बुराई के द्वारा नहीं सुधारा जा सकता तथा घृणा को घृणा के द्वारा नहीं जीता जा सकता।

36 Kripalani, J B, Gandhi His Life and Thought, p 345

गाधीजी का सुभाव था कि मनुष्य जाति को ऐसे विकल्प की खोज करनी चाहिए जो चालाकी से परिपूर्ण, कूटनीति, हिंसा और युद्ध का स्थान ले ताकि विश्व में अन्याय, निरकुशता और क्रूरता समाप्त हो जाय। वास्तव मे गाधीजी ने इस सम्बन्ध मे स्वय ही सत्याग्रह द्वारा मार्ग प्रशस्त किया। गाधीजी के अनुसार हिंसा और युद्ध का सत्याग्रह ही एक ऐसा विकल्प है जो प्रेम और अहिंसा पर आधारित समस्त प्रकार की समस्याओ को सुलभाने मे पूर्ण समर्थ है।37

युद्ध के समर्थको का दावा है कि युद्ध से मनुष्य एवं राष्ट्र मे देशभक्ति, अनुशासन, साहस और वीरता जैसे सद्गुणो का अभ्युदय होता है। गांधीजी के अनुसार इन सद्गुणो का विकास करना युद्ध का ही एकाधिकार नही है। किसी प्रकार का विनाश किये बिना ही सत्याग्रह भी इन सभी गुणों को विकसित करने की क्षमता रखता है। सत्याग्रह द्वारा केवल वीरता और साहस ही नही, वरन् भयहीनता की भी शिक्षा मिलती है। युद्ध मे भाग लेने वाला दूसरों को मृत्यु के घाट उतारना चाहता है, किन्तु स्वय मृत्यु से डरता है। उसे यह भी भय रहता है कि उसके साथी उसे कही छोड़ कर न चले जायँ। सत्याग्रही सिपाही निडर होता है उसे मृत्यु का डर नही होता। उसका सघर्ष खुले मैदान मे होता है। वह चोरी छिपके वार नही करता। सत्याग्रही की अन्तिम विजय निश्चित रहती है क्योकि उसके पास अहिंसा का ऐसा सर्वश्रेष्ठ अस्त्र रहता है जिसका विश्व मे कोई समता नही है। गाधीजी के ही शब्दो मे:—

> "अहिंसा मानव जाति के पास महानतम अस्त्र है। यह उन समस्त अस्त्रों से शक्तिशाली है जिनका निर्माण मनुष्य ने विनाश के लिये किया है।" 38

गाधीजी सत्य और अहिंसा के द्वारा अपने विरोधी मे सुधार करना चाहते थे। सत्याग्रह की एक विशिष्टता यह है कि इसके द्वारा बुरे आदमी का नही बुराई का प्रतिरोध किया जाता है और वह भी घृणा द्वारा नही वरन् प्रेम से। डा० राधाकृष्णन् ने इस विषय मे लिखा है--

> "सत्याग्रह प्रेम पर आधारित है न कि घृणा पर; अपने विरोधी का प्रेम तथा पीड़ा सहकर हृदय-परिवर्तन करना है। यह पाप का प्रतिरोध करता है पापी का नही।"39

सत्याग्रह के विभिन्न रूप

सत्याग्रह का तात्पर्य निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive resistence) नही है। निष्क्रिय प्रतिरोध के अन्तर्गत अहिंसा का प्रयोग एक नीति के रूप मे किया जाता है

37. Ibid, pp. 345-47.
38. Quoted by J. B Kriplani in Gandhi, His life and thought. p. 350.
39. Radhakrishnan, S., (Ed), Mahatma Gandhi, 100 Years, p. 4.

किन्तु परिस्थितियोवश हिंसा का प्रयोग वर्जित नहीं है। गाधीजी ने निष्क्रिय प्रतिरोध को सत्याग्रह के रूप मे स्वीकार नही किया। उनके अनुसार निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बलो का अस्त्र है। इसके विपरीत सत्याग्रह सबलो का अस्त्र है जिसके अन्तर्गत अहिसा को धर्म के रूप मे ग्रहण किया जाता है, तथा हिंसा हर परिस्थिति और रूप मे वर्जित है।

महात्मा गाधी सत्याग्रह को एक ऐसे वट वृक्ष की तरह मानते थे जिसकी अनेक शाखाएँ होती हैं। सत्याग्रह साधन के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमुख पद्धतियो को गाधीजी ने स्वीकार किया था—

(i) असहयोग (Non-co-operation)—असहयोग का अर्थ है कि जिसके विरुद्ध सत्याग्रह किया जाता है उसके साथ असहयोग करें, उससे अपने सम्बन्ध तोड लें तथा ऐसा कोई कार्य न करें जिससे अनैतिक कार्यों को सहयोग अथवा प्रोत्साहन मिले। अग्रेजो के विरुद्ध 1920-21 1930 31, तथा 1942 मे गाधीजी के द्वारा चलाये गये आन्दोलन असहयोग की ही अभिव्यक्ति थे। इन आन्दोलनो म देशवासियो से अपील की गयी कि वे अग्रेज सरकार से किसी भी प्रकार का सहयोग न करें। असहयोग अभिव्यक्ति कई तरीको से हो सकती है जैसे—

(ii) हडताल—इसके अन्तर्गत विरोधस्वरूप सत्याग्रही कार्य को बन्द कर देते हैं। इसका उद्देश्य सरकार एव सम्बन्धित सस्था को अपने पक्ष मे प्रभावित करना है। हडताल का प्रयोग कभी-कभी किसी कार्य के प्रति नाराजगी प्रकट करने के लिए भी किया जाता है। साइमन आयोग के आगमन के समय समस्त देश म हडताल की गई।

(iii) प्रदर्शन—प्रदर्शन किसी नीति या कार्य के विरोध मे जन-शक्ति की अभिव्यक्ति है। स्वाधीनता आन्दोलन के समय देश भर म अग्रेजो के विरुद्ध प्रदर्शन हुआ करते थे।

(iv) बहिष्कार—किसी चीज को स्वीकार नही करना अथवा त्यागना बहिष्कार है। बहिष्कार सामूहिक एव व्यक्तिगत दोनो ही हो सकता है। गाधीजी के नेतृत्व म बहुत से लोगो ने अग्रेजी वस्त्रो का बहिष्कार किया। इसके अलावा अग्रेजी दफ्तरो, न्यायालयो आदि का भी बहिष्कार किया गया। यह सब असहयोग प्रदर्शित करता है।

(v) धरना—धरना का अर्थ जन निन्दा द्वारा किसी चीज की बुराइया को बतलाना तथा उन पर प्रतिबन्ध लगाने की माग करना है। विदेशी वस्त्र तथा शराब की दुकानो के आगे धरना रखकर इन वस्तुओ के दोषो को बतलाकर उन्हे बन्द करने या बहिष्कार करने की सलाह देना धरना के अन्तर्गत आता है।

(vi) सविनय अवज्ञा (Civil disobedience)—सविनय अवज्ञा असहयोग की तुलना म अधिक उग्र तथा अधिक सक्रिय एव आक्रामक अस्त्र है। इसका अर्थ अनैतिक

कानूनों का उल्लंघन करना है। वे सरकार-निर्मित कानून जिन्हें जनता अनैतिक तथा शोषण का साधन समझती है, उन्हें न मानना, उन्हें जानबूझ कर तोड़ना ही सरकार की अवज्ञा करना है। सविनय अवज्ञा का कार्य छिपकर नहीं होता तथा अवज्ञा करने वाला दण्ड से बचने का प्रयत्न नहीं करता। वह दण्ड का निर्भीकतापूर्वक स्वागत करता है।

(vi) हिजरत—गांधीजी के द्वारा समर्थित सत्याग्रह का एक अन्य रूप हिजरत था। हिजरत का तात्पर्य है कि व्यक्ति अपनी इच्छा से अपने स्थाई निवास स्थान छोड़कर चले जाएँ। गांधी जी ने हिजरत का प्रयोग उन लोगों के लिए बतलाया जो यह अनुभव करते थे कि उनको कुचला और दबाया जा रहा है तथा उस स्थान पर वे आत्मसम्मान की रक्षा नहीं कर सकते क्योंकि उनमें शक्ति का अभाव है। गांधीजी ने बारदोली के लोगों से 1928, जूनागढ़, बिट्ठलगढ़ के लोगों से 1939 में हिजरत करने के लिए कहा। इसी प्रकार 1935 में उन्होंने कैथा के हरिजनों को परामर्श दिया कि वे अपना स्थान छोड़कर चले जाएँ क्योंकि हिन्दुओं का उनके प्रति अत्याचारपूर्ण व्यवहार था।

सत्याग्रही अनुशासन (vii)

सत्य एवं अहिंसा के पुजारी का उच्च नैतिक स्तर होना अति आवश्यक है। सत्याग्रह आत्मशक्ति पर आधारित होता है तथा सत्याग्रही की नैतिकता ही उसे आत्मबल प्रदान करती है। गांधीजी चाहते थे कि सत्याग्रह के पुजारी को एक विशेष अनुशासन तथा आचार संहिता के अन्तर्गत रहना चाहिये जिससे उसमें शक्ति, संयम, आत्म-शुद्धि तथा अन्य गुणों का पूर्ण विकास हो सके।

(1) (viii) ब्रह्मचर्य—एक सत्याग्रही के लिए ब्रह्मचर्य पालन करना अति आवश्यक है। परम्परागत अर्थ में ब्रह्मचर्य का तात्पर्य अविवाहित रहना है पर गांधीजी ने ब्रह्मचर्य की बड़ी व्यापक रूप में व्याख्या की है। उनके अनुसार "ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन-वचन-काया से सब इन्द्रियों का संयम।"[40] यह प्रत्येक क्षेत्र में स्वयं पर नियन्त्रण रखना है। यह वह मानसिक स्थिति एवं साधना है जब सत्य और अहिंसा का सेवक एकाग्रचित्त होकर अपने उद्देश्यों की प्राप्ति करता है।

ब्रह्मचर्य का तात्पर्य अविवाहित रहना नहीं है। एक विवाहित व्यक्ति भी ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। गांधीजी के अनुसार विवाह सम्बन्ध मनुष्य के लिए आवश्यक एवं स्वाभाविक है। किन्तु विवाह एक अनुशासन एवं शुद्धि का साधन होना चाहिए। "एक आदर्श विवाह का उद्देश्य शारीरिक सम्बन्धों द्वारा आध्यात्मिक एकता प्राप्त करना है। मानवीय प्रेम ईश्वरीय एवं विश्व प्रेम के लिये आगे बढ़ने का मार्ग है।[41] ब्रह्मचर्य का पालन स्त्री एवं पुरुष दोनों ही समान रूप से कर सकते है।

40. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ, 263.

41. Young India, May 21, 1931, p. 115.

गाधीजी का विचार था कि यदि ब्रह्मचर्य का पालन करना हो तो स्वादेन्द्रियों पर काबू प्राप्त करना चाहिये। "मेरा अनुभव है," गाधीजी ने लिखा है, ' कि जीभ को जीत लेने पर ब्रह्मचर्य का पालन अतिशय सरल है।"[42] "इन्द्रियाँ ऐसी बलवान है कि उन्हे चारो ओर से, ऊपर से और नीचे से—(इस प्रकार) दशों दिशाओं से घेरा जाय तभी वे वश में रहती हैं।[43]

(ix) उपवास—सत्याग्रही के लिये महात्मा गाधी समय-समय पर उपवास का भी सुझाव देते हैं। स्वास्थ्य सिद्धान्त के आधार पर उपवास का महत्त्व तो होता ही है, किन्तु एक सत्याग्रही के लिये यह आत्म-शुद्धि, आत्म-बल, एकाग्रचित्तता और शान्ति का अमूल्य साधन है।

ब्रह्मचर्य स्थिति मे इन्द्रिय दमन के लिये उपवास से बडी सहायता मिलती है। उपवास की सच्ची उपयोगिता वही होती है जहाँ मनुष्य का मन भी देह दमन का साथ देता है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए महात्मा गाधी समय-समय पर उपवास किया करते थे।[44] सत्याग्रही का जीवन सादगीपूर्ण होना चाहिये। उसमें अस्तेय तथा अपरिग्रह आदि के प्रति पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिये। तभी वह सामूहिक सत्याग्रह में जनसाधारण का नेतृत्व कर सकेगा।

अहिंसा का दर्शन (The Philosophy of Non-violence)

सत्याग्रह का मूल आधार अहिंसा का सिद्धान्त है। राजनीति और मानव जीवन को अहिंसा की शिक्षा और व्यवहार महात्मा गाँधी की सबसे बड़ी देन हैं। उन्होंने 1920 में लिखा था "जिस प्रकार हिंसा पशुओं की विधि है, उसी प्रकार अहिंसा मानव जाति की विधि है ...यह वह लक्ष्य है जिसकी ओर मानव समाज स्वाभाविक और अनजाने तौर पर बढ़ता जाता है। मेरे लिये अहिंसा केवल एक दार्शनिक सिद्धात ही नहीं है। यह जीवन का ताना-बाना है, यह मस्तिष्क की वस्तु न होकर हृदय की चीज है।"

महात्मा गाधी साध्य और साधन की एकता में विश्वास करते थे। ईश्वर में उनका विश्वास था ही, सत्य को वे ईश्वर का स्वरूप मानते थे। इसका तात्पर्य 'राम नाम ही सत्य है'। सत्य की प्राप्ति सिर्फ अहिंसा के द्वारा ही हो सकती है। वैसे सत्य और अहिंसा को वे अभिन्न साध्य और साधन मानते हैं। किन्तु मूलतः सत्य साध्य है और अहिंसा साधन।

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि सत्य और अहिंसा के विषय में महात्मा गाधी मूल विचारक नहीं थे। भारत के प्राचीन काल से ही इनकी परम्परा रही है,

42 सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ 261

43 उपर्युक्त, पृ. 262

सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ. 263

लेकिन गांधीजी ने इस प्राचीन परम्परा को बनाये रखने के साथ-साथ अहिंसा को एक नया एवं व्यापक भावार्थ प्रदान किया। प्राचीन ऋषियों की तरह वे अहिंसा को मोक्ष का साधन मानते थे। डॉ० धवन ने इस सम्बन्ध में गाधीजी के विचारों को व्यक्त करते हुए लिखा है—

"अहिंसा का अर्थ है हिंसा को छोड़ने का प्रयत्न, जो जीवन में अनिवार्य है। अहिंसा का लक्ष्य है मनुष्य को शारीरिक बन्धन से छुड़ाना ताकि वह ऐसी स्थिति प्राप्त कर सके जिसमें नाशवान शरीर के बिना जीवन सम्भव हो।"[45]

व्यक्तिगत मोक्ष को साधन के रूप में स्वीकार करने के साथ-साथ गाधीजी ने अहिंसा का प्रयोग बड़े पैमाने पर राजनीतिक और सामाजिक अन्याय से लड़ने के लिए किया। उन्होंने अहिंसा को सामाजिक क्रान्ति का एकसाधन बनाने का प्रयत्न किया।

अहिंसा के विषय में परम्परागत धारणा प्राय. निषेधात्मक रही है। अहिंसा जिसका तात्पर्य हिंसा का अभाव है, निषेधात्मक ही प्रतीत होता है। नकारात्मक दृष्टि से अहिंसा का अर्थ है—

(i) किसी प्राणी की हत्या न करना,

(ii) किसी को शारीरिक कष्ट न पहुचाना,

(iii) किसी को मानसिक कष्ट न पहुचाना; और

(iv) किसी के प्रति अपने मन में घृणा अथवा द्रोह का भाव भी न रखना।

ये सभी विचार निषेधात्मक अहिंसा व्यक्त करते हैं। अन्य शब्दों में, अहिंसा का अर्थ है ससार की किसी भी वस्तु को मनसा, वाचा और कर्मणा क्षति न पहुंचाना।[46] इसका मतलब है कठोर शब्द न बोलना, कड़ी बात न कहना, ईर्ष्या क्रोध, घृणा और क्रूरता से बचना। विशेषत: इसका अर्थ है कि किसी व्यक्ति को अपने शत्रु के प्रति भी बुरे विचार नहीं रखने चाहिए। किन्तु अहिंसा के सकारात्मक अर्थ को गाधीजी ने प्राथमिकता दी थी। सकारात्मक रूप में अहिंसा का सर्वोच्च रूप सब मनुष्यों, बल्कि सब प्राणियों के प्रति सक्रिय प्रेम एवं सद्भावना है।[47]

महात्मा गाधी अहिंसा को मानव का प्राकृतिक गुण मानते थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य स्वभावत: अहिंसा प्रिय है तथा परिस्थितियोंवश ही वह हिंसावान बनता है। मनुष्य की अहिंसात्मक प्रवृत्ति इस बात से प्रमाणित हो जाती है कि आदिम काल का नरभक्षी व्यक्ति आज सभ्य और सुसंस्कृत प्राणी बन गया है। इस प्रकार समस्त मानव इतिहास में मनुष्य की अहिंसात्मक वृत्ति का विकास

45 Dhawan, G. N, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p 64

47 Young India, Vol. II, p. 286

46 हरिजन, सितम्बर 7, 1935.

हुआ है और इसी कारण मानव जाति बढ़ती जा रही है। गांधीजी का विचार था कि अहिंसा के आधार पर ही एक सुव्यवस्थित समाज की स्थापना और मानव प्रगति निर्भर है। यह समस्त जीवों का शाश्वत नियम है।

अहिंसा को गांधीजी ने सब शक्तियों से अधिक शक्तिशाली माना है। यह आत्मिक एवं आध्यात्मिक बल का प्रतीक है। अहिंसा में कठोर हृदय को भी पिघलाने की शक्ति है। यह विद्युत से अधिक निश्चयात्मक और ईथर (ether) से से भी अधिक शक्तिशाली है।[43] बड़ी से बड़ी हिंसा का अहिंसा से मुकाबला किया जा सकता है।

कभी-कभी अहिंसा का अर्थ बुराई को न रोकना या बुराई के सामने झुक जाना या चुपचाप अन्याय को सहन करते रहना समझा जाता है। यह धारणा गलत है। अहिंसा किसी भी रूप या परिस्थिति में बुराई या अत्याचार को सहन करने या उसके समक्ष समर्पण करना नहीं वरन् आध्यात्मिक बल द्वारा प्रतिरोध का आदेश है।

गांधीजी का विश्वास था कि अहिंसा के सफल प्रयोग के लिये हमेशा जन समूह की आवश्यकता नहीं होती। उनके अनुसार एक व्यक्ति ही इसका प्रयोग उसी प्रकार कर सकता है जिस प्रकार लाखों व्यक्ति कर सकते हैं। आत्म-बल और नैतिक साहस वाला एक व्यक्ति हजार व्यक्तियों का काम कर सकता है। सत्याग्रह में सत्याग्रहियों की संख्या या महत्त्व नहीं, एक या थोड़े से ही सत्याग्रही सत्य की लड़ाई जीतने के लिए काफी हैं।

अहिंसा द्वारा सत्याग्रह चलाने का तात्पर्य दबाव डालना या आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, नैतिक या किसी भी दृष्टि से बल प्रयोग नहीं है। वह अपने प्रतिद्वन्द्वियों के हृदय परिवर्तन की अपील करता है। इसका तात्पर्य विरोधी को धमकी देना या उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न भी नहीं है, यह विरोधी को अपनी सच्चाई से प्रभावित कर उसे अपनी बात स्वीकार कराने के लिये बाध्य करता है। महात्मा गांधी निम्नलिखित तीन प्रकार की अहिंसा का उल्लेख करते हैं---

प्रबुद्ध अहिंसा (Enlightened non-violence)

यह साधन-सम्पन्न तथा वीर व्यक्तियों की अहिंसा है। अहिंसा के इस रूप को दुखद आवश्यकता के कारण नहीं, वरन् नैतिक धारणाओं में अडिग विश्वास के कारण ही स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार की अहिंसा स्वीकार करने वाले व्यक्ति में प्रहार करने की पूर्ण क्षमता होती है किन्तु यह विरोधी के प्रति प्रहार करने का इच्छुक नहीं होता। ऐसे अहिंसक व्यक्ति अहिंसा को एक धर्म के रूप में ग्रहण करते हैं तथा किसी भी परिस्थिति में वे मानव-एकता तथा भ्रातृत्व-भावना का

[43] हरिजन, मार्च 14, 1939, पृ० 39

त्याग नहीं करते। गांधीजी इसे सर्वोत्कृष्ट अहिंसा कहते थे। अहिंसा के इस स्वरूप को राजनीति में ही नहीं अपितु जीवन के समस्त पहलुओं में दृढ़तापूर्वक अपनाना चाहिए।[49]

समयोचित अहिंसा (non-voilence based on expediency)

अहिंसा के इस रूप को जीवन के किसी भी क्षेत्र में विशेष आवश्यकतानुसार एक नीति के रूप में स्वीकार किया जाता है यह निर्बल एवं असहाय व्यक्ति का निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive resistence) है जो अहिंसा को नैतिक विश्वास एवं श्रद्धा के कारण ग्रहण नहीं करता। ऐसा व्यक्ति सिर्फ अपनी निर्बलता के कारण ही हिंसा का प्रयोग नहीं करता। अहिंसा का यह रूप प्रबुद्ध अहिंसा जैसा शक्तिशाली साधन नहीं हो सकता। फिर भी यदि ईमानदारी, साहस और सावधानीपूर्वक इसका प्रयोग किया जाय, तो कुछ सीमा तक वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति हो सकती है।[50]

कायरों की निष्क्रिय अहिंसा (passive non-violence of the coward)

यह अहिंसा भय पर आधारित रहती है। डरपोक व्यक्ति अहिंसा का दम इसलिए भरता है क्योंकि वह डरपोक है। वह स्थिति का सामना करने की अपेक्षा भाग खड़ा होता है। गांधीजी कायरता के बिलकुल ही पक्ष में नहीं थे। उनके ही शब्दों में "कायरता और अहिंसा आग और पानी की भांति एक साथ नहीं रह सकते।"[51]

साध्य एवं साधन (The End and the Means)

साधनों की पवित्रता, सत्य और अहिंसा का एक अभिन्न तत्व है। मानव जीवन का, गांधीजी के अनुसार, अन्तिम उद्देश्य स्वयं को जानना या स्वयं से, साक्षात्कार करना या ईश्वर को आमने-सामने देखना, या पूर्ण सत्य की प्राप्ति या मोक्ष प्राप्त करना है। आध्यात्मिक एकता (spiritual unity) में उनका विश्वास था; समस्त मानव प्राणी उसी एकता के विभिन्न अंश है, इसलिए मानव सेवा आध्यात्मिक मोक्ष का तत्कालीन उद्देश्य है। ईश्वर से साक्षात्कार ईश्वर द्वारा निर्मित प्राणियों के माध्यम से ही सम्भव है। गांधीजी ने, इस प्रकार मनुष्य मात्र की सेवा को मोक्ष का सबसे महत्त्वपूर्ण और व्यावहारिक साधन माना है।

महात्मा गांधी 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण' वाले उपयोगितावादी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। इसका तात्पर्य इक्यावन व्यक्तियों के कल्याण हेतु उनचास व्यक्तियों की अवहेलना करना ही होगा। यह सिद्धान्त मानव की आध्यात्मिक एकता के विरुद्ध, हृदयहीन तथा अमानवीय है। सत्य और मानवीय

49. Dhawan, G. N., The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, pp. 70-71.
50. Young India, Vol. I, p. 265.
51. हरिजन, नवम्बर 4, 1939 पृ० 331.

सिद्धान्त तो सिर्फ सर्व कल्याण है। जिसे गाधीजी 'सर्वोदय' कहा करते थे।[52] इसमे समस्त व्यक्तियो के कल्याण की बात को स्वीकार किया जाता है। सर्वोदय, गाधीजी की समस्त विचारधारा का साध्य था।

महात्मा गाधी के अनुसार साध्य एव साधन अभिन्न हैं। साधन सदैव साध्य के अनुरूप होना चाहिये। उन्होने अधिनायकवादी साधन, जिसके अन्तर्गत किसी भी प्रकार के साधन अपनाये जा सकते हैं। कभी भी स्वीकार नही किये। गाधीजी के विचारो मे अच्छे साध्यों की प्राप्ति पवित्र साधनो द्वारा ही होनी चाहिए। साध्य और साधन दोनो का नैतिक होना आवश्यक है। साधना की अनैतिकता निश्चित रूप से साध्य को भ्रष्ट कर देती है। गाधीजी का कहना था साधन एक बीज की तरह है और साध्य एक पेड है। साधन और साध्य मे वह सम्बन्ध है जो बीज और पेड मे।" अत साधना की पवित्रता पर ही साध्य की श्रेष्ठता निर्भर करती है।[53]

राजनीति के क्षेत्र मे गाधीजी ने साधनो की नैतिकता पर अधिक जोर दिया। यहाँ तक कि अग्रेजी साम्राज्यवाद एव शोषण के विरुद्ध, स्वराज्य प्राप्ति के लिये, वे हिंसा और असत्य का प्रयोग करने के लिये तैयार नही थे। गाधीजी ने कहा था—

> 'मेरे जीवन दर्शन मे साधन और साध्य एक दूसरे के पूरक हैं। कुछ कहते है कि साधन आखिर मे साधन ही हैं। मैं कहूँगा कि साधन ही अन्त मे सब कुछ हैं। जैसे साधन हैं वैसे ही साध्य होंगे। साध्य और साधनो के मध्य अलगाव की कोई दीवार नही है। वास्तव मे ईश्वर ने हमे थोडा बहुत नियन्त्रण साधनो पर ही दिया है, साध्य पर बिलकुल नही।'[54]

राज्य के प्रति दृष्टिकोण; अहिंसात्मक राज्य की कल्पना -

महात्मा गाधी दार्शनिक थे, किन्तु राज्य के वतमान या भावी स्वरूप को स्पष्टत उन्होने कही लिपिबद्ध नही किया। भविष्य की कल्पना उन्हे असामयिक प्रतीत होती थी। उन्होने अहिंसा पर आधारित राज्य की रूपरेखा के विषय मे लिखना उचित नही समझा। उनका कहना था कि अहिंसा पर आधारित समाज का जब निर्माण होगा तो वह अवश्य ही आज के समय म पूर्णत भिन्न होगा। यद्यपि गाधीजी ने इस सम्बन्ध मे अपने विचारो को व्यापक रूप से प्रस्तुत नही किया फिर भी उनके विचार-सागर म से राज्य सम्बन्धी विचारो का सकलन किया जा सकता है।

गाधीजी एक दार्शनिक अराजकतावादी थे। वे राज्य को कई कारणों से अस्वीकार करते हैं। राज्य के विरोध मे गाधीजी के निम्नलिखित तर्क थे —

प्रथम, दार्शनिक आधार पर राज्य का विरोध करते हुए गाधीजी का विचार

52 Delhi Diary, Vol I, p 201
53 Young India, vol II, pp 364, 435, 956
54 Quoted by J B Kriplani in Gandhi His Life and Thought, p 349

था कि राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास मे सहायक नही होना। राज्य सत्ता की अनिवार्यता व्यक्तिगत कार्य के महत्त्व का अपहरण कर लेती है। व्यक्ति का नैतिक विकास राज्य पर नही किन्तु उसकी आतरिक इच्छाओ पर निर्भर करता है। अधिक से अधिक राज्य मनुष्य की बाह्य दशाओ को प्रभावित कर सकता है।

द्वितीय, राज्य एक हिंसामूलक सगठन है और इस प्रकार सत्य और अहिंसा के समस्त पहलुओ का विरोधी है। एक अहिंसा के पुजारी होने के नाते महात्मा गाधी हिंसा पर आधारित किसी भी सस्था को स्वीकार नही कर सकते थे। इसके साथ-साथ वे राज्य को हिंसात्मक इसलिये और मानते थे, क्योकि वह निर्धन वर्ग के शोषण मे सहायक होता है। गाधीजी के शब्दो मे—

"राज्य केन्द्रित और सगठित रूप मे हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति एक चेतनशील आत्मवान प्राणी है किन्तु राज्य एक ऐसा आत्महीन यन्त्र है जिसे हिंसा से पृथक नही किया जा सकता क्योकि इसकी उत्पत्ति ही हिंसा से हुई है।"[55]

तृतीय, राज्य के कार्य क्षेत्र मे आजकल निरन्तर वृद्धि हो रही है। राज्य का बढता हुआ कार्य क्षेत्र व्यक्ति मे स्वावलम्बन और आत्मविश्वास के गुणो को विकसित नही होने देता। इस सम्बन्ध मे गाधीजी ने एक स्थान पर लिखा है:—

"मैं राज्य की शक्तियो मे वृद्धि को बड़े भय तथा शंका की दृष्टि से देखता हूँ, क्योकि बाह्य रूप से राज्य देखने मे शोषण का विरोधी तथा भलाई का कार्य करता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु व्यक्तित्व का विनाश कर यह मनुष्य जाति को अधिक से अधिक हानि पहुंचाता है। हम ऐसे अनेक उदाहरण जानते हैं। जहाँ मनुष्य ने एक संरक्षक के रूप मे कार्य किया है, किन्तु हमे ऐसा कोई उदाहरण नही मिलता जहाँ राज्य का अस्तित्व वास्तव में दरिद्रो के कल्याण के लिये रहा हो।"[56]

एक आदर्श रूप मे महात्मा गाधी राज्य उन्मूलन के पक्ष में थे। किन्तु वर्तमान परिस्थितियो मे व्यावहारिकता के आधार पर वे एकदम तथा हिंसा द्वारा राज्य को समाप्त करने के पक्ष मे नही थे। वे मनुष्य को फिलहाल इतना पूर्ण नही मानते थे कि वह बिना राज्य के अपनी व्यवस्था स्वय संचालित कर सके। "मनुष्य जाति उस स्थल पर निवास करती है जहाँ सृष्टि के पाशविक राज्य और नैतिक राज्य की सीमा मिलती है।"[57] इसलिये समाज मे राज्य तथा हिंसा का पूर्णरूपेण बहिष्कृत करना सम्भव नही।

55. Bose, N. K., Studies in Gandhism, p. 202;
Young India, July 2, 1931, p. 192.
56. Bose N. K., Studies in Gandhism, pp 202—04
57. Young India, Vol I, p. 253.

राज्य-विहीन समाज की स्थापना के विषय में गांधीजी की कुछ बातें स्पष्ट थीं। प्रथम, वे विकासवादी थे। ऐसे समाज की रचना के लिए यदि एक-एक कदम भी आगे बढ़ा जाय तो गांधीजी इसे सन्तोषजनक मानते थे। द्वितीय, जब तक राज्य-विहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती गांधीजी राज्य के अधिकारों को पूर्णत सीमित करने के पक्ष में थे। राज्य को एक आवश्यक बुराई समझकर गांधीजी ने उसके प्रभाव और शक्ति को कम से कम करने का प्रयत्न किया। उनका सुझाव था कि राज्य को कम से कम कार्य अपने हाथ में लेने चाहिये तथा व्यक्ति के जीवन में न्यूनतम हस्तक्षेप करना चाहिये। वे अमरीकी अराजकतावादी हेनरी थोरो के इस विचार से सहमत थे कि 'सर्वोत्तम सरकार वह है जो कम से कम शासन करती है।"

तृतीय उन्होंने सत्ता के विकेन्द्रीकरण के विषय पर बल दिया। सत्ता का केन्द्रीकरण सदैव ही हानिकारक रहा है। विकेन्द्रीकरण के विषय में गांधीजी को भारत के प्राचीन स्वावलम्बी ग्राम-समाजों से प्रेरणा मिली। उनका नारा था--- 'गांव की वापस चलो' (Back to the village) क्योंकि वे ग्राम-स्वराज में ही भारत की आत्मा का प्रतिबिम्ब देखते थे। राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी ग्राम का चित्र-चित्रण करते हुये गांधीजी ने लिखा है —

> मेरे ग्राम स्वराज्य का आदर्श यह है कि प्रत्येक ग्राम एक पूर्ण गण-राज्य हो। अपनी आवश्यक वस्तुओं के लिए वह अपने पड़ोसियों पर निर्भर नहीं रहे। इस प्रकार खाने के लिये अन्न और कपड़ों के लिये रुई की फसल पैदा करना, प्रत्येक ग्राम का पहला कार्य होगा। ग्राम की अपनी नाट्य-शाला, सार्वजनिक भवन और पाठशाला भी होनी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा अन्तिम कक्षा तक अनिवार्य होगी। यथासम्भव प्रत्येक कार्य सह-कारिता के आधार पर किया जायगा। गांव का शासन पांच व्यक्तियों की पंचायत द्वारा संचालित होगा। पंचायत ही गांव की व्यवस्थापिका सभा, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका सब कुछ होगी।"[58]

चतुर्थ, गांधीजी के सम्प्रभु सिद्धान्त का भी खण्डन किया। वे राज्य को सम्प्रभु सम्पन्न एवं सर्व-शक्तिशाली संस्था मानने के लिए कभी तैयार नहीं थे। गिल्ड समाजवादियों तथा बहुलवादियों की भांति गांधीजी राज्य को समाज में अन्य संस्थाओं जैसा ही समझते थे। राज्य के एक संस्था के रूप में उतने ही अधिकार हैं जितने दूसरी संस्थाओं के। गांधीजी द्वारा सम्प्रभु सत्ता पर प्रहार उनके राज्य सम्बन्धी अन्य विचारों का ही विस्तार है।

प्रजातन्त्र एवं प्रतिनिधि प्रणाली

विदेशी शासन को समाप्त करने के साथ-साथ गांधीजी देश में सभी प्रकार के शोषण से रहित लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते थे। इस उद्देश्य

58. Harijan, July 28, 1946, p 236

को ध्यान में रखते हुए गाधीजी ने राष्ट्रीय आन्दोलन काल मे ही रचनात्मक कार्य–क्रमों को प्रारम्भ कर दिया था ."[59]

महात्मा गाधी लोकतन्त्र की परम्परागत प्रणालियो के आलोचक थे। पश्चिमी राज्यो मे लोकतन्त्र केवल नाम का ही है। ये लोकतन्त्र व्यवस्थाएँ हिंसा, अस्त्र–शस्त्र की होड, पूंजीवाद, शोषण, राजनीतिक अस्थिरता, राजनीतिक भ्रष्टाचार तथा, नेतृत्व की निर्धनता (Poverty of leadership) पर आधारित है।[60]

ससदीय व्यवस्था एवं प्रतिनिधि प्रणाली को भी गाधीजी ने अपनी आलोचना से अछूता नहीं छोडा। इंग्लैंड की ससद को गाधीजी ने एक 'बाँझ औरत' की संज्ञा दी जो किसी कार्य के योग्य नहीं है। ससद के सदस्य अपने स्वार्थ से प्रेरित होते हैं तथा ससद भिन्न-भिन्न मन्त्रिमण्डलों के प्रति अपनी श्रद्धा का परिवर्तन करती रहती है।[61] इसी प्रकार आधुनिक प्रतिनिधि प्रणाली को गांधीजी ने त्रुटिपूर्ण बतलाया है। आजकल के प्रतिनिधि वास्तव मे जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

भारतीय परिस्थितियों के सन्दर्भ मे गाधी जी कुछ समय के लिये ससदीय व्यवस्था बनाये रखने के पक्ष मे थे, किन्तु वे इस व्यवस्था मे परिवर्तन चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि ससद या संसदीय सरकार अपने हाथों मे शक्ति सचय कर ले। संसद एव सरकार को जनहित मे बड़े ही व्यवस्थित एव अनुशासित ढंग से कार्य करना चाहिये।

महात्मा गांधी अप्रत्यक्ष प्रतिनिधि प्रणाली के पक्ष मे थे, किन्तु उनकी प्रतिनिधि प्रणाली का दूसरा ही स्वरूप था। उनके अनुसार भारत के सात लाख ग्राम अपने लिए जन-इच्छा के अनुसार सगठित करेंगे। ये ग्राम मिलकर अपने-अपने जिलो की शासन व्यवस्था का प्रबंध करेंगे। जिलो के द्वारा प्रान्तो के प्रशासन का चयन होगा। अन्त मे प्रान्तो के द्वारा राष्ट्रीय सरकार का संगठन एव चयन किया जायेगा। गांधीजी का विचार था कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक इकाई का महत्त्व होगा। सबसे पहले वे अपने शासन का प्रबन्ध करेंगे और साथ ही साथ अगली सीढी वाले क्षेत्र के प्रशासन मे भी योगदान देंगे।[62]

मतदाताओ की योग्यता के विषय मे भी गाधीजी के विचार उल्लेखनीय हैं। वे प्रत्येक स्त्री-पुरुष जिसकी आयु इक्कीस वर्ष की हो चुकी है मतदान के योग्य मानते हैं। सम्पति या पद या शैक्षणिक आधार को वे मतदाता की योग्यता का आधार स्वीकार नहीं करते। उनके विचार से वह व्यक्ति जो शारीरिक श्रम करता है,

59 Kripani, J B, Gandhi : His Life and Thought, p 352.
60. Fischer, Louis, A Week with Gandhi, pp. 82-83.
61 Dhawan, G N, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p 295
62. Fischer, Louis, A Week with Gandhi, p. 55;
Harijan, July 26, 1942, p. 238.

वही वास्तव में मतदान के योग्य होना चाहिए। इस प्रकार गांधीजी श्रम-मताधिकार के पक्ष में थे।[63]

महात्मा गांधी व्यक्ति को साध्य तथा राज्य को साधन मानते हैं। सैद्धान्तिक रूप में महात्मा गांधी राज्य का उन्मूलन चाहते हैं। व्यवहार में वे राज्य के अस्तित्व को तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसकी सत्ता को सीमित एवं विकेन्द्रित करने के पक्ष में हैं। यह सब कुछ उनके विचारों के अनुकूल ही है, क्योंकि वे व्यक्ति के विकास के सामने किसी प्रकार की बाधा नहीं चाहते। इसलिए राज्य के जिस अस्तित्व को वे स्वीकार करते हैं उनका उद्देश्य व्यक्ति का ही विकास करना है। वे राज्य को न तो गौरवान्वित करने के पक्ष में हैं और न ही वे उसे किसी भी प्रकार साध्य मानने को तैयार हैं।

अधिकार तथा कर्त्तव्य

गांधीवादी विचारों में अधिकारों का आधार मनुष्य की दैवी प्रकृति है। मनुष्य में ईश्वर का अंश विद्यमान है। मनुष्य अपनी नैतिक प्रकृति का विकास करके मोक्ष प्राप्त करना अपने जीवन का उद्देश्य समझता है। अतः ईश्वरीय नियमों का पालन करने का मनुष्य को जन्मसिद्ध अधिकार होगा। गांधीजी के अनुसार मनुष्य के सभी अधिकार इस प्रमुख अधिकार से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य का नैतिक व्यक्तित्व प्रत्येक दृष्टि से अनुल्लंघनीय है।

महात्मा गांधी ने अधिकार और कर्त्तव्यों के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। एक दृष्टिकोण से उन्होंने कर्त्तव्यों को अधिक महत्त्व दिया। उनका कहना था कि अधिकार कर्त्तव्यों से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए, अधिकार उसे स्वतः मिल जायेंगे। गांधीजी के शब्दों में—

> "यदि हम अपने कर्त्तव्यों का पालन करें, तो हमें अपने अधिकारों की खोज में दूर नहीं जाना पड़ेगा। यदि हम कर्त्तव्यों का पूरा किए बिना अधिकारों के पीछे दौड़ने लगें तो वे मृग-मरीचिका की भांति हम से दूर भागते जायेंगे। कर्म कर्त्तव्य है, फल अधिकार है।"[64]

महात्मा गांधी स्वतन्त्रता अधिकार के प्रबल समर्थक थे। उनका कहना था कि व्यक्ति को आचरण तथा अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए, यदि उनकी स्वतन्त्रता दूसरों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करती। मनुष्य की स्वतन्त्रता पर केवल सामाजिक कर्त्तव्यों का ही अंकुश हो सकता है। गांधी जी अपने विचार विरोधियों का भी सम्मान करते थे तथा उन्हें विरोध करने के लिए प्रोत्साहित करते थे। स्वराज के मामले लेकर गांधीजी और पंडित जवाहरलाल नेहरू में मतभेद

63 Harijan, January 2, 1937, p 27.
64 Gandhi, M. K., To the Princes and their People, p 10

उत्पन्न हो गये थे। जनवरी 16, 1928, को साबरमती आश्रम से पंडित नेहरू को एक पत्र मे इस मतभेदो के विषय में लिखा:—

"मैं यह चाहता हूँ कि आप को मेरे विचारो के विरुद्ध खुला संघर्ष करना चाहिये। क्योंकि अगर मैं गलत हूँ तो मैं देश की अपार क्षति कर रहा हूँ, और इस प्रकार जब इसका आपको पता चल जाय तो आप को मेरे विरुद्ध विद्रोह अवश्य करना चाहिए।"[65]

महात्मा गांधी के अनुसार बहुसंख्यकों को अल्पसंख्यकों के विचारों का दमन करने का अधिकार नही दिया जा सकता। वे अल्पसंख्यकों के दृष्टिकोण का आदर करते थे। उसका कहना था कि यदि अल्पसंख्यक अपने दृष्टिकोण को उचित समझते हैं तो उसे मनवाने का उन्हे पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे एक स्थल पर उन्होने कहा था:—

"बहुसंख्यक शासन को सीमित क्षेत्र मे ही स्वीकार किया जा सकता है, अर्थात् व्यापक रूप मे व्यक्ति को बहुसंख्यकों का आदेश मान लेना चाहिए। किन्तु हर विषय मे बहुसंख्यकों के सामने समर्पण करना दासता है।"[66]

जहाँ तक धर्म और नैतिकता का सवाल है, गाधीजी का कहना था कि इन मामलो मे बहुसंख्यकों के आदेश का कभी भी पालन नही करना चाहिये चाहे उसके परिणाम कुछ भी क्यों न हों।

समानता का अधिकार गाधीवाद का एक तार्किक तत्व है। वे सभी प्राणियों में एक सी आत्मा तथा समान नैतिक तत्वों का विद्यमान होना मानते थे, इसलिये प्रत्येक दृष्टि से सब मनुष्य समान हैं। राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों मे गाधीजी का विचार था कि सभी को नस्ल, धर्म, लिंग आदि के भेदभाव के बिना समान अधिकार मिलने चाहिए। भारतीय सामाजिक जीवन मे अस्पृश्यता (untouchability), तथाकथित नीची जातियों (हरिजनों) के प्रति जो व्यवहार था वह समानता के अधिकार पर एक कलंक था। पिछड़े हुए वर्ग के उत्थान के लिये, तथा अस्पृश्यता के विरुद्ध महात्मा गाधी ने जो संघर्ष किया, मानव इतिहास मे शायद ही किसी ने किया हो। इस सम्बन्ध मे उनके विचारो की अभिव्यक्ति भारतीय संविधान के तृतीय खण्ड मे पूर्णत: होती है।

अपराध एवं दण्ड

गाधीजी के अनुसार समाज की असफलताओ एवं बुराइयो के कारण ही मनुष्य अपराध करता है। अहिंसात्मक राज्य मे अपराध हो सकते है, किन्तु अपराधियों के

65. Nehru, Jawahar Lal, A Bunch of Old Letters, Asia Publishing House Bombay, 1958 pp 56-58.

66 Young India, Vol I p. 864.

साथ अपराधियों जैसा व्यवहार नहीं किया जायगा। अहिंसात्मक राज्य की व्यवस्था नैतिक शक्ति पर आधारित होगी। इसलिये अपराध सम्बन्धी समस्याओं का अहिंसात्मक ढंग से ही समाधान किया जायगा।

सामान्यत: महात्मा गांधी अपराधी को चाहे उसने हिंसात्मक अपराध ही क्यों न किया हो, बन्दीगृह में रखकर दण्ड देने के पक्ष में नहीं थे। वैसे वे दण्ड व्यवस्था को ही उचित नहीं मानते थे। किन्तु यह एक आदर्श था। पर जो भी दण्ड व्यवस्था अहिंसात्मक राज्य अपनायेगा वह प्रतिकार या आतंक पैदा करने के उद्देश्य से नहीं की जायेगी। गांधीजी के अनुसार दण्ड सुधारवादी सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिये। इस दण्ड प्रणाली में अपराधी को यातना देना, डराना, धमकाना आदि का अन्त हो जायेगा। मृत्युदण्ड का प्रश्न ही नहीं उठता। मृत्युदण्ड अहिंसा सिद्धान्त के पूर्ण विपरीत है।

सुधारवादी दण्ड व्यवस्था में अपराधी को सुधारने का पूर्ण प्रयत्न किया जायेगा। बन्दीगृहों को सुधारगृहों, वर्कशॉप तथा शैक्षणिक संस्थाओं में परिवर्तित कर देना चाहिये। गांधीजी का विचार था कि अपराधियों के हृदय-परिवर्तन का प्रयत्न होना चाहिये। जिस समय उन्हें बन्दीगृह में रखा जाय तो उन्हें किसी कला आदि का प्रशिक्षण देना चाहिये, ताकि वहां से जाने के बाद अपराधी स्वावलम्बी और एक अच्छे नागरिक की भांति अपना जीवन व्यतीत कर सकें।[67]

गांधीवादी राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रीयवाद

महात्मा गांधी सही अर्थों में राष्ट्रवादी थे। उनका सारा जीवन भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में बीता। उन्होंने देश का राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय पोशाक, राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध मार्ग दर्शन किया, लेकिन गांधीजी संकीर्ण या उग्र राष्ट्रवाद के उपासक नहीं थे। स्वदेशी सिद्धान्त के सन्दर्भ में गांधीजी ने कहा कि यह बड़ा व्यापक सिद्धान्त है, जो निकट पड़ोस से लेकर सम्पूर्ण विश्व को अपने में समेटे हुए है। इसलिए उनके अन्तर्राष्ट्रीयवाद तक पहुंचने के लिए कई संस्थाओं की सेवा आवश्यक थी। उनका कहना था कि मनुष्य परिवार, पड़ोस, गांव, प्रदेश, राष्ट्र इन सब को पार करके ही अन्तर्राष्ट्रवाद के आदर्श तक पहुंच सकता है। उनका विश्वास था कि मनुष्य राष्ट्रवादी हुए बिना अन्तर्राष्ट्रवादी नहीं हो सकता। अन्तर्राष्ट्रवाद तभी सम्भव हो सकता है जब कि पहले राष्ट्रवाद एक तथ्य बन जाये तथा विभिन्न देशों के लोग संगठित होकर एक व्यक्ति के रूप में कार्य करने लगें। वे भारत की सेवा को भी अन्तर्राष्ट्रीयता का एक अंग मानते थे। उन्हीं के शब्दों में—

"मैं भारतवर्ष का उत्थान इसलिए चाहता हूं ताकि सम्पूर्ण विश्व का हित हो सके। मैं भारतवर्ष का उत्थान दूसरे राष्ट्र के विनाश पर नहीं-

67 Dhawan, G N, Political philosophy of Mahatma Gandhi, pp 304-306

चाहता। मैं उस राष्ट्र-भक्ति की निन्दा करता हूँ जो हम दूसरे राष्ट्रों के शोषण तथा मुसीबतो से लाभ उठाने के लिये प्रोत्साहित करती है।"[68]

इस प्रकार गाधीजी की राष्ट्रीयता ही अन्तर्राष्ट्रीयता थी। किन्तु आक्रामक राष्ट्रवाद की उन्होंने भर्त्सना की। वे साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने इस सिद्धान्त का खडन किया कि पिछड़े हुए राष्ट्रों की प्रगति एव स्वतन्त्रता दूसरे राज्यों के सरक्षण मे रह कर ही सम्भव है। उनका विश्वास था कि प्रत्येक राष्ट्र स्वराज्य के लिये उपयुक्त होता है।

महात्मा गाधी राज्यसत्ता के विषय मे सार्वभौमवादी नही थे। उनका आदर्श था कि ससार के विभिन्न राज्य अपने लिये एक विश्व सगठन मे लीन होकर समग्र एवं एकीकृत मानव समाज की स्थापना करें। यह इसलिये और आवश्यक था कि कोई राष्ट्र शेष ससार से पृथक रह कर प्रगति नही कर सकता। मानव जाति का कल्याण इसी मे है कि सब राज्य मिलकर सहयोग स्थापित करें। प्राचीन हिन्दू आदर्श की भांति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श मे उनकी पूर्ण श्रद्धा थी।

महात्मा गांधी के आर्थिक विचार

महात्मा गाधी के आर्थिक दर्शन के मूल मंत्र अस्तेय (non-stealing), अपरिग्रह (non-possession), रोटी के लिये श्रम (bread-labour) और स्वदेशी (swadeshi) आदि सिद्धान्त है। ये सब सिद्धान्त सत्य और अहिंसा में निहित हैं।

अस्तेय व्रत (vow of non-stealing)

सत्य का पालन एवं समस्त मानव जाति को प्रेम करने वाला कभी भी चोरी नही करेगा। अस्तेय अथवा चोरी न करने के सिद्धान्त की महात्मा गाधी ने व्यापक व्याख्या की है। इसका तात्पर्य किसी दूसरे की वस्तु उसकी आज्ञा के बिना लेना ही ही नही; किन्तु इसके अलावा इसका और भी व्यापक अर्थ है। एक व्यक्ति उन चीजो की प्राप्ति करे जिनकी उसे आवश्यकता नही, दूसरे की वस्तु को प्राप्ति करने की इच्छा करना, अपनी इच्छाओ मे निरन्तर वृद्धि करना, भविष्य मे किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये पहले से ही प्रयत्न करना आदि ऐसे उदाहरण है जो अस्तेय व्रत के विरुद्ध है। वे माता-पिता जो अपने बच्चो से छिप कर कोई चीज खाते हैं गाधीजी के अनुसार, यह भी एक प्रकार की चोरी है। महात्मा गाधी की अर्थ व्यवस्था वास्तव मे अति आवश्यक और पारस्परिक कल्याण की वस्तुओ की उपलब्धि पर आधारित है[69]

अपरिग्रह व्रत (vow of non-possession)

अपरिग्रह अस्तेय व्रत का ही विस्तार है। इसका तात्पर्य उन वस्तुओ का परित्याग है जिनकी तत्काल भविष्य मे आवश्यकता न हो। पूर्ण अपरिग्रह का अर्थ

68 Young India, April 4, 1929

69 Dhawan, G. N, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p. 83.

पूर्ण त्याग है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति को न तो घर न कपड़े और न कल के लिये अन्न का संग्रह रखना चाहिये वरन् दैनिक भोजन के लिये भगवान पर निर्भर करे। इस प्रकार अपरिग्रह का आशय भौतिक वस्तुओं पर निर्भर न रहकर व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त करना है। गांधीजी का यह विचार वास्तव में साम्यवादियों से भी अधिक उग्र है।[70]

गांधीजी के अनुसार पूर्ण अपरिग्रह अव्यावहारिक है, लेकिन यदि हम शनैः शनैः अपरिग्रह के क्षेत्र में प्रयत्न करें तो हम एक सीमा तक समाज में वह समता प्राप्त कर सकते हैं जो अन्य साधनों से नहीं की जा सकती।[71] गांधीजी यह भी स्वीकार करते थे कि किसी सीमा तक सुविधा एवं आराम की वस्तुएँ सत्याग्रही की नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति के लिये आवश्यक हैं। किन्तु इन आवश्यकताओं की सन्तुष्टि एक निश्चित सीमा तक ही होनी चाहिए, अन्यथा वह सत्याग्रही को शारीरिक और बौद्धिक दृष्टि से पतित कर देगी। सत्याग्रही को अपनी आवश्यकताओं में वृद्धि नहीं करनी चाहिए। उसकी आवश्यकताएँ केवल उसकी सामान्य सुविधा के ही अनुपात में होनी चाहिए। वे वस्तुएँ जो दूसरे व्यक्तियों को उपलब्ध न हों सत्याग्रही को ग्रहण नहीं करनी चाहिये। सत्याग्रही सिर्फ उन वस्तुओं को ले सकता है जिनकी दूसरों को आवश्यकता नहीं हो। ऐसी वस्तुओं की प्राप्ति करना किसी भी प्रकार की हिंसा एवं शोषण से सम्बन्धित नहीं होनी चाहिये।

3 ट्रस्टीशिप सिद्धान्त अथवा आदर्श (Ideal of Trusteeship)

अपरिग्रहव्रत के साथ ही गांधीजी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त जुड़ा हुआ है। गांधीजी का विश्वास था कि बड़े बड़े उद्योगों की स्थापना से, या किसी अन्य प्रकार से, सम्पत्ति का सचय समाज के अन्य सदस्यों के सहयोग के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार धनवान एवं साधन-सम्पन्न व्यक्तियों को दूसरों का शोषण कर अपने हित में धन व्यय करने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिये।

वैसे महात्मा गांधी, यदि अहिंसा द्वारा सम्भव हो सके तो समस्त सम्पत्ति को समाज हित में लेने के पक्ष में थे। लेकिन जब तक साधन-सम्पन्न व्यक्ति यह करने को तैयार न हों, उन्हें अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करना चाहिए। वे अपनी सम्पत्ति के ऊपर समाज की ओर से स्वयं को एक संरक्षक अथवा ट्रस्टी समझें तथा सम्पत्ति का प्रयोग समाज हित में करें।

ट्रस्टी को स्वयं भी सामाजिक कार्यकर्ता समझना चाहिए तथा ट्रस्टी के रूप में वे जो सेवा करें उसी अनुपात में उन्हें पारिश्रमिक मिलना चाहिए। उन्हें कितना पारिश्रमिक मिले इसका निर्धारण राज्य करेगा।

70 Ibid, p 84
71 Bose, N K , Studies in Gandhism, Calcutta, 1947, p 201

मूल ट्रस्टी (original trustee) को अपना उत्तराधिकारी चुनने का अधिकार हो तथा अन्तिम रूप मे राज्य की स्वीकृति आवश्यक होनी चाहिए। इस प्रकार गाधीजी व्यक्ति एवं राज्य दोनों को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करते हैं। एक ट्रस्टी का उत्तराधिकारी सिर्फ समाज ही हो सकता है।

महात्मा गाधी उत्तराधिकार मे प्राप्त या बिना परिश्रम के धन के विरोधी थे। जब कोई व्यक्ति अपनी ट्रस्ट-सम्पत्ति का दुरुपयोग करता है तब गाधीजी का सुझाव था कि राज्य न्यूनतम शक्ति का प्रयोग कर उस ट्रस्ट को अपने अधिकार मे लेकर सुधारने का प्रयत्न करे।

महात्मा गाधी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का विवेचन करने से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं:—

प्रथम: यह सिद्धान्त वर्तमान व्यवस्था को समता पर आधारित व्यवस्था मे परिवर्तन करने का प्रयत्न है। यह पूंजीवाद को कोई सरक्षण प्रदान नही करता बल्कि उसे स्वयं को सुधारने का एक अवसर प्रदान करता है।

द्वितीय, यह सम्पत्ति के निजी स्वामित्व को स्वीकार नहीं करता।

तृतीय, यह सम्पत्ति के विषय में समाज हित को ध्यान मे रखते हुए राज्य के हस्तक्षेप की स्वीकृति देता है।

चतुर्थ, इसके द्वारा मनुष्यों की न्यूनतम और अधिकतम आय को निश्चित करने का सुझाव मिलता है।

पंचम, आर्थिक उत्पादन का सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा निर्धारण होना चाहिए न कि किसी की व्यक्तिगत इच्छाओं द्वारा।

ट्रस्टीशिप सिद्धान्त के विरुद्ध आलोचकों का कथन है कि पूंजीपति इस सिद्धान्त से प्रभावित नही हो सकते। वे अहिंसात्मक तरीकों से अपनी व्यवस्था मे परिवर्तन नहीं करेंगे। ट्रस्टीशिप सिद्धान्त पूंजीपतियों को अपनी स्थिति दूसरे ढंग से सुदृढ करने मे सहायता देगा। इस प्रकार यह सिद्धान्त न तो प्रभावशाली है और न व्यावहारिक। गाधीजी ने इन आलोचनाओं का पूर्ण खण्डन किया है। उन्ही के शब्दों मे:-

> "मेरा ट्रस्टीशिप सिद्धान्त कोई क्षणिक तथा निश्चय ही किसी प्रकार का छल नही है। मुझे विश्वास है कि अन्य सिद्धान्तों के बाद भी प्रचलित रहेगा। इसके पीछे दर्शन और धर्म की शक्ति है। यदि धनी व्यक्ति इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य नही करता तो इससे यह सिद्धान्त गलत नहीं हो जाता, यह उस धनी व्यक्ति की कमजोरी ही प्रदर्शित करता है। इस सिद्धान्त के अलावा और कोई सिद्धान्त अहिंसा के अनुरूप नही हो सकता।"72

72 Quoted by Dhawan, G. N, The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, p 56.

शारीरिक श्रम अथवा रोटी के लिए श्रम (bread labour)

रोटी के लिए श्रम सम्बन्धी अर्थशास्त्र का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने खाने और पहनने के लिए शारीरिक श्रम करना चाहिए। रोटी जीवन की परम आवश्यकता है इसलिए इसे प्राप्त करने के लिए उत्पादक श्रम करना आवश्यक है। जो व्यक्ति बिना शारीरिक श्रम के भोजन करता है वह चोर है, क्योंकि वे व्यक्ति जो कोई शारीरिक श्रम किये बिना ही अपनी आवश्यकताओं में निरन्तर वृद्धि करते हैं व दूसरों के श्रम का शोषण करते हैं।

चूंकि भोजन आवश्यकताओं में भी सबसे आवश्यक है कृषि से सम्बन्धित श्रम ही आदर्श शारीरिक श्रम होगा। यदि यह सम्भव न हो सके तो व्यक्ति को अन्य आवश्यकताओं से सम्बन्धित श्रम जैसे, चरखा कातना, बढ़ई का कार्य, लोहार का कार्य करना चाहिए। इन सब में गांधीजी की प्राथमिकता चरखा कातने की थी।

गांधीजी के अनुसार मस्तिष्क का कार्य (intellectual labour) शारीरिक श्रम के अन्तर्गत नहीं आता। शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति शारीरिक श्रम से ही होनी चाहिए। बौद्धिक श्रम का महत्त्व अवश्य है किन्तु वह शारीरिक श्रम का विकल्प नहीं हो सकता। किसी भी व्यक्ति को शारीरिक श्रम से छुटकारा नहीं मिलना चाहिए। वास्तव में शारीरिक श्रम बौद्धिक कार्य को और निखार देता है। गांधी जी का विचार था कि शारीरिक श्रम तथा बौद्धिक श्रम दोनों के लिए समान वेतन या पारिश्रमिक होना चाहिए।

रोटी के लिए श्रम को गांधीजी सर्वश्रेष्ठ सामाजिक सेवा मानते थे, किन्तु यह स्वेच्छा पर आधारित होना चाहिए। यदि मनुष्य ने शारीरिक श्रम की महत्ता को समझ लिया तो किसी भी देश में भोजन और कपड़े का अभाव नहीं हो सकता। इसके अलावा शारीरिक श्रम से शरीर स्वस्थ रहता है तथा बीमारी आदि भी पास नहीं आने पाती। रोटी के लिये श्रम बुद्धि और शरीर दोनों में समन्वय स्थापित करता है।"[73]

मशीनयुगीय सभ्यता का विरोध

महात्मा गांधी बड़ी-बड़ी मशीनों के व्यापक प्रयोग तथा मशीनयुगीय सभ्यता के विरोधी थे। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि मशीन प्रयोग का वे पूर्णतः विरोध करते थे। उनका विश्वास था कि मशीन का प्रयोग तब तक ठीक है जब तक वह मनुष्य की सेवा करे, मनुष्य में गुलामी और आलस्य की प्रवृत्ति में वृद्धि न करे। वे छोटी-छोटी मशीनों के प्रयोग का स्वागत करते थे क्योंकि इससे श्रम की बचत होती है। भारत के सन्दर्भ में उनका कहना था कि बड़े पैमाने पर मशीनों का उस समय तक

[73] इस सम्बन्ध में गांधीजी के विचारों के लिये देखिये—
Harijan, June 1 1935, Harijan, June 1, 1939., Harijan, September 7 1947

प्रयोग नही होना चाहिये जब तक भारत की महान एवं असीमित जन-शक्ति और पशु-शक्ति का उपयोग न कर लिया जाय।

मशीनयुगीय सभ्यता से, गाधीजी के अनुसार, नैतिकता का पतन हुआ है। मशीन औद्योगीकरण को जन्म देती है। औद्योगीकरण से शोषण को प्रोत्साहन मिलता है, बेकारी मे वृद्धि होती है क्योंकि मनुष्य के श्रम का स्थान मशीनें ले लेती हैं, उत्पादन विशेष क्षेत्रो मे केन्द्रित हो जाता हैं; तथा केन्द्रीकृत उत्पादन के परिणाम-स्वरूप राजनीतिक शक्ति का भी केन्द्रीयकरण हो जाता हैं, जो लोकतन्त्र व्यवस्था की प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध करता हैं। इसके अलावा इससे परिवारिक एकता और बड़े परिवार के प्रति श्रद्धा को बडा धक्का लगता है। अन्य शब्दों मे, गाधीजी का विचार था कि मशीन और मानव शक्ति का इस प्रकार समन्वय किया जाय कि मशीन को मनुष्य का स्थान न लेने दिया जाय तथ वहां मानव व्यक्तित्व को न कुचल दे।[74]

कुटीर उद्योगों का समर्थन

औद्योगीकरण और मशीनीकरण का विकल्प, गाधीजी के अनुसार, कुटीर उद्योगो को प्रोत्साहन देने मे हैं। भारत की पूर्ण जनशक्ति को रोजगार देने, आर्थिक सत्ता को केन्द्रीकरण से बचाने, तथा आर्थिक स्वावलम्बन के लिए गाधीजी का सुझाव था कि कुटीर उद्योगों का जाल सम्पूर्ण देश मे फैला देना चाहिए। प्रत्येक घर एक छोटा-मोटा कुटीर उद्योग का रूप ग्रहण करे। कुटीर उद्योगो मे गाधीजी ने चरखा तथा खादी के उपयोग का सबसे अधिक समर्थन किया। एक बार उन्होने वचन दिया था कि यदि देश चर्खा और खादी को अपनाले तो भारत को एक वर्ष में स्वराज्य मिल सकता हैं। उनके लिए चरखा एक गृह उद्योग ही नही, वरन् अहिंसा का एक मूल स्तम्भ तथा स्वराज्य का साधन था।[75]

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था

गाधीजी के आर्थिक विचारो का आधार ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था थी। राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र मे वे चाहते थे कि प्रत्येक गाव या ग्राम-समूह मे अपने उद्योग व धन्धे और उनका स्वशासित अस्तित्व हो। भारत के गाव अपनी आधार-भूत आवश्यकताओ को पूरा करने मे स्वयं समर्थ हों।

स्वदेशी सिद्धान्त (Doctrine Swadeshi)

गांधी दर्शन मे 'स्वदेशी' एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। वैसे स्वदेशी का तात्पर्य अपने देश की या देश में निर्मित वस्तु से है। अन्य सिद्धान्तों की भांति गांधीजी ने 'स्वदेशी' की भी व्याख्या की हैं। गाधीजी इसे एक धार्मिक अनुशासन मानते थे। स्वदेशी का उद्देश्य राजनीतिक न होकर आध्यात्मिक हैं, जो मनुष्य को दूसरे प्राणियो

74. आशीर्वादम्., राजनीतिशास्त्र, द्वितीय भाग, पृ. 273.

75. Tandulkar, D G, Mahatma, Life of Mohandas Karamchand Gandhi, Vol. V. p 381.

के साथ आध्यात्मिक एकता स्थापित करने मे सहायता प्रदान करता है। जीवन का अंतिम उद्देश्य सासारिक बंधनो से आत्मा को मुक्ति दिलाना है। जब तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक मनुष्य को चाहिए कि ईश्वर द्वारा बनाये गए अन्य प्राणियो की सेवा कर ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करे। स्वदेशी सिद्धान्त इस ओर मार्ग प्रदर्शन करता है। यह दूसरे प्राणियो की सेवा करने की एक विधि बतलाता है। इसी आधार पर गाधीजी ने स्वदेशी की यह परिभाषा दी है—

> "स्वदेशी हममे वह चित्तवृत्ति (spirit) है जो हमे दूर के लोगो को छोडकर अपने निकट रहने वालो की सेवा के लिए प्रेरित करती है। स्वदेशी चित्तवृत्ति हमे दूसरो को छोडकर अपने पास-पडोसियो की सेवा की आज्ञा देती है। केवल शर्त यह है कि जिस पडोसी की इस प्रकार सेवा की गई है वह भी अपने पडोसियों की इसी प्रकार सेवा करें।"[76]

स्वदेशी एक उच्च स्तर की आध्यात्मिक देश-भक्ति है। इसका तात्पर्य है कि हम दूसरे देश की अपेक्षा अपने देश की सेवा को प्राथमिकता दें तथा देश के अन्तर्गत हम दूरस्थ रहने वालो की अपेक्षा निकट रहने वालो की सेवा करें। स्वदेशी की व्याख्या करते हुए सी एफ एन्ड्रयूज (C F Andrews) ने लिखा है—

> "महात्मा गाधी के लिये स्वदेशी वह सिद्धान्त है कि प्रत्येक चीज की अपेक्षा अपने निकट क्षेत्र को प्राथमिकता दी जाय, तथा मनुष्य की जन्म-भूमि दूसरो की अपेक्षा पहले श्रद्धा की पात्र है। इसके अलावा गाधीजी के लिए इसका यह तात्पर्य था कि अपने धर्म को छोड दूसरे धर्म को अंगीकार करने की तो कल्पना भी नही होनी चाहिये।"[77]

स्वदेशी सिद्धान्त के अनुसार हमे स्वयं की आदर्श संस्थाओं का अनुसरण करना चाहिए। लेकिन इसका तात्पर्य उनका अंधानुकरण नहीं होना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो उनमे दूसरो के अनुभव से सुधार करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

स्वदेशी का सिद्धान्त अपने पडोसियो से लेकर सम्पूर्ण विश्व को अपने में समा लेता है। सेवा की चक्र-वृद्धि धीरे-धीरे क्षमता के अनुसार होती रहती है। जब हम अपने निकटस्थ लोगो की सेवा कर चुकें तो फिर अपने ग्राम, क्षेत्र, देश तथा अंत मे समस्त विश्व की सेवा के लिए आगे बढना चाहिए। स्वदेशी के अनुसार सेवा क्षेत्र केवल अपने समुदाय तक ही सीमित नही रहता, बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति इसके अन्तर्गत आ जाती है।

स्वदेशी सिद्धान्त मे गाधीजी ने दूर के लोगो की अपेक्षा अपने निकटस्थ व्यक्तियो की सेवा करने का जो सुझाव दिया है उसके उन्होने कई कारण दिये हैं। मनुष्यो मे सेवा-सामर्थ्य सीमित होती है इसलिए यदि वह निकटस्थ व्यक्तियो की सेवा कर ले तो वह भी पर्याप्त होगा। विश्व के विषय मे हमारा ज्ञान भी पर्याप्त नही

76 Harijan, March 23, 1947, p 79

77 Andrews, C F, Mahatma Gandhi's Ideas, George Allen and Unwin Ltd, London, 1949 p 118

होता, इस प्रकार विश्व की सेवा करना आसान भी नही है। यदि कोई व्यक्ति केवल दूर रहने वालों की ही सेवा करता है तब वह अपने निकट रहने वालो की सेवा नही कर सकता। गांधीजी गीता की पंक्तियो को इस सम्बन्ध मे उद्धृत किया करते थे जिसका तात्पर्य है कि मनुष्य को अपने कर्त्तव्य या स्वधर्म पालन करते हुए मृत्यु को प्राप्त होना उत्तम है। यह बात स्वदेशी के साथ भी सत्य है।

स्वदेशी के सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, भौतिक, राजनीतिक और सामाजिक आदि कई पक्ष हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र मे स्वदेशी सिद्धान्त का तात्पर्य भारत मे ग्रामीण सभ्यता मे पूर्ण आस्था रखना है। आध्यात्मिक एवं नैतिक क्षेत्र मे स्वदेशी का तात्पर्य भारत की दार्शनिक परम्पराओं का पालन करना है। धर्म के विषय में स्वदेशी का आशय अपने प्राचीन धर्म का पालन करना है। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र मे स्वदेशी का तात्पर्य अपने देश की संस्थाओं मे सुधार कर उन्हें आधुनिक बनाना, शिक्षा के क्षेत्र में प्राचीन आदर्शों का पालन करना है।

आर्थिक स्वदेशी का तात्पर्य स्वावलम्बन से है। प्रत्येक ग्राम तथा देश अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं मे स्वावलम्बी हो। विदेशों से केवल उन्ही वस्तुओं का आयात करना चाहिए जो जीवन विकास के लिये आवश्यक हो। एक व्यापक रूप मे स्वदेशी का तात्पर्य अपने घर या देश मे निर्मित वस्तुओं के प्रयोग मे है-लेकिन आवश्यकतानुसार बाहर से भी वस्तुएँ मगायी जा सकती हैं।

स्वदेशी सिद्धान्त की यह मांग है कि विदेशी वस्त्रों का प्रयोग न करना, क्योंकि हम अपने देश मे अपनी आवश्यकता के अनुसार कपडे का निर्माण कर सकते है। खादी उद्योग का विकास स्वदेशी की आत्मा है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को आजीविका कमाने का साधन प्राप्त हो सकता हैं।

महात्मा गांधी के सामाजिक विचार

स्वाधीनता आन्दोलन के साथ-साथ महात्मा गाधी ने सामाजिक सुधारो के प्रति भी अधिक ध्यान दिया। उनका कहना था कि समाज सुधार का काम राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के साथ-साथ चलना चाहिए। इसलिये गाधीवादी विचारधारा मे रचनात्मक कार्यों को बहुत महत्त्व दिया गया है।

सामाजिक सुधार के क्षेत्र में महात्मा गाधी के विचार वर्ण-व्यवस्था, अस्पृश्यता, स्त्री-उत्थान, शिक्षा तथा साम्प्रदायिक एकता के विषय मे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

(1) वर्ण-व्यवस्था के विषय में महात्मा गांधी का दृष्टिकोण अन्य समाज सुधारको से भिन्न था। सामान्यतः वर्ण-व्यवस्था को जाति-पांति के भेदभाव से जोड़ा जाता है। किन्तु गाधीजी वर्ण-व्यवस्था को एक वैज्ञानिक व्यवस्था तथा सामाजिक विकास के लिए आवश्यक मानते थे। उनके अनुसार वर्ण व्यवस्था सामाजिक असमानता को प्रोत्साहित करने मे सहायक नही होनी चाहिए। वे वर्ण-व्यवस्था को जन्म और कर्म दोनो ही दृष्टिकोणो से महत्त्वपूर्ण मानते थे जन्म के दृष्टिकोण से व्यक्ति को अपना पैतृक पेशा नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि

सामाजिक उपयोगिता का प्रत्येक कार्य आवश्यक होना है। भंगी के काम का भी उतना ही महत्त्व है जितना कि प्रशासक, तकनीशियन, अध्यापक आदि के काम का। कर्म के आधार पर गांधीजी के अनुसार, कोई भी व्यक्ति किसी भी वर्ण से सम्बन्धित हो सकता है।

अस्पृश्यता हिन्दू समाज मे सदियो से चली आ रही थी, जो एक प्रकार से सामाजिक अभिशाप सिद्ध हुई। इसने देश की एकता को विघटित किया, सामाजिक असमानता को प्रोत्साहित किया तथा निर्बल वर्ग के शोषण म सहायक हुई। गांधीजी ने इस सामाजिक कलक को मिटाने का भागीरथी प्रयत्न किया। उन्होंने अस्पृश्यता को एक पाप बतलाया जिसका अन्त होना ही चाहिये। उन्होंने शूद्रो को प्रतिष्ठित एव सम्मानित करने का पूर्ण प्रयत्न किया। वे उन्हे 'हरिजन' नाम से सम्बोधित करते थे। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि हरिजनो को मन्दिरो म प्रवेश करने तथा समाज के अन्य वर्गों के साथ पूजा एव उपासना का अधिकार होना चाहिए।

महात्मा गांधी साम्प्रदायिक एकता के प्रबल समर्थक थ। धर्म के सम्बन्ध म उनके विचार उदार थे ही। वे सब धर्मो को आदर समान दृष्टि से देखते थे तथा सभी को एक मोक्ष का साधन मानते थे। इसलिए उनका कहना था कि धर्म के आधार पर आपस मे लडना बुद्धिहीनता है। उनका विश्वास था कि साम्प्रदायिक एकता, विशेषकर हिन्दू मुस्लिम एकता के बिना, न तो सामाजिक प्रगति हो सकती है और न स्वराज ही मिल सकता है। राजनीति मे वे धर्म-निरपेक्षता के समर्थक थे। महात्मा गांधी की सभाओ मे जो प्रार्थनाएँ होती थी वे साम्प्रदायिक एकता की ही अभिव्यक्ति हैं।

स्त्री-सुधार के क्षेत्र मे गांधीजी ने पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, देवदासी प्रथा आदि बुराइयो का डटकर विरोध किया। वे स्त्रियो को जीवन के हर क्षेत्र मे पुरुषो के समान अधिकार देने के पक्ष मे थे। वे कहा करते थे स्त्रियो को अबला कहना उनका अपमान करना है। कुछ गुणों मे स्त्रिया पुरुषो से भी अधिक आगे होती हैं। नैतिक बल, त्याग, सहन-शक्ति और अहिंसा स्त्रियो मे पुरुषो से अधिक देखने को मिलती है। उनका कहना था कि यदि अहिंसा हमारे जीवन का अग बन गयी तो भविष्य स्त्रियो के हाथो म होगा।

महात्मा गांधी मदिरापान के विरुद्ध थे। मद्य-निषेध गांधीवाद के सामाजिक कार्यक्रम का अंग है। मद्य-निषेध के विषय म राजकीय सरकारो ने कुछ प्रयत्न अवश्य किये हैं किन्तु आजकल इस विषय मे ढिलाई आनी जा रही है।

महात्मा गांधी ने देश को एक नई शिक्षा प्रणाली दी जिसे बुनियादी शिक्षा (Basic Education) कहते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा भारतीय परिस्थितियो के सन्दर्भ मे बुनियादी शिक्षा एक महत्वपूर्ण योगदान था। बुनियादी शिक्षा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं —

(i) बुनियादी शिक्षा दस्तकारी के आधार पर होनी चाहिये।

(ii) शिक्षा स्वावलम्बी हो ताकि विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के साथ-साथ स्वय का खर्च भी चला सके।

(iii) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिये ।

इन शिक्षा सिद्धान्तों को हम आज भी मान्यता देते हैं ।

गांधीवाद तथा मार्क्सवाद

महात्मा गांधी के कुछ समर्थक जिनका झुकाव साम्यवाद की ओर भी है, गाधीवाद और मार्क्सवाद (तथा साम्यवाद भी) मे कोई विशेष अन्तर नही मानते । विशेषत. वे गाधीवाद और मार्क्सवाद की कुछ प्रमुख समानताओं का उदाहरण देते हैं । उनका कहना है कि गाधीवाद और मार्क्सवाद राज्य-रहित समाज में विश्वास करते हैं । दोनों विचारधाराएँ सभी प्रकार के शोषण के विरुद्ध हैं । दोनों ही व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा लाभ को कोई मान्यता नहीं देते । वे सम्पत्ति के सामाजीकरण के पक्ष मे है ।

गाधीवाद और साम्यवाद मे कुछ बाह्य समानता अवश्य प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव मे इनमे कोई समान आधार नहीं है । किशोरीलाल मशरूवाला ने अपनी पुस्तक 'गाधी और मार्क्स' मे इन दोनों विचारधाराओं की भिन्नता के विषय मे लिखा है:–

> "गाधीवाद और साम्यवाद एक दूसरे से इतने भिन्न हैं जैसे लाल से हरा रंग भिन्न होता है, यद्यपि हम जानते हैं कि आंख के उस रोगी को जिसे रंग भेद की पहचान नहीं होती, दोनों समान प्रतीत हो सकते हैं । दोनों विचारधाराएँ बेमेल हैं, उनका अन्तर मूलभूत है और वे एक दूसरे की कट्टर विरोधी हैं ।"[78]

मानव स्वभाव के विषय मे दोनो दर्शनो के दृष्टिकोणों में भिन्नता है । महात्मा गाधी पूंजीपतियो के हृदय परिवर्तन में आस्था रखते थे तथा उनका विश्वास था कि पूंजीपति अपनी सम्पत्ति का प्रयोग स्वार्थ मे नही सामाजिक हित में करेंगे । मार्क्सवाद पूंजीपतियों को शोषक, अत्याचारी, स्वार्थी मानता है, जो स्वेच्छा से नहीं, हिंसात्मक तरीको से ही अपनी सम्पत्ति का परित्याग करेंगे ।

धर्म एवं राजनीति के सम्बन्ध में मार्क्सवाद और गाधीवाद दो अलग-अलग ध्रुव जैसे हैं । इस ध्रुवीकरण का कारण था कि मार्क्स मूलतः भौतिकवादी तथा धर्म विरोधी था । गाधी जी ने कहा था कि जहा तक मार्क्सवाद "हिंसा तथा ईश्वर के निषेध पर आधारित है यह मुझे अस्वीकृत है ।" मार्क्सवाद के विपरीत गाधीवाद आत्मा, ईश्वर के प्रति श्रद्धा तथा धर्म सिद्धान्तों पर आधारित है । गाधीवादी भवन धर्म-नींव पर स्थापित है । धर्म से पृथक राजनीति गाधीजी के लिये मौत का फंदा जैसी थी । वे मार्क्स की तरह धर्म का राजनीति से किसी भी तरह बहिष्कार करने को तैयार नहीं थे । अन्य शब्दो मे मार्क्सवाद भौतिकवादी है, जबकि गाधीवाद को अध्यात्मवाद से अभिन्न नहीं किया जा सकता ।

78. गाधीवाद और मार्क्सवाद की तुलना के लिए किशोरीलाल मशरूवाला की यह पुस्तक उत्तम विवेचन प्रस्तुत करती है, जो विशेष अध्ययन के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

मार्क्सवाद के अन्तर्गत साम्यवादी व्यवस्था राज्य-विहीन होगी, किन्तु वास्तव में मार्क्सवाद पर आधारित व्यवस्था समग्रवादी होती है जिसमें व्यक्ति और समाज के सम्पूर्ण जीवन को नियन्त्रण में रखा जाता है। गांधीवादी आदर्श-समाज में राज्य को कोई स्थान नहीं है लेकिन व्यावहारिक व्यवस्था के रूप में राज्य को एक आवश्यक बुराई माना जाता है। गांधीवादी राज्य कम से कम हस्तक्षेप करने वाली संस्था होगा।

गांधीवाद विकेन्द्रित प्रजातन्त्र का समर्थक है जहां सत्ता ग्रामों और पंचायतों में विभाजित होगी। गांधीजी राज्य, किसी वर्ग विशेष या किसी राजनीतिक दल के अधिनायकत्व में विश्वास नहीं करते। मार्क्सवादी, क्रान्ति के उपरान्त सर्वहारा तानाशाही की स्थापना चाहते हैं। मार्क्सवाद पर आधारित साम्यवादी व्यवस्था में वास्तविक सत्ता मुट्ठी भर साम्यवादी नेताओं के हाथों में रहती है, जन-साधारण में नहीं।

मार्क्सवाद बड़े-बड़े उद्योगों का विरोध नहीं करता। मार्क्सवादी भौतिकवादी समाज के लिए बड़े-बड़े उद्योगों का विकास आवश्यक है। मार्क्सवादी विचारधारा श्रमिक समर्थक है तथा औद्योगिक मजदूर वर्ग इस आसानी या अन्धानुभाव से ग्रहण करने वाला माना जाता है। इसलिये बड़े-बड़े उद्योगों का मार्क्सवाद-साम्यवाद आदि में और भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसके विपरीत गांधीवाद बड़े बड़े उद्योगों तथा मशीनों सभ्यता के विरुद्ध है। गांधीवाद घरेलू उद्योग तथा छोटी मोटी मशीनों द्वारा चालित उद्योग का समर्थक है।

गांधीवाद मार्क्सवाद की तुलना में अधिक व्यापक विचारधारा है। मार्क्सवाद एक तरह से श्रमिकों का दर्शन है इसमें भौतिकवाद को ही प्राथमिकता दी गयी है जब कि गांधीवाद दरिद्र वर्ग का, जिसमें श्रमिक भी सम्मिलित है, कल्याण चाहता है। साथ ही साथ इसमें समस्त वर्गों के कल्याण की बात कही जाती है। गांधीवाद का उद्देश्य सर्वोदय है।

गांधीवाद प्रेम और सहयोग के सिद्धान्त में आस्था रखता है तथा सभी वर्गों में समानता एवं सामन्जस्य स्थापित करने पर बल देता है। मार्क्सवाद वर्ग संघर्ष हिंसा तथा पूंजीपतियों के प्रति घृणा पर आधारित है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि गांधीवाद हिंसा रहित साम्यवाद है। इससे यह आभास होता है कि यदि मार्क्सवाद से हिंसा (क्रान्ति) के तत्त्व को निकाल दिया जाय तो मार्क्सवाद एवं गांधीवाद में कोई अन्तर नहीं रहेगा। इसमें सन्देह नहीं कि गांधीजी ने साधन पर सबसे अधिक बल दिया तथा मार्क्सवाद से हिंसा के प्रभाव वाला तत्त्व अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। मार्क्सवाद से हिंसा को अलग करने से मार्क्सवाद एक विष-रहित सर्प जैसा हो जायगा. किन्तु हिंसा-रहित मार्क्सवाद और गांधीवाद में फिर भी व्यापक अन्तर विद्यमान रहता है, दोनों में मौलिक भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। मार्क्सवाद साधनों के विषय में पूर्णतः स्पष्ट है। मार्क्सवाद क्रांति पर आधारित है। पूंजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन के लिए इसमें वर्ग-संघर्ष, हिंसा तथा सभी प्रकार के

साधन मान्य हैं। इसके विपरीत गाधीवाद पवित्र एवं नैतिक साधनो पर आधारित है। अच्छे साध्यों की प्राप्ति अच्छे साधनों द्वारा ही होनी चाहिए। ये साधन सत्य एवं अहिंसा से पृथक नही हो सकते। वास्तव मे सत्याग्रह मार्क्सवादी क्रांति से भी अधिक प्रभावी सिद्ध हुआ।[79]

एक उल्लेखनीय पुस्तक—Indian Way to Socialism—मे गाधीवाद और मार्क्सवाद के विषय मे निम्नलिखित विवरण दिया है—

> "मार्क्सवाद भौतिकवाद पर आधारित है। मार्क्सवाद के समस्त सामाजिक परिवर्तनो की कुंजी मानव जीवन के भौतिकवादी आधार मे निहित है; दूसरी ओर गाधीजी के अनुसार सामाजिक प्रगति का आधार पदार्थ (matter) नही बल्कि विचार (mind) है। मार्क्स आर्थिक तर्कों पर समाजवाद के अवश्यम्भावीपन को सिद्ध करता है, जब कि गाधीजी नैतिक आधारो पर। मार्क्स के अनुसार इच्छाओ मे वृद्धि एक अच्छा उद्देश्य है, गाधीजी का आदर्श इच्छाओ पर नियन्त्रण रखना है। वर्ग-सघर्ष तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त मार्क्स के अनुसार, समाजवाद की प्राप्ति की ओर आवश्यक कदम है; किन्तु गाधीजी सत्याग्रह एवं ट्रस्टीशिप मे विश्वास रखते है। इन तथा अन्य मतभेदो के होते हुए भी मार्क्स तथा गाधीजी लाभ प्रवृत्ति वाले पूंजीवादी समाज के विरोधी थे तथा दोनों ने ही शोषित तथा निर्धनो के कल्याण हेतु अपने को समर्पित कर दिया था।"[80]

मार्क्सवादी तथा गाधीवादी आदर्श मे कुछ समताएँ हो सकती हैं, किन्तु मार्क्सवाद पर आधारित साम्यवादी राज्यों मे जिस प्रकार की शासन व्यवस्था अभी प्रचलित है, इसमे तथा गाधीवाद मे कोई भी सामान्य आधार नही हो सकता।

क्या गांधीजी समाजवादी थे ?

गांधीवाद और साम्यवाद मे व्यापक अन्तर पहले ही स्पष्ट है। महात्मा गांधी के विचारो के विषय मे यह कुछ निश्चयतापूर्वक नही कहा जाता है कि वे समाजवादी थे। गांधीवादी चिन्तनो मे यह भी एक विवादास्पद प्रश्न बन गया है। कुछ गांधीवादी समर्थको, जैसे श्री मोरारजी देसाई, ने महात्मा गाधी को समाजवादी माना है; किन्तु श्री राजगोपालाचारी, आचार्य कृपलानी आदि इस विचार से सहमत नही हैं।

डॉ. मजुमदार का कथन है कि महात्मा गाधी ने अपने जीवन के अन्तिम दो वर्ष मे भारत मे एक समाजवादी राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया। वे गांधीजी के समाजवादी विचारो की खोज 1910 से करते हैं, जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका मे जोहेन्सबर्ग के निकट टॉल्स्टॉय फार्म (Tolstoy From) की स्थापना की। इस फार्म पर लगभग चयालीस पुरुष, महिलाएँ तथा बच्चे रहते थे। प्रत्येक को प्रतिदिन

79 Kriplani, J. B., Gandhi His Life and Thought, pp 416-17.

80 Kamla Gadre, Indian Way to Socialism, Vir Publishing House, New Delhi, 1966, p. 27.

कुछ शारीरिक श्रम करना पडता था। फार्म पर सभी सम्प्रदाय के लोग थे, वे एक साथ भोजन करते थे तथा परिवार की तरह रहते थे।[81]

इसके विपरीत कमला गद्दे द्वारा लिखित पुस्तक—Indian Way to Socialism[82]—मे गाधीवाद के समाजवादी दावे का पूर्ण खण्डन किया गया है। इस पुस्तक ने ट्रस्टीशिप सिद्धान्त पर बडा ही कडा प्रहार किया है। इस सिद्धान्त को एक सनक तथा समाजवाद से कोसो दूर बतलाया गया है।

महात्मा गाधी से कई बार पूछा गया कि क्या वे समाजवादी हैं ? इस सम्बन्ध में उनके उत्तरो की व्याख्या 'हाँ' तथा 'ना' दोनो मे ही की जा सकती है। वास्तव में गाधीजी ने इसका स्पष्ट उत्तर कभी नही दिया। सम्भवत वे अपने को दोनो पक्षो मे रखना चाहते थे। इस प्रकार इस विवाद को अनिश्चितता मे वृद्धि करने मे गाँधीजी स्वय ही उत्तरदायी थे।

1927 और 1929 के मध्य प जवाहर लाल नेहरू बडे प्रभावशाली ढग से गणतान्त्रिक समाजवाद के पक्ष मे अपने विचार व्यक्त कर रहे थे। उस समय गाधीजी ने प. जवाहरलाल नेहरू से आग्रह किया कि वे इस सम्बन्ध म कोई शीघ्रता न करें तथा पश्चिमी समाजवाद का अन्धानुसरण न करे।[83] एक स्थल पर उन्होने कहा—

> "मेरे समाजवाद का तात्पय सर्वोदय है। मैं समाजवाद की स्थापना अन्धे बहरे और गूगो की राख के ऊपर नही करना चाहता। पश्चिमी समाजवाद मे इन लोगो को कोई स्थान नही। उनका मुख्य उद्देश्य केवल भौतिक प्रगति है।"[84]

महात्मा गाधी के समाजवादी होने के विषय मे दो बातें स्पष्ट हैं। प्रथम, जैसा कि पाश्चात्य लेखक समाजवाद का अर्थ समझते हैं, महात्मा गाधीजी उस अर्थ मे समाजवादी नही थे। कभी-कभी वे अपने लिए समाजवादी कहते थे जिसका स्रोत वे ईशोपनिषद (Isopanishad) तथा भगवत्पुराण को मानते थे। भागवत मे उल्लेख है -

यावद् भ्रियते जठर तावत् स्वत्व हि देहिनाम्।
अधिक योऽभिमन्येत स तेनो दण्डमर्हति ॥

अर्थात एक व्यक्ति सिर्फ उतना ही प्राप्त करने का अधिकारी है जितना उसके पेट के लिये आवश्यक है। जो इससे अधिक लेता है वह चोर है, तथा जो एक चोर को दण्ड मिलता है वह उसे भी मिलना चाहिये।[85]

द्वितीय गाधीजी जब अपने को समाजवादी कहते थे उसका तात्पर्य यह था किन्ही क्षेत्रो मे उनके तथा समाजवादी विचार मल खाते थे। जैसे, दोनो ही समानता स्वतन्त्रता, निर्धन वर्ग का समर्थन करते हैं।

81 Majumdar B B, Gandhian Concept of State, p 182
82 Published by Vir Publishing House, New Delhi, 1966, The preface of this book is by Dr V K R V Rao
83 Nehru, Jawahar Lal, A Bunch of Old Letters, pp 55-56
84 Tandulkar, D G, Mahatma, Life of Mohandas Karamchand Gandhi, 1953, vol VII, pp 191-91
85 Mojumdar, B B Gandhian Concept of State p 183

समाजवाद की तरह महात्मा गांधी भूमि पर निजी स्वामित्व के विरोधी थे। या, यह कहना उपयुक्त होगा कि वे सभी प्रकार की निजी सम्पत्ति के विरुद्ध थे। उनके विचार से "सम्पत्ति समाज की, भूमि गोपाल की" है। अन्य शब्दों में वे सम्पत्ति के सामाजीकरण के पक्ष मे थे।

इसके अलावा दोनों ही विचारधाराएँ—

(i) प्रजातन्त्र में विश्वास करती है,
(ii) मानवतावादी हैं;
(iii) शोषण के विरुद्ध हैं, तथा
(iv) समाज के सभी वर्गों का ध्यान रखती हैं।

लेकिन ये समानताएँ दोनो विचारधाराओ को एक ही नही बना देती। दोनों मे मूलभूत अन्तर दृष्टिगोचर होते है।

प्रथम, समाजवादी कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिये राज्य एक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण माध्यम माना जाता है। किन्तु महात्मा गाधी सैद्धान्तिक रूप से राज्य संस्था मे ही विश्वास नही करते। सिर्फ व्यावहारिक दृष्टि से वे राज्य की सीमित उपयोगिता स्वीकार करते है, पर वह भी एक आवश्यक बुराई के रूप मे।

द्वितीय, समाजवाद सामान्यतः केन्द्रीकरण को प्रोत्साहित करता है, जब कि गांधीवाद विकेन्द्रित व्यवस्था का समर्थक है।

तृतीय, समाजवाद मूलत भौतिकवादी है जबकि गांधीवाद आध्यात्मवादी है।

इस भिन्नता का तात्पर्य यह नही है कि गाधीवाद और समाजवाद दो विरोधी विचारधाराएँ हैं। वास्तव मे गाधीवाद एक व्यापक विचारधारा है तथा उसकी अलग-अलग दृष्टिकोण से व्याख्या की जाय तो वह सभी विचारधाराओं के निकट है। किन्तु गांधीवाद न तो मार्क्सवाद है और न समाजवाद। गांधीवाद सिर्फ गांधीवाद ही है।

मूल्यांकन

गाधीवाद जितना व्यापक विचार-समूह है उतनी ही व्यापक इसकी समीक्षा हुई है। गांधीवाद की आलोचना विभिन्न दृष्टिकोणो से हुई है। यद्यपि आलोचकों के तर्कों मे सत्यता का अंश तो है, उन्हे पूर्णतः सही नही माना जा सकता।

वैसे गाधीजी ने एक उच्च कोटि के मनोवैज्ञानिक होने का परिचय दिया है, पर आलोचकों का कहना है कि मानव स्वभाव में उनके विचार मनोवैज्ञानिक आधार पर सही नहीं कहे जा सकते। गाधीजी व्यक्ति में केवल अच्छाइयो का ही दर्शन करते है और इसी आधार पर उन्होने सिद्धान्त रूपी मीनारें खड़ी की हैं। किन्तु मानव स्वभाव के विषय में सत्यता यह है कि उसमे अच्छे और बुरे दोनो पक्ष होते हैं। सभी लोगों से सत्य, अहिंसा, त्याग, सहयोग, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि की अपेक्षा करना एक भूल होगी।

गांधीवादी दर्शन के विरुद्ध एक मुख्य आक्षेप यह है कि यह **वास्तविकता से परे तथा कल्पना प्रधान** है। इसमे आदर्शवाद की प्रमुखता और व्यावहारिकता का अभाव है। गांधीजी द्वारा सत्य, अहिंसा के सिद्धान्त, उनके राज्य सम्बन्धी विचार, स्वदेशी एवं ट्रस्टीशिप सिद्धान्त आदि मे आदर्श तत्वो की मात्रा अधिक है। गांधीजी अहिंसा पर अधिक बल देते हैं तथा विदेशी आक्रमण का सामना करने और विदेशी नियन्त्रण से मुक्ति पाने के लिये वे अहिंसात्मक साधनो का सुझाव देते हैं। सीमित रूप मे यह प्रभावकारी हो सकता है। परन्तु हिटलर या साम्यवादी शासन या सैनिक शासन, अथवा वियतनाम से विदेशी सैनिको के नियन्त्रण से मुक्ति प्राप्त करना आदि अहिंसात्मक साधनो द्वारा सम्भव नही हो सकता। बागला देश मे पाकिस्तानी सैनिको के समक्ष सत्याग्रही साधनो का प्रभावशाली होना बहुत कुछ सदिग्ध था। इसी प्रकार अहिंसात्मक राज्य मे पुलिस और सेना से अहिंसा की अपेक्षा नही की जा सकती। महात्मा गाधी का अहिंसा-सिद्धान्त विवेक पर नही, आस्था पर आधारित है। इस सिद्धान्त को धर्म के रूप मे वे ही स्वीकार कर सकते हैं जिन्हें ईश्वर, आत्मा पुनर्जन्म आदि मे श्रद्धा हो। अहिंसा का प्रयोग महात्मा गाधी जैसे ही व्यक्ति कर सकते हैं, यह सामान्य एव औसत आदमी के बस की बात नही।

महात्मा गाधी ने **वर्ण व्यवस्था** के सम्बन्ध मे जो विचार व्यक्त किये हैं वे वर्तमान समय के अनुकूल नही। वर्ण व्यवस्था मध्ययुगीन समाज के लिये उपयुक्त हो सकती थी, किन्तु आज उद्योग-धन्धो के स्वरूप, मनुष्य के स्वभाव एव रुचि आदि मे परिवर्तन हुआ है कि वर्ण-व्यवस्था का पालन आसान नही रहा। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने पैतृक पेशे तक ही सीमित रहे तो रूस की और समाज दोनो की ही प्रगति अवरुद्ध हो जायगी। आज का समाज मूलत औद्योगिक समाज है। जिसका प्रबन्ध वर्ण-व्यवस्था के आधार पर नही हो सकता। नित नये उद्योग धधो की स्थापना होती है और यदि हर एक व्यक्ति अपना पेशेवर काम ही करता रहे तो नवीन उद्योगो मे काम कौन करेगा? इसके साथ साथ यह भी सम्भव नही है कि हर व्यक्ति में अपने पूर्वजो के पेशे को चलाने की पूर्ण क्षमता हो।

महात्मा गाधी ने सामान्यतः बड़े-बड़े उद्योगो का विरोध तथा कुटीर उद्योगो का समर्थन किया है। इसमे सन्देह नही कि कुटीर उद्योगो का भी महत्व होता है, लेकिन इनसे देश का पूर्ण आर्थिक विकास नही हो सकता। आज के युग मे किसी भी देश के पूर्ण आर्थिक विकास के लिये बडे-बडे उद्योग आवश्यक हैं। आज कल जनसख्या मे वृद्धि हो रही है, मनुष्यो और भिन्न-भिन्न देशो की आवश्यकताओं मे जिस अनुपात से वृद्धि हो रही है उस अनुपात से आर्थिक प्रगति बडे-बडे उद्योगो के बिना नहीं हो सकती।

गाधीवाद मे अन्तर्विरोध भी दृष्टिगोचर होता है। गाधीजी पूंजीवाद तथा इससे उत्पन्न आर्थिक विषमता एव शोषण का विरोध करते हैं। किन्तु पूंजीवादी

व्यवस्था के विकल्प के रूप मे वे ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का सुझाव देते हैं। ट्रस्टीशिप सिद्धान्त अप्रत्यक्ष रूप से पूंजीवाद का संरक्षक होगा। सैद्धान्तिक रूप से वे राज्य का विरोध करते हैं किन्तु व्यावहारिक रूप में वे सीमित राज्य का समर्थन करते हैं। फिर राज्य को चाहे किसी भी रूप मे स्वीकार क्यों न किया जाय यह पूर्ण रूप से अहिंसक नही हो सकता।

गांधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धात को पूर्ण समाजवादी सिद्धान्त होने का दावा किया जाता है। ट्रस्टीशिप सिद्धान्त पूंजीपतियो से उनकी पूंजी को सामाजिक हित मे प्रयोग करने की अपेक्षा करता है। यह आदर्श तो ठीक है किन्तु व्यावहारिक नहीं। पूंजीपति एक शेर की तरह है जिसे घास खाने के लिए तैयार नहीं किया जा सकता। ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त मे गांधीजी यूटोपियन समाजवादियों अधिक निकट हैं।

गाधीजी के अन्तर्राष्ट्रीय विचार एक अच्छा आदर्श प्रस्तुत करते हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीयता विश्व-बन्धुत्व, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग मे पूर्ण आस्था रखते हैं। ये सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का आधार हैं तथा आज भी मान्य हैं। किन्तु गांधीजी वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का सही मूल्याकन नही कर सके। वे राष्ट्रीय हित को कोई विशेष महत्व नही देते। आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कोई भी राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित की अवहेलना नही कर सकता। सम्भवतः गांधीजी इस स्थिति से परिचित होते हुए भी हमारे समक्ष केवल एक आदर्श ही रखते हैं।

गाधीवाद की सब से अधिक महत्ता उसके मानववाद (Humanism) मे निहित है। मानववादी दृष्टिकोण गाधीवाद मे सर्वत्र बिखरा हुआ है। यद्यपि गांधीजी मूलत: धर्म-निष्ठावान तथा ईश्वर मे अटूट श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति थे, उनके विचारो का केन्द्र मनुष्य ही था। वे मनुष्य की सर्वतोमुखी प्रगति आध्यात्मिक एवं सीमित भौतिकवाद सहित, चाहते थे। यह प्रगति कुछ सीमित व्यक्तियो तक ही नही किन्तु समाज के सभी वर्गों को समेटे हुए होनी चाहिये। सर्वोदय उनका उद्देश्य था।

महात्मा गाधी ने उन सभी सिद्धान्तो को ठुकरा दिया जिसमे सम्पूर्ण समाज की भलाई की बात नही कही जाती। उपयोगितावाद एक उदारवादी विचारधारा थी किन्तु इसका यह विचार-सूत्र 'अधिकतम लोगो का अधिकतम सुख'— गांधीजी को मान्य नहीं था। वे 'अन्तिम व्यक्ति तक' (Unto This Last) या सर्वोदय में विश्वास करते थे। उनका सर्वोदय समाज शिखर-वर्ग (summit class) से नहीं, निर्धन वर्ग से प्रारम्भ होता है, जिसमे साधारण से साधारण तथा अवाछनीय व्यक्ति तक की भी अवहेलना नही होनी चाहिये। इस प्रकार गांधीजी ने पूर्व सिद्धान्तो को पूर्ण करने मे योगदान दिया। उनके विचारो से यह प्रेरणा मिलती है कि विधि एवं नीतियों का निर्माण किसी वर्ग विशेष या बहुमत के लिये ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण समाज के हित के लिये होना चाहिये। इसमे भी निर्धन वर्ग, जिसे वे 'दरिद्र-नारायण' कहते थे, को प्राथमिकता होनी चाहिये।

महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को नवीन आयाम प्रदान किये। सामान्यत सत्य और अहिंसा को न तो व्यक्तिगत और न सार्वजनिक जीवन मे कोई विशेष महत्व दिया जाता है। महात्मा गाधी ने अपने व्यवहार और काय से यह सिद्ध कर दिया कि सत्य और अहिंसा व्यक्तिगत व्यवहार का आधार तो है ही, सार्वजनिक क्षेत्र मे भी इसकी अवेहलना नहीं की जा सकती।

सत्य और अहिंसा के आधार पर गाधीजी ने सार्वजनिक जीवन को एक धार्मिक आधार प्रदान किया। धर्म एव राजनीति का समन्वय करने का तात्पर्य धर्मांध विचारो का प्रतिदान करना नही था। गाधीजी के अनुसार धर्म नैतिकता का प्रमुख एव प्रधान स्रोत है। यदि राजनीति या सम्पूर्ण सार्वजनिक जीवन को नैतिक तथा *पवित्र बनाना है तो धर्म क वैज्ञानिकतत्वो को ग्रहण करना ही होगा। महात्मा गाधी* ने राजनीति का आध्यात्मिकीकरण (Spiritualisation of Politics) करने का जो प्रयत्न किया वह आज की स्वार्थपरायण राजनीति के कचडे को साफ करने मे अत्यन्त सहायक हो सकता है। डा सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने लिखा है कि गाधीजी एक क्रान्तिकारी चिन्तक थे, उन्होने राजनीति को शुद्ध बनाने क लिये मानव स्वभाव *के परिवर्तन मे महत्वपूर्ण योगदान दिया।*[86]

महात्मा गाधी ने सत्य और अहिंसा जैसे मूक सिद्धान्त एव शस्त्रो का एक महान शक्ति के रूप मे प्रयोग किया। अहिंसा को गाधी जी एक ऐसी शक्ति मानते थे जिसका पारिवारिक जीवन से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो तक प्रत्येक परिस्थिति मे प्रयोग किया जा सकता है। अग्रेजी साम्राज्यवाद को भारत से उखाड फैकने मे सत्याग्रही साधनो का महत्वपूर्ण योगदान रहा था। आज भी अन्याय के विरुद्ध सत्याग्रह का प्रयोग किया जाता है। अमेरिका मे अपने अधिकारो की प्राप्ति के लिये बहुत से नीग्रो नेताओ द्वारा तथा अफ्रीका मे श्वेत शासन के विरुद्ध समय समय पर विभिन्न सत्याग्रही साधनो का प्रयोग अब एक सामान्य सा प्रचलन बनता जा रहा है।

महात्मा गाधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन का सचालन जिस कुशलता से किया उसने स्वतन्त्रता प्राप्ति को किसी सीमा तक सरल बना दिया। उन्होने यह बिलकुल समझ लिया कि अग्रेजी साम्राज्य का सामना सिर्फ सत्य और अहिंसा से ही किया जा सकता है। इसके अलावा राष्ट्रीय काग्रेस को भी उन्होने एक समन्वयपरक सस्था बनाये रखा। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय काग्रेस पार्टी मे कई बार सैद्धान्तिक एव व्यक्तिगत मतभेद हुए किन्तु गाधीजी ने विभिन्न तथा विरोधी विचारो को एकरूप एव समन्वय करने की अपूर्ण क्षमता थी। डा. राजेन्द्रप्रसाद ने लिखा है कि इस क्षमता के ही कारण काग्रेस पार्टी कई बार विघटित होते होते बची। काग्रेस पार्टी के मच पर सभी विचारधाराओ को एकत्रित कर एकरूप बनाना गाधीजी के ही वश की बात थी।[87]

86. Radha Krishnan, S, Mahatma Gandhi, 100 Years p I
87. Pyarelal, Mahatma Gandhi The Last Phase, Vol I, p. X (from Introduction by Dr Rajendra Prasad)

स्वराज प्राप्ति तथा भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का सचालन करने मे महात्मा गांधी ने एक अत्यन्त ही निपुण आन्दोलन-कौशल (tactician), दूरदर्शी राजनीतिज्ञ, और अनुभवी मनोवैज्ञानिक व्यक्ति का परिचय दिया। भारतीय जनता का नेतृत्व करने के लिये यह आवश्यक था कि व्यक्ति सही अर्थ मे भारतीय परम्परा का प्रतीक हो। नेतृत्व करने वाला व्यक्ति नैतिक शक्ति में दूसरो से श्रेष्ठ होने के साथ साथ सामान्य एवं साधारण जनता से अलग न हो। सत्य एव अहिंसा का राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रयोग कर महात्मा गाधी ने एक महान एव श्रेष्ठतर आत्म शक्ति का उपयोग किया जिसने साम्राज्यवादियों को घुटने टेकने के लिये विवश ही नही किया बल्कि प्रतिद्वन्द्वियो ने भी गाधी जी प्रशंसा की। दक्षिण अफ्रीका मे उनके प्रमुख विरोधी जनरल स्मट्स (F. M. Smuts) ने भी गाधीजी को 'विश्व का एक महान व्यक्ति' बतलाया।[88] गाधीजी के नेतृत्व के विषय मे सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एव परमाणु शक्ति के जनक अलवर्ट आइन्स्टीन (Albert Einstein) ने एक बार कहा था:—

> "गाधी ने यह प्रदर्शित कर दिया कि एक शक्तिशाली मानव समूह को, चालाकी या चालबाजी द्वारा ही नही, जैसा कि सामान्य राजनीति में किया जाता है, किन्तु जीवन आचरण के श्रेष्ठ नैतिक उदाहरण द्वारा संगठित किया जा सकता है। इस पूर्ण नैतिक पतन के युग मे गांधी ही एक ऐसे राजनीतिज्ञ थे जो राजनीतिक क्षेत्र मे उच्च मानवीय सम्बन्धों पर दृढ़ रहे।"[89]

महात्मा गाधी यह भी अच्छी तरह समझते थे कि भारतीय जनता से किस प्रकार अपील की जाय तथा किस प्रकार उनके मस्तिष्क को प्रभावित किया जाय। इसलिये उन्होने सबसे पहिले स्वयं और जनता के मध्य की दूरी को समाप्त किया। उन्होंने अपने को भारत के निर्धन एवं दलित वर्ग से पूरी तरह मिला लिया। गांधीजी ने निर्धन वर्ग जैसी ही वेष भूषा को ग्रहण किया तथा एक दिन में अपने भोजन मे कभी भी पांच खाद्य चीजों से अधिक न खाने का प्रण लिया था।[90]

उनकी भाषण पद्धति पूर्णतः भारतीय शैली पर आधारित थी। प्रार्थना सभाओ मे अपने विचार व्यक्त करना, धार्मिक उदाहरण देकर सामान्य जनता को समझाकर उन्हें विश्वस्त करना आदि से भारतीय जनता बिना प्रभावित हुए न रह सकी। महात्मा गांधी ने भारतीयकरण का सही स्वरूप प्रस्तुत किया। परिणाम-स्वरूप वे बड़े लोकप्रिय हुए तथा लगभग सम्पूर्ण देश का प्रभावशाली नेतृत्व कर सके।

88. Pyarelal, Mahatma Gandhi, The Last Phase, Vol. I, p. II;
आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 709.
89. Quoted by Louis Fischer in The Life of Mahatma Gandhi, Jonathan Cape, London, 1951, p. 22-23.
90. Kulkarni, J. B, The Indian Triumvirate, p. 227.
Kriplani, J. B, Gandhi : His Life and Thought, p. 344.

गाधीजी के आदर्श समाज मे राज्य अनावश्यक है। किन्तु आदर्श समाज की प्राप्ति जब हो सकती है यदि व्यक्ति पूर्ण हो तथा दूसरो के प्रति अपने कर्तव्यो को समझे। गाधीजी का विचार था कि इस अवस्था की प्राप्ति मे काफी समय लगेगा। इसलिए तब तक के लिए राज्य अनावश्यक होते हुए भी आवश्यक हैं। गाधीजी ने राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप मे ही स्वीकार किया है। चू कि राज्य एक बुराई है इसलिए इसमे सुधार आवश्यक है। व्यावहारिक रूप मे गाधीजी जिस राज्य को स्वीकार कर सकते हैं वह 'अहिंसात्मक राज्य (non violent state) ही हो सकता है।[61]

राज्य के विषय मे गाधीजी के विचार अराजकतावादी हैं। इस सम्बन्ध मे दो मत नही हो सकते कि तत्कालीन परिस्थितियो मे राज्य के बिना सिर्फ कार्य ही नही चल सकता, वरन् राज्य को व्यापक अधिकार भी देने पडते हैं। आजकल प्रत्येक राज्य विभिन्न सकारात्मक कार्य करता है ताकि जन-कल्याण मे अभिवृद्धि हो सके। यहाँ तक तो गाधीवाद परिस्थितियो के अनुकूल नही लगता। किन्तु गाधीवाद में जो सत्यता है उसकी अवहेलना नही की जा सकती। इसमे सन्देह नही कि राज्य के व्यापक अधिकार होने चाहिए परन्तु इतने व्यापक नहीं कि राज्य अधिनायकवादी बन जाय तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अतिक्रमण होता रहे। गाधीवाद का महत्व इसी क्षेत्र मे है। वे तत्वत· राज्य की अधिनायकवादी प्रवृत्ति के जितने विरुद्ध थे उतने राज्य सस्था के नही।

महात्मा गाधी ने आर्थिक एव राजनीतिक दोनो ही क्षेत्रो मे स्वतन्त्रता एव समानता को सन्तुलित करने का प्रयत्न किया। सम्भवतः आलोचक इस तथ्य को समझने म त्रुटि करते हैं। गाधीवाद का यह तत्व तो पूर्ण विदित है कि वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे। किन्तु वे यह भी स्वीकार करते थे कि आर्थिक स्वतन्त्रता एव समानता के बिना अन्य सभी अधिकार खोखले एव व्यर्थ हैं। यही कारण है कि उन्होंने व्यक्ति, ग्राम, तथा देश को आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनाने के लिए कई योजनाओ को कार्य रूप दिया। उनका स्वदेशी सिद्धान्त, गृह उद्योगो का समर्थन, चरखा एव कताई का महत्व, वर्ण व्यवस्था का पेशेवर आधार, शिक्षा एव श्रम का सम्बन्ध स्थापित करना आदि, इसी धारणा की अभिव्यक्ति हैं। किन्तु वे आर्थिक प्रगति का उस सीमा तक ही समर्थन करते थे जहाँ तक कि वह मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए आवश्यक हो। वे व्यक्ति या राज्य को भौतिकवादी नहीं बनने देना चाहते थे।

विश्व के सभ्य समाज तथा लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओ को महात्मा गाधी का एक और मुख्य योगदान साधनों के क्षेत्र मे है। उन्होंने इस विचार को कभी भी

61 Ghosal, H R., in Gandhian Concept of State edited by B. B Majumdar, Bihar University, Patna, 1957, p 156.

मान्यता नहीं दी कि अच्छे साध्यों की प्राप्ति किसी भी प्रकार के साधनों द्वारा हो सकती है। उनकी दृष्टि में साध्य तो श्रेष्ठ होना ही चाहिये किन्तु उनकी प्राप्ति भी पवित्र साधनों से होनी चाहिये। यदि साधन ठीक नही है तो उपलब्ध साध्यों का कोई महत्व नही।

भारत में कई समाज सुधारक हुए हैं। महात्मा गाधी इन समाज सुधारकों में सम्भवतः सबसे महान थे। उन्होंने समाज से ऊँच-नीच, छुआ-छूत, पर्दा प्रथा, बाल विवाह, तथा देवदासी प्रथा का डट कर विरोध किया। महिला उत्थान के अलावा उनकी विशेष दिलचस्पी हरिजन उद्धार, नशाबन्दी तथा गौ-वध पर प्रतिबन्ध लगाने मे थी। भारत में दलित वर्ग, पिछड़ी जातियो तथा हरिजनों के लिए जितना कार्य गाधीजी ने किया अन्य किसी समाज सुधारक ने नही किया। इनके लिये तो वे एक पेगम्बर जैसे ही थे।

गांधीजी ने श्रम को जो महत्ता दी तथा उनका 'रोटी के लिये श्रम' सिद्धान्त अपने आप में क्रान्तिकारी विचार है। भारत मे सामान्यतः शिक्षित वर्ग में शारीरिक श्रम के प्रति घृणा पाई जाती है। उनमे 'बाबूगिरी' या 'साहबपन' की बू निरन्तर घर करती जा रही है। गांधीजी ने इस मनोविज्ञान की घोर निन्दा की। वे नहीं चाहते थे कि भारतीयो मे शारीरिक श्रम के प्रति उदासीनता हो, तथा देश में श्रम करने वालो की उपेक्षा हो। आज के संदर्भ मे श्रम की प्रतिष्ठा और भी महत्वपूर्ण है।

गांधीवाद के योगदान के विषय में आचार्य कृपलानी के समग्र विचारों को देना उचित प्रतीत होता है। निष्कर्ष रूप में आचार्य कृपलानी ने लिखा है—

> "राजनीति का सत्य, अहिंसा और साधनो की पवित्रता द्वारा आध्यात्मिकीकरण करके, अन्याय एवं निरकुंशता का सत्याग्रह द्वारा सामना कर, तथा अपने रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा गाधीजी ने सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन का संयोग एवं समन्वय करने का प्रयत्न किया, तथा प्रभावकारी लोकतन्त्र की स्थापना कर उन्होंने न्याय और समानता पर आधारित समाज को नीव डालकर विश्व शान्ति के लिये मार्ग प्रशस्त किया।"[92]

---

92. Kriplani, J B., Gandhi : His Life and Thought, p 356.

पाठ्य ग्रन्थ

1	Andrews C F,	Mahatma Gandhi's Ideas
2	Bose, N K,	Studies in Gandhism
3	Dhawan, Gopinath,	The Political Philosophy of Mahatma Gandhi
4	Fischer, Louis,	The Life of Mahatma Gandhi
5	गाधी मोहनदास करमचन्द	सत्य के प्रयोग अथवा आत्म कथा
6	Kriplani, J B,	Gandhi His Life and Thought.
7.	Kulkarni, V B	The Indian Triumvirate, Chapter 7 Gandhi An Appraisal
8	Mashruwala, K G,	Gandhi and Marx
9,	Pyarelal,	Mahatma Gandhi, Phase, Vols I II
10	Radhakrishnan, S (Ed),	Mahatma Gandhi 100 Years
11	Tandulkar, D G,	Mahatma, Vols V. and VII

12

सर्वोदय

स्वाधीनता के उपरान्त सर्वोदय दर्शन ने भारतीय जन-मानस को काफी प्रभावित किया है। स्वाधीनता सग्राम के युग मे देशवासियो की आकाक्षा थी कि स्वतन्त्र भारत में एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना की जाय जो स्वतन्त्रता, समता और न्याय पर आधारित हो। महात्मा गाधी इन आकाक्षाओं के मूर्तरूप थे जिन्हें उन्होंने 'सर्वोदय' शब्द में व्यक्त किया। वे चाहते थे कि सत्य एव अहिंसा पर आधारित वर्ग-विहीन जाति-विहीन तथा शोषण-मुक्त समाज की स्थापना की जाय जिसमे प्रत्येक व्यक्ति एवं समूह को अपने सर्वाङ्गीण विकास के अवसर एवं साधन प्राप्त हो। यही सर्वोदय का लक्ष्य था, यही गांधीवाद का रचनात्मक पक्ष था।[1]

विकास

सर्वोदय का आदर्श हमारे लिये कोई नया नही है। विचार के साथ-साथ यह शब्द भी प्राचीन है। दो हजार वर्ष पूर्व जैनाचार्य समंतभद्र ने सर्वोदय-तीर्थ की भावना व्यक्त करते हुए कहा था:—

'सर्वापदामंतकरं निरंतं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव'

(सर्वोदय अन्तरहित [और] सब आपत्तियो का विनाशक [है] यह तेरा तीर्थ-निस्तारक ही [है]।)

गीता में 'सर्वभूतहिते रता:' का भी तात्पर्य सर्वोदय है। ऋषियो की यह प्रार्थना सैकड़ों वर्ष पुरानी है, जिसमें कहा गया है कि—

'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दु:खमाप्नुयात ॥

(सब ही सुखी हों। सब नीरोग हों। सब मंगलो का दर्शन करें। कोई भी दु:ख न पाये।)

रस्किन (John Ruskin) की पुस्तक—Unto This Last—का गांधीजी के विचारों तथा सर्वोदय दर्शन के विकास मे महत्वपूर्ण स्थान है। रस्किन की इस पुस्तक का सार है कि—

1. ईमानदारी के प्रति श्रद्धा रखना तथा धन का ईमानदारी के साथ ही उपार्जन करना चाहिये।

---

1 सर्वोदय के विषय में डा. इन्दु टिकेकर की पुस्तक का नाम 'क्रान्ति का समग्र दर्शन' है। यह शीर्षक उस पुस्तक पर ही आधारित है।

2. डाक्टर, लेखक या सिपाही आदि सभी की देश के लिये समान सेवा होती है।

3. सम्मान का मूल सद्भावना और सहानुभूति है।

4. समाज मे विद्रोह सम्पत्ति के दुरुपयोग पर निर्भर करता है।

5. निर्धन का शोषण चोरी है।

रस्किन के विचारों का गांधीजी ने त्रि-सूत्री सार इस प्रकार दिया है

प्रथम, व्यक्ति का श्रेय समष्टि के श्रेय म ही निहित होता है।

द्वितीय, वकील के कार्य की कीमत भी नाई के काम की कीमत के समान ही है, क्योंकि हर एक को अपने व्यवसाय द्वारा अपनी आजीविका चलाने का समान अधिकार है।

तृतीय, श्रमिक का अर्थात् किसान अथवा कारीगर का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट जीवन है।[2]

लेकिन जिस विचार का गाधीजी पर विशेष प्रभाव पडा वह था कि "सम्पत्ति निर्धनो की ओर बहनी चाहिये।" रस्किन ने लिखा था—

> "सम्पत्ति तो नदी की तरह प्रवाहशील होती है। नदी समुद्र की ओर अर्थात् उतार की तरफ बहती है। उसी तरह सम्पत्ति का प्रभाव भी उतार की दिशाओ मे अर्थात् गरीबा की ओर बह निकले, तो वह निःसन्देह जीवनदायी एव सुखदायी सिद्ध होगा।"[3]

यह विचार रस्किन की पुस्तक का मूलमन्त्र था तथा यही गाधीजी का सर्वोदय था।

जिस अर्थ मे आज सर्वोदय एक प्रेरक शक्ति बन गया है उस अर्थ मे उसका सर्वप्रथम उपयोग गाधीजी ने ही किया था। रस्किन की पुस्तक का उन्होंने गुजराती मे सक्षिप्त अनुवाद किया था तथा इसकी भूमिका म गाधीजी न लिखा है:—

> "रस्किन की इस पुस्तक का मैंने शब्दश अनुवाद नही किया है, केवल सार दिया है। प्रत्येक शब्द का अनुवाद किया जाता, तो यह सम्भव था कि बाइबल आदि ग्रन्थो के कितने ही दृष्टान्त पाठकों की समझ मे न आते। मूल अंग्रेजी पुस्तक क नाम का भी शब्दश अनुवाद नही किया है: क्योंकि उसका भी अर्थ केवल वही पा सकते हैं जिन्होने अंग्रेजी मे बाइबल पढी है और इस पुस्तक का उद्देश्य तो सबका उदय यानी उत्कर्ष करने का है, अत मैंने इसका नाम 'सर्वोदय' रखा है।"[4]

इस प्रकार सर्वोदय 'शब्द' और 'विचार' दोनो का ही अभ्युदय हुआ। आगे चलकर भारतीय स्वाधीनता सग्राम के सन्दभ म जैसे-जैसे 'स्वराज' के आतरिक

---

2 शकरराव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, पृ 43

3 उद्धृत शकर राव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, पृ. 25

4 उद्धृत, शकरराव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र पृ. 8

तत्वों में विस्तार हुआ वैसे-वैसे रचनात्मक कार्यों के सन्दर्भ मे सर्वोदय के विभिन्न सूत्रों का विकास होता चला गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद ही गांधीजी अपने आन्दोलन के दूसरे और वृहत्तर पहलू को कार्यान्वित करने के लिये किसी राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम की अपने मन मे योजना बना रहे थे। महात्मा गांधी को यह अवसर नही मिल पाया कि वे समाज बदलने और उसके पुनर्निर्माण की अपनी अहिंसक पद्धति का दर्शन करा सकते। 'स्वराज' को व्यावहारिक रूप देने का जैसे ही अवसर आया, मौत ने उन्हे हमारे बीच से छीन लिया। इसमे सन्देह नही कि भावी रचनात्मक कार्य के लिये गांधीजी ने बहुत कुछ कहा और लिखा। साथ ही साथ उन्होने अपने भावी कार्यक्रमों की बुनियाद डालना लगभग उसी समय से प्रारम्भ कर दिया था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व 'स्वराज' शब्द से लोगो की प्रेरणा मिलती रही। 'स्वराज' शब्द इतना व्यापक था कि इसमे देश का स्वाधीनता सग्राम, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रम सभी सन्निहित थे। फिर भी गांधीजी अपने रचनात्मक कार्यक्रम तथा स्वराज्य के उपरान्त 'मेरे सपनो का भारत' को एक नये ही शब्द मे ढालना चाहते थे। अन्त मे उन्हे वह शब्द मिल गया जिसे सर्वोदय कहते हैं। सर्वोदय वास्तव मे स्वराज्य के आगे की कड़ी है।

सर्वोदय गांधीवाद का रचनात्मक विस्तार है। गांधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम ऐसे समाज की स्थापना का कार्यक्रम है जो प्रेम और अहिंसा का व्यावहारिक स्वरूप हो। देश जैसे-जैसे स्वतन्त्रता के निकट आता गया गांधीजी अपने रचनात्मक कार्यक्रम को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न करने लगे। यहां दो बातो का उल्लेख आवश्यक है। प्रथम, स्वतन्त्रता संग्राम मे गांधीजी ने अपना सर्वस्व जीवन न्यौछावर कर दिया था। वे राष्ट्र के कर्णधार थे, उनके मार्गदर्शन से देश स्वतन्त्र हुआ। किन्तु अपने आदर्श के अनुरूप देश का पुनर्निर्माण करने के लिये सत्ता अपने हाथ मे नही ली। द्वितीय, उनका प्रस्ताव था कि स्वाधीनता के उपरान्त कांग्रेस को राजनीतिक क्षेत्र से हटकर स्वयं को 'लोक सेवा संघ' में समेट लेना चाहिये। सच्चे गांधीवादी अनुयायियों को इनसे बड़ी प्रेरणा मिली। किन्तु इसी समय गांधीजी हमारे बीच नही रहे उनकी मृत्यु के बाद उनके विचार ही उनकी अंतिम इच्छा और वसीयत बन गये।

महात्मा गांधी के विचार दूरगामी तथा श्रेष्ठ आदर्श की अभिव्यक्ति थे। जैसा कि डा. राधाकृष्णन ने लिखा है, उनके विचार ऐसे नही थे कि उनकी मृत्यु के बाद उनका रग उतर जाय या मुरझा जाये।[5] डा. राजेन्द्र प्रसाद की कामना थी कि कोई राष्ट्र या व्यक्ति अवश्य ही जागृत होगा जो गांधीजी द्वारा चलाये गये सत्य के प्रयोगों को आगे बढ़ा कर उन्हें पूरा करेगा ताकि उनके उद्देश्यो की प्राप्ति हो सके।[6] कांग्रेस

5. Radhakrishnan S., (Ed). Mahatma Gandhi, 100 Years, p.1
6. Pyarolal, Mahatma Gandhi, the Last phase, vol. I, Introduction by Dr. Rajendra Parsad, D. XVI.

पार्टी के प्रमुख नेताओ ने सत्ता से अलग होना व्यावहारिक नहीं समझा। आखिर फिर देश का शासन कौन चलाता ?

राजनीति मे जो गाधीवादी थे, या जिन्हे गाधीवाद मे श्रद्धा थी वे अवश्य ही गाधीवादी रचनात्मक कार्यों को आगे बढते हुए देखना चाहते थे। इसलिए कुछ गाधीवादियो ने स्वय को राजनीति से अलग रख कर रचनात्मक कार्यों को अपने हाथो मे ले लिया, ताकि किसी सीमा तक 'मेरे सपनो का भारत' को व्यावहारिक रूप दिया जा सके।

अग्रेजों ने भारत मे काफी गहरे पैर जमाने का प्रयत्न किया किन्तु उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन के समक्ष झुकना ही पडा। वे शान्तिपूर्वक देश छोडकर चले गये। भारत से अग्रेजो के जाने से गाधीजी का एक महान उद्देश्य पूरा हुआ। अब भारत का भविष्य भारतवासियो के हाथो मे आ गया। किन्तु इस देश के ही आर्थिक, सामाजिक अन्याय का यदि उन्मूलन करना था तो उसके लिये क्या करना चाहिये था। अपने देश मे भी राजे महाराजे, उच्चवर्गीय अमीर, पुलिस, गुण्डे आदि सभी थे। शोषण तथा सघर्ष भी कई रूप मे विद्यमान था। यद्यपि सरकार इनका सामना करने के लिये कृत-सकल्प थी, गाधीवादी यह मानते थे कि इन समस्याओ का सही ढग से समाधान करना सरकार के बस की बात नहीं थी। इसके लिये नये सत्याग्रह की आवश्यकता थी। इन उद्देश्यो को ध्यान मे रखते हुए कुछ रचनात्मक कार्यकर्ता मार्च 1948 मे सेवाग्राम म एकत्रित हुए। आचार्य विनोबा भावे इन कार्यकर्ताओं मे अग्रणीय थे तथा उनके सुझाव पर 'सर्वोदय समाज' की स्थापना हुई। एक वर्ष के उपरान्त ही 'सर्व सेवा सघ' की भी स्थापना हुई जिसका उद्देश्य 'सर्वोदय समाज' के उद्देश्यो को कार्यरूप देना था। लगभग इसी समय वर्धा से एक हिन्दी पत्रिका 'सर्वोदय' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जो बाद मे कई भाषाओ म प्रकाशित होने लगी। इस प्रकार गांधीजी के बाद सर्वोदय विचारधारा ने सक्रियता ग्रहण की।

सर्वोदय का अर्थ

सर्वोदय के अर्थ के विषय मे इस विचारधारा के जनक महात्मा गाधी के विचारो को सर्वप्रथम जानना आवश्यक है। गाधीजी के निम्नलिखित शब्दो से सर्वोदय का मूल एव आधार स्पष्ट हो जाता है। गाधीजी ने अपनी पुस्तक 'सर्वोदय' की भूमिका मे लिखा है—

> "पश्चिम के देशो मे साधारणत यह माना जाता है कि बहुसख्यक लोगो का सुख—उनका अभ्युदय बढाना मनुष्य का कर्तव्य है। सुख का अर्थ केवल शारीरिक सुख, रुपये-पैसे का सुख लिया जाता है। ऐसा सुख प्राप्त करने मे नीति के नियम भग होते हो तो इसकी अधिक परवाह नहीं की जाती। इसी तरह बहुसख्यक लोगो को सुख देने का उद्देश्य रखने के कारण पश्चिम के लोग थोडों को दु ख पहुँचाकर भी बहुतो को सुख दिलाने

में कोई बुराई नही मानते। इसका फल हम पश्चिम के सभी देशों मे देख रहे हैं। किन्तु पश्चिम के कितने ही विचारवानो का कहना है कि बहु-संख्यक मनुष्यों के शारीरिक और आर्थिक सुख के लिए यत्न करना ही ईश्वर का नियम नही है। केवल बहुसंख्यकों के लिए ही यत्न करें तथा उसके लिए नैतिक नियमों को भंग किया जाय, यह ईश्वरीय नियम के विरुद्ध आचरण है।"[7]

गांधीजी के विचारों से स्पष्ट है कि वे 'बहुमत का सुख' या 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' वाले सिद्धान्तों को पूर्णत. अस्वीकार करते हैं। उनका ध्येय तो समाज के सभी व्यक्तियों का सुख है, जिसे वे सर्वोदय कहते थे।

इस समय सर्वोदय के अग्रणीय विचारक आचार्य विनोबा भावे ने सर्वोदय की एक दूसरे ही दृष्टिकोण से व्याख्या कर उसे व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। सर्वोदय की व्याख्या करते हुए विनोबा भावे ने कहा है—

> "सर्वोदय का एक बहुत ही सरल और स्पष्ट अर्थ है। हम जैसे-जैसे इसका प्रयोग करते जायेंगे, वैसे-ही-वैसे उसके और भी अर्थ निकलेंगे। लेकिन यह उसका कम से कम अर्थ है। इसी से यह प्रेरणा मिलती है कि हमें अपनी कमाई का खाना चाहिए, दूसरों की कमाई का नही खाना चाहिये। हमे अपना भार दूसरे पर नहीं डालना चाहिए।"[8]

यहाँ विनोबा भावे ने स्वयं श्रम की महत्ता को सर्वोदय का प्रमुख तत्व माना है। मनुष्य को अपने जीवनयापन के लिये दूसरे के श्रम का शोषण नहीं करना चाहिये। एक अन्य संदर्भ मे उन्होंने कहा है कि मनुष्य को भौतिकवादी नही होना चाहिये। उसे स्वर्ण-माया का दास बन कर नही रहना चाहिये। सम्पत्ति एवं संग्रह मनुष्यों के पारस्परिक प्रेम मे बाधा है। लेकिन हम एक सादी सी बात समझ लें तो वह सध जायगा। हर एक व्यक्ति दूसरे की फिक्र रखे और अपनी फिक्र भी ऐसी न रखे, जिससे दूसरे को तकलीफ़ हो। परिवार में भी यही चलता है। परिवार का यह न्याय समाज पर लागू करना कठिन नही, आसान होना चाहिये। इसी को 'सर्वोदय' कहते हैं।[9] सर्वोदय के प्रमुख व्याख्याता शंकरराव देव ने सर्वोदय को निम्नलिखित ढंग से स्पष्ट किया है:—

> "सर्वोदय का सीधा और सरल अर्थ है 'सबका उदय'-'सबका विकास' अर्थात् 'सबका हित'। 'अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख' वाला तत्वज्ञान सर्वोदय स्वीकार नही करता। हमारी संस्कृति मे मनुष्य को

7. शंकर राव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, पृ. 7.
8. विनोबा : व्यक्तित्व और विचार, पृ. 347.
9. उपर्युक्त, पृ. 347.

सब भूतों के हित में रत रहना चाहिये—'सर्वभूतहिते रता.'। एक मनुष्य का हित दूसरे मनुष्य के हित के विपरीत नही हो सकता, सबका हित एक दूसरे के हित के अनुकूल ही हो सकता है, यह सर्वोदय का विचार है।"[10]

सुप्रसिद्ध गांधीवादी एवं सर्वोदय चिन्तक दादा धर्माधिकारी सर्वोदय की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि—

"सर्वोदय का नाम भले ही नया हो, पर उसका अर्थ सबका जीवन, सम्पन्न हो, इतना ही है। जीवन का अर्थ है कि विकास हो, अभ्युदय हो, उन्नति हो। विकास हो, इसलिये 'सर्वोदय'। लेकिन पुराने जमाने में 'अभ्युदय' शब्द का प्रयोग 'ऐच्छिक वैभव' इतने अर्थ तक ही सीमित था। इसलिये गांधीजी ने केवल 'उदय' शब्द का प्रयोग किया। एक साथ समान रूप से सबका उदय हो यही सर्वोदय का उद्देश्य है।"[11]

सर्वोदय दर्शन

जिस प्रकार गांधीजी ने अपने विचारों को किसी 'वाद' का रूप नही दिया, उसी प्रकार सर्वोदय चिन्तकों ने भी सर्वोदय को किसी 'वाद' या दर्शन के रूप में प्रस्तुत नहीं किया। वैसे सर्वोदय के विभिन्न स्वरूपों का समग्रता से स्पर्श करने वाला एक नया दर्शन खड़ा करने का प्रयत्न किया जाय तो यह आसानी से हो सकता है। लेकिन सर्वोदय विचारक स्वयं ही यह नहीं चाहते। यह चीज भी अपने में एक महत्वपूर्ण संकेत रखती है। "जो मानव के दुःख निवारण का कायल होता है, वह कभी तर्कप्रधान दर्शन का ढांचा, वाद या 'आइडियालॉजी' तैयार करने में नही लगता। आगे चल कर ये ही स्वतन्त्रचेता मनुष्य के लिये पंजर (पिंजड़े) बन जाते हैं तथा प्रवाही जीवन के सहज विकास में रुकावट डालते है।"[12]

यह पहले ही स्पष्ट है कि सर्वोदय दर्शन का आधार गांधीवाद ही है। आधुनिक परिस्थितियों में यह गांधीवाद का ही विकसित रूप है। इस प्रकार सर्वोदय दर्शन के सूत्र गांधीवादी सिद्धान्तों से अभिन्न हैं। गांधीवाद की भांति सर्वोदय का मूल सत्य एवं अहिंसा है। इसमें ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, स्वदेशी, ट्रस्टीशिप आदि सभी सिद्धान्तों को पूर्णतः स्वीकार किया गया है। राज्य, विकेन्द्रित-व्यवस्था, व्यक्ति-महत्त्व आदि के विषय में सर्वोदय गांधीवाद का ही विस्तार है। किन्तु कुछ पक्षों में, सर्वोदयी चिन्तकों ने अभिवृद्धि की है, जिससे सर्वोदय का अपना स्वयं का एक विकसित रूप हमारे सामने आता है। अगले कुछ पृष्ठों में इन्हीं पक्षों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

---

10. शंकरराव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, पृ. 5.
11. दादा धर्माधिकारी, सर्वोदय दर्शन, पृ 23.
12. इन्दु टिकेकर, क्रान्ति का समग्र दर्शन, पृ 2.

राज्य विलयन

राज्य के विषय मे महात्मा गाधी के विचार आदर्शवादी और व्यावहारिक दोनो ही थे। एक आदर्श के रूप मे वे राज्य के पूर्ण उन्मूलन के पक्ष में थे। एक व्यावहारिक होने के नाते वे फिलहाल राज्य के अधिकारों को अत्यन्त ही सीमित कर देना चाहते थे। किन्तु सर्वोदयी विचारको ने इस सम्बन्ध में पूर्णत: अराजकतावादी आदर्श ग्रहण कर लिया है। सर्वोदयी चिन्तको का विश्वास है कि राज्य सस्था के होते हुए सर्वोदयी समाज की स्थापना नही हो सकती। वे राज्य के कार्य-क्षेत्र और उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को गहरी शंका और भय की दृष्टि से देखते हैं। इसके अलावा, वे सत्ता के विकेन्द्रीकरण को भी सर्वोदय समाज रचना के लिये उत्साह जनक नहीं मानते। सर्वोदय का उद्देश्य शासन से पूर्ण मुक्ति प्राप्त करना है जिसके लिये राज्य का उन्मूलन आवश्यक है।

मार्क्सवाद के अनुसार साम्यवादी व्यवस्था राज्य-रहित होगी। सर्वोदय उद्देश्य मार्क्सवाद से भिन्न नही है। किंतु जिस प्रकार मार्क्सवादी सिद्धान्तों पर आधारित कई देशो में साम्यवादी क्रान्तियाँ हुई हैं वे शासन राज्य उन्मूलन की ओर नही; अधिनायकवाद की ओर अग्रसर हुए है। सर्वग्रासी सत्ता के मार्ग में राज्य विलयन का मुकाम कभी नही आ सकता। सर्वोदय विचारक मानते हैं कि सर्वोदय के अन्तर्गत राज्य विलयन सम्भव है। सर्वोदय में सत्ता, दल नियन्त्रण आदि मे कोई विश्वास नही किया जाता। 'सर्वोदय समाज' स्वय ही अपनी सस्थाओं एवं सेवकों पर कोई नियन्त्रण नही करता। उनका कहना है कि जहा प्रेम एवं सहयोग है, वहां शासन की कल्पना नही की जा सकती।[13] मनुष्य जब बिना किसी प्रकार के बाह्य दबाव या अंकुश के अपने साथियो मे बन्धुत्व, न्याय और सहयोग के साथ रहने के योग्य हो जायगा इसका तात्पर्य होगा कि उसका विकास हो गया है। मनुष्य मे बिना किसी प्रकार बाह्य दबाव या अकुश के अपने साथियो के मध्य सहयोग एव न्यायपूर्वक रहने की क्षमता को विकास की कसौटी मानते हैं। सर्वोदयी विचारको का कहना है कि वे इस ओर अग्रसर हो रहे है तथा राज्य विलयन के सिद्धान्त को सम्भव बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं।[14]

दल-विहीन व्यवस्था

अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये सर्वोदयी विचारक परम्परागत राजनीतिक साधनो में विश्वास नही करते। इसी कारण वे दल-पद्धति को कोई महत्व नही देते सर्वोदय विचारधारा दलगत राजनीति से पूर्ण पृथक है। उनके निश्चित साध्य

13. विनोवा, व्यक्तित्व और विचार, पृ. 409-10.
    शंकरराव देव, सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, पृ. 10.
14. जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, पृ. 49-51.

एव निश्चित साधन सिद्धान्त हैं, इसलिये समाज को विभिन्न उद्देश्यों के अनुसार दल-विभाजन की कोई आवश्यकता नही। यह सम्पूर्ण समाज को अपने साथ लेकर चलने वाली विचारधारा है।

महात्मा गाधी ने अपना सारा जीवन राजनीति म बिताया, किन्तु वे परम्परागत अर्थ मे राजनीतिज्ञ नही थे। गाधीजी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन का नेतृत्व किया तथा वे केवल इस दृष्टि से राजनीतिज्ञ थे क्योकि इस आन्दोलन का लक्ष्य राष्ट्रीय स्वाधीनता था। वह किसी दल के लिये सत्ता का आन्दोलन नही था। "यदि उसका लक्ष्य सत्ता था तो वह सत्ता पूरे भारतवर्ष की जनता के लिये थी। इसम वे लोग भी सम्मिलित थे जो पाकिस्तान बनाने के लिये अलग हुए, और दोनो हिन्दुस्तानो मे जितने दल मौजूद थे वे और जो भविष्य मे बनेंगे, वे भी सम्मिलित थे। गाधीजी किसी दल के नेता नही थे जो अपने दल की सत्ता के लिये लडते और दाव-पेच खेलते। यदि ऐसा होता, तो उनके मन मे काग्रेस को सत्तावादी राजनीति छोडने की बात कहने का कभी विचार ही न आता।,,[15]

गाधीजी के निर्दलीय विचार सर्वोदय के लिये प्रेरणा है। सर्वोदय विचारधारा के प्रचार के लिये 'सर्वोदय समाज' तथा अन्य सस्थाऐं जैसे 'सर्व-सेवा सघ' आदि की स्थापना की गई। ये सभी गैर राजनीतिक सस्थाएं हैं। इसका तात्पर्य है कि 'सर्वोदय समाज' स्वय मे कोई राजनीतिक दल नही है। यह एक अत्यन्त ही मुक्त सस्था है। कोई भी व्यक्ति वह चाहे किसी राजनीतिक दल का ही सर्वोदय समाज का सदस्य बन सकता है, और न ही प्रशासनिक कर्मचारियो पर ही कोई प्रतिबन्ध है। वे भी इसके सदस्य बनने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हैं।

श्री जयप्रकाश नारायण जो समाजवादी दलों के शीर्षस्थ एव सक्रिय सदस्य रहे हैं, अब दलीय पद्धति के कटु आलोचक हैं। "दलीय राजनीति का," श्री जयप्रकाश नारायण ने लिखा है, "परम्परागत स्वभाव है। सत्ता के लिये उसमे सब तरह से निर्बल और दूषित कर देने वाले सघर्ष होते ही हैं, यही बात मुझे अधिक चिन्तित करने लगी। मैंने देखा धन सगठन और प्रचार के साधनो के बल पर विभिन्न दल कैसे अपने को जनता के ऊपर लाद देते हैं, कैसे जनतन्त्र यथार्थ मे दलीय-तन्त्र अपने क्रम से स्थानिक चुनाव समितिया और निहित स्वार्थों से सम्बद्ध गुटों का राज्य बन जाता है, किस प्रकार जनतन्त्र केवल मतदान में सिमिट और सिकुड कर रह जाता है"[16] आज की दल पद्धति जनतन्त्र को अवास्तविक बना देती है।

सर्वोदय मे दल पद्धति को लोकनीति और जनशक्ति के विकास मे बाधक माना जाता है, सर्वोदय समाज की स्थापना मे जो स्वतन्त्रता और अभिक्रम

15. जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, पृ 45-46
16 जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, पृ. 46,

(initiative) की अत्यन्त आवश्यकता है, उसे दलीय पद्धति कुंठित कर देती है। "दलीय पद्धति लोगों को भेड़ों की स्थिति में ला देना चाहती है, जिनका एकाधिकार केवल नियत समय पर गड़ेरियो को चुन लेना है, जो उनके कल्याण की चिन्ता करेंगे।"[17] इस प्रकार इस प्रणाली मे स्वतन्त्रता का कही दर्शन नही होता। यह स्वराज्य स्थापित करने और अपनी व्यवस्था अपने आप सभालने मे कभी भी सहायक नही हो सकती।

सर्वोदय की दल-विहीन विचारधारा लोकतान्त्रिक व्यवस्था मे अव्यावहारिक है, किन्तु भारत मे कम से कम स्थानीय स्व-शासन सस्थाओ के चुनावो मे इसका प्रभाव अवश्य ही दृष्टिगोचर होता है। सामान्यतः भारत के सभी राजनीतिक दल यह स्वीकार करते हैं कि स्थानीय चुनावो मे वे अपने प्रत्याशी खडे न करें। कम से कम एक सीमित क्षेत्र में ही इस विचार को सैद्धान्तिक मान्यता तो मिली ही है।

लोकनीति

सर्वोदय आजकल की प्रचलित राजनीति में विश्वास नहीं रखता। सर्वोदयी चिन्तक आज की राजनीति को राज्य-सत्ता, पुलिस और सेना-सत्ता पर आधारित मानते हैं। "यह शस्त्र-सत्ता पर जीती है, कानून की छत्रछाया मे बढ़ती है, धन-सत्ता के भरोसे पलती पनपती है और विज्ञान के जरिये विकसित होती है। परन्तु इतने साधनों से सज्जित रहने पर भी यह शत-प्रतिशत जनता को सुखी करने में अपने को असमर्थ पाती है।"[18] आज नागरिक सम्प्रदाय और जाति से भिन्न नही है। वह सत्ता के लिये सारी शक्ति खर्च कर देता है। सर्वोदयी ऐसी राजनीति का समर्थक है जो दल और सत्ता से मुक्त हो, जिसे विनोबा भावे 'लोकनीति' कहते हैं। राजनीति और लोकनीति मे व्यापक अन्तर है। इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए प्रमुख सर्वोदयी विचारक श्रीकृष्णदत्त भट्ट ने लिखा है:—

"राजनीति में जहां शासन मुख्य है, वहा लोकनीति मे अनुशासन; राजनीति में जहा सत्ता मुख्य है, वहां लोकनीति मे स्वतन्त्रता। राजनीति मे जहां नियन्त्रण मुख्य है, वहां लोकनीति मे संयम, राजनीति मे जहाँ सत्ता व अधिकारो की स्पर्धा मुख्य है, वहां लोकनीति मे कर्तव्यों का आचरण। सर्वोदय का क्रम यही है कि शासन से अनुशासन की ओर, सत्ता से स्वतन्त्रता की ओर, नियन्त्रण से संयम की ओर और अधिकारो की स्पर्धा की ओर से कर्त्तव्यो के आचरण की ओर बढो।"[19]

क्या संसद द्वारा लोकनीति सम्भव है ? गांधीवादी परम्परा का पालन करते हुए सर्वोदयी चिन्तक संसद और आधुनिक प्रतिनिधि प्रणाली के विरुद्ध हैं। वे सम-

---

17. उपरोक्त, पृ. 47.
18. दादा धर्माधिकारी, सर्वोदय दर्शन, श्री कृष्णदत्त भट्ट द्वारा लिखित आमुख, पृ. 90.
19. उपरोक्त, पृ. 90.

मते हैं कि सर्वोदय क्रान्ति ससद के द्वारा सम्भव नहीं है क्योंकि इसमे जिस प्रकार के प्रतिनिधि होते हैं तथा इनकी जो कार्य-पद्धति है वह समदीय सस्थाओं को क्रान्ति के बिलकुल ही अनुपयुक्त बना देती है।

लोकनीति में सरकार को नहीं जनता को प्राथमिकता और प्रमुखता दी जाती है। लोकनीति की स्थापना मे सरकार किसी भी तरह सहायक नहीं हो सकती। यह तो केवल अ-माध्यम से ही सम्भव है। एक प्रवचन मे विनोबा भावे ने कहा है—

"सरकार इस कार्य मे कुछ नहीं कर सकती। आखिरकार सरकार एक बाल्टी (bucket) जैसी है, जबकि जनता एक कुए के समान है। यदि कुए में ही पानी नहीं होगा, तो बाल्टी मे कहाँ से आयेगा। हम सीधे पानी की स्रोत-अर्थात् जनता—तक जायेंगे। जो कार्य सरकार नही कर सकती, वह जनता कर सकती है।"[20]

विकेन्द्री व्यवस्था

सर्वोदय के अन्तर्गत तत्कालीन व्यावहारिकता को ध्यान मे रखते हुए विकेन्द्री व्याख्या का समर्थन किया जाता है। श्री जयप्रकाश नारायण ने अपने ग्रन्थ—**"भारतीय राज्य व्यवस्था की पुनर्रचना के कुछ सुझाव'**—मे विकेन्द्री व्यवस्था की व्याख्या की है। वे गाधीजी के शब्द उद्धृत करते हुए कहते है—

"मानवीय जगत असख्य देहातो के व्यापक होते चले जाने वाले वर्तुलो से सम्पन्न सागर के समान रहेगा। यह रचना पिरामिड जैसी चोडे आधार पर चोटी तक चढ़ती जाने वाली नही रहेगी। इसका केन्द्र रहेगा व्यक्ति, जो देहात के लिए मर मिटने को तैयार होगा। हर देहात देहातो के समूह के हित के लिए अपना स्वार्थ पीछे रखेगा और इसी तरह आखिर तक सम्पूर्ण मानव-समाज व्यापक इकाइयो का बनता चला जायगा।'[21]

इन इकाइयो को जोडने वाली कडियाँ भी रहेंगी। लेकिन इनकी हर क्षेत्र मे एकता आवश्यक नही। इस समाज-व्यवस्था का आदर्श होगा—"आवश्यक बातो मे एकता, शकापूर्ण अवस्था मे आजादी और सभी व्यवहारो म तितिक्षा।"[22]

सर्वोदयी समाज किसी प्रकार की आर्थिक केन्द्रीयता पर आधारित नही होगा। तथाकथित लोकतान्त्रिक राष्ट्रो म जो केन्द्रस्थ महाकाय यन्त्रो के कन्धो पर चढी हुई अर्थ व्यवस्था है उसने शुरू से आज तक गरीबो या गरीब देशो का शोषण ही किया है।"[23] सर्वोदय म विकेन्द्रितता निहित है। राक्षसी केन्द्रित उत्पादन के बदले घर-

---

20. Suresh Rambhai, 'Vinoba and his Mission' p 170
21. उद्धृत, इन्दु टिकेकर, क्रान्ति का समग्र दर्शन, पृ 41.
22. उपर्युक्त, पृ 41.
23. इन्दु टिकेकर, क्रान्ति का समग्र दर्शन, पृ 42

घर व्यापक क्षेत्र मे लाखो लोग उत्पादन कार्य करें, यह उनकी दृष्टि है। सर्वोदय व्यवस्था राज्य समाजवाद नही जन समाजवाद होगा।

आजकल प्रचलित विकेन्द्रित राजनीति को सर्वोदयी विचारक मान्यता नही देते। आधुनिक राज्य मे सत्ता का प्रान्तो, जिलो, नगरपालिकाओ, ग्राम-पंचायतो में वितरण तो किया जाता है, लेकिन सत्ता का केन्द्र पहले जैसा ही सबल बना रहता है। इसके अलावा जिन-जिन क्षेत्रो मे सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया है, वे सभी क्षेत्र अपने लिये एक छोटा-छोटा राज्य बना लेते हैं। आज की विकेन्द्रित राजनीति मे हर एक व्यक्ति का अपना-अपना क्षेत्र और अपनी-अपनी सत्ता का छोटा मोटा केन्द्र है। यह न तो विकेन्द्रीकरण है और न लोक सत्ता।

एक अन्तिम उद्देश्य के रूप मे सर्वोदयी सभी प्रकार के सत्ता-केन्द्र, दलगत राजनीति आदि को समाप्त कर वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन और राज्य-रहित समाज की स्थापना करना चाहते हैं। इस व्यवस्था मे प्रशासन कम होता चला जाये, अनुशासन बढ़ता चला जाये और अन्त मे केवल स्व-शासन रह जाये। इस व्यवस्था में व्यक्तियो का नही, वस्तुओ का नियन्त्रण होगा। इस आदर्श की अभिव्यक्ति श्री जयप्रकाश नारायण ने निम्नलिखित शब्दो मे की है:—

सर्वोदय की भी एक राजनीति है; किन्तु यह राजनीति भिन्न प्रकार की है। मैंने इसको 'जनता की राजनीति' कहा है, जो सत्ता और दल की राजनीति से सर्वदा पृथक है। लोकनीति राजनीति से पृथक है। सर्वोदय की राजनीति मे कोई दल नही होता और न सत्ता से ही उसका कोई सम्बन्ध होता है। वस्तुतः इसका लक्ष्य सत्ता के समस्त केन्द्रो को समाप्त कर देना है। जितनी अधिक यह नयी राजनीति बढ़ेगी, उतनी ही अधिक पुरानी राजनीति सिकुड़ेगी। सही अर्थ मे यही होगा, राज्य का क्षय।"[24]

जन-शक्ति

भूदान तथा अन्य रचनात्मक कार्यों के पीछे एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण उद्देश्य है। सर्वोदय मे राज्य तथा शक्ति को वैसे ही मान्यता प्रदान नही की गई है। जब राज्य का क्षय प्रारम्भ होगा तथा किसी भी प्रकार की शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता नही होगी, उस समय सब कुछ व्यक्तियो की नैतिक शक्ति पर निर्भर करेगा। व्यक्तियो को इस स्थिति के लिए जागृत करना होगा। रचनात्मक कार्यों के पीछे सर्वोदयी कार्यकर्ताओ का यह उद्देश्य है कि देश मे 'स्वतन्त्र जनशक्ति' (self-reliant power of the people) का निर्माण किया जाय ताकि व्यक्तियो मे 'विचार शासन' और 'कर्तव्य विभाजन' का पूर्ण विकास हो जाय। विचार शासन का तात्पर्य शान्तिपूर्ण उपायो से दूसरो को अपने विचारो से प्रभावित कर कार्य करने की प्रेरणा

---

24. जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, पृ. 69.

देना है। कर्तव्य विभाजन का अर्थ है कि व्यक्ति बिना प्रशासन की सहायता के अपने-अपने कार्यों का विभाजन स्वय ही कर ले। जब ऐसी जनशक्ति का निर्माण हो जायगा तब वर्ग-विहीन और शोषण-मुक्त समाज की रचना अधिक सम्भव हो जायगी।[25]

'जय हिन्द' से 'जय जगत' की ओर

सर्वोदय विचारधारा का क्षेत्र केवल भारत तक ही सीमित नही, यह विश्व की विचारधारा है। सम्पूर्ण विश्व की उन्नति इसका लक्ष्य है। "मानवमात्र एक भ्रातृसमुदाय का अग है। धर्म, जाति, वश, लिग, राष्ट्र, विचार आदि की विभिन्नताएँ मानव को मानव से अलग नही कर सकती। मानवता सब मे समान है। इसलिये व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अधिकार हर एक को है। व्यक्ति-व्यक्ति के विकास मे कोई विरोध नही है। बल्कि सम्पूर्ण मानव-जाति का समग्र विकास और उत्थान अविभाजित एव एकात्मकस्वरूप है।"[26] इस प्रकार सर्वोदय आन्दोलन का विश्वव्यापी होना स्वाभाविक ही है। एक देश मे सर्वोदय तथा दूसरे मे दमन एव शोषण असह्य है।

सर्वोदय के अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष पर विचार व्यक्त करते हुए विनोबा भावे ने कहा कि दुनिया मे वेग से विचार आगे बढ रहे हैं। धीरे-धीरे सभी देशो की सरहदें टूटने वाली हैं। अब विश्व को सम्मिलित परिवार बनाने की भावनाएँ बढ रही हैं।[27] इसी तत्व को श्री जयप्रकाश नारायण ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

> "सर्वोदयी विश्व समाज मे वर्तमान राष्ट्रो के भ्रम से बने हुये राज्यो का कोई स्थान नही होगा। सर्वोदय-दृष्टि विश्व दृष्टि है और गांधीजी के समुद्रीय वर्तुल के केन्द्र मे खडा हुआ व्यक्ति विश्व-नागरिक है।"[28]

सर्वोदय का रचनात्मक पक्ष

क्रान्ति पद्धति

वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन तथा राज्य-रहित सर्वोदयी समाज की स्थापना के लिये नवीन कार्य पद्धतियो का विशेष महत्व है। सर्वोदयी कार्य-पद्धति हिंसात्मक साधनो के विरुद्ध होने के साथ कानून की उपादेयता मे भी आस्था नही रखती। वे कानून को भी एक प्रकार से बल प्रयोग ही समझते हैं। सर्वोदयी विचारधारा अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये ऐसे साधनो का समर्थन करती है जिससे मनुष्य के जीवन मे क्रान्ति आये, उसका हृदय परिवर्तन हो तथा अन्त मे सर्वोदयी क्रान्ति के लिये मार्ग प्रशस्त हो सके। सर्वोदयी विचारको का कहना है कि जब

25 Suresh Rambhai, Vinoba and His Mission, p 106, 171-79

26 इन्दु टिकेकर, क्रान्ति का समग्र दर्शन, पृ. 4.

27. विनोबा : व्यक्तित्व और विचार, पृ. 351.

28. जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, पृ. 59.

तक मनुष्य का हृदय नही बदलता, जीवन के मूल्यो मे परिवर्तन नही होता, तब तक कोई स्थायी क्रान्ति नही हो सकती। डा. राधाकृष्णन् के शब्दों में "आचार्य विनोबा भावे ने जंगल के कानून को ठुकरा दिया। उन्होंने असेम्बली के कानून तक का सहारा नही लिया बल्कि प्रेम के कानून के ऊपर उन्होंने अपनी श्रद्धा आधारित की है और यह प्रेम का ही कानून सबसे ऊँचा है।"[29]

शान्ति सेना

सत्याग्रह चलाने के लिये महात्मा गांधी ऐसे स्वयं-सेवको के दल का निर्माण करना चाहते थे जो सत्य और अहिंसा पर स्वय को न्यौछावर करने के लिये सदैव तत्पर रहे। यही शान्ति सेना के गठन का आधार था। यह कहना सम्भव नही कि शान्ति सेना का निर्माण कब हुआ तथा इसका संगठन किस प्रकार का है। किन्तु सर्वोदय समाज के सभी सदस्य एक प्रकार से शान्ति सेना के सदस्य हैं। गांधीजी के सत्याग्रही सहयोगी, विनोबा भावे के भूदान कार्यकर्त्ता सभी शान्ति सैनिक हैं।

शान्ति सेना का उद्देश्य सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का समाधान शान्ति, प्रेम, अहिंसा द्वारा करना है। दुर्गुणो पर प्रेम द्वारा विजय प्राप्त कर सर्वोदयी उद्देश्यो को आगे बढ़ाने मे प्रमुख योगदान देते हैं। दुर्दान्त निर्दयी डाकुओ पर सरकार की शक्ति विजय प्राप्त नही कर सकी। यह शान्ति सेना द्वारा ही सम्भव हो सका। जहाँ-जहाँ सरकार ने मद्य निषेध को समाप्त करने का प्रयत्न किया है वहीं-वही शान्ति सैनिक अड़ गये हैं। इस प्रकार देश की समस्याओं और सामाजिक कुरीतियो से लड़ने की शान्ति सेना की अपनी ही पद्धति है।

भूदान (भूमिदान) आन्दोलन

सर्वोदय क्रान्ति के लिये भूदान सबसे महत्वपूर्ण आधार-आन्दोलन है। भूदान का प्रारम्भ अप्रेल 1951 में आन्ध्र प्रदेश के पञ्चमपल्ली (तेलंगाना) स्थान से हुआ। यहां कुछ हरिजन आचार्य विनोबा भावे से मिलने आये और उन्हे अपनी भूमिहीनता की करुण कहानी सुनाई। उन्होंने विनोबा भावे को बतलाया कि यदि उन्हे 80 एकड़ भूमि मिल जाती है, तो वे भूमि पर श्रम कर अपनी जीविका-अर्जन कर सकते हैं। विनोबा भावे ने उसी समय उपस्थित जन-समूह से पूछा कि क्या कोई 80 एकड़ भूमि दे सकता है? उसी समय पञ्चमपल्ली के श्री रामचन्द्र रेड्डी ने 100 एकड़ भूमि के दान की तत्काल घोषणा की। यह सबसे पहला भूमिदान था। यही से भूदान आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। इसके बाद तो भूदान ने एक गति पकड़ ली। दो वर्ष मे लगभग 27,63,000 एकड़ भूमि दान के रूप मे प्राप्त हुई।

देश मे भूमिहीनों की समस्या सुलझाने के लिए विनोबा भावे ने पांच करोड़

---

29. उद्धृत, विनोबा: व्यक्तित्व और विचार, पृ. 20,

एकड़ भूमि के दान प्राप्त करने की योजना बनाई। ये देश के विभिन्न भागों मे पद-यात्रा करते हुए अपने साथियों के साथ जाते हैं, वहाँ सर्वोदयी विचारधारा से व्यक्तियो को अवगत करात है तथा भूमिदान के लिए आग्रह करते हैं। इस सम्बन्ध मे विनोबा भावे को काफी सफलता मिली है।

भूदान सफलता की समीक्षा निम्नलिखित आंकडो से हो सकती है।

1	भूदान मे प्राप्त भूमि	41, 76, 814. 93 एकड़
2.	भूदान देने वाले व्यक्तियो की सख्या	5, 75, 88
3.	वितरित भूमि	11, 75, 848. 13 एकड़
4.	व्यक्तियो की सख्या जिन्हे भूमि वितरित की गई	4, 61, 681
5.	वितरण के लिए अनुपयुक्त भूमि	18, 54, 882, 17 एकड़
6	भूमि जिसका वितरण शेष है	11,46,094, 63
7.	दान मे प्राप्त ग्रामो की सख्या	1, 68, 108
8.	दान मे प्राप्त जिलो की सख्या	47

(उपर्युक्त आकडे—Sunday World—October 1, 1972. मे सुरेश राम के एक लेख—Sarvodaya Promise and Performance—पर आधारित हैं।)

भूदान को सर्वोदयी समाज की स्थापना म जो प्राथमिकता दी गई है उसके निम्नलिखित कारण हैं—

प्रथम, कृषि प्रधान देश मे समाज परिवर्तन का आरम्भ भूमि की व्यवस्था से होता है।

द्वितीय, सर्वोदयी चिन्तको का कहना है कि आज विश्व का जैसा रुख है उससे स्पष्ट है कि आगे की अर्थ-रचना अन्न-प्रधान और कृषि-प्रधान होने वाली है।

तृतीय, भूमि केवल अन्न उत्पादन का ही साधन नही है, यह वसुन्धरा भी है, समस्त खानें भूमि के नीचे है इस प्रकार बहुत सी वस्तुएँ मनुष्य को भूमि से ही उपलब्ध होती हैं। इसलिए क्रान्ति का प्रारम्भ भूमि से ही होना चाहिए। भूदान का तात्पर्य केवल स्वामित्व मे ही परिवर्तन करना नही है, इसक माध्यम से स्वामित्व के मूल आधार और उत्पादक की भूमिका म परिवतन करना है। भूदान दर्शन के अन्तर्गत भूमि निजी सम्पत्ति नही हो सकती। भूमि समस्त समाज की है। एक व्यक्ति को केवल उतनी ही भूमि रखनी चाहिए जितनी की उसे आवश्यकता है तथा जिस पर वह स्वय श्रम कर सकता है। आवश्यकता से अधिक भूमि समाज को लौटानी चाहिए। जो भी भूमि व्यक्ति अपने पास रखता है, उस पर भी उसका व्यक्तिगत अधिकार नही है। उसे वह भूमि एक ट्रस्टी के रूप मे अपने पास रखनी चाहिए।

सर्वोदय एक गतिशील (dynamic) विचारधारा है। भूदान आन्दोलन के प्रारम्भ होने के बाद देश के समक्ष जैसे-जैसे आर्थिक, सामाजिक समस्याएँ आती गयी, सर्वोदय के स्वरूप की भी एक-एक पखुड़ी खुलती गयी। शनैः शनैः सर्वोदय के तत्वावधान मे और भी कई कार्यक्रम अपनाये गये जैसे सम्पत्ति-दान श्रम-दान, बुद्धि-दान, जीवन-दान आदि। इनके अलावा सर्वोदयी कार्यकर्त्ताओं ने मद्य-निषेध प्रचार तथा चम्बल घाटी मे वर्षों से पले हुए दस्यु डाकुओ के हृदय परिवर्तन मे बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह की है।

सम्पत्तिदान

भूदान से भूमिहीनो के लिये कुछ भूमि का प्रबन्ध तो हो सकता था, किन्तु इन भूमिहीन निर्धनो को खेती से सम्बन्धित सामग्री खरीदने के लिये कुछ आर्थिक सहायता की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। इसलिये विनोबा भावे ने सम्पत्तिदान प्रारम्भ किया। इसका उद्देश्य है कि सम्पत्तिवान व्यक्ति कुछ धन दे, जिसे भूमिहीनों को भूमि देते समय दिया जाय, ताकि वे उस भूमि का उपयोग कर सकें।

भूदान की भाति सम्पत्ति-दान मे भी विनोबा भावे छठा भाग मांगते हैं। यह भी वह दान देने वाले की स्वेच्छा पर छोडते हैं कि वह किस प्रकार अपनी सम्पत्ति के छठे भाग का दान करता है। विनोबा जी सम्पत्ति दान लेकर फिर निर्धनों में वितरित हो नही करना चाहते, उनका कहना है कि लोग अपनी सम्पत्ति या आय का छठा भाग समाज को दान करने का संकल्प लें, हर वर्ष उस राशि को समाज हित मे व्यय करें तथा उसकी सूचना विनोबा जी को देते रहे। विनोबा भावे ने सम्पत्ति दान का समर्थन इस आधार पर भी किया है कि इससे लोगो में अस्तेय तथा अपरिग्रह की भावना का विकास हो जो व्यक्ति के कल्याण के लिये अति आवश्यक है।

ग्रामदान एवं ग्रामराज

भूदान का अगला कदम ग्रामदान है। ग्रामदान का अर्थ है ग्राम की सम्पूर्ण भूमि को अपने ही गांव या पूरे समुदाय को सौंपना। लोग अपनी भूमि का सर्वस्व ही दान करें, तदुपरात उसका प्रयोग, व्यवस्था एवं लाभ का वितरण पूरे गांव मे किया जाये।

ग्रामदान का प्रारम्भ 1952 मे उत्तर प्रदेश के मानग्रोथ ग्राम के समस्त निवासियो द्वारा ग्रामदान करने के साथ प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे ग्रामदान की भावना ने लोगों को प्रभावित किया और चार वर्षों मे ही 1500 ग्राम दान मे प्राप्त हुए। अभी तक लगभग 1,68,108 ग्राम दान मे प्राप्त हो चुके है।

ग्रामदान सर्वोदयी उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये एक महत्वपूर्ण साधन है। सर्वोदय विचारधारा के अन्तर्गत ग्रामराज की स्थापना मूल लक्ष्य है। यह ग्राम दान

से ही सम्भव हो सकता है । इसका तात्पर्य होगा कि ऐसे ग्रामो की व्यवस्था व्यक्ति स्वय करें, *ग्राम की उन्नति के सम्बन्ध मे निर्णय गाव द्वारा ही लिया जाय न कि* सरकारी आदेश के माध्यम से । ग्राम स्वराज्य की स्थापना से लोगो मे सहयोग, प्रेम की भावना का विकास होगा । इसके पीछे यह भावना है कि व्यक्तिगत भावना का अत हो तथा पूरा ग्राम एक परिवार के रूप मे रहे । जब इस प्रकार के स्वशासन की भावना का विकास क्रम चलेगा तो अत मे वर्ग विहीन, शोषण विहीन तथा राज्य विहीन समाज की स्थापना अधिक सुलभ हो जायेगी ।

दान मे प्राप्त ग्रामो की व्यवस्था के विषय मे आचार्य विनोबा भावे के निम्नलिखित सुझाव महत्वपूर्ण हैं —

प्रथम, प्रत्येक ग्राम, ग्राम सभा सगठित करे जिसका प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुष सदस्य हो ।

द्वितीय, ग्राम के सभी भूमिपति अपनी भूमि का स्वामित्व ग्राम सभा को हस्तातरित करें ।

तृतीय, प्रत्येक भूमिपति अपनी भूमि का बारहवा भाग ग्राम सभा को दान मे दें ताकि उसका वितरण उस ग्राम के भूमिहीनो मे किया जा सके ।

चतुर्थ, प्रत्येक ग्राम मे एक ग्राम कोष की स्थापना हो जिसमे प्रत्येक भूमिपति अपनी उत्पत्ति का एक चौथाई भाग तथा वेतन या मजदूरी प्राप्त करने वाला एक दिन का वेतन या आमदनी का तीसवा हिस्सा उसमे जमा करें । यह राशि ग्राम व्यवस्था के लिये काम मे आयेगी ।

यह ग्रामदान म प्राप्त ग्रामो की आदर्श व्यवस्था की रूपरेखा है, जो व्यक्तियो को ग्रामदान के लिये और भी आकर्षित करने मे समर्थ होगी ।

जीवनदान

वे व्यक्ति जिनके पास ऐसी कोई भी वस्तु नही है जिसे वे समाज के लिये अर्पण कर सकें, ऐसे व्यक्ति सर्वोदय-साधना के लिये अपना जीवनदान कर सकते हैं । इसका तात्पर्य है कि जीवनदान करने वाले व्यक्ति अपनी बुद्धि, श्रम और शक्ति का प्रयोग भूदान एव सर्वोदय की सेना म लगा सकते हैं । इसके अलावा वे व्यक्ति जो सर्वोदय के लिये अधिक करना चाहते हैं अपना जीवनदान कर सकते हैं । सर्वप्रथम श्री जयप्रकाश ने अप्रैल 1954 मे अपना जीवनदान किया । तत्पश्चात विनोबा जी ने भी 'भूदान यज्ञमूलक ग्रामोद्योग प्रधान अहिंसक क्राति के लिये' अपना जीवन समर्पण कर दिया । इस प्रेरणा से अनेक सर्वोदयी कार्यकर्त्ताओ ने अपने जीवनदान की घोषणा की ।

सर्वोदय समीक्षा

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि सर्वोदय गांधीवाद का विकसित सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष है। इसलिए गांधीवाद के विषय में सामान्यतः जो आलोचना की जाती है वह सर्वोदय के विषय में भी सही है। सर्वोदय दर्शन का दोष यह है कि यूटोपियायी विचारकों की भांति यह मानव स्वभाव के केवल स्वच्छ पक्ष को ही देखता है, जब कि मनुष्य सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का मिश्रण है।

सर्वोदय दर्शन आदर्शवादी और काल्पनिक सा प्रतीत होता है। इसमें बहुत सीमा तक व्यावहारिकता का अभाव है। राज्य में ग्रामराज, विकेन्द्रीकरण आदि विचारों को पूर्णतः व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सकता।

सर्वोदय विचारधारा का दलगत राजनीति में विश्वास नहीं है। आदर्श रूप में यह ठीक है, किन्तु आधुनिक लोकतान्त्रिक प्रणालियों में राजनीतिक दलों के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। राजनीतिक दल लोकतान्त्रिक व्यवस्था को गतिशील बनाते हैं। वास्तव में राजनीतिक दल के अभाव में लोकतान्त्रिक व्यवस्था चल ही नहीं सकती।

सर्वोदय चिन्तक इस विचारधारा को पूर्णतः काल्पनिक नहीं मानते। उनका दावा है कि इसको व्यवहार में लाया जा सकता है। सर्वोदयी विचारक श्री कृष्णदत्त भट्ट ने लिखा है "कि सबका उदय कोरा स्वप्न, कोरा आदर्श नहीं है, वह आदर्श व्यवहार्य है वह अमल में लाया जा सकता है। सर्वोदय का आदर्श ऊँचा है, यह ठीक है; परन्तु न तो वह अप्राप्य है और न असाध्य है। वह प्रयत्न साध्य है।"[30]

यद्यपि यह भी मान लिया जाये कि सर्वोदय में आदर्श की मात्रा अधिक है, किन्तु सर्वोदय दार्शनिक, सर्वोदय आदर्श को स्वयं ही उच्चता एवं पूर्णता प्रदान करना चाहते हैं। उनका कहना है कि एक सही आदर्श प्रस्तुत करना भी महत्वपूर्ण है। विनोबा भावे जीवन के सभी अंगों में गणित की अचूकता पसन्द करते हैं। वैसे त्रुटि करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, लेकिन जब आदर्श त्रुटिपूर्ण होता है, तो कर्म का मूल्यांकन करने की भी गुन्जाइश ही समाप्त हो जाती है। मकान खड़ा करने में चूक हो सकती है, लेकिन ब्लू प्रिन्ट तो सदैव अचूक ही होना चाहिए।[31]

भूदान आन्दोलन के विषय में भी लोगों को शंकाएँ हैं। भूदान के आधार पर लोगों की आर्थिक समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। भूदान आन्दोलन को लगभग बीस वर्ष हो चुके हैं, किन्तु भूमि समस्या में कुछ भी सुधार नहीं हुआ है। यही कारण है कि आज सरकार भूमि तथा शहरी सम्पत्ति की सीमा का भी निर्धारण कर रही है। यह भी सत्य है कि भूदान के अन्तर्गत कई स्थानों पर इस प्रकार की भूमि प्राप्त हुई है जो खेती के योग्य नहीं है। ऐसी भूमि को खेती के योग्य बनाया तथा

30. दादा धर्माधिकारी, सर्वोदय दर्शन, पृ० 6.

31. इन्दु टिकेकर, शान्ति का समग्र दर्शन, पृ० 16.

सिचाई व्यवस्था का प्रबन्ध करना ही एक समस्या है यद्यपि भूदान द्वारा भूमि सम्बन्धी सुधार उतने व्यापक न भी हो सके, पर इसमे सन्देह नही कि भूमि के व्यापक एव दूरगामी सुधारो के लिए यह आन्दोलन सहायक सिद्ध होगा।

भूदान आन्दोलन भारतीय जीवन पद्धति मे निहित है। इसके अनुसार सामाजिक व्यवस्था परिवार का ही एक वृहद रूप है इस आन्दोलन के द्वारा यह अभिव्यक्ति होती है कि आध्यात्मिक स्वतन्त्रता केवल उन्ही द्वारा प्राप्त की जा सकती है। जो भौतिक जीवन से जुडे हुए नही हैं।[32]

भूमिदान एव ग्रामदान आन्दोलन के पीछे निहित विचार से सरकार को भी सहायता मिलती है। इस योगदान के विषय म पण्डित जवाहरलाल नेहरू न कहा था कि सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम जो इस आन्दोलन का निकला है वह उसके द्वारा निर्मित वातावरण का है, जो भूमि व्यवस्था सुधार के लिए कानून बनाने म सहायक होता है, क्योकि उस विषय मे लोगो के मानस को ही बदलना है। कानून भूमि-सुधार के लिए आवश्यक है, लेकिन जनता के मानस को बदलना मूलत. उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है।[33]

सर्वोदयी शाति सेना का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान कुख्यात डाकुओं के हृदय परिवर्तन करने का है। 1960 म आचार्य विनोबा भावे के प्रयत्नो से अनेक खूँख्वार डाकुओ ने समर्पण किया। इसी प्रकार अप्रैल 1972 मे श्री जयप्रकाश नारायण तथा अन्य सर्वोदयी कार्यकर्त्ताओ की प्रेरणा और प्रयासो से चम्बल घाटी के दो सौ से भी अधिक डाकुओ ने आत्म समर्पण कर शान्ति एव प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया है। यह हृदय परिवर्तन का सफल प्रयोग है। सम्भवत इस प्रकार के उदाहरण मिलना असम्भव है।

सर्वोदय का अर्थ केवल विचार-क्षेत्र तक ही सीमित नही है। साहित्य क्षेत्र भी उनका आभारी है। सर्वोदय साहित्य मे हिन्दी भाषा के उत्तम से उत्तम शब्द देखने को मिलते हैं। मूल विचारो को प्रामाणिक एवं आकर्षित शब्दो मे सवारने की प्रतिभा सर्वोदय साहित्यकारो मे अद्वितीय है। सम्भवत हिन्दी साहित्यकारो ने हिन्दी भाषा की उतनी सेवा नही की जितनी आज सर्वोदय साहित्य कर रहा है। सर्वोदय साहित्य मे भारतीयकरण की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है।

सर्वोदय का अभ्युदय किसी वाद की प्रतिक्रिया के रूप मे नहीं हुआ। यह किसी वाद की प्रतिक्रिया नही। जिन वादो का जन्म प्रतिक्रिया स्वरूप होता है वे न तो स्थाई होते हैं और न गतिशील। उनका कोई चिरतन मूल्य नही होता। सर्वोदय "भारत का अपना शब्द है और भारत की अपनी वस्तु है, पर ऐसा शब्द और ऐसी

32. Radhakrishnan, S, Forward to Vinoba Bhave and His Mission, by Suresh Ramabhai, p VI
33 उद्धृत, विनोबा व्यक्तित्व और विचार, पृ. 29.

वस्तु नहीं, जो दूसरे किसी देश या काल में लागू न हो सके। देश-काल-परिस्थिति के भेदानुसार उसकी बाह्य पद्धति में फर्क होता रहेगा। लेकिन उसका आंतरिक रूप शाश्वत रहेगा।"[34]

सर्वोदय एक अराजनीतिक संस्था है, अराजनीतिक विचारधारा नहीं। वास्तव मे सर्वोदय को दलगत राजनीति से, नीचे नहीं, ऊपर रहना चाहिये। सर्वोदय साहित्य का अध्ययन करने तथा सर्वोदय सेवकों से मिलने पर आभास होता है कि ये राजनीति से दूर भागते हैं उतना इन्हें भागना नहीं चाहिये। गांधीजी ने राजनीति को एक सर्प-कुंडल की संज्ञा दी थी और कहा था कि परिस्थितियोवश वे उससे संघर्ष करेंगे। उन्होंने जिन राजनीतिक बातों को उचित नहीं समझा, उनका प्रतिरोध कर मार्ग दर्शन भी किया। सर्वोदय चिन्तन में भी हमें इस प्रतिरोध वाली भावना को नहीं छोड़ना चाहिये। आज हमारे देश की राजनीति मे कई विराट कुरीतियाँ एक सौत की तरह बेशर्मी और मजबूती से अड्डा बनाये बैठी हैं। आज के राजनीतिज्ञ इन कुरीतियों को आश्रय दिये हुए हैं। सर्वोदय के अन्तर्गत इस कुरीतियों को दूर करने के लिए आदर्श प्रस्तुत करना, हृदय-परिवर्तन करना आदि ही सब कुछ नहीं है। इन कुरीतियों का प्रतिरोध भी करना चाहिये। यह प्रतिरोध दलगत राजनीति से भी सम्बन्धित नहीं होगा। उदाहरणार्थ हमारे राजनीति तथा जीवन प्रशासन में भ्रष्टाचार ने कई रूप धारण कर लिये हैं। इसे दूर करना राजनीतिज्ञों के वश की बात नहीं। सर्वोदय को इस भ्रष्टाचार रूपी सर्प से जूझना चाहिये अन्यथा यह सर्प सर्वोदय को भी निगल जायेगा। यह सब कुछ दलगत राजनीति से अलग रह कर भी हो सकता है। यदि सर्वोदय समाज यह कार्य नहीं कर सकता तो फिर राजनीति का शुद्धिकरण एवं आध्यात्मिकीकरण भी नहीं हो सकता।

बिहार और सर्वोदय आन्दोलन

उपर्युक्त शब्द 1972 के मध्य मे लिखे गये थे। उस समय सर्वोदय क्रान्ति मे लगभग शिथिलता आ चुकी थी। सर्वोदय क्रान्ति को एक नवीन चेतना एवं कार्य-क्रम देने के 1973 के मध्य मे सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं का एक सम्मेलन आयोजित किया गया। यह सम्मेलन भविष्य के कार्य-क्रम की कोई नवीन योजना निश्चित नहीं कर सका। इसी समय देश की आर्थिक-राजनीतिक स्थिति ने सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं, *विशेषतः श्री जयप्रकाश नारायण*, को सर्वोदय आन्दोलन को एक नई दिशा देने का अवसर प्रदान किया।

गुजरात विधान सभा को भंग कराने की सफलता के उपरान्त 1974 के प्रारम्भ में श्री जयप्रकाश नारायण तथा सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं ने बिहार को अपने नवीन आन्दोलन का मुख्य स्थल बनाया। श्री जयप्रकाश नारायण का आन्दोलन

[34] जयप्रकाश नारायण, समाजवाद से सर्वोदय की ओर, विनोबा भावे द्वारा लिखित प्रस्तावना से, पृ. 4.

राजनीतिक प्रशासनिक भ्रष्टाचार, जमाखोरी, काला–बाजारी, आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों में अप्रत्याशित वृद्धि को रोकने चुनाव प्रणाली के दोषों को दूर करने, राजनीतिक जीवन के शुद्धीकरण तथा बिहार विधान सभा को भग करना आदि को लेकर प्रारम्भ किया गया। इस आन्दोलन का लगभग वही स्वरूप है जो स्वतन्त्रता के पूर्व स्वाधीनता आन्दोलन का था। श्री जयप्रकाश नारायण के अनुसार यह आन्दोलन बिहार तक ही सीमित नहीं रहेगा, देश के समस्त भागों में इसका विस्तार किया जायेगा। इस आन्दोलन के पीछे निहित विचार श्री जयप्रकाश नारायण ने कई बार समय-समय पर प्रस्तुत किये हैं।

श्री जयप्रकाश नारायण देश के शीर्षस्थ नेता हैं। स्वाधीनता आन्दोलन में उनका योगदान, उनका त्याग, सत्ता से दूर रहकर उनकी जनसेवा सर्वविदित है। इसके अतिरिक्त यह सभी जानते हैं कि श्री जयप्रकाश नारायण ने जिस आन्दोलन का प्रारम्भ किया है उसका उद्देश्य सुधारवादी है, स्वय को सत्ता में लाना नहीं। उनकी नीयत पर किसी को अविश्वास नहीं करना चाहिए। इसलिए श्री जयप्रकाश नारायण जो कुछ कहते हैं, चाहे हम उनके विचारों से सहमत हों या न हों, उन पर ध्यान देना आवश्यक है। सभी विवेकशील भारतवासी देश से इन सभी दुर्गुणों का उन्मूलन करना चाहेंगे। इसलिए एक दृष्टि से यह आन्दोलन रचनात्मक है। किन्तु बिहार आन्दोलन के विषय में कुछ पक्षों का उल्लेख करना सामयिक होगा।

श्री जयप्रकाश नारायण द्वारा बिहार विधान सभा को भग करने की माग एक विवाद बन गया है। यदि इस आन्दोलन की यह माग पूरी होती भी है, तो इसके उपरान्त फिर अगला कदम क्या होगा? श्री जयप्रकाश नारायण ने लोकतन्त्र का कोई दूसरा स्वरूप व्यावहारिक विकल्प के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। उनका दल विहीन लोकतन्त्र अव्यावहारिक सा प्रतीत होता है तथा इस विचार को उन्होंने न तो स्पष्ट किया और न विस्तृत रूप दिया है। फिर लोकतन्त्र की किसी अन्य व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए राष्ट्रीय सहमति आवश्यक है। सर्वोदय दृष्टिकोण भले ही सही हो किन्तु इसे राष्ट्रीय दृष्टिकोण नहीं कहा जा सकता। इसलिए जब तक किसी उचित विकल्प की खोज नहीं हो जाती प्रचलित व्यवस्था का विघटन करना उचित नहीं। श्री जयप्रकाश नारायण को अपना ध्यान एक सही विकल्प की खोज पर केन्द्रित करना चाहिए।

सर्वोदय कार्यकर्ताओं को अपने आन्दोलन के समर्थन म अन्य व्यक्तियों एव राजनीतिक दलों से समर्थन प्राप्त करने में काफी सतर्कता बरतने की आवश्यकता है। यदि असतुष्ट राजनीतिज्ञ, सत्ता-लोलुप और निहित हित वाले व्यक्तियों का समर्थन स्वीकार किया जाता है तो इससे सर्वोदय आन्दोलन की प्रतिष्ठा पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। सर्वोदय आन्दोलन सर्वोदय कार्यकर्ताओं द्वारा ही सचालित होना चाहिए। इसे सत्ता सघर्ष का रूप ग्रहण करने से बचाना चाहिये।

अपने इस आन्दोलन मे श्री जयप्रकाश नारायण ने विद्यार्थियो को विशेष भूमिका निर्वाह के लिये आह्वान किया है। विद्यार्थियो द्वारा शिक्षा तथा शिक्षा संस्थाओं का बहिष्कार कराने से सर्वोदय आन्दोलन के उद्देश्यों की पूर्ति नही हो सकती। 1942 मे स्वाधीनता आन्दोलन के समय विद्यार्थियों द्वारा शिक्षा संस्थाओं का बहिष्कार करने जैसा कार्यक्रम आज की परिस्थितियों मे सामयिक नहीं हैं। विद्यार्थियो को अपने मूल शिक्षा-उद्देश्यो से विचलित नही करना चाहिये, विशेषत: निर्धन विद्यार्थियो पर इसका बडा विपरीत प्रभाव पड़ेगा।

जुलाई 11, 1974, को वर्धा आश्रम के निकट सर्व सेवा संघ कार्यकारिणी ने बिहार आन्दोलन की समीक्षा की। बिहार आन्दोलन के प्रति सर्वोदय दृष्टिकोण विभाजित हो गया। परिणामस्वरूप कार्यकारिणी के कुछ सदस्यो ने अपने पद त्याग का आग्रह किया। जुलाई 12, 1974 को सर्वोदय आन्दोलन को विघटित होने से बचाने के लिए सर्वसेवा संघ ने बिहार आन्दोलन का अनुमोदन कर दिया किन्तु साथ ही साथ यह कहा गया कि यह आन्दोलन सत्य, अहिंसा पर ही आधारित हो।

बिहार आन्दोलन सर्वोदय के नवीन कार्य-क्रम की परीक्षा है। लगभग सम्पूर्ण देश की इस आन्दोलन पर दृष्टि लगी हुई है। यहाँ इसके औचित्य के विवाद मे न पड़ते हुए इतना कहना आवश्यक है कि इस आन्दोलन ने बढती हुई महंगाई को रोकने, जीवन की मूल आवश्यकताओं को समाज के अन्तिम व्यक्ति तक उपलब्ध कराने, सार्वजनिक जीवन से भ्रष्टाचार की समाप्ति करने, लोकतांत्रिक संस्थाओं का दुरुपयोग रोकने आदि के प्रति देश का ध्यान पूर्णत: आकर्षित किया है। स्वयं भारतीय कांग्रेस पार्टी की कार्यकारिणी ने अगस्त 1974 में एक प्रस्ताव पास कर अपने सक्रिय सदस्यो की जमाखोरी, चोर बाजारी को रोकने तथा भ्रष्टाचार उन्मूलन के लिए आह्वान किया है।

पाठ्य ग्रन्थ

1. दादा धर्माधिकारी, — सर्वोदय-दर्शन
2. धवन, गोपीनाथ — सर्वोदय तत्त्व-दर्शन
3. जयप्रकाश नारायण — समाजवाद से सर्वोदय की ओर
4. शंकरराव देव — सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र
5. Suresh Ramabhai, — Vinoba and His Mission.
6. टिकेकर, इन्दु, — क्रांति का समग्र दर्शन
7. वियोगी हरि, बनारसीदास, चतुर्वेदी, यशपाल जैन, आदि (सम्पादित) — विनोबा : व्यक्तित्व और विचार

उपर्युक्त ग्रन्थो के अतिरिक्त गांधीवाद अध्याय से सम्बन्धित लगभग सभी ग्रन्थ सर्वोदय विचारधारा को समझने के लिए आवश्यक एवं उपयोगी हैं।

13

सम्प्रभुता एवं बहुलवाद

राजनीतिशास्त्र में सम्प्रभुता (Sovereignty) और बहुलवाद (Pluralism) विवाद का विषय रहे हैं। सम्प्रभुता को राज्य का अनिवार्य तत्व माना जाता है जिसके बिना राज्य के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। दूसरी ओर बहुलवादी राज्य के इस सम्प्रभु तत्व से चौंक जाते हैं या बौखला उठते हैं। बहुलवाद राज्य के स्वभाव में सुधार एवं परिवर्तन चाहता है। यह राज्य का आलोचक है, उसे अपमानित करता है, राज्य को एक गौरवान्वित स्थिति से हटाकर अधीनस्थ स्तर पर लाना चाहता है। वास्तव में बहुलवादी जिस राज्य का इतना व्यापक विरोध करते हैं वह सम्प्रभु-सम्पन्न राज्य है जिसे वे एकत्ववादी अथवा अद्वैतवादी राज्य (Monistic State) कहते हैं।[1] इसलिए बहुलवाद को समझने के लिए यह आवश्यक है कि पहले उस एकत्ववादी अथवा राज्य सम्प्रभु सिद्धान्त का अध्ययन किया जाय जिसके विरोध स्वरूप बहुलवाद का प्रादुर्भाव एवं विकास हुआ।

सम्प्रभुता का एकत्ववादी सिद्धान्त
Monistic Theory of Sovereignty

'सम्प्रभुता' अंग्रेजी शब्द सॉवरेण्टी (Sovereignty) का हिन्दी अनुवाद है। सॉवरेण्टी स्वयं लैटिन शब्द -Superanus- का पर्यायवाची है जिसका अर्थ 'सर्वोच्च सत्ता' है। राज्य की इसी सर्वोच्च सत्ता को सम्प्रभुता कहा गया है।

सभी राजनीतिशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि राजनीति शास्त्र में सम्प्रभुता का सिद्धान्त सम्भवतः सबसे अधिक विवादास्पद है, इसके विषय में एकमत होना सम्भव नहीं है। लेकिन कुछ विद्वानों ने सम्प्रभुता को स्पष्ट एवं परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। सम्प्रभुता के विषय में कुछ सामान्य परम्परागत परिभाषाएँ प्रायः देखने को मिलती हैं। बोदाँ (Jean Bodin) के अनुसार 'सम्प्रभुता नागरिकों तथा जनता पर राज्य की सर्वोच्च शक्ति है, जिस पर कोई विधि बन्धन नहीं होता।' ग्रोशियस (Hugo Grotius) ने सम्प्रभुता को स्पष्ट करने के स्थान पर उसके निवास पर बल दिया है। सम्प्रभुता, ग्रोशियस के विचार में, उस व्यक्ति में निहित सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति है जिसके कार्य किसी अन्य पर आश्रित न हों तथा जिसकी इच्छा का अतिक्रमण न किया जा सके। ड्यूग्वी (Duguit) ने सम्प्रभुता को राज्य

1 Hsiao, Kung Chuan, Political Pluralism, p 1

द्वारा आज्ञा देने वाली शक्ति कहा है जो राज्य के रूप मे संगठित राष्ट्र की इच्छा है। यह राज्य द्वारा अपनी सीमा के अन्तर्गत व्यक्तियो को निरंकुश आदेश देने का अधिकार है। एक अमरीकी विद्वान बर्गेस (Burguess) के अनुसार सम्प्रभुता व्यक्तियो के समुदायो पर मौलिक, पूर्ण और असीमित शक्ति है। विलोबी (Willoughby) के मतानुसार सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा है। हार्वे वाकर (Harvey Walker) ने सम्प्रभुता की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "राजनीतिक दृष्टि से सम्प्रभुता अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तगत राज्य का एक तत्व है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के व्यवहार मे दूसरे राज्य के नियन्त्रण या हस्तक्षेप के विरुद्ध यह राज्य की स्वतन्त्रता का गुण है।"[2] वास्तव मे सम्प्रभुता राज्य द्वारा सर्वोच्च निर्णय निर्माण तथा निर्णयो को कार्यान्वित करने की शक्ति है। इस शक्ति का प्रयोग अन्तिम रूप मे राज्य ही कर सकता है अन्य सामाजिक संस्थाएं नही।

यदि विभिन्न परिभाषाओं का विवेचन किया जाय तो एकलवादी सम्प्रभुता के विभिन्न लक्षण एव पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं जो निम्नलिखित हैं:—

(1) निरंकुशता (absoluteness)— इसका तात्पर्य पूर्ण एवं निरंकुश सम्प्रभुता से है। सम्प्रभु के ऊपर किसी भी शक्ति या सत्ता का नियन्त्रण नही हो सकता। निरंकुश सम्प्रभुता के दो पक्ष होते हैं— **आन्तरिक और बाह्य**। आन्तरिक दृष्टि से राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत संप्रभु की शक्ति पूर्ण निरंकुश होती है। वह व्यक्तियों एवं समुदायो को आज्ञा दे सकता, उन पर अपनी इच्छा थोप सकता है, शक्ति द्वारा अपनी इच्छा को मनवा सकता है, उसके द्वारा बनाये गये कानूनो का कोई उल्लंघन नही कर सकता। उसकी शक्तियो की कोई सीमा नही होती। यदि कोई सीमाएं होती हैं तो वे स्वयं के द्वारा ही निर्धारित की हुई होती हैं। बाह्य दृष्टि से राज्य के बाहर का कोई भी व्यक्ति, संस्था या राज्य न तो उसे कोई आदेश दे सकता है और न नियंत्रण स्थापित कर सकता है। वह दूसरे राज्यो के साथ इच्छानुसार सम्बन्ध स्थापित करने मे पूर्ण स्वतन्त्र होता है। सूक्ष्म में, राज्य के अन्दर न तो उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी होता है और न बाह्य दृष्टि से उसके कार्यों को प्रतिबन्धित किया जाता है।

(2) सर्वव्यापकता (Universality or All-comprehensiveness)—राज्य के भीतर सम्प्रभु सत्ता सर्वव्यापी होती है। राज्य के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों, समुदायों तथा संगठनो पर सम्प्रभु का नियन्त्रण रहता है। उसकी शक्ति के परे कुछ नही होता। इस सम्बन्ध मे केवल एक अपवाद है। प्रत्येक राज्य पारस्परिक समझौतो तथा अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टता के अन्तर्गत अन्य देशो से आये हुए राजदूतो तथा दूतावासो को विशेष सुविधाएं एवं विशेषाधिकार प्रदान करते है। इससे सम्प्रभुता की सर्वव्यापकता पर आंच नही समझनी चाहिये।

2. Dictionary of Political Science, Ed by Joseph Dunner, p. 491.

5 स्थायित्व (Permanence)—सम्प्रभुता राज्य का स्थाई तत्व है। इसका आशय है कि राज्य और सम्प्रभुता की एक दूसरे के बिना कल्पना नहीं की जा सकती। सरकारों के परिवर्तन सम्राट आदि की मृत्यु से सम्प्रभुता का अन्त नहीं हो जाता।

4 अविभाज्यता (Indivisibility)—सम्प्रभुता एक पूर्ण एवं समग्र तत्व है। इसका एक से अधिक सम्प्रभुधारियों के मध्य विभाजन नहीं किया जा सकता। सम्प्रभु सत्ता के विभाजन का तात्पर्य सम्प्रभु सत्ता को नष्ट करना है। जैसा कि गैटल ने लिखा है कि यदि सम्प्रभुता का विभाजन कर दिया जाय तो एक से अधिक राज्य स्थापित हो जायेंगे।[3]

5) अदेयता (Inalienability)—सम्प्रभुता को सम्प्रभु समाज से पृथक नहीं किया जा सकता। सम्प्रभु शक्ति किसी दूसरे को नहीं दी जा सकती है। सम्प्रभुता की तुलना शरीर में प्राण तत्व से की जा सकती है। प्राण तत्व के बिना शरीर मिट्टी रह जाता है उसी प्रकार यदि राजनीतिक समाज से सम्प्रभु जैसे मूल तत्व को निकाल दिया जाय तो राज्य सम्प्रभु नहीं रह सकता, उसका स्वयं का अस्तित्व समाप्त हो जायगा। सम्प्रभुता का हस्तान्तरण सम्भव नहीं क्योंकि वह राज्य के अस्तित्व का मूल एवं सार है। स्वयं को नष्ट किये बिना राज्य सम्प्रभु तत्व से विलग नहीं हो सकता। राज्य द्वारा सम्प्रभुता से पृथक करना आत्म-हत्या के समान है।

राज्य का यह सम्प्रभु सिद्धान्त एकत्ववाद सिद्धान्त या राज्य सम्प्रभु सिद्धान्त (Monistic Theory of Sovereignty) के नाम से जाना जाता है। इसका तात्पर्य है कि किसी स्वतन्त्र समाज में राज्य की सत्ता ही सर्वोपरि होती है। राज्य की शक्ति निरंकुश एवं असीमित होती है। राज्य कानून का मूल एवं प्रमुख स्रोत है। यह सिद्धान्त राज्य को समग्रवादी की ओर अग्रसर करता है जिसके अन्तर्गत राज्य जीवन के प्रत्येक पक्ष पर नियन्त्रण और हस्तक्षेप कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य पूर्ण स्वतन्त्र होता है तथा अन्य राज्यों के साथ अपने विवादों का समाधान करने के लिए शक्ति का प्रयोग कर सकता है। अन्य समुदाय अपने पारस्परिक विवादों के लिए शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकते।[4]

डॉ० हिसिआग्रो के विचार में एकत्ववादी वह राज्य है जिसमें सत्ता का केवल एक ही स्रोत होता है जो सैद्धान्तिक रूप में सर्व-व्यापक एवं असीमित होता है। यह एकात्मक एवं निरंकुश शक्ति ही 'सम्प्रभुता' (Sovreignty) कहलाती है तथा वह सिद्धान्त जो राज्य में इस प्रकार की सम्प्रभुता के अस्तित्व को स्वीकार करता है बहुलवादियों ने ऐसे राज्य को एकत्ववादी राज्य कहा है। सूक्ष्म में एकत्ववादी राज्य में एकात्मक तथा निरंकुश सम्प्रभु शक्ति निहित होती है जो राजनीतिक एवं वैध सत्ता का प्रत्यक्ष स्रोत होता है। ऐसे राज्य में सामान्यतः सम्प्रभु सत्ता का प्रयोग

3 Gettel, R G, Political Science, p 95
4 दुबे, स, आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएं, पृ. 298–99

एक उपकरण तथा एक व्यक्ति द्वारा (जैसा कि राजतन्त्र मे) किया जाता है। किन्तु लोकतान्त्रिक तथा संघात्मक राज्य भी एकत्ववादी होते है जहा सम्प्रभु सत्ता का विभाजन विभिन्न अंगों में होता है।[5]

सम्प्रभुता सिद्धान्त का विकास

सम्प्रभुता सिद्धान्त का विकास आधुनिक युग में हुआ है किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि इसके पूर्व स्वतन्त्र और सम्प्रभु राज्य नही थे। प्राचीन तथा मध्य युग मे सम्प्रभु-सम्पन्न राज्य की धारणा का अभाव था क्योकि उस समय यह माना जाता था कि प्राकृतिक नियम तथा सामाजिक परम्पराएँ राज्य से स्वतन्त्र एव ऊपर हैं। यूरोप मे जैसे जैसे ईसाई धर्म का विकास होता गया तथा चर्च की सत्ता बढ़ती गयी राज्य की श्रेष्ठता की धारणा को कभी महत्व नहीं मिला। इसके अतिरिक्त सामन्तवादी व्यवस्था ने राज्य की शक्ति को विघटित एव विभाजित रखा। इन कारणों से सम्प्रभुता का विचार पनप नही सका।

किन्तु धीरे धीरे स्थिति मे परिवर्तन होने लगा। मध्य युग के उत्तरार्ध में चर्च सत्ता निर्बल होने लगी। शासन व्यवस्था पर चर्च की पकड़ कमज़ोर होती गयी। राज्य की स्थिति को अब चर्च से स्वतन्त्र ही नही वरन् चर्च को राज्य के अन्तर्गत स्वीकार किया जाने लगा। मध्य युग में प्रचलित सामन्तवादी व्यवस्था के विघटन तथा राष्ट्रीय राज्यों के प्रादुर्भाव से राज्य के अधिकारों में वृद्धि हुई। सोलहवी शताब्दी में सम्प्रभु राज्य की धारणा को समर्थन मिलने लगा। इस शताब्दी मे सम्प्रभुता सिद्धान्त का प्रादुर्भाव सामन्तो, पोप तथा होली रोमन सम्राट की अपेक्षा विभिन्न क्षेत्रीय सम्राटों के अधिकारों के समर्थन मे हुआ। अन्य शब्दों में, जैसे जैसे राष्ट्रीय राज्यो (Nation States) तथा राष्ट्रीयता की भावना का विकास होता गया सम्प्रभुता के सिद्धान्त को बल मिलता गया। सत्रहवी शताब्दी मे सम्प्रभुता का सिद्धान्त एक राजनीतिक तथ्य बन गया।

सम्प्रभुता पर बोदां के विचार

सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त या अन्य शब्दों में राज्य-सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रवर्तन बोदां और हाब्स ने किया तथा जिसकी उत्कृष्ट अभिव्यक्ति आस्टिन के सम्प्रभु सिद्धान्त में मिलती है।

सोलहवी शताब्दी में बोदां (Jean Bodin, 1530-1596) ने अपने ग्रन्थ—Six Livres de la Republique—मे क्षेत्रीय सम्प्रभुता (Territorial sovereignty) का प्रतिपादन किया।[6] इस ग्रन्थ के आठवें अध्याय में बोदां ने सम्प्रभुता को परिभाषित करते हुए लिखा है कि सम्प्रभुता नागरिकों तथा जनता पर राज्य की सर्वोच्च शक्ति है जिस पर कोई विधि बन्धन नही होता। सम्प्रभुता की प्रमुख विशेषता,

5 Kung Chuan Hsiao, Political Pluralism, p. 7.
6 1575 में प्रकाशित इस ग्रन्थ का विस्तृत लेटिन संस्करण 1586 में निकला।

बोदा के अनुसार, नागरिकों पर सामान्य एवं व्यक्तिगत विधि निर्माण की शक्ति है। सम्प्रभुता स्थाई है इसे समय या दशाओं से सीमित नहीं किया जा सकता। व्यवहार में, जैसा कि हेलोवेल ने लिखा है, इसका तात्पर्य हुआ कि सम्प्रभुता युद्ध की घोषणा, शान्ति करना, विधायकों का चयन, अन्तिम न्यायालय के रूप में कार्य करना, मुद्रा निर्माण तथा कर लगाने में व्यक्त होती है।[7]

जब बोदा ने लिखा है कि सम्प्रभुता विधि बन्धन से मुक्त है इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह सभी प्रकार के कानूनों से मुक्त है। प्रत्येक सम्प्रभु दैवी कानून (divine law), प्राकृतिक कानून (law of nature) राष्ट्रीय संविधान व कानून तथा राष्ट्रों के सामान्य कानूनों (Common law of Nations) से बन्धे हुए हैं। बोदा के अनुसार सम्प्रभु पोप द्वारा निर्मित कानून, रोमन कानून, तथा कॉस्ट्यूम (Cortume) से पूर्ण स्वतन्त्र है।[8]

बोदा के सम्प्रभु सिद्धान्त ने राष्ट्रीय सम्राट के लिए सामन्तों चर्च के अधिकारियों तथा अन्य प्रचलित कानून व्यवस्थाओं के विरोध का सामना करने के लिए एक सैद्धान्तिक हथियार प्रदान किया। हाब्स ने इस सिद्धान्त का और विस्तार किया।

हॉब्स के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार

टॉमस हॉब्स (Thomas Hobbes, 1588 1679) ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ–Leviathan (1651)—में सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धांत तथा इस सन्दर्भ में सम्प्रभुता के सिद्धांत पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। हॉब्स के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक व्यक्ति से समझौता कर अपने प्राकृतिक अधिकारों को एक सम्प्रभु व्यक्ति या व्यक्तियों की सभा को सौंप देता है। तदुपरान्त राष्ट्रमण्डल या राज्य (Commonwealth) की स्थापना होती है। यह व्यक्ति या व्यक्तियों की सभा–जिसे समस्त व्यक्ति अपने अधिकार देते हैं सम्प्रभु कहलायेगा। यह सम्प्रभु सामाजिक अनुबन्ध में भागीदार नहीं है इस प्रकार वह समस्त उत्तरदायित्वों से परे है। एक बार सम्प्रभु को अपने अधिकारों का त्याग करने के बाद व्यक्ति अपने अधिकारों को पुनः वापस नहीं ले सकते। हाब्स के मतानुसार सम्प्रभु की शक्ति असीमित तथा निरकुंश होती है। कोई भी व्यक्ति सम्प्रभु के प्रति अपने प्रतिबन्ध से मुक्त नहीं हो सकता। सम्प्रभु यदि अन्यायपूर्वक कार्य करे तब भी उसकी भर्त्सना नहीं की जा सकती क्योंकि सम्प्रभु की इच्छा ही न्याय है।

चूंकि हॉब्स एक महान व्यक्तिवादी था वह व्यक्तियों की एक स्वतन्त्रता का पूर्ण समर्थन करता है जिसे वह निरकुश सम्प्रभु सत्ता का विरोध नहीं मानता। हॉब्स व्यक्तियों को स्वयं की व्यक्तिगत रक्षा का पूर्ण अधिकार देता है। यदि सम्प्रभु

7 Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, p 63
8. Ibid, p 68

न्यायोचित आधार पर व्यक्ति को स्वयं की आत्महत्या करने या ऐसा अन्य कार्य करने जिसके बिना वह जीवित नही रह सकता, की आज्ञा देता है मनुष्य को इस प्रकार की आज्ञा की अवहेलना करने की स्वतन्त्रता है।

हॉब्स राज्य तथा समाज, राज्य तथा सरकार, कानून तथा नैतिकता के मध्य भेद नही करता। ये समस्त शक्तियां सम्प्रभु मे निहित हैं जिसे हॉब्स 'मरणशील प्रभु' (Mortal God) की सज्ञा देता है। हॉब्स के सम्प्रभुता सिद्वात के अन्तर्गत चर्च राज्य के अधीन रहना चाहिये। सम्प्रभु के प्रति वफादारी और ईश्वर के प्रति श्रद्धा मे कोई विरोधाभास नही है।

हॉब्स ने अपने सम्प्रभु सिद्वात मे किसी भी प्रकार की सीमाओ एवं मर्यादाओ को स्वीकार नही किया है। बोदा ने सम्प्रभु के ऊपर फिर भी कुछ सीमाएं बाध दी थी, हॉब्स के सम्प्रभु सिद्वान्त मे ये सभी सीमाएं समाप्त हो जाती हैं। वास्तव मे हॉब्स का उद्देश्य निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन करना था।

ऑस्टिन द्वारा संप्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त की व्याख्या

जॉन ऑस्टिन (1790-1859) इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विधिशास्त्री थे। इनके विचार उनकी उस समय बहुचर्चित पुस्तक—Lectures on Jurisprudence, 1832- मे मिलते हैं। इन ग्रन्थ मे आस्टिन ने वैधानिक दृष्टिकोण से सम्प्रभुता की व्याख्या की है। आस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार एकत्ववादी सिद्धान्त की चरम एवं प्रतिनिधि व्याख्या माना जाता है। सम्प्रभुता की व्याख्या करते हुए आस्टिन ने लिखा है—

> 'यदि एक निश्चित श्रेष्ठ मानव उसी प्रकार के किसी अन्य श्रेष्ठ सत्ताधारी की आज्ञापालन करने का अभ्यस्त न हो, उस समाज के अधिकांश व्यक्ति स्वाभावत. उसकी आज्ञा का पालन करते हो तो उस समाज में वह निश्चित मानवश्रेष्ठ सम्प्रभु है और सम्प्रभु सहित वह समाज, राजनीतिक एवं स्वतन्त्र समाज है।"

इसके आगे आस्टिन ने लिखा है—

> "उस निश्चित मानव श्रेष्ठ के लिये समाज के अन्य सदस्य जनता तुल्य हैं या समाज के अन्य सदस्य उस मानव श्रेष्ठ पर निर्भर हैं। उस मानव श्रेष्ठ के प्रति अन्य सदस्यों की स्थिति अधीनता और निर्भरता की है। उनके पारस्परिक सम्बन्धों को सम्प्रभु और जनता तथा सम्प्रभुता और अधीनता की संज्ञा दी जा सकती है।"[9]

ऑस्टिन के सम्प्रभु सिद्वात का विवेचन करने से निम्नलिखित पक्ष स्पष्ट होते हैं—

1. सम्प्रभु एक निश्चित शक्ति होना चाहिये। कोई अनिश्चित व्यक्ति, संस्था, दैविक शक्ति या सामान्य इच्छा सम्प्रभु नहीं हो सकता।

9. Austin, John; Lectures On Jurisprudence, 2nd ed, John, Murray, 1891, p. 170; Maine, Henry S, Lectures on the Early History of Institutions, p. 348.

यह सम्प्रभु कोई श्रेष्ठ व्यक्ति ही हो सकता है।

यह सम्प्रभु आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही क्षेत्राधिकार में पूर्ण स्वतन्त्र एवं निरंकुश होता है।

बिना सम्प्रभु या सम्प्रभुता के कोई भी समाज राजनीतिक समाज नहीं कहा जा सकता। सम्प्रभुता के आधार पर ही राजनीतिक और गैर-राजनीतिक समाज में भेद किया जा सकता है।

सम्प्रभु कानून का मूल एवं अन्तिम स्रोत है। उसकी इच्छा ही कानून है।

डा. आशीर्वादम् ने आस्टिन के सम्प्रभु सिद्धांत का विवेचन करते हुए निम्नलिखित चार विशेषताओं पर प्रकाश डाला है —

प्रथम, सम्प्रभु निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति होता है,

द्वितीय, सम्प्रभु सत्ता सर्वोच्च होती है जिस पर कोई आन्तरिक या बाह्य प्रतिबन्ध नहीं होता,

तृतीय, सम्प्रभु किसी की आज्ञा का पालन नहीं करता इस प्रकार उसकी शक्ति का विभाजन नहीं हो सकता,

चतुर्थ, सम्प्रभु का वचन ही विधि-विधान है। [10]

सम्प्रभुता के विषय में आस्टिन के विचार निष्पक्ष नहीं कहे जा सकते। वे अपने विचारों में स्वयं के व्यवसाय एवं वातावरण से मुक्त नहीं हो सके। आस्टिन अपने समय के प्रसिद्ध विधिवादी थे। सम्प्रभुता के विवेचन में वे न तो यथार्थवादी हैं और न आदर्शवादी, उनका दृष्टिकोण केवल उनकी विधिवादिता और विद्वता प्रदर्शित करता है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि आस्टिन विक्टोरिया युग की देन थे और उनके सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारों में राजतन्त्र के अनुमोदन का आभास मिलता है।

सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) ने आस्टिन तथा अन्य एकत्ववादियों के प्रत्येक पक्ष को लेकर विवेचन किया है। सर हेनरी मेन ने अभिसमय तथा परम्परावादी (Conventional) दृष्टिकोण से आस्टिन के सम्प्रभु सिद्धांत की आलोचना की है। मेन ने भारत तथा कुछ अन्य पूर्वी राज्यों का उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया है कि कोई भी सम्प्रभु ऐसा आदेश नहीं दे सकता जो जन समुदाय की पूर्व प्रचलित अभिसमयों के विरुद्ध हो। महाराजा रणजीतसिंह का दृष्टान्त देते हुए सर हेनरी मेन ने लिखा है कि महाराजा रणजीतसिंह की शक्ति राजनीतिक दृष्टि से असीमित थी किन्तु उन्होंने भी कभी कोई ऐसा आदेश नहीं दिया जिसे, जैसा कि आस्टिन ने लिखा है, कानून कहा जा सकता था।[11]

आस्टिन के अनुसार सम्प्रभु का वचन ही विधि एवं विधान है। आस्टिन की

---

10 Ashirvatham, E., Political Theory, p 266-67

11 Maine, Henry S., Lectures on the Early History of Institutions, pp 379-80

यह धारणा त्रुटिपूर्ण तथा केवल आंशिक सत्य है। सम्प्रभु या प्रदेश कानून का एकमात्र स्रोत नहीं है। रीति रिवाजें, परम्पराएँ, धार्मिक प्रथाएँ न्यायालय के निर्णय, विधि-विद्वानों द्वारा टीकाएं तथा मुख्यतः संसद के द्वारा कानूनों का निर्माण किया जाता है। आस्टिन ने इन सब स्रोतों की अवहेलना कर केवल एक ही तत्व पर अनावश्यक जोर दिया है।

आस्टिन का यह विचार कि सम्प्रभुता अविभाज्य एवं असीमित होती है व्यावहारिक तथा अन्य दृष्टि से स्वीकार नहीं किया जा सकता। विश्व के किसी भी राज्य की राजनीतिक व्यवस्था का यदि विवेचन किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि किसी भी देश में सम्प्रभुसत्ता असीमित एवं अविभाज्य नहीं होती। सत्ता, कर्त्तव्य उत्तरदायित्वों का भार ही कुछ व्यक्तियों अथवा संस्थाओं में वितरण एवं विभाजन रहता है। आजकल प्रत्येक शासन प्रणाली में शक्ति विभाजन तथा पारस्परिक अवरोध की व्यवस्था होती है। परिणामस्वरूप सम्प्रभु सत्ता के असीमित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

आस्टिन का सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धांत लोकप्रिय सम्प्रभुता के विरुद्ध स शक्ति का समर्थन करने वाला है। आस्टिन की सम्प्रभुता सम्बन्धी सभी मान्यत लोकमत तथा जन इच्छा के प्रतिकूल है। उनकी धारणाएँ शक्ति पर आधारित व्यवस्था की ओर ले जाने वाली हैं। आस्टिन के सम्प्रभु समाज की व्यवस्था अधिनायकवादी तथा पुलिस राज जैसी होगी।

स्वतन्त्रता के समर्थक आस्टिन के विचारों को एक खतरनाक कल्पना मानते है जो लोकतन्त्र के विरुद्ध तथा राजतन्त्र और निरंकुशता का समर्थन करने वाले हैं। ये राज्य के एकत्ववादी सिद्धान्त के सभी तत्वों का विरोध करते हैं। स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए इनका विचार है कि सम्प्रभु सत्ता का विभाजन विभिन्न संस्थाओं तथा केन्द्र और राज्यों में होना चाहिए। सम्प्रभुता का कोई निश्चित केन्द्र न होकर समय समय पर स्थगन होता रहना चाहिए। सम्प्रभुता जनमत द्वारा सीमित होना चाहिए।

यद्यपि आस्टिन के सम्प्रभु सम्बन्धी विचारों अथवा राज्य के एकत्ववादी सम्प्रभु सिद्धान्त की सामान्य आलोचना हुई है किन्तु जितनी व्यापक आलोचना बहुलवादियों ने की है सम्भवतः किसी अन्य ने नहीं। बहुलवादियों की आलोचना एवं निन्दा से सम्प्रभुता का कोई भी पक्ष नहीं बच सका है।

बहुलवाद (PLURALISM)

प्लूरलिज्म (Pluralism) प्लूरल (Plural) शब्द से बना है। प्लूरल का अर्थ 'एक से अधिक' है। प्लूरलिज्म अथवा बहुलवाद समाज में एक से अधिक संस्थाओं को महत्व देता है। ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी (The Oxford English

Dictionary, Vol.VII, p 1026) के अनुसार बहुलवाद एक विचार सिद्धान्त अथवा विचार प्रणाली है जो एक से अधिक सिद्धान्तों को मान्यता देता है, यह एकत्ववाद (monism) के विरुद्ध है। राजनीतिक बहुलवाद वैयक्तिक अन्तर्शीमा तथा विविध अभिव्यक्ति की आवश्यकता से सम्बद्ध है। यह समूहों के हितों पर आधारित है। सभी बहुलवादी राज्य सम्प्रभुता के गुणगान का विरोध करते हैं (Dictionary of Political Science, ed by Joseph Dunner, p 413) अन्य शब्दों में, बहुलवाद आर्थिक सामाजिक राजनीतिक सत्ता के केन्द्रीकरण के विरुद्ध अवधारणा है। किन्तु इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति राज्य सम्प्रभु सिद्धान्त अथवा सम्प्रभु के एकत्ववादी सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में तथा विरोधस्वरूप हुई है। बहुलवाद की व्याख्या करते हुए कोकर ने लिखा है कि बहुलवाद सामाजिक समूहों का समर्थन करता है क्योंकि उसका दावा है कि मनुष्य की सामाजिक प्रकृति की अभिव्यक्ति विविध समूहों में होती है। कोई भी समूह नैतिक या व्यावहारिक दृष्टि से एक दूसरे से श्रेष्ठ नहीं है। बहुलवादी राज्य को सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी नहीं मानते।[12]

बहुलवाद का प्रादुर्भाव - कारण

बहुलवाद के प्रादुर्भाव के इतिहास पर यदि दृष्टिपात किया जाय तो यह तत्त्व स्पष्ट हो जाता है कि बहुलवाद उन सभी विचारों के विरुद्ध प्रतिक्रिया है जो राज्य को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। ऐसी विचारधाराओं में राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त तथा सम्प्रभुता का एकत्ववादी सिद्धान्त है। पूर्व पृष्ठों में अध्ययन किया गया है कि बोदां, हॉब्स तथा आस्टिन राज्य को पूर्णतः सम्प्रभु-सम्पन्न मानते हैं जो राज्य की निरंकुशता का दूसरा नाम है। बहुलवादी राज्य के इस सम्प्रभु सिद्धान्त के विवेचन का पूर्ण खण्डन करते हैं।

राज्य को सातवें आसमान तक पहुंचाने का श्रेय आदर्शवादियों में हीगेल को है। वे राज्य का 'पृथ्वी पर प्रभु' के तुल्य मानते हैं। राज्य के विषय में हीगेल ने कहा था—"राज्य वर्तमान चेतना के रूप में एक दैवी इच्छा है जो संगठित संसार के रूप में अपना उद्घाटन करती है।" हीगेलवादी राज्य की व्याख्या करते हुए सेबाइन ने लिखा है कि हीगेल के लिए राज्य साधन नहीं बल्कि साध्य है। वह विकास में विवेकयुक्त आदर्श को और सभ्यता में आध्यात्मिक तत्त्व को प्रकट करता है। इस दृष्टि से वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नागरिक समाज का प्रयोग करता है या एक विशिष्ट आध्यात्मिक अर्थ में उसका निर्माण करता है। राज्य पूर्ण रूप से विवेकयुक्त है, वह दैवी सत्ता है जो स्वयं जानती है और इच्छा करती है, वह चेतना की शाश्वत और आवश्यक सत्ता है वह संसार में ईश्वर की यात्रा है।[13]

हीगेलवाद के अन्तर्गत राज्य को वैधानिक तथा नैतिक दृष्टि से सर्वोच्च अधि-

12 Coker, F, Recent Political Thought, pp 497–98

13 सेबाइन, राजनीति-दर्शन का इतिहास, पृ० 619—20

कार प्राप्त है। हीगेलवादी राज्य में निहित तत्त्व यह है कि इसमें राज्य और समाज को एकरूप माना जाता है। राज्य में सावयविक एकता होती है, राज्य एक केन्द्रीय सामाजिक व्यवस्था है जिसमें व्यक्तियों को अपना स्थान बनाना पड़ता है। व्यक्ति का स्वयं अपने आप में न कोई महत्त्व एवं अस्तित्व है और न कोई पृथक मूल्य। व्यक्ति का महत्त्व इसलिए है कि वह राज्य की एक इकाई है। इस हीगेलवादी राज्य के विरुद्ध जो स्पष्ट प्रतिक्रिया हुई है बहुलवाद इसी प्रतिक्रिया का भी परिणाम था।[14]

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक इंग्लैण्ड में तथा अन्यत्र जिस समय लोकतन्त्र की जड़ें जम रही थी उसी समय लोकतान्त्रिक क्षेत्रीय प्रतिनिधि प्रणाली के दोष सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहे थे। इंग्लैण्ड में इस प्रकार के कई दृष्टान्त सामने आये जब कि प्रतिनिधित्व व्यक्तियों का नहीं किन्तु सुनसान वीरान क्षेत्रों का होता रहता था। निर्वाचन क्षेत्रों का सीमाकरण अत्यन्त दोषपूर्ण था। यद्यपि धीरे-धीरे निर्वाचन व्यवस्था में सुधार होता रहा किन्तु क्षेत्रीय प्रतिनिधि प्रणाली फिर भी दोषरहित नहीं थी। इस स्थिति में पूर्ण सुधार करने के लिए बहुलवादियों ने (जिनमें गिल्ड समाजवादी प्रमुख हैं) क्षेत्रीय या प्रादेशिक प्रतिनिधित्व सिद्धान्त के स्थान पर व्यावसायिक प्रतिनिधि प्रणाली का समर्थन किया। इस विचार ने बहुलवाद को आगे बढ़ने में सहायता दी।

व्यक्तिवाद एवं पूँजीवाद राज्य के कार्य क्षेत्र को सीमित करते हैं। समाजवाद इनका विरोधी प्रत्युत्तर था। किन्तु समाजवाद के प्रादुर्भाव तथा राज्य के सकारात्मक कार्यों में वृद्धि के कारण नौकरशाही तथा उसके अधिकारों में वृद्धि हुई। समाजवाद, राज्य के सकारात्मक कार्य तथा नौकरशाही की मिश्रित प्रक्रिया ने केन्द्रीकरण (Centralisation) पर आधारित प्रशासन को प्रोत्साहन दिया। केन्द्रीकरण ने कुछ समय में ही असीमित रूप धारण कर लिया। यहां तक कि शासन व्यवस्था, सामाजिक समुदाय व्यवस्था केन्द्रीकरण के बोझ से दबकर रक्तहीन एवं गतिहीन होती जा रही थी। अब इस बात का अनुभव किया गया कि विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। विकेन्द्रीकरण का समर्थन बहुलवादियों का एक प्रमुख विचार बन गया जिसने इस विचार की वृद्धि में और सहायता दी।

प्रमुख बहुलवादी

बहुलवाद की उत्पत्ति, आशीर्वादम् के विचार से, मध्ययुग की गिल्ड व्यवस्था में हुई। मध्य युग की अव्यवस्थित परिस्थितियों के सन्दर्भ में व्यापारियों, शिल्पियों तथा उनके संघों को काफी स्वायत्तता एवं अधिकार मिल गये थे किन्तु राष्ट्रीय राज्य (Nation state) एवं राजतन्त्रों के विकास से मध्ययुगीय व्यवस्था समाप्त हो गई। राज्य सम्प्रभुता तथा केन्द्रवादी दोषों के निवारण के लिये कुछ लेखकों ने मध्ययुगीय व्यवस्था के पुनरुत्थान का अनुमोदन किया। जर्मनी के ओटो गियर्क

14. आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 464, 708.

(Otto Von Gierke, 1841-1913) तथा ब्रिटेन में मेटलैण्ड (F.W. Maitland, 1850-1906) ने व्यावसायिक सघों की स्वायत्तता का समर्थन किया। इन दोनों को आधुनिक बहुलवादी अवधारणा का जन्मदाता माना जाता है। इनके अतिरिक्त बहुलवाद के और भी अन्य समर्थक हैं। बहुलवाद को विकसित करने में फिगिस (J N Figgis) का महत्वपूर्ण योगदान है। फिगिस[15] ने राज्य और चर्च के सम्बन्धों के सन्दर्भ में यह प्रतिपादित किया कि धर्म सघों का अस्तित्व राज्य की कृपा पर निर्भर नहीं करता। धर्म-सघ मे एक व्यक्ति की भांति आत्म-विकास की क्षमता होती है। फिगिस ने राज्य के सम्प्रभु सिद्धान्त को एक अन्धविश्वास की सज्ञा दी है।

पोल बान्कर (Paul Boncour) तथा डर्कहीम (E Durkheim) ने व्यावसायिक एवं आर्थिक सघों की ओर से दावे प्रस्तुत किये हैं। हेरॉल्ड लास्की (H J Laski) ने राज्य सम्प्रभुता पर सबसे प्रबल प्रहार किया है। वे ऐसी व्यवस्था का समर्थन करते हैं जहा असीमित एवं अनुत्तरदायी राज्य के स्थान पर सम्प्रभुता का स्वायत्त सघों मे विभाजन हो। कोल (G D H Cole) तथा अन्य गिल्ड समाजवादियों का विश्वास था कि समाज का विभाजन उत्पादकों और उपभोक्ताओं के सघों मे होना चाहिए। उन्होंने गिल्ड्स तथा राज्य के मध्य सह-सम्प्रभुता (Co-Sovereignty) का विचार प्रस्तुत किया है। मकाइवर (R M MacIver) की पुस्तक-Modern State—में बहुलवाद की स्पष्ट छाया है। मैकाइवर ने राज्य तथा अन्य सामाजिक सस्थाओं को एक ही स्तर पर ला खड़ा किया है। उनके विचार से समाज के अन्य सगठन उतने ही स्वाभाविक एवं आवश्यक हैं जितना कि राज्य। वे राज्य को केवल एकता स्थापित करने वाली सस्था मानते हैं। बार्कर (Ernest Barker) राज्य तथा अन्य समुदायों के मध्य सतुलन करने का समर्थन करते हैं। साथ ही साथ वे सघों की निरकुशता का भी विरोध करते हैं। उन्होंने राज्य की व्याख्या सघों के सघ तथा समुदायों के समुदाय के रूप मे की है। इनके अतिरिक्त लिण्डसे (A D Lindsay), मिस फॉलेट (Miss Follett) आदि भी बहुलवाद के समर्थक हैं।

बहुलवादी सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त का कई तर्कों एवं दृष्टिकोणों से खण्डन करते हैं। राज्य के सम्प्रभु सिद्धान्त के विरुद्ध बहुलवादियों के सामान्यत निम्नलिखित तर्क हैं—

ऐतिहासिक तर्क

राज्य सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त के विषय में बहुलवादियों का आरोप है

15 फिगिस के बहुलवादी विचार उनके निम्नलिखित ग्रंथों में मिलते हैं—
The Divine Right of Kings, Cambridge, 1914, Studies of Political Thought from Gerson to Grotius, Cambridge, 1916

कि सम्प्रभुता राज्य का मौलिक तत्त्व नहीं है। इतिहास का अध्ययन बतलाता है कि राज्य समाज में परिस्थितियों की उपज है, वह समाज का सबसे महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक तत्त्व नहीं रहा है। वे राज्य को एक प्राचीन संस्था के रूप में स्वीकार अवश्य करते हैं किन्तु वे यह मानने से इन्कार करते हैं कि राज्य सदैव ही सम्प्रभुता-सम्पन्न रहा है। उनके अनुसार सम्प्रभु राज्य की धारणा लगभग सोलहवीं शताब्दी की देन है। इसके पूर्व राज्य-सम्प्रभुता जैसा कोई तत्त्व नहीं था। सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप एक समाज माना जाता था जहां आधुनिक अर्थ में प्रभुत्व का अस्तित्व नहीं था। इसके अतिरिक्त राज्य की जो भी स्थिति थी उसकी शक्ति पर अनेक बंधन एवं सीमाएँ थी। राज्य कानून के ऊपर न होकर उसके अन्तर्गत था। बहुलवादियों का कहना है कि विभिन्न समुदायों एवं संस्थाओं ने भी राज्य पर नियन्त्रण रखा है। मध्य युग में ईसाई चर्च का धार्मिक और सामाजिक जीवन पर ही नहीं, राजनीतिक जीवन पर भी काफी नियन्त्रण था।[16] जब से श्रमिक संगठन अस्तित्व में आये उनका भी राज्य पर किसी न किसी रूप में दबाव रहा है।

विधि एवं अन्तःकरण (Law and Conscience)

कुछ बहुलवादियों, जिनमें फ्रांस के ड्यूग्वी, हॉलैण्ड के क्रेब तथा इंग्लैण्ड के हेरॉल्ड लास्की प्रमुख हैं, ने सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त का विधि दृष्टिकोण से खण्डन किया है। एकत्ववादी राज्य को विधि का प्रमुख स्रोत मानते हैं। जैसा कि आस्टिन ने लिखा है राज्य का आदेश ही कानून है। इन बहुलवादियों ने इस तर्क एवं मान्यता को स्वीकार नहीं किया है। इस सम्बन्ध में वे राज्य के अधिकार को चुनौती देते हैं। ड्यूग्वी कानून को सम्प्रभु राज्य की रचना नहीं मानते। उनके अनुसार कानून राजनीतिक संगठन से पूर्वकालीन, स्वतन्त्र एवं श्रेष्ठ होता है। विधि सामाजिक जीवन का परिणाम है। कानून का पालन इसलिए नहीं किया जाता कि वे किसी सम्प्रभु द्वारा निर्मित या निर्देशित है किन्तु इसलिये कि वे समाज के आवश्यक नियम हैं जो पारस्परिक सम्बन्धों को संगठित करते हैं तथा एकता के सूत्र में बांधते हैं। राज्य का कार्य इन विधियों को मान्यता एवं अपनी शक्ति प्रदान करना है। जैसा कि गैटेल ने लिखा है ड्यूग्वी का मुख्य उद्देश्य सम्प्रभु सत्ता पर न्यायमूलक प्रतिबन्ध लगाना तथा राज्य के उत्तरदायित्व सिद्धान्त का विकास करना है।

लास्की का कहना है कि केवल वैधिक औचित्य ही सरकार को इस बात का अधिकार नहीं देता कि वह अपनी आज्ञाओं का बलात्पूर्वक पालन कराए। राज्य के इस अधिकार में नैतिक औचित्य होना चाहिए। विधि का स्रोत राज्य नहीं है किन्तु व्यक्ति जो अपने अन्तःकरण के अनुसार चलता है। कानून की प्रस्थापना व्यक्तियों की सहमति के बिना नहीं हो सकती। व्यक्ति द्वारा केवल उन कानूनों का पालन करना चाहिए जो उसके अन्तःकरण के अनुरूप, उसकी सहमति पर आधारित तथा उसकी

16. दुबे, स. ना., आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ, पृ० 300.

आकांक्षाओं को पूरा करने में सहायक हो। लास्की का मत है कि जिन लोगों ने इंग्लैण्ड के सम्राट चार्ल्स प्रथम के विरुद्ध, अट्ठारहवीं शताब्दी में फ्रांसिसी निरंकुश राजतन्त्र के विरुद्ध तथा 1917 में रूस के ज़ार के विरुद्ध विद्रोह किया उन्होंने विधि की कोई अवज्ञा नहीं की। वे लोग उस विधि के प्रति निष्ठावान थे जो राज्य के ऊपर है।[17]

सम्प्रभु सिद्धान्त के एकत्ववादियों का कहना है कि राजनीतिक समाज में सम्प्रभु निश्चित एवं अविभाज्य होता है। बहुलवादी इस मान्यता से सहमत नहीं हैं। संघात्मक राज्य का उदाहरण देते हुए उनका कहना है कि इस प्रकार की शासन व्यवस्था में सम्प्रभुता कहां निवास करती है स्पष्ट करना असम्भव है। संघीय व्यवस्था में सम्प्रभु सत्ता निश्चित न होने के साथ साथ कई संस्थाओं तथा क्षेत्रीय स्तरों में विभाजित रहती है। विश्व के किसी भी संघीय संविधान का यदि अध्ययन किया जाय तो सम्प्रभुता की एकत्ववादी धारणा कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती।

अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष

राज्य सम्प्रभु सिद्धांत के वाह्य पक्ष की आलोचना अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ताओं, अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं व्यवस्था के समर्थकों ने की है। इनका कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में कोई भी राज्य पूर्ण सम्प्रभु नहीं होता उसकी कुछ न कुछ सीमाएँ निर्धारित रहती हैं या व्यावहारिक दृष्टि से सीमाएँ एवं मर्यादाएं स्वीकार करनी पड़ती हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अर्ध-सम्प्रभु राज्य (semi sovereign state) की अवधारणा का समर्थन करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीयवादियों का यह विचार है कि राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एवं समझौतों के प्रति अपने दायित्वों को स्वीकार करना चाहिये। हेरॉल्ड लास्की ने राज्य की असीमित वाह्य सम्प्रभुता का विरोध करते हुये लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक स्वतन्त्र सम्प्रभु राज्य की धारणा मानव कल्याण के लिये घातक है। एक राज्य को दूसरे राज्यों के साथ किस प्रकार रहना चाहिये इसका निर्णय करने का अधिकार एकमात्र उसी राज्य को नहीं दिया जा सकता।[18]

लास्की के अनुसार राज्यों का पारस्परिक जीवन एक ऐसा विषय है जिस पर राज्यों में समझौता होना चाहिये। उनकी व्यवस्था के लिए एक विश्व संगठन की आवश्यकता है। यदि मनुष्यों को महान मानव समाज में रहना है तो उसे सहयोगमूलक व्यवहार सीखना होगा। एक विश्वराज्य में उसका निर्माण चाहे जिस प्रकार हो, उसमें चाहे जिस मात्रा में विकेन्द्रीकरण हो, पृथक सम्प्रभुता के लिये स्थान नहीं है। लास्की विश्व एवं मानवता के प्रति निष्ठा को सम्प्रभुता पर एक आवश्यक प्रतिबन्ध मानते हैं।[19]

17 आशीर्वादम्, राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 439
18. Laski, H J, A Grammar of Politics, p 65
19 आशीर्वादम् राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 717–18

राज्य का व्यवहार एवं कार्य-स्वतन्त्रता अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अधिकारों द्वारा सीमित होती है। राज्य स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का एक अंग है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में सकारात्मकवाद (Doctrine of Positivism) के अंतर्गत राज्य की सर्वोच्च सत्ता स्वयं की स्वीकृति से परिवर्तित एवं सीमित की जा सकती है। इसकी अभिव्यक्ति राज्य द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों तथा प्रचलित परम्पराओं को स्वीकार करने में होती है। इसके अतिरिक्त सम्प्रभुता का तात्पर्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्यों की समानता से भी है।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत में जब तक सम्प्रभुता के सिद्धांत को मान्यता मिलती रहेगी अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की संस्थाएँ न तो कोई विशेष प्रगति कर सकती हैं और न वे शक्तिशाली हो सकती हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय एकता एवं समन्वय का दृष्टिकोण एक सीमित परिधि से आगे नहीं जा सकता। यह बात संयुक्त राष्ट्र तथा अन्य संस्थाओं जैसे यूरोपीय साझा बाजार (European Economic Community) आदि के व्यावहारिक अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है।

राज्य एवं समुदाय

समुदायों के समर्थन में सामान्य तर्क

बहुलवादी समुदायवादी हैं। उन्होंने समाज में विभिन्न समुदायों के हितों और अधिकारों का समर्थन कर सम्प्रभुता सिद्धान्त का खण्डन किया है। उनका अर्थ है कि प्रथम, समाज में समुदायों की सृष्टि राज्य नहीं करता। यह भ्रम है कि विभिन्न समुदाय अपने अस्तित्व के लिये राज्य की इच्छा अथवा सत्ता पर निर्भर करते हैं। समुदाय स्वतः उत्पन्न होते हैं, उनका स्वयं का व्यक्तित्व होता है जो राज्य की सत्ता से पृथक और स्वतन्त्र है। द्वितीय, यद्यपि राज्य स्वयं एक प्राचीन संस्था है किन्तु समाज में बहुत से ऐसे समुदाय हैं जो राज्य से पूर्व तथा राज्य की सहायता के बिना अपना कार्य करते हैं। तृतीय, केवल राज्य अकेला ही विधि निर्माण का स्रोत नहीं है। समाज में विभिन्न संस्थाएं तथा समुदाय कई प्रकार की धारणाओं, परम्पराओं एवं सिद्धान्तों को जन्म देते हैं आगे चलकर सामाजिक आचरण के नियम बन जाते हैं। राज्य का कार्य केवल इनको स्वीकार कर मान्यता प्रदान करना है।

मानव स्वभाव—बहुलवादियों ने अपने विचारों को मानव प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुरूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस सम्बंध में बहुलवादी स्वयं को एक निश्चित सीमा तक विवेक के प्रति विद्रोह (revolt against reason) से सम्बंध रखते हैं जो सामाजिक मनोविज्ञान एवं नवीन प्रवृत्तियाँ प्रस्तुत करता है। उनके अनुसार मनुष्य में कई प्रकार की प्रवृत्तियां होती हैं, जिनके कारण मनुष्य के विभिन्न उद्देश्य एवं आवश्यकताएँ होती हैं। इन सभी की पूर्ति राज्य नहीं कर सकता। राज्य की स्थिति समाज के कुछ निश्चित राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये है। यदि राज्य समाज के सम्पूर्ण कार्यों; राजनीतिक तथा गैर-राजनीतिक,

सभी को अपने हाथों में लेना भी चाहे तो या तो यह असम्भव है या अव्यावहारिक। इसलिए मनुष्य की विविध प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज में राज्य के अतिरिक्त और कई प्रकार की संस्थाओं—जैसे चर्च, संगीत-नाटक संस्थाएं आदि—की स्थापना की जाती है। राज्य ही केवल ऐसी संस्था नहीं है जिसमें मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा प्रवृत्तियों की संतुष्टि के लिये सम्मिलित होता है। जैसा कि लास्की ने लिखा है—राज्य मानव समाज संघों के अनेक रूपों में से केवल एक है तथा इनमें संघर्ष होने की स्थिति में व्यक्तिगत वफादारी एवं श्रद्धा के प्रति अपेक्षाकृत राज्य का अधिक दावा नहीं होता।

राज्य समुदायों का समुदाय

बहुलवादी, जैसे फिगिस, लिण्डसे, बार्कर, लास्की आदि राज्य को व्यक्तियों का समुदाय नहीं मानते। इनके अनुसार राज्य समुदायों का समुदाय है। इसका तात्पर्य है कि पहिले मनुष्य अपनी विभिन्न आवश्यकताओं एवं प्रवृत्तियों के अनुसार राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि समुदायों में संगठित करता है। तदुपरांत इन समुदायों के आधार पर राज्य का निर्माण होता है। जैसा कि बार्कर ने लिखा है "राज्य सामान्य जीवन में व्यक्तियों का समुदाय कम है, यह उन व्यक्तियों का समुदाय अधिक है जो पहले ही सामान्य हितों की उपलब्धि के लिये विभिन्न समूहों में संगठित हैं।"[20] बहुलवादी योजना का आधार व्यक्ति नहीं बल्कि व्यक्तियों का समूह है।

राज्य के विधिवादी सिद्धांत का विरोध सर्वप्रथम डा० गियर्के ने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ–Das deutsche Genossenschaftsreht[21]–में किया। गियर्के रोमन परम्परा के विरुद्ध जर्मन निगमवादी थे। पश्चिमी समाज सदैव ही कई समूहों में विभाजित रहा है। मध्य युग में यह व्यवस्था अधिक प्रचलित थी। उस समय राज्य तथा विभिन्न समूहों के सम्बन्धों का निर्धारण एक समस्या थी। अन्य शब्दों में समस्या राज्य तथा अन्य समूहों के वैधानिक सम्बन्धों को निर्धारण करने की थी। पोप इनोसेन्ट चतुर्थ (Pope Innocent IV) ने 1243 में इस समस्या के हल के लिये एक काल्पनिक सिद्धान्त (The Fiction Theory) का प्रतिपादन किया जिसके अन्तर्गत कॉरपोरेट व्यक्तित्व (Corporate personality) को मान्यता दी गयी। तदुपरान्त एक और सिद्धान्त कन्सेशन सिद्धांत (The Concession Theory) का प्रचलन चला जिसका आशय था कि राज्य के अन्दर किसी भी समूह का वास्तविक

20 Barker, E., Political Thought in England, 1848—1914, p 177

21 इसका अर्थ है—The German Law of Associations इस ग्रन्थ के तृतीय भाग को F. W. Maitland ने एक नये शीर्षक—Political Theories of the Middle Age—के अन्तर्गत अंग्रेजी भाषा में अनूदित करने के साथ-साथ लगभग चालीस पृष्ठों की प्रस्तावना भी लिखी है।

ग्तित्व नहीं होता, समूहों की अपने सदस्यों से पृथक स्वयं की कोई इच्छा नहीं होती या समूह-व्यक्तित्व केवल काल्पनिक तथा राज्य द्वारा निर्मित होता है। डा० गियर्क वास्तव में इस सिद्धान्त का विरोध कर बहुलवादी विचारधारा के लिये महत्वपूर्ण ोगदान दिया।

गम व्यक्तित्व तथा समूह व्यक्तित्व सिद्धान्त

ग्रॉटो गियर्क तथा मेटलेण्ड ने निगमों के वैधानिक तथा ऐतिहासिक सिद्धान्त ा निरूपण किया। उनके इस सिद्धान्त को निगम व्यक्तित्व सिद्धान्त (The Theory f Personality of Corporation) अथवा समूह व्यक्तित्व सिद्धान्त (Theory of iroup Personality) कहा जाता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए गियर्क लिखा है—

> 'किसी राजनीतिक सिद्धान्त की दार्शनिक सत्यता, वैधानिक परीक्षण, नैतिक-परायणता, संहिता ग्रौर निर्णयों में वैधानिक रूप से निहित, तथा व्यावहारिक सरलता के लिये निगम व्यक्तित्व को मान्यता मिलनी चाहिये।'[22]

गियर्क तथा मेटलेण्ड के अतिरिक्त समूह व्यक्तित्व सिद्धान्त का विस्तार फिगिस J. N. Figgis) ने किया। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज कई समूहों ग्रौर समुदायों विभाजित होता है। इन समूहों का स्वयं का व्यक्ति होता है। अन्य शब्दों में, मूह एक वास्तविकता है, इसका स्वयं का जीवन, चेतना ग्रौर इच्छा होती है। इनका स्तित्व राज्य तथा कानून से स्वतन्त्र होता है। व्यवस्थित समूहों के व्यक्तियों की ाति अधिकार ग्रौर कर्त्तव्य होते हैं।

गियर्क ने समूह व्यक्तित्व सिद्धान्त का उपयोग आधुनिक राज्य में चर्च की वतन्त्रता के समर्थन में किया। लास्की ने गियर्क के तत्वों को ग्रहण किया किन्तु वे चर्च की स्वतन्त्रता के विषय में उतने इच्छुक नहीं थे। लास्की ने इस सिद्धान्त का उपयोग श्रमिक संगठनों की स्वतन्त्रता तथा राज्य के सम्प्रभु सिद्धान्त का खण्डन करने के लिये किया।

निगमों के कानूनी तथा ऐतिहासिक सिद्धान्त की व्याख्या कोकर ने इस प्रकार की है—

> 'किसी समाज में जो स्थायी संस्थाएं जन्म लेती हैं उनके व्यक्तित्व वास्तविक होते है काल्पनिक नहीं ग्रौर न वे बाहर से ही निर्मित होते हैं। प्रत्येक संस्था की एक सामूहिक चेतना एवं इच्छा होती है जो उसके व्यक्तिगत सदस्यों की इच्छाग्रों एवं तनावों से भिन्न होती है। इसके अतिरिक्त कानून के विस्तार में प्रत्येक संस्था एक मौलिक ग्रंग का कार्य'

22. Quoted, Hsiao, Kuan Huang; Political Pluralism, p 33.

करती है, प्रत्येक संस्था राज्य से रियायत प्राप्त करने के पूर्व भी काम करती है और ऐसी एजेन्सी के रूप में काम करती है जिसके द्वारा कानूनी प्रकृति के सामान्य विश्वासों की अभिव्यक्ति कानून के वास्तविक नियमों में होती है। इस कानून के विस्तार में राज्य का भाग प्रधान है, एकान्तिक नहीं।"[23]

निगम सिद्धान्त का प्रतिपादन राज्य सम्प्रभुता का खण्डन करने के लिये काफी सहायक सिद्ध हुआ। बार्कर ने मेटलेण्ड की समुदायों के 'वास्तविक व्यक्तित्व' की कल्पना को स्वीकार नहीं किया है किन्तु इस सिद्धान्त के वे इस मूल विचार को स्वीकार करते हैं कि ये समुदाय राज्य में पहले विद्यमान थे तथा इनमें प्रत्येक वैध व्यक्ति है जिनका निर्माण उसके सदस्यों के सामान्य विश्वास से हुआ है।[24]

व्यावसायिक समुदाय—पॉल बकर (Baut Boncour) तथा डर्कहाइम (E Dirkheim) ने कुछ आर्थिक पक्षों को लेकर बहुलवाद का समर्थन किया है। पाल बकर ने कई व्यावसायिक समुदायों का अध्ययन करने के उपरान्त विचार व्यक्त किया है कि *आर्थिक समुदाय स्वयं उत्पन्न होते हैं। वे धीरे धीरे शक्तिशाली हो* जाते हैं तथा अपने व्यवसाय पर पूर्ण-नियंत्रण रखते हैं। कोई कोई आर्थिक समूह इतने शक्तिशाली हो जाते हैं कि व स्वय नियम निर्माण करते हैं, अपने सदस्यों पर नियन्त्रण रखते हैं तथा कालान्तर म राज्य उनके इस स्वरूप को मान्यता प्रदान कर देता है। डर्कहाइम का विचार है कि आज का राज्य औद्योगिक समाज में प्रगति का सामना करने मे असमर्थ है। समाज में आर्थिक क्षेत्र में इतनी जटिलता एवं विशिष्टीकरण हो गया है कि राज्य इनका सचालन करने म असमर्थ है। इस प्रकार बहुलवाद के समर्थक आर्थिक क्षेत्र म राज्य की दुर्बलता तथा सीमाओं की ओर इंगित करते हैं।

बहुलवाद तथा राज्य

राज्य तथा समाज में भेद—बहुलवादी राज्य को सर्वशक्तिशाली नहीं मानते और इसलिए वे राज्य और समाज का विलयीकरण नहीं करते। वे राज्य तथा समाज म अन्तर स्थापित करते हैं। मेकाइवर (R M MacIver) के अनुसार यह कल्पना भूल होगी कि राज्य के अतिरिक्त तथा उससे बढ़कर और कोई संस्थाएं नहीं हैं। वे समाज में विभिन्न समूहों एवं संस्थाओं की सेवाओं के महत्त्व को स्वीकार करते हैं।

बहुलवादियों ने सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त का जिस असहिष्णु भावना

---

23 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन पृ 534

24 कुछ विस्तृत विचारों के लिये देखिये—
Barker, E., Political Thought in England From Herbert Spencer to the Present Day, pp 175—183

से तीव्र खण्डन किया है उससे ऐसा आभास होता है जैसे कि बहुलवादी राज्य को ही समाप्त करना चाहते हैं। अन्य शब्दों में वे अराजकतावादी तथा गिल्ड समाजवादियों के प्रति निकट प्रतीत होते हैं। वास्तव में यह धारणा सत्य नहीं है। बहुलवादी न तो राज्य के विरोधी हैं और न वे राज्य को समाप्त कर देना चाहते हैं। वे केवल राज्य के एकत्ववादी सिद्धान्त का विरोध करते हैं। वे एक निश्चित सीमा तक राज्य के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। बहुलवादियों के अनुसार राज्य—

(1) समस्त समुदायों मे प्रथम समुदाय है।

(2) मनुष्य के विभिन्न हितों के लिए विभिन्न समुदाय होते हैं किन्तु मनुष्य के सामान्य हितों की रक्षा राज्य करता है।

(3) अन्य समुदायों की अपेक्षा राज्य का कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक होता है।

(4) विभिन्न समुदायों के कार्यों मे तालमेल बैठाने तथा उनमे विवाद आदि को सुलझाने के लिए वे राज्य के हस्तक्षेप को स्वीकार करते है।

(5) राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है यह अन्य समुदायों के विषय मे नहीं है।

(6) लास्की जैसे समाजवादी बहुलवादी आर्थिक क्षेत्र मे राज्य के नियन्त्रण को स्वीकार करते हैं।

बहुलवादी राज्य की व्याख्या करते हुए डा० हिसिआओ ने लिखा है—

"बहुलवादी राज्य वह राज्य है जहा सत्ता का केवल एक ऐसा स्रोत नहीं होता जो सर्व-सक्षम तथा सर्व-व्यापक हो अन्य शब्दों में सम्प्रभुता न कानून की एकीकृत व्यवस्था न प्रशासन का केन्द्रीकृत अंग, न राजनीतिक इच्छा का सामान्यीकरण हो। इसके विपरीत यह राज्य तत्त्व एवं अभिव्यक्ति मे बहुगुणात्मक होता है, यह कई भागो मे विभाजित होता है और होना भी चाहिए।"[25]

बहुलवाद एवं प्रतिनिधि सरकार

लोकतांत्रिक प्रणाली प्रतिनिधि सरकार पर आधारित होती है। किन्तु प्रतिनिधि सरकार की कई पक्षों को लेकर आलोचना हुई है। बहुलवादी भी प्रतिनिधि सरकार तथा उससे सम्बन्धित अन्य संस्थाओं के दोषो की ओर इंगित करते हैं तथा विकल्प मे कुछ सुझाव देते हैं। बहुलवादियों का कहना है कि स्वशासन तथा प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का जो स्वरूप ग्रीक नगर राज्यों में था अब उसमे व्यापक परिवर्तन एवं दोष उत्पन्न हो चुके हैं। जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि, राजनीतिक संगठनों की व्यापकता एव जटिलता से वास्तविक लोकतन्त्र लगभग समाप्त हो चुका है। लोकप्रिय सरकार अब उतनी साधारण नहीं है जितना कि समझा जाता है। प्रति-

25 Hsiao, Kung Chuan; Political Pluralism, p 8.

निधि प्रणाली भी लोकतन्त्र का कोई अन्तिम समाधान प्रस्तुत नहीं करती वरन् इसने स्वयं ही कई अन्य समस्याओं को जन्म दिया है। संसद की सम्प्रभुता अन्ध-विश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं। लोकतन्त्र में दल पद्धति वास्तव में एक आवश्यक बुराई है, या दल पद्धति कुलीनवर्ग द्वारा शासन पर अधिकार करने के लिए एक मुखौटा एवं छलावा है। बहुलवादी इन दोषों को ध्यान में रखते हुए चुनाव प्रणाली, प्रतिनिधि सभाएँ तथा दल-पद्धति के विषय में वैकल्पिक सुझाव प्रस्तुत करते हैं।

बहुलवादियों का प्रमुख सुझाव कार्यात्मक अथवा व्यावसायिक प्रतिनिधि प्रणाली (Functional Representation) है। व्यावसायिक प्रतिनिधि प्रणाली के अन्तर्गत कुछ सामाजिक हितों को मान्यता प्रदान की जायगी। एक व्यक्ति के जितने हित हैं उतने मत दे सकता है। अन्य शब्दों में वे 'एक व्यक्ति एक मत' सिद्धान्त स्वीकार नहीं करते किन्तु बहुल मत (Plural Voting) सिद्धान्त का सुझाव देते हैं। इस सम्बन्ध में बहुलवादियों का दूसरा सुझाव क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व (Territorial representation) के स्थान पर चुनाव क्षेत्रों का विभाजन व्यवसाय अथवा कार्य के आधार पर करना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में बहुलवादियों और गिल्ड समाजवादियों में कोई अन्तर नहीं है। कोल (G D H Cole) व्यावसायिक प्रतिनिधि प्रणाली के प्रमुख समर्थक हैं। उनके विचारों को बहुलवादी तथा गिल्ड समाजवादी दोनों ही मान्यता देते हैं।[26]

बहुलवादी लोकतन्त्र के अन्तर्गत प्रतिनिधि सभाओं की आलोचना करते हैं। उनके अनुसार वर्तमान सभाएँ आज के युग में राज्य की निरन्तर बढ़ती हुई गति-विधियों का भार वहन करने में असमर्थ हैं। ये केन्द्रीकृत व्यवस्था पर आधारित होती हैं तथा सामान्य इच्छा (General will) का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकतीं। प्रमुख बहुलवादी जैसे वेब दम्पती, लास्की, कोल आदि राष्ट्रीय प्रतिनिधि सभाओं का व्यावसायिक विभाजन करने का सुझाव देते हैं।

बहुलवादी प्रतिनिधि प्रणाली तथा प्रतिनिधि सभाओं के अनुरूप राजनीतिक दलों के संगठन का सुझाव देते हैं। उनका कहना है कि राजनीतिक दलों का संगठन प्रतिनिधि सभाओं के व्यावसायिक संगठन के समानान्तर होना चाहिए। अन्य शब्दों में वे राजनीतिक दलों का संगठन व्यावसायिक आधार पर चाहते हैं। इसका तात्पर्य यह होगा कि जितने व्यवसाय उतने ही राजनीतिक दल। इस प्रकार ये बहुदलीय प्रथा का समर्थन करते हैं। वेब दम्पती का सुझाव है कि विभिन्न आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले राजनीतिक दल विशेष परिस्थितियों में एक मुख्य दल में संगठित होकर उन राजनीतिक दलों का, जो केवल राजनीतिक लोकतन्त्र में विश्वास करते हैं, सफलतापूर्वक सामना या विरोध कर सकते हैं।

---

26 गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत व्यावसायिक प्रतिनिधि प्रणाली के लिए गिल्ड समाजवाद का अध्याय देखिए।

विकेन्द्रित व्यवस्था

पहले उल्लेख किया गया है कि बहुलवादी राज्य के कार्यों में अत्यधिक वृद्धि के कारण लोकतान्त्रिक प्रतिनिधि सभाओं की अकर्मण्यता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। बहुलवादियों के अनुसार लगभग यही स्थिति प्रशासन में विद्यमान है। यद्यपि यह स्वीकार किया जाता है कि केन्द्रीकृत प्रशासन से कार्य कुशलता में वृद्धि होती है किन्तु यदि यह व्यवस्था एक उचित या निश्चित सीमा को पार कर जाती है तब अकर्मण्यता, निष्क्रियता, अपव्यय आदि परिणाम स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं। अति केन्द्रीकृत व्यवस्था बहुलवादियों के अनुसार एक पुरानी राजनीतिक बीमारी है जिसका उपचार आवश्यक है। विकल्प के रूप में बहुलवादी गिल्ड समाजवादियों की भांति, प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण (Administrative de-centralisation) का सुझाव देते हैं।

बहुलवादी क्षेत्रीय तथा कार्यात्मक (administrative and functional) दोनों ही प्रकार के विकेन्द्रीकरण का समर्थन करते हैं। उनका यह विकेन्द्रीकरण इंग्लैण्ड के वितरणवादी (Distributionists) जिनमें बेलक (M. Belloc) प्रमुख थे, तथा फ्रांस के क्षेत्रीयवादी (Regionalists) जिनमें डेसचेनेल, हेनेसी, रिबॉट (P. Deschanel, J. Hennessy, A. Ribot) आदि प्रमुख हैं के विचारों पर आधारित है। इंग्लैण्ड के वितरणवादी, कोकर के अनुसार, सम्पत्ति का वैयक्तिक स्वामित्व तथा सम्पत्ति के छोटे-छोटे समुदायों के मध्य स्वेच्छापूर्वक सहयोग का समर्थन करते थे। इसका उद्देश्य किसी एक स्थान पर राजनीतिक सत्ता के केन्द्रीकरण को रोकना था। बहुलवादियों का विकेन्द्रीकरण मुख्यतः आर्थिक है, प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण तो केवल एक साधन मात्र है। वे प्रशासनिक क्षेत्रों का पुनर्गठन तथा क्षेत्रीय स्वायत्तता का अनुमोदन करते हैं।[27]

बहुलवाद तथा गिल्ड समाजवाद

बहुलवाद तथा गिल्ड समाजवाद का अध्ययन करते समय यह आभास लगता है जैसे ये दोनों एक ही हों। इसका प्रमुख कारण इनके कुछ विचारों और समर्थकों का एक होना है। हेरॉल्ड लास्की मार्क्सवादी, समाजवादी होते हुए भी बहुलवादी थे। कोल की गणना गिल्ड समाजवादी और बहुलवादी दोनों में ही की जाती है।

विचारों की दृष्टि से बहुलवाद तथा गिल्ड समाजवाद दोनों ही राज्य का किसी न किसी रूप में व्यापक विरोध करते हैं; दोनों विकेन्द्री व्यवस्था के प्रबल समर्थक हैं, दोनों क्षेत्रीय प्रतिनिधि व्यवस्था के आलोचक हैं तथा व्यावसायिक प्रतिनिधि प्रणाली का अनुमोदन करते हैं। दोनों में सबसे प्रमुख विचार-समता उनके द्वारा समाज के छोटे-छोटे समुदायों का समर्थन करना है।

27. Hsiao, Ibid, pp. 91—93.

किन्तु इतनी विचार-समता होते हुए इन भी दोनों को एक ही विचारधारा समझना भूल होगी। गिल्ड समाजवाद एक पूर्ण विचारधारा की श्रेणी में आता है। गिल्ड समाजवाद के अन्तर्गत प्रचलित सामाजिक व्यवस्था का विवेचन तथा उस आधार पर पूँजीवाद का विरोध, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था के विषय में इसके विचार-सूत्र एवं उद्देश्य, उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये साधनों आदि सभी की व्याख्या मिलती है। बहुलवाद को केवल राज्य प्रभुता अथवा प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त के विरोध के सन्दर्भ तक ही सीमित रखा जाता है। वास्तव में बहुलवाद को विचारधारा की श्रेणी में लेना ही सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त गिल्ड-समाजवाद एक समाजवादी शाखा है, बहुलवाद समाजवादी अथवा अन्य किसी प्रकार की विकेन्द्रीय तथा समुदायवादी व्यवस्था हो सकता है। इस प्रकार दोनों में आकृति समता होते हुए भी ये व्यवस्था में भिन्न हैं।

बहुलवाद का मूल्यांकन

बहुलवादियों ने राज्य सम्प्रभु सिद्धान्त पर प्रत्येक ओर से प्रहार किया है। उनके दृष्टिकोणों का निष्कर्ष है कि वे इसे एक अनिष्टकारी एवं व्यर्थ का सिद्धान्त मानते हैं। उनके सुझाव भी उन्मूलक एवं प्रतिवादी है। ए० डी० लिण्डसे ने कहा है कि यदि हम तथ्यों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट है कि सम्प्रभु राज्य का सिद्धान्त खण्डित हो चुका है।[28] इस सिद्धान्त के सबसे कटु आलोचक हेरॉल्ड लास्की का विचार है कि राजनीतिक दर्शन के लिये प्रभुता के कानूनी सिद्धान्त को वैध बनाना सम्भव नहीं है। यदि सम्प्रभुता की सम्पूर्ण संकल्पना का परित्याग कर दिया जाय तो यह राजनीति शास्त्र का एक स्थायी हित होगा।[29]

राज्य सम्प्रभुता अथवा सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त के विरुद्ध बहुलवादियों ने आपत्तियां प्रस्तुत की हैं किन्तु बहुलवाद स्वयं दोषों से मुक्त नहीं है। बहुलवाद की भी आलोचना कई पक्षों को लेकर हुई है। बहुलवाद के विरुद्ध सबसे प्रारम्भिक आलोचना यह है कि बहुलवाद का एक पृथक एवं स्पष्ट अवधारणा नहीं बन सका है। बहुलवाद को इस स्थिति में लाने का बहुत कुछ उत्तरदायित्व इसके समर्थकों पर है। कोल गिल्ड समाजवादी, फेबियनवादी, बहुलवादी सब कुछ है। मिस फॉलेट तथा अन्य बहुलवादी तथा सम्प्रभुतारहित राज्य के आदर्श को स्पष्ट करने में असमर्थ रहे हैं। यही बात बहुलवाद के अन्य समर्थकों के विषय में है। ऐसे समर्थकों के कारण बहुलवाद एक पृथक अवधारणा के रूप में अपना अस्तित्व बनाये रखने में सदैव लड़खड़ाता रहा। *कई स्थलों पर गिल्ड समाजवाद तथा बहुलवाद समानान्तर चलते हैं।*

फ्रान्सिस कोकर के अनुसार बहुलवादियों के विश्लेषण में दोष कुछ तो इस कारण है कि वे स्पष्ट रूप से यह बतलाने में असमर्थ रहे हैं कि एकत्ववादी समझकी

28. Lindsay A.D., The Modern Democratic State, pp 64—66
29. Laski, H.J., A Grammar of Politics, p 445

ने राज्य के जो विशिष्ट कर्त्तव्य बतलाये हैं उनमें से वे किन कर्त्तव्यों को स्वीकार नहीं करते। इसके अतिरिक्त कुछ दोष उनकी इस आधारभूत मान्यता के कारण हैं कि यदि केवल व्यक्ति या समुदाय राज्य के नियन्त्रण से मुक्त कर दिया जाय तो हमें ऐसी व्यवस्था प्राप्त होगी जिसमें स्वतः प्रवर्तित कार्य एवं आत्म-अभिव्यक्ति स्वतन्त्र रूप से हो सकेगी। अनुभव में यह मान्यता सत्य प्रमाणित नहीं होती।[30]

कुछ बहुलवादियों के विचारों को एक सीमा तक निष्पक्ष अध्ययन नहीं कहा जा सकता। उन्होंने जब राज्य सम्प्रभुता का खण्डन कर समूहों एवं समुदायों का समर्थन किया उसके पीछे उनका पूर्व निर्धारित उद्देश्य था। फिगिस ने गियर्क के समूह व्यक्तित्व सिद्धान्त का समर्थन चर्च की स्वायत्तता के लिये किया। उसके परे वह अधिक नहीं देख सके। इसी प्रकार लास्की का उद्देश्य श्रम संगठनों की भूमिका में वृद्धि कर उन्हें अधिक स्वायत्त एवं शक्तिशाली बनाना था।

बहुलवादी परस्पर-विरोधी विचारों में भी उलझे हुए प्रतीत होते हैं। एक ओर वे राज्य की सम्प्रभु सत्ता का विभिन्न संघों में विभाजन चाहते हैं, दूसरी ओर उनका कहना है कि समन्वयपरक शक्तियां राज्य को सौंप दी जायें। गियर्क तथा मेटलेण्ड समूहवादी होते हुए भी राज्य की अन्तिम वैध सत्ता को चुनौती नहीं देते। सम्भवतः वे सीमित सम्प्रभु तथा अपग रहकर कार्य करने वाले राज्य की कल्पना करते हैं। वास्तव में राज्य को चाहे कितने ही सीमित कार्य क्यों न दिये जायें वह इन कार्यों को तब तक नहीं कर सकता जब तक उसे अन्य समूहों की तुलना में किसी न किसी प्रकार की कानूनी सर्वोच्चता प्रदान न की जाय। यदि राज्य को यथार्थ में संघों का संघ, समुदायों का समुदाय बनना है तथा समाज के विभिन्न संघों के मध्य समन्वय और संतुलन स्थापित करना है, डा० आशीर्वादम् के विचार से निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—

प्रथम, राज्य को किसी ऐसी संस्था या संघ का अस्तित्व स्वीकार नहीं करना चाहिये जो सार्वजनिक हित या नीति के विरुद्ध हो। द्वितीय, राज्य को सभी संघों या संस्थाओं के साथ समान व्यवहार करना चाहिए। किसी भी समुदाय को उसकी अधिक संख्या या दबाव डालने की अधिक क्षमता के कारण कोई विशेष रियायतें नहीं देनी चाहिये। तृतीय, राज्य द्वारा किसी भी संस्था को ऐसे कार्य नहीं करने देने चाहिए जिसका दायित्व राज्य या अन्य संघों ने पहले ही ले रखा है। उदाहरणार्थ किसी मजदूर संघ को राजनीतिक कर तथा किसी धार्मिक संस्था को राजनीति कार्य-करने की अनुमति न दी जाय।[31]

फिगिस ने राज्य को 'समुदायों का समुदाय' माना है। वास्तव में राज्य की यह स्थिति किसी भी दृष्टि से नहीं हो सकती। राज्य के पास दमनकारी शक्ति इन समु-

30. कोकर; आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, 547.
31. आशीर्वादम्; राजनीति शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ. 714.

दायो को अपनी सीमा के भीतर रखने के लिए आवश्यक है। बार्कर का कहना है कि बहुलवादी प्रवृत्ति मे हमे बहुत आगे नहीं बढ जाना चाहिए।[32]

आलोचको का कहना है कि यदि राज्य तथा अन्य सगठनों को एक ही स्तर पर रखा जाय, यदि समाज म सत्तापूर्ण तथा किसी उच्च समन्वयपरक सत्ता का अभाव रहे इस स्थिति का परिणाम अराजकतावाद होगा। समाज न तो अनुशासित रह सकेगा और न व्यवस्थित। समाज का सगठन, व्यवस्था, समन्वय आदि काय और वह भी शान्तिपूर्ण ढग से, राज्य सत्ता के बिना नहीं किये जा सकते।

बहुलवादी निरकुशता तथा नियत्रण का विरोध करत हैं। किन्तु जिमर्न (A E Zimmern) का कहना है कि बहुलवादी व्यवस्था भी कम अधिनायकवादी व्यवस्था नहो होगो। "जो व्यक्ति राज्य की निरकुशता की बात करते हैं, वे इस सरल तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि समीप के पडोसी के अत्याचार क समान अत्याचार दूसरा नहो। समुदाय जितना ही छोटा होगा उतना ही अधिक बडा आपके जीवन तथा कार्यों पर प्रतिबन्ध होगा।[33]

बहुलवादी वितरणवादी है। व राज्य सत्ता तथा कार्यों को विभिन्न समूहो म विभाजित करना चाहते हैं। उनकी यह अवधारणा दोषपूर्ण तथा अव्यावहारिक है। विभिन्न सगठनों के कार्यों का स्पष्ट विभाजन सम्भवत सम्भव नहीं। राजनीतिक तथा आर्थिक सस्थाओं की सह-सम्प्रभुता (Co-Sovereignty) से समस्या का समाधान नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त एक सगठन या समूह पूर्णत एक कार्य या हित तक सीमित नहीं रह सकता। दूसरे सगठनों के कार्यों से उसकी स्पर्धा एव टकराव हो सकता है। बहुलवाद के अन्तर्गत राज्य बनाम समूहो की समस्याओ का समाधान तो पहले हो नहीं हो सकेगा किन्तु इसके अतिरिक्त 'समूह बनाम समूह' की समस्याएँ और उत्पन्न हो जाय गी। बहुलवाद उतनी समस्याओ का समाधान नहीं करता जितना कि समाज मे समस्याओं को उत्पन्न करेगा।

बहुलवाद के विरोधियो का कहना है कि बहुलवाद क समर्थको ने व्यर्थ म ही एक असीमित सम्प्रभु-सम्पन्न राज्य की कल्पना के सदभ म अपने विचारो का प्रतिपादन किया है। हीगल को छोडकर सम्भवत किसी भी एकत्ववादी न राज्य को सर्वशक्तिमान नहीं माना है। एकत्ववादी स्वय ही मानते है कि राज्य कई दृष्टियों से सीमित है। बोदा, हाब्स आदि न भी इस बात का दावा नहीं किया कि राज्य सत्ता की आलोचना, उसकी अवज्ञा तथा उसका विरोध अनैतिक, अधार्मिक या असामाजिक है। गैटिल के अनुसार राज्य नैतिक बाधना से सीमित है।

बोदाँ, हॉब्स तथा आस्टिन द्वारा प्रतिपादित सम्प्रभु सिद्धान्त क प्रति कोकर का दृष्टिकोण उतना आलोचनात्मक नहीं है जितना कि अन्य आलोचको का है।

32 Barker, E, Political Thought in England, pp 178-79

33 उद्धृत, कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ० 547

कोकर ने इसे 'तथाकथित अद्वैतवादी सिद्धान्त' कहा है। इसके अनुसार शारीरिक, बौद्धिक या सामाजिक दृष्टि से यह असीमित सत्ता का सिद्धान्त नहीं है। किसी भी अद्वैतवादी या विश्लेषणकारी कानूनवेत्ता ने यह नहीं कहा है कि किसी राज्य के प्रभुत्वसम्पन्न विभागों की वास्तविक नीति मे लोकमत द्वारा संशोधन नहीं हो सकता। कोकर के अनुसार ये केवल इतना मानते हैं कि राज्य का अस्तित्व कानून निर्माण करने तथा उन्हें कार्यान्वित करने के लिये है। इसलिये उस पर इस प्रकार की मर्यादाएँ नहीं लगाई जा सकती जिनका निर्माण करने और कार्यान्वित करने के लिये उसकी स्थापना हुई है। तथाकथित एकत्ववादी समर्थक राज्य को उत्तरदायित्वहीन नहीं मानते। वे केवल इतना ही मानते है कि सम्प्रभु किसी ऐसी सत्ता के प्रति उत्तरदायी नहीं हो सकता जो उसी के समान या प्रकार की हो। संक्षेप मे, कोकर ने लिखा है कि एक नियत प्रदेश मे कानून के निमित्त सगठन के रूप मे राज्य उस प्रदेश के अंतर्गत अन्य समस्त समुदायों से कानूनी दृष्टि से सर्वोच्च है।[34]

बहुलवाद का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण भी दोषरहित नहीं है। ये अंतर्राष्ट्रीयता के आधार पर राष्ट्रीय शक्ति (जिसे सम्प्रभुता कहा गया है) पर अंकुश एवं प्रतिबंध लगाते हैं। किसी भी राष्ट्र के व्यक्ति की श्रद्धा पहले अपने देश के प्रति होती है तथा बाद मे किसी अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के प्रति। इसके अतिरिक्त समकालीन अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के संदर्भ मे बहुलवाद का अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष यथार्थता से काफी दूर है। आज की शक्ति राजनीति में प्रत्येक राज्य बड़ी शक्ति बनना चाहता है, अपने प्रभाव क्षेत्र मे वृद्धि करना चाहता है, वह राष्ट्रीय हित से प्रेरित होता है, वह कोई भी वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय बन्धन स्वीकार नहीं करता।

उपर्युक्त आलोचनाओं के अध्ययन से जो सबसे प्रमुख तत्व स्पष्ट होता है वह यह है कि बहुलवाद की सम्पूर्ण अवधारणा एवं संरचना राज्य के व्यापक अधिकार तथा राज्य सम्प्रभुता की आलोचना के आधार पर खड़ी की गई है। इसका प्रमुख कारण यह है कि बहुलवादी समाज मे अन्य संघों एवं समुदायों को अधिकाधिक स्वायत्तता प्रदान करना चाहते हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो केवल विकृत राज्य को छोड़कर सम्प्रभुता के विवेकशील विचार तथा व्यावसायिक संघवाद मे कोई पारस्परिक विरोध नहीं होना चाहिये। एक यथार्थवादी एकत्ववादी को भी इसमे कोई आपत्ति नहीं होगी। यदि राज्य स्वतः ही सामाजिक सगठनों को अधिक स्वायत्तता दे, उनके वास्तविक कार्यों मे हस्तक्षेप न करे, ऐसी स्थिति में बहुलवाद स्वयं ही मुरझा जायेगा।

प्रतिनिधि सरकार, चुनाव प्रणाली तथा व्यावसायिक दल व्यवस्था भी दोषों से मुक्त नहीं है। डा हिनिशायों का विचार है कि बहुलवादियो के इन विचारो मे

[34] कोकर., आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ० 532-33.

सम्बन्धों को सम्मिलित करना और अन्त में राज्य के निरंकुशवाद एवं पैतृकवाद के विरुद्ध इतनी व्यापक प्रतिक्रिया तथा साथ ही साथ किसी एक संस्था की सम्प्रभुता के विरुद्ध चेतावनी देना आदि बहुलवाद के महत्त्व को कोई भी निष्पक्ष विद्यार्थी स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता।''37

मिस फॉलेट (Miss Follett) ने अपनी पुस्तक—The New State—मे बहुलवाद की निम्नलिखित अच्छाइयो पर प्रकाश डाला है—

(i) बहुलवादियों ने सम्प्रभुता-सम्पन्न सिद्धान्त को निराधार सिद्ध कर दिया है;

(ii) वे संघ जीवन की विविधता को स्वीकार करते हैं जिसे राजनीतिक दृष्टि से मान्यता मिलनी चाहिए;

(iii) वे स्थानीय जीवन को फिर से जीवित करने की माग करते हैं;

(iv) उनका विचार है कि राज्य और उनके विभिन्न अंगो के हित सदैव एकरूप नहीं होते;

(v) बहुलवाद जनता के असगठित समूह रूप की समाप्ति का प्रारम्भ है जो व्यवस्थित समूह रूप की ओर अग्रसर करेगा; तथा

(vi) बहुलवाद मनुष्य के व्यक्तिगत स्वरूप, उसके दलीय सदस्य के स्वरूप, उसके राज्य के सदस्य के स्वरूप को सही ढग से बताने का प्रयत्न है।

सूक्ष्म मे बहुलवाद लोकतन्त्र पर बल देता है; यह व्यक्तिवाद के प्रति आकर्षित है; यह बहुलवाद है जिसके अन्तर्गत समाज मे विभिन्न समुदायों के अधिकारों का समर्थन होता है, यह सर्वशक्तिशाली राज्य का विरोध करता है तथा विकेन्द्रीकरण का समर्थक है।38 निष्कर्ष मे यह कहा जा सकता है कि बहुलवाद प्रतिवादी राज्य के विरुद्ध वांछित प्रतिक्रिया था। हीगेल का यह विचार कि राज्य का प्रत्येक कार्य सही है उचित प्रतीत नहीं होता। हमे एकत्ववाद तथा बहुलवाद के उचित विचारो को स्वीकार करने मे आपत्ति नहीं होनी चाहिए। सेबाइन का बहुउद्धृत निष्कर्ष कि 'मैं यथासम्भव एकत्ववादी हूं किन्तु अन्य विकल्प न होने पर बहुलवादी बनने को तैयार हूँ' बहुलवाद और एकत्ववाद के यथार्थवादी समन्वय का समर्थन है। किन्तु राज्य वैधानिक दृष्टि से सर्वोपरि है। सघों की महत्ता स्वीकार करने का तात्पर्य राज्य को उनके स्तर पर नहीं लाया जा सकता।

37. Hsiao, Kung Chuan; Political Pluralism, pp 248-249.

38 उद्धृत, आशीर्वादम्; राजनीति-शास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 713.

पाठ्य ग्रन्थ

1 Barker, E , Political Thought in England, from Spencer to to day

2 कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, अध्याय 18, राज्य-प्रभुता पर बहुलवादियों का आरोप

3. Elliot W Y , The Pragmatic Revolt in Politics, Chapter III and IV

4 Gettell, R G History of Political Thought Chapter 29, Pluralistic Theories of Sovereignty

5 Gierke Otto Von, Political Theories of the Middle Age, Introduction by F W Maitland

6 Hsiao, Kung chuan, Political Pluralism

7 Laski, H J , A Grammar of Politics, Chapter 2, Sovereignty Chapter 7, Authority as Federal

8 Lindsay, A D , The Modern Democratic State

9 MacIver, R M , The Modern State, Introductiory Chapter - What is the State

10 Maine, Sir Henry, Lectures on the Early History of Institutions Chapter 15, Sovereignty

13

हेरॉल्ड लास्की के राजनीतिक विचार

प्रोफेसर हेरॉल्ड जॉसेफ लास्की (Harold J. Laski) का जन्म 30 जून 893 में मैनचेस्टर के एक यहूदी परिवार मे हुआ था। ये नाथन लास्की (Nathan ,aski) तथा साराह लास्की (Sarah Laski) के द्वितीय पुत्र थे। लास्की परिवार ाफी समृद्धशाली, कट्टरपंथी तथा वहाँ के यहूदी समुदाय का नेतृत्व करने वाला ा। बचपन से ही लास्की प्रतिभाशाली, असाधारण तथा अद्भुत स्मरणशक्ति ाले थे। वे जन्मजात विद्रोही थे। उन्होंने अपनी पारिवारिक परम्पराओं तथा हूदी धर्म की रूढ़िवादिता के विरुद्ध विद्रोह किया। अपने शिक्षण एवं शिक्षक ीवन मे वे विद्रोही रहे। 1911 मे अट्ठारह वर्ष की उम्र में उन्होंने स्वय से धिक उम्र वाली गैरयहूदी लड़की फ्रिदा (Frida) से विवाह कर अपने परिवार ़ विरुद्ध विद्रोह का पूर्ण परिचय दिया। परिणामस्वरूप अपने माता-पिता के दबाव ़ कारण इन्हें कई वर्षों तक अपनी पत्नी से पृथक रहना पड़ा। अपने सक्रिय ाजनीतिक जीवन मे वे सदैव विद्रोही रहे।

1910 मे, लगभग 17 वर्ष की आयु मे वेस्टमिन्स्टर रेव्यू (Westminster Review) मे लास्की का एक लेख—On the Scope of Eugenics (सुजनन ोत्र के विषय पर) प्रकाशित हुआ, जिसकी कई प्रसिद्ध वैज्ञानिको ने प्रशंसा की। 1911 से 1914 तक लास्की ने आक्सफोर्ड मे अध्ययन किया। प्रारम्भ में उन्होने विज्ञान का अध्ययन किया जिससे उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ। बाद मे उन्होने इतिहास का अध्ययन किया तथा 1914 मे प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण हुए। कई प्रसिद्ध विद्वान जैसे फिशर (H.A.L. Fisher), मैटलैंड (F.W.Maitland) बार्कर (Erhest Barker) आदि उनके शिक्षक थे। 1914 में लास्की का अध्ययन समाप्त हुआ तथा इसी वर्ष इग्लैंड के प्रसिद्ध समाचार-पत्र डेली हेरॉल्ड (Daily Herald) के सम्पादक मण्डल के एक प्रमुख सदस्य बन गये। प्रथम विश्व-युद्ध प्रारम्भ होते समय लास्की ने स्वय को सेना में भर्ती कराना चाहा किन्तु अच्छा स्वास्थ्य न होने के कारण भर्ती नही किया गया। इस समय लास्की ने मैकगिल (McGill) विश्वविद्यालय मे अध्यापन का आमंत्रण स्वीकार कर लिया, जहाँ उन्हें इतिहास का प्राध्यापक नियुक्त किया गया। 1916 से 1920 तक हारवर्ड विश्वविद्यालय मे रहे। तदुपरान्त इंग्लैंड वापस आ गये। 1923 से 1950 तक लास्की ने लंदन

स्कूल ग्राफ इकॉनामिक्स में ग्रध्यापन कार्य किया जहा उन्हें सर्वाधिक ख्याति मिली। उस समय लास्की के बिना लन्दन स्कूल ग्राफ इकनौमिक्स की कल्पना नहीं की जा सकती थी।

लास्की सक्रिय राजनीतिज्ञ भी थ। वे फेबियन सोसाइटी तथा लेबर दल के प्रमुख सदस्य रहे। कई वर्षों तक वे लेबर पार्टी की कार्यकारिणी के सदस्य रहे। 1945 में लेबर पार्टी जब सत्ता में ग्राई लास्की उसके ग्रध्यक्ष थे, किन्तु वे सत्ता से सदैव दूर रहे। यह उनके जीवन की सर्वश्रेष्ठ विशेषता रही।

लास्की को एक शिक्षक राजनीतिक चिन्तक, पत्रकार, लेबर पार्टी के नेता, सार्वजनिक वक्ता तथा उस समय के सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञो क प्रमुख सलाहकार के रूप मे काफी ख्याति मिली। विश्व के कई प्रमुख विश्वविद्यालयो म उन्हे व्याख्यान देने के लिए उन्हे ग्रामन्त्रित किया। सम्भवत इतनी चतुर्मुखी प्रतिभा वाला व्यक्ति इग्लैंड में इनके पहले न हुग्रा हो। लास्की के लेखों तथा ग्रन्थो को विश्व के लगभग सभी ग्रग्रेजी भाषी क्षेत्रो म पढा गया। इनके शिष्यो तथा मित्रो का विश्व भर मे जाल फैला हुग्रा था। इग्लैंड के प्रमुख बुद्धिजीवो एव चोटी के नताग्रो के ग्रतिरिक्त ग्रमरीकी सार्वजनिक जीवन मे कई प्रसिद्ध व्यक्ति, ग्रमरीकी उच्चतम न्यायालय के कई न्यायाधीश जैसे जस्टिस फलिक्स फ्रैंकफर्टर जस्टिस होम्स, ग्रमरीकी राष्ट्रपति लॉवेल तथा फ्रैंकलिन रूजवेल्ट उनके मित्रो की श्रेणी मे ग्राते थे। उनक विद्यार्थी देश विदेशो मे कई उच्च पद ग्रासीन रहे। भारत म श्री कृष्ण मेनन लास्की के प्रिय शिष्यों मे से एक थे। ग्रविकसित राज्यो का सम्भवत कोई भी समाजवादी उनके प्रभाव से मुक्त नहीं रहा है। लास्की न ग्रपने लिए इतनी गतिविधियो से सम्बद्ध रखा जिनका निर्वाह कोई सामान्य व्यक्ति नही कर सकता था। लोगो का विश्वास है कि लास्की जीवन भर ग्रपनी बहुमुखी गतिविधियो मे इतने व्यस्त रहे जिनसे उन्होंने स्वय को ही समाप्त कर दिया। मार्च 1950 में फेफड़ो में पीडा हो जाने से 57 वर्ष की ग्रायु मे उनकी मृत्यु हो गई।

लास्की ने लगभग 35 वर्षों मे दर्जनो पुस्तकें एव लेख लिखे। लेखन क्षेत्र में उनकी समता इने गिने व्यक्ति ही कर सकते है। स्वाभाविक था कि लास्की राजनीति शास्त्र से सम्बन्धित सभी समस्याग्रो पर विचार व्यक्त करते। उनकी लेखनी से राजनीति शास्त्र का शायद ही कोई पक्ष बचा हो। इसलिए यह ग्रसम्भव है कि लास्की के सभी विचारो को प्रस्तुत किया जा सके। यहा लास्की के केवल कुछ महत्वपूर्ण विचारो की व्याख्या करना ही सम्भव हो सका है।

लास्की के विचारो का ग्रध्ययन करते समय इस बात का ध्यान रखना ग्रावश्यक है कि वे एक प्रगतिशील विचारक थे तथा नई नई घटनाग्रों ग्रोर परिस्थितियो के परिप्रेक्ष्य मे उन्होंने ग्रपने विचारो म परिवर्तन किया। लास्की के

राजनीतिक विचारों के प्रसिद्ध लेखक हर्बर्ट डीन [1] ने लास्की के विचार परिवर्तनों को निम्नलिखित कालचक्र में विभाजित किया है—

1. 1914–1924. इस दशाब्दी मे लास्की बहुलवाद के प्रमुख समर्थक थे।

2. 1925-1931. यह समय 1925 मे प्रकाशित लास्की की पुस्तक—A Grammar of Politics से प्रारम्भ होता है। यह काल लास्की की विचार परिपक्वता का है। वे समाजवाद की ओर अग्रसर होते हैं।

3. 1932-1939. यह काल 1931 मे रेमजे मेकडॉनेल्ड की राष्ट्रीय सरकार बनने के बाद से द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ तक का है। इस काल मे लास्की के विचारो मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। 1933 में उनकी प्रकाशित पुस्तक - Democracy in Crisis - मे उन्होने राजनीति के नवीन दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया। उनके विचारो में मार्क्सवादी दृष्टिकोण का प्रादुर्भाव हुआ।

4 1940–1945. यह द्वितीय विश्व-युद्ध का समय था। इन वर्षों मे लास्की युद्धकालीन तथा राजनीतिक गतिविधियो मे अत्यन्त व्यस्त रहे। यद्यपि इन वर्षों मे उनके व्याख्यानो तथा लेखो की भरमार रही किन्तु उनमे प्रचार की मात्रा अधिक थी। इस समय उन्हें पूर्ण चिन्तन का अवकाश नही मिल सका।

5. 1946-1950. युद्धोत्तर काल तथा 1945 मे लेबर पार्टी की सरकार बनने के बाद उनकी मृत्यु तक लास्की अपनी राजनीतिक तथा अन्य कई गतिविधियों मे अत्यन्त व्यस्त रहे। इन वर्षों मे 1948 मे प्रकाशित लास्की का प्रमुख ग्रन्थ—The American Democracy– को एक पुराने विचारो वाला ग्रन्थ ही कहा गया है। लास्की के विचारो मे कोई नवीनता नही रही। साथ ही साथ इस काल मे उनकी कुछ धारणाएँ भी गलत सिद्ध हुई। इस काल मे लास्की अपने विचारों को पुनः व्यवस्थित करते हुए प्रतीत होते हैं।

राज्य सम्प्रभुता और बहुलवाद

अपने अध्ययन काल में लास्की पर बहुलवादियों का बडा प्रभाव पडा। अर्नेस्ट बार्कर (Ernest Barker) के लास्की शिष्य थे। गियर्क (Otto Von Gierke) के बहुलवादी विचारों को फिगिस और मेटलेण्ड ने लास्की तक पहुचाया।

1914 से 1920 तक लास्की उत्तरी अमेरिका मे रहे। यहां उनके बहुलवादी विचारों पर विलियम जेम्स (William James) तथा जॉन डीवी (John Dewey) का प्रभाव पड़ा। लास्की प्रायः जेम्स के इस कथन को उद्धृत करते रहते थे कि 'हम एक विश्व में नही कई विश्वो में रहते है' (We live in multiverse and not in a universe).

लास्की के प्रारम्भिक विचार सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त पर प्रहार से

[1] Deanes, Herbert A., The Political Ideas of Harold J. Laski, 1954.

प्रारम्भ होते हैं। 1917 में प्रकाशित पुस्तक—Studies in the Problems of Sovereignty[2] में लास्की ने सम्प्रभुता से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का विवेचन कर सम्प्रभु के काल्पनिक एकत्ववादी सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की है। लास्की के मतानुसार एकत्ववादी सिद्धान्त का मूल विचार राज्य का सम्प्रभु सिद्धान्त है जिसे बोदा और हॉब्स ने विकसित किया तथा जॉन आस्टिन ने आधुनिक कानूनी रूप दिया। लास्की ने अपनी आलोचना द्वारा सम्प्रभुता सिद्धान्त का निम्नलिखित तर्कों से पूर्णतः खण्डित करने का भरसक प्रयास किया है.—

(1) राज्य तथा नागरिक—लास्की का कहना है कि यदि राज्य और नागरिकों के सम्बन्धों को देखा जाय तो आस्टिन के सिद्धान्त जैसी बात कहीं पर लागू नहीं होती। यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति सदैव ही राज्य की आज्ञा का पालन करे। जब राज्य तथा चर्च, राज्य तथा श्रमिक संघों जैसी संस्थाओं के मध्य संघर्ष हो ऐसी स्थिति में चर्च तथा श्रमिक संघ की ओर नागरिकों की श्रद्धा का अधिक झुकाव होता है। यदि व्यक्ति स्वभावतः राज्य की आज्ञा का पालन करता होता तब पुलिस तथा न्यायालयों को रखने की आवश्यकता न होती। लास्की का तर्क है कि राज्य के प्रति नागरिकों की श्रद्धा सदैव पूर्ण एवं अन्तिम नहीं होती।

(2) सम्प्रभुता और नैतिकता—लास्की के अनुसार सम्प्रभु सिद्धान्त का नैतिक आधार पर भी समर्थन नहीं किया जा सकता। आस्टिनवादी राज्य के अन्तर्गत मनुष्यों में पूर्ण आज्ञाकारिता की भावना का विकास होगा। वह स्वभाव से राज्य की अच्छी बुरी सभी आज्ञाओं का अन्धा पालन करेगा। इसका तात्पर्य होगा कि मनुष्य का स्वयं का विवेक और अन्तःकरण जैसी कोई चीज नहीं होगी तथा वह अपनी निर्णय क्षमता सदैव के लिये राज्य को धरोहर रख देगा। यह सिद्धान्त, लास्की के अनुसार, नागरिकों के व्यक्तित्व तथा नैतिक विकास में बाधक होगा।

(3) समाज, राज्य, सरकार में भेद—लास्की ने सम्प्रभुता को पुनः परिभाषित किया है। इसके अन्तर्गत वह राज्य तथा समाज, राज्य तथा सरकार के मध्य विभाजन रेखा खींचते हैं। लास्की ने आदर्शवादियों की आलोचना करते हुए लिखा है कि वे राज्य तथा समाज में भेद स्थापित करने में असफल रहे। वे यह भूल जाते हैं जिस तरह व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध होते हैं वैसे ही व्यक्तियों के पारस्परिक, सामाजिक संबंध होते हैं जिनकी अभिव्यक्ति राज्य के माध्यम से नहीं हो सकती। लास्की का-

2 इसके अतिरिक्त लास्की की निम्नलिखित पुस्तकों में सम्प्रभुता एवं बहुलवाद से सम्बन्धित विचार मिलते हैं—

Authority in the Modern State, 1919.
A Grammar of Politics, 1925

कहता है कि समाज के प्रति व्यक्ति के प्राथमिक कर्तव्य हैं तथा राज्य के प्रति श्रद्धा इसके उपरान्त ही हो सकती है ।[3]

इसी प्रकार लास्की राज्य और सरकार को लेकर आदर्शवादियों की आलोचना करते हैं। लेकिन स्वयं सिद्धान्त का खण्डन करने की प्रक्रिया में लास्की राज्य को सरकार के स्तर पर ला देते हैं। लास्की का विचार है कि जिसे हम राज्य का कार्य कहते हैं वह वास्तव में सरकार द्वारा कार्य होता है।

राज्य का वितरणात्मक स्वरूप—राज्य सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त का खण्डन करके लास्की ने बहुलवादी विकल्प प्रस्तुत किये हैं। लास्की का कहना है कि राज्य निरंकुश एवं निरपेक्ष नहीं होता जिसके अन्तर्गत सब कुछ समा जाय तथा जिसका सब पर नियंत्रण हो। राज्य के विभिन्न भाग भी वास्तविक एवं स्वयं-निर्भर होते हैं। राज्य वितरणात्मक (distributive) होता है, सामूहिक (Collective) नहीं। राज्य विभिन्न मानव समुदायों में से एक है, राज्य तथा बेसबॉल क्लब के स्वभाव में कोई विशेष अन्तर नहीं है।[4] किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिये कि राज्य को समाप्त कर दिया जाय। लास्की राज्य को अधिक महत्व नहीं देते।

बहुतन्त्रवाद (polyarchism)—लास्की का बहुलवाद प्रति व्यक्तिवाद की श्रेणी में आता है। व्यक्ति राज्य सहित कई समुदायों का सदस्य होता है। इन समुदायों में मनुष्य की निष्ठा के लिये स्पर्धा सम्भव हो सकती है। इस संघर्ष में व्यक्ति जिस संस्था के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करना चाहे उसके लिये वह स्वतन्त्र है। लास्की का मुख्य विचार है कि चूंकि समाज स्वभावतः संघात्मक है, सम्प्रभु सत्ता राज्य या किसी अन्य समन्वयकारक संस्था को देना विवेकहीन होगा। सामाजिक संगठन में सत्ता वहां रहनी चाहिये जहां उसका विवेकपूर्ण तथा सामाजिक उद्देश्यों की उपलब्धि के लिये उपयोग किया जा सके।[5]

लास्की के अनुसार प्रत्येक समाज में विविध प्रकार के व्यावसायिक और क्षेत्रीय हित होते हैं। ये हित न तो एकरूप हैं न समान। इसलिये इन हितों को एकरूप बनाने का प्रयत्न नहीं किया जाय। बहुलवादी राज्य संघात्मक होगा जिसमें सम्प्रभु सत्ता विभिन्न व्यावसायिक समुदायों एवं समूहों तथा समाज के विभिन्न क्षेत्रीय विभागों में वितरित होगी। सम्प्रभु राज्य की संरचना सोपान पद्धति (hierarchical) जैसी होती है जबकि बहुलवादी राज्य कई समुदायों का समूह होगा।[6] लास्की ने इस प्रकार की व्यवस्था को 'बहुतन्त्रवाद' (polyarchism) का नाम दिया है।

---

3. Laski, H J, Authority in the Modern State, p 122.
4. Deane, Herbert A, The Political Ideas of Harold J. Laski, p. 23.
5. Laski, H J, Authority in the Modern State, p 74
6. Ibid, p 84

लास्की का राजनीतिक सत्ता के केन्द्रीकरण में विश्वास नहीं है। राज्य सत्ता किसी एक केन्द्र या स्थान पर एकत्रित नहीं होनी चाहिए। लास्की का सुझाव है कि सत्ता का विभाजन होना चाहिए। यह विभिन्न कार्यों द्वारा विकेन्द्रीकरण के माध्यम से हो सकता है। यदि ऐसा हुआ तो मनुष्य तथा उनके समूहों के आर्थिक, सामाजिक अधिकारों पर अतिक्रमण नहीं होगा।

1925 में प्रकाशित पुस्तक—A Grammar of Politics—में लास्की के विचारों में परिपक्वता और प्रगतिशीलता की झलक मिलती है। राज्य सम्प्रभुता के विषय में लास्की ने लिखा है—

> 'राजनीति शास्त्र के लिए यह एक स्थायी लाभ होगा यदि सम्प्रभुता की सम्पूर्ण अवधारणा को समाप्त कर दिया जाय। तथ्य यह है कि जिस अवधारणा का हम उल्लेख कर रहे हैं वह, सम्प्रभुता नहीं, शक्ति है, और शक्ति के स्वभाव के विषय में महत्त्व उस उद्देश्य का है जिसके लिये इसका प्रयोग किया जाता है तथा जिस प्रकार उस उद्देश्य के लिये शक्ति को कार्य में लाया जाता है।''[7]

यहाँ लास्की सम्भवतः यह स्वीकार करने को तत्पर प्रतीत होते है कि सम्प्रभु के कानूनी या वैध सिद्धान्त को चुनौती नहीं दी जा सकती किन्तु इसे राज्य का एक सामान्य औपचारिक सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। लास्की सम्प्रभुता का एक अनुभववादी विवेचन करते हुए कहते हैं कि राज्य की सम्प्रभुता केवल वह शक्ति एवं सत्ता है जिसके द्वारा कुछ उद्देश्य और उत्तरदायित्व पूरे किये जाते हैं।[8] लास्की का यह विवेचन राज्य को शक्तिशाली या निर्बल बना सकता है। यह इस पर निर्भर करेगा कि राज्य के क्या उद्देश्य हैं, उसकी क्या सीमाएँ है तथा उस सन्दर्भ में सत्ता का कहाँ तक प्रयोग किया जाय।

1929-30 तक लास्की अभी भी बहुलवाद का समर्थन करते हैं किन्तु राज्य के प्रति उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। यद्यपि लास्की का कहना है कि राज्य की इच्छा को सम्पूर्ण समाज की इच्छा नहीं कहा जा सकता समाज के विभिन्न समुदाय मनुष्य के लिये उतने ही स्वाभाविक हैं जितना कि राज्य। समुदाय अपने अस्तित्व के लिये राज्य पर निर्भर नहीं करते।[9] किन्तु राज्य तथा अन्य समुदायों को एक ही स्तर पर नहीं लाया जा सकता। राज्य तथा अन्य समुदायों के स्वभाव

---

7 " it would be of lasting benefit to Political Science if the whole concept of sovereignty were surrendered That, in fect, with which we are dealing is power, and what is important in the nature of power is the end it seeks to serve and the way in which it serves that end " Laski, H J, A Grammar of Politics, Ed 1950, pp 44-45

8 Laski, H J, A Grammar of Politics, p 662, Deane, Herbert A, The Political Ideas of Harold J Laski, p 78

9 Laski, H J, A Grammar of Politics pp 21, 28, 39 98

मे मूल अन्तर यह है कि अन्तिम रूप मे राज्य का साधन शक्ति है यह अन्य समुदायो के पास नही। अब लास्की यह स्वीकार करते है कि राज्य की इच्छा समाज की इच्छा का महत्वपूर्ण भाग है। राज्य का समाज मे वही स्थान है जो शरीर मे हड्डियो के ढांचे का।[10] आवश्यकता पडने पर राज्य अन्य समुदायो पर उचित नियन्त्रण कर सकता है। साथ ही साथ लास्की यह भी स्वीकार करने लगे कि समाज मे विभिन्न समुदायो को राज्य का उन्मूलन करने की स्वतन्त्रता नही दी जा सकती।[11] ऐसा प्रतीत होता है कि लास्की अपने प्रारम्भिक बहुलवादी विचार तथा राज्य के विषय मे अपने नवीन दृष्टिकोण का समन्वय करना चाहते हैं। अब लास्की का विचार है कि यदि राज्य मानव सन्तुष्टि के अधिक से अधिक कार्य करना चाहता है तो उसके ऊपर दबाव डाला जाय ताकि राज्य अपनी निर्णय प्रक्रिया मे व्यक्तियों और उनके समूहो को सम्मिलित कर सके। क्षेत्रीय योजना, गृह निर्माण, स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र मे राज्य द्वारा स्थानीय संस्थाओ का अधिक सहयोग लेना चाहिये।[12] 1931 मे प्रकाशित–An Introduction to Politics–में लास्की राज्य के महत्व को स्वीकार करते है। अब लास्की के अनुसार राज्य अपनी सत्ता उसकी सीमा के अन्तर्गत रहने वाले व्यक्तियो और समूहो पर लागू करता है। राज्य की इच्छा कानूनी रूप मे (यद्यपि नैतिक दृष्टि से नही) सम्प्रभु इच्छा है। लेकिन राज्य को अपनी सत्ता का प्रयोग सामाजिक मागों के अनुरूप ही करना चाहिये।[13]

लास्की के समाजवादी विचार

बचपन मे ही लास्की को कुछ ऐसी परिस्थितियो का सामना करना पडा जिनसे उनके समाजवादी विचारों का विकास हुआ। वास्तव मे देखा जाय तो लास्की के समाजवाद का प्रारम्भ समानता की आकाक्षा से होता है। लास्की यहूदी थे। बचपन से ही उन्होने देखा कि यहूदी परिवार को राष्ट्रीय जीवन के मुख्य प्रवाह मे किस प्रकार पृथक रखा जाता है, उनके साथ किस प्रकार भेदभाव रखा जाता है, उनके साथ किस प्रकार भेदभाव तथा असमानता का व्यवहार किया जाता है। ऑक्सफोर्ड मे अपने शैक्षणिक काल मे भी उन्हे इसी प्रकार का अनुभव हुआ। किन्तु ऑक्सफोर्ड मे उनके समाजवादी विचारो को स्पष्ट दिशा देने में फेबियन-वाद का योगदान रहा। वहा वे फेबियन समाजवादी शाखा के एक सक्रिय सदस्य थे।[14]

राजनीतिक आन्दोलन मे एक सक्रिय सदस्य की भाति लास्की ने सर्वप्रथम महिला मताधिकार के समर्थन मे भाग लिया। यह समानता के प्रति उनकी निष्ठा

10 Laski, H J, Liberty in the Modern State, p 174
11. Ibid., p 168
12 Deane, Harbert A, The Political Ideas of Harold J Laski, pp 93-98.
13 Laski H J, Politics, pp. 13—14 (quoted)
14 Deane, Herbert A, The Political Ideas of Harold J Laski, p. 51.

की अभिव्यक्ति थी। धीरे-धीरे वे श्रमिक संगठनों के समर्थक बनते गये तथा लेबर दल की सक्रिय सदस्यता से उनके समाजवादी होने में अब किसी को अविश्वास नहीं रहा। समाजवाद, जैसा कि लास्की ने स्वयं स्वीकार किया था, उनके जीवन का मुख्य विश्वास था।

बहुलवादी विचारधारा पर लास्की अधिक वर्षों तक स्थिर नहीं रह सके। बदलती हुई परिस्थितियों के सन्दर्भ में लास्की यह अनुभव करने लगे कि बहुलवाद एक सम्पूर्ण विचारधारा नहीं हो सकता जो राज्य की नवीन भूमिका से सम्बन्धित चुनौती का सामना कर सके। धीरे धीरे उनके विवेचन का स्वरूप समाजवादी होता चला गया।

हैरॉल्ड लास्की न्याय और स्वतन्त्रता की ओर पहले से ही पूर्णतः झुके हुए थे किन्तु कुछ परिस्थितियों ने उनके समाजवादी विचारों की ओर अधिक विकसित होने में योगदान दिया। लास्की ने मार्क्सवाद का व्यापक अध्ययन किया तथा मार्क्सवाद के कई पक्षों का विशेषतः आर्थिक पक्ष का, उन्होंने समर्थन किया। किन्तु अभी वे पूर्ण मार्क्सवादी बनने से दूर थे।

1917 में रूस में साम्यवादी क्रान्ति ने भी लास्की के विचारों को प्रभावित किया। यद्यपि वे लेनिनवाद तथा रूस में नवीन क्रान्ति के कई विकासों से सहमत नहीं थे, आगे चल कर वे रूस में साम्यवादी व्यवस्था का अनुमोदन करने वाले बनते चले गये। किन्तु वे साम्यवादी नहीं थे। लास्की के विचार बहुलवाद, समाजवाद और मार्क्सवाद के त्रिकोण में ही उलझे रहे, उन्होंने किसी एक आधार को अपना स्थिर स्थान नहीं बनाया।

1920 में उत्तरी अमेरिका से वापस आने के बाद लास्की को एक समाजवादी चिन्तक के रूप में देखा जा सकता है। इंग्लैण्ड में उन पर फेबियनवादियों का प्रभाव पड़ा। साथ ही साथ वे इंग्लैण्ड के मजदूर दल (लेबर पार्टी) के एक सक्रिय सदस्य बने। यद्यपि लास्की ने सरकार में कभी कोई पद स्वीकार नहीं किया किन्तु वे लेबर पार्टी के शिखर तक पहुंचे तथा कई वर्षों तक वे इसके अध्यक्ष रहे। लेबर पार्टी के एक प्रमुख सैद्धान्तिक प्रवक्ता होने के कारण उन्होंने राजनीतिक समस्याओं एवं विचारों का समाजवादी विवेचन प्रस्तुत किया। लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स में लास्की जब तक राजनीति शास्त्र विभाग के अध्यक्ष रहे यह संस्था लोकतान्त्रिक समाजवादी विचारों का विश्व भर में एक प्रेरणा का स्रोत बन गई। राजनीतिक विचारों के इतिहास में लास्की का महत्त्व एक लोकतान्त्रिक समाजवादी के रूप में ही अधिक है।

बहुलवाद का समाजवादी विवेचन

राज्य सम्प्रभुता का खण्डन तथा बहुलवाद का अनुमोदन लास्की का प्रारम्भिक मूल विचार था। किन्तु मार्क्सवाद तथा लोकतान्त्रिक समाजवाद के प्रभाव में लास्की

ने परिवर्तित परिस्थितियों के सन्दर्भ में बहुलवाद को समाजवादी आधार देने का प्रयास किया। लास्की इसी आधार के कारण अन्य बहुलवादियों से भिन्न हैं।

लास्की द्वारा प्रारम्भ में राज्य सम्प्रभुता की कटु आलोचना करने का एक मूल कारण यह भी था कि वे यह समझते थे कि राज्य परम्परागत श्रमिकों और उनके यूनियनों के अधिकारों और आकांक्षाओं के विरुद्ध है। राज्य की इच्छा सरकार द्वारा व्यक्त की जाती है तथा सरकार पर उन व्यक्तियों का अधिकार होता है जिनका अर्थ-व्यवस्था पर नियन्त्रण होता है। लास्की का विचार था कि इस प्रकार की राज्य एवं शासन व्यवस्था समयानुकूल न होने के साथ-साथ अन्यायपूर्ण भी है। इसके स्थान पर लास्की का सुझाव था कि श्रम संगठनों पर आधारित नई राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना होनी चाहिये। लास्की समाज में अन्य संस्थाओं की अपेक्षा श्रमिक संगठनों में राज्य की सत्ता का विकेन्द्रीकरण करने के पक्ष में थे।

राजनीति में आर्थिक कारकों का प्रभाव

समाजवादी तथा मार्क्सवादी होने के कारण लास्की के विचारों में आर्थिक कारकों का अत्याधिक महत्व है। लास्की के अनुसार समाज का प्रत्येक विकास किसी न किसी आर्थिक कारकों से प्रभावित होता है। राजनीति में आर्थिक कारकों के महत्व के विषय में उनके विचार बहुत कुछ मार्क्सवाद से ग्रहण किये हुए लगते हैं। आर्थिक व्यवस्था में जब जब परिवर्तन होता है उसके साथ ही राज्य तथा सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन होता है। मानव जीवन का ऐसा कोई भी पक्ष नहीं है जहां विचार तथा संस्थाएं आर्थिक दशाओं का प्रतिबिम्ब न हो। लास्की द्वारा कानून प्रणाली का विवेचन तथा फ्रान्स की क्रान्ति जैसी ऐतिहासिक घटनाओं के विषय में उनका कहना है कि यह उत्पादन प्रणाली के परिवर्तन में निहित था। सत्ता के लिये सघर्ष, श्रमिकों तथा मालिकों के मध्य संघर्ष आर्थिक कारकों से ही प्रभावित होता है। लास्की द्वारा प्रतिपादित राजनीति पर आर्थिक कारकों के प्रभाव को हरबर्ट डीन से सूक्ष्म में इस प्रकार व्यक्त किया है:—

> "राजनीतिक सत्ता, तथा इसके विभाजन में परिवर्तन लगभग पूर्णत: आर्थिक सत्ता पर निर्भर करते हैं। राज्य सत्ता-सम्पन्न आर्थिक वर्ग का साधन है, लोकतंत्र की सीमाएं पूंजीवादी लाभ की आवश्यकताओं से निर्धारित होती हैं; राजनीतिक दल समाज के आर्थिक आधार से सम्बन्धित विरोधी दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति है; लास्की के विवेचन में प्रत्येक स्थान से राजनीति एक स्वतन्त्र परिवर्तनशील तत्व के रूप में समाप्त हो गया है।"15

किन्तु साथ ही साथ लास्की यह मानते हैं कि प्रत्येक विकास केवल आर्थिक प्रभावों का परिणाम नहीं है। धर्म, नस्ल, राष्ट्रीयता आदि भी ऐसे तत्व हैं जो कई विकासों को प्रभावित करते हैं।

15 Deane, H., The Political Ideas of Harold Laski, p. 193.

पूंजीवाद का विवेचन

समाजवादी होने के नाते लास्की ने पूंजीवाद का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। लास्की ने पूंजीवाद के कई पक्षों को लेकर आलोचना की है किन्तु विशेषत पूंजीवाद तथा युद्ध पूंजीवाद तथा लोकतन्त्र के विषय मे उनके विचार उल्लेखनीय हैं। लास्की के मतानुसार युद्ध पूंजीवाद का तार्किक विस्तार है, या अन्य शब्दों में पूंजीवाद की युद्ध मे परिणति होना स्वाभाविक तथा अवश्यम्भावी है। पूंजीवाद विस्तारवादी होता है तथा इस प्रक्रिया मे उसे राज्य की सहायता एव सरक्षण प्राप्त रहता है। मिस्र पर ब्रिटेन का, चीन पर जापान का आधिपत्य इसी श्रेणी मे आते हैं। पूंजीवाद सदैव ही कच्चे माल के स्रोत तथा बने हुए माल के लिए बाजारों की खोज तथा उन पर आधिपत्य करने का प्रयत्न करता है। पूंजीपतियो के हितो को संरक्षण देने के लिए राज्य ने सदैव ही दूसरे देशो मे हस्तक्षेप तथा उनसे युद्ध किया है। अमरीकी सरकार द्वारा वहा के पूंजीपतियो के हितों को सुरक्षित रखने के लिए निकारागुआ, हैटी पनामा आदि राज्यो मे सैनिक हस्तक्षेप किया था। लास्की ने इसका यह भी निष्कर्ष निकाला है कि पूंजीवाद तथा साम्राज्यवाद सैनिकवाद को जन्म देता है।

लोकतन्त्र तथा पूंजीवाद

लास्की का यह एक प्रमुख विचार है कि पूंजीवादी व्यवस्था तथा लोकतन्त्र के मूल सिद्धान्तो मे परस्पर विरोध है। उन्नीसवी शताब्दी मे यह विरोध स्पष्ट नही था किन्तु प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त पूंजीवाद और लोकतन्त्र का यह परस्पर विरोध शनैः शनैः सामने आने लगा। पूंजीवादी शासक वर्ग को अब विश्वास हो चला कि लोकतन्त्र प्रक्रिया वास्तव मे सम्पति स्वामी तथा उनके विशेषाधिकारो के विरुद्ध है। लास्की के अनुसार पूंजीवाद अपनी स्थिति को सुदृढ करने के लिये वैधानिक और प्रतिनिधि सरकार सिद्धान्त का त्याग करने के लिये उत्सुक लगने लगा। फासीवाद और साम्राज्यवाद वास्तव मे पूंजीवाद के इसी दृष्टिकोण का परिणाम थे। अधिक से अधिक पूंजीवाद लोकतन्त्र का मुखौटा लगाये रहना चाहता था। लास्की इस प्रकार की पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध थे। उन्होंने पूंजीवादी लोकतन्त्र के स्थान पर समाजवादी लोकतन्त्र की स्थापना का समर्थन किया। कभी कभी लास्की का समाजवादी लोकतन्त्र का विचार रूस मे समाजवादी लोकतन्त्र के अति निकट पहुंच जाता है।

लास्की के अनुसार पूंजी के स्वामियो की अधिकतम भौतिक समृद्धि के लिये प्रयास करना पूंजीवादी समाज का मूल विचार है। ऐसे समाज मे स्वतन्त्रता का तात्पर्य इस अधिकतम समृद्धि के उपर कोई अंकुश न लगाना है। उत्पादन साधन से सम्पन्न वर्ग को ऐसे बन्धनों से मुक्त रखना जो उसकी पूर्ण क्षमता पर आघात करे पूंजीवादी समाज का मुख्य उद्देश्य है। लास्की का विचार है कि उदारवादी राज्य

का विकास इसी पूंजीवादी विचार का विस्तार है। लाभ प्राप्ति के उद्देश्य से ही उदारवादी राज्य की प्रस्थापना की गई।

मार्क्सवादी धारणाओं के अनुरूप लास्की का विचार था कि देर-सवेर पूंजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन होगा।[16] लास्की के मतानुसार पूंजीवादी व्यवस्था के अन्त का प्रारम्भ 1929 में हो चुका था जब कि अति मुद्रा स्फीति के कारण श्रमिकों की क्रय शक्ति का पूर्ण ह्रास हुआ तथा माग की अपेक्षा उत्पादन में वृद्धि रहने से पूंजीवाद की आत्मा पर आघात हुआ। पूंजीपतियों के लाभ में कमी हुई जिस पर कि यह व्यवस्था आधारित है।

औद्योगिक लोकतन्त्र (Industrial Democracy)—लास्की समाजवादी आर्थिक व्यवस्था में औद्योगिक लोकतन्त्र के समर्थक थे। औद्योगिक लोकतन्त्र से लास्की का आशय था कि उत्पादन प्रक्रिया में विभिन्न पद्धति और तकनीक का निश्चय करना, उद्योग में तकनीशियनों का चयन करना तथा कार्य अवधि और मजदूरी आदि के विषय में निर्धारण करना आदि सभी कार्य-श्रमिकों द्वारा होने चाहिए।[17] श्रमिकों का यह उद्देश्य होना चाहिए कि राज्य द्वारा ऊपर से थोपे गये नियन्त्रण के विकल्प में वे सहयोगपूर्वक उत्पादन कार्य करें।

श्रमिक संगठन (Labour Unions)—औद्योगिक व्यवस्था को एक नया रूप देने के लिए लास्की श्रमिक संगठनों को एक मूल आधार मानते थे। श्रमिक संगठनों के आधार पर ही नवीन औद्योगिक व्यवस्था का विकास सम्भव है। लास्की के अनुसार लोकतन्त्र का भविष्य संसद में नहीं श्रमिक संगठनों में निहित है। श्रमिक संगठनों का आन्दोलन पद्धति से ही राज्य की भूमिका निभा रहा है तथा सरकार के कार्य और उद्देश्यों को पूरा कर रहा है। श्रमिक संगठन अपने सदस्यों की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का ध्यान रखते हैं तथा राज्य से भी अधिक अपने सदस्यों की श्रद्धा एवं निष्ठा आकर्षित करते हैं। लास्की का कहना है कि श्रमिक संगठन पूंजीवादी ढांचे को अपने में समा लेंगे तथा समाजवादी लोकतन्त्र के लिए मार्ग प्रशस्त करने में सहायक होंगे।

राष्ट्रीयकरण का विरोध—आवश्यक एवं भारी उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण समाजवादी व्यवस्था का एक सामान्य एवं महत्वपूर्ण पक्ष माना जाता है। लास्की के विचार इसके विपरीत हैं। वे राष्ट्रीयकरण के विरोधी हैं। वे फेबियनवादियों की राज्य समाजवादी धारणा को अस्वीकार करते हैं। लास्की द्वारा राष्ट्रीयकरण के विरोध का आधार है कि इससे उद्योगों तथा श्रमिकों पर सरकार का 'संरक्षक

---

16 इस विवेचन के लिये लास्की की पुस्तक देखिये—
State in Theory and Practice, pp. 167-177.

17. Laski H. J., Authority in the Modern State, p. 87.

दृष्टिकोण' (Paternalistic attitude)[18] व्यक्त होता है। राष्ट्रीयकृत उद्योग औद्योगिक लोकतन्त्र के मार्ग मे बाधक हैं। लास्की का कहना है कि आज तक ऐसा उदाहरण नही दिया जा सकता कि राज्यकृत उद्योगो मे श्रमिको के नियन्त्रण या औद्योगिक लोकतन्त्र को कोई महत्त्व दिया हो, या इस सिद्धान्त को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया गया हो। राष्ट्रीयकरण के अन्तर्गत श्रमिको की भौतिक स्थिति मे थोडा बहुत सुधार अवश्य होता है किन्तु, लास्की के अनुसार राष्ट्रीयकरण का विचार कभी भी स्वीकार करने योग्य नही है। इस व्यवस्था में औद्योगिक स्वामित्व को एक वर्ग से लेकर दूसरे वर्ग को हस्तान्तरित करने के अतिरिक्त और कुछ नही। वे दोष जो पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था मे निहित है राष्ट्रीयकरण के अन्तर्गत राजशाही और नौकरशाही क नियन्त्रण म भी व्याप्त रहते।[19] राष्ट्रीयकरण से पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के दोषो एव दुर्बलताओ का निराकरण नही हो सकता।

अधिकार, स्वतन्त्रता और समानता

लास्की के अनुसार "अधिकार सामाजिक जीवन की वे दशाए है जिनके अभाव मे सामान्यत· कोई भी व्यक्ति अपना पूर्ण विकास नही कर सकता। एक राज्य कहा तक प्रगतिशील है इसका अनुभव इस बात से लगाया जा सकता है कि वहाँ के नागरिको को किस प्रकार के अधिकार प्राप्त है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि अधिकार राज्य के द्वारा प्रदत्त किये जाते हैं। अधिकार राज्य से पूर्ववर्ती होते हैं क्योकि वे किसी न किसी रूप मे राज्य के पहले विद्यमान थे। अधिकार मनुष्य से सम्बद्ध हैं क्योकि वे 'नैतिक स्वयं' (moral self) के विकास के लिए आवश्यक है। किन्तु व्यक्तियो द्वारा अधिकारो का उपभोग उसके सामाजिक स्तर पर निर्भर करता है। इस आधार पर सामान्यत समाज के अधिकाश व्यक्ति अधिकारो का पूर्ण उपभोग नही कर सकते।[20]

आर्थिक दृष्टि से लास्की का मत है कि प्रत्येक नागरिक को कार्य का अधिकार होना चाहिए तथा बेरोजगारी अवस्था मे जीवित रहने के साधन उपलब्ध होने चाहिए। व्यक्ति को समुचित पारिश्रमिक, कार्य करने की उचित अवधि तथा विश्राम का अधिकार [illegible]भी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार जो नागरिक को अपने कर्त्तव्य निर्वाह करने के लिए योग्य बना सके आदि आवश्यक है। लास्की औद्योगिक व्यवस्था मे श्रमिको द्वारा भाग लेने क अधिकार को मान्यता देते हैं।

राजनीतिक क्षेत्र मे नागरिक को मत देने तथा सार्वजनिक पदो पर चुन जाने का अधिकार होना चाहिये। इनके अतिरिक्त नागरिको को भाषण देने, विचार व्यक्त करने, धार्मिक, सगठन तथा सभा आदि की स्वतन्त्रता का अधिकार होना आवश्यक है। सभी अधिकारो को, लास्की के अनुसार, न्यायिक सरक्षण प्राप्त होना चाहिये।[21]

18. Laski, H J, Authority in the Mode n State, p 95
19 Ibid., p 95
20 Laski, H.J, A Grammar of Politics, pp 39, 91
21 Ibid, pp 95, 130

स्वतन्त्रता

लास्की स्वतन्त्रता को अधिकारों की देन मानते हैं। यद्यपि लास्की के विचार राज्य विरोधी तथा राज्य के सम्बन्ध में आदर्शवादी धारणा के विपरीत हैं किन्तु स्वतन्त्रता, समानता तथा प्राकृतिक अधिकारों के विषय में उनकी व्याख्या आदर्शवादी सिद्धान्तों पर ही आधारित है। जब हम, लास्की ने लिखा है, यह स्वीकार करते हैं कि राज्य का सैद्धान्तिक उद्देश्य उसके सदस्यों की योग्यता का पूर्ण विकास करना है इस आशय में सहज ही स्वतन्त्रता और समानता निहित है। राज्य के उद्देश्यों से स्वतन्त्रता और समानता को पृथक नहीं किया जा सकता।

स्वतन्त्रता सिद्धान्त के विषय में लास्की के विचारों में समय-समय पर परिवर्तन हुआ है। प्रारम्भ में लास्की स्वतन्त्रता के नकारात्मक दृष्टिकोण को मान्यता नहीं देते। स्वतन्त्रता का आशय केवल बन्धनों का अभाव नहीं है। लास्की के अनुसार स्वतन्त्रता "स्वयं के लिए सकारात्मक और समान अवसरों की प्राप्ति है।[22] 1929 में अपनी पुस्तक—A Grammar of Politics—के द्वितीय संस्करण की भूमिका में लास्की अपनी भूल स्वीकार कर पूर्व परिभाषा का त्याग देते हैं। लास्की ने लिखा है कि "1925 तक मेरा विचार था कि स्वतन्त्रता को नकारात्मक वस्तु से कुछ अधिक मानना उपयोगी होगा। अब मेरा विश्वास है कि यह मेरी त्रुटि थी। मेरा पूर्व विचार कि स्वतन्त्रता बन्धनों का अभाव है, केवल यही नागरिकों के व्यक्तित्व को संरक्षण दे सकता है।" 1930 में प्रकाशित पुस्तक—Liberty in the Modern State—के प्रारम्भिक पृष्ठ में लास्की स्वतन्त्रता का एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने स्वतन्त्रता को पुनः परिभाषित किया है। लास्की की स्वतन्त्रता सम्बन्धी नवीन परिभाषा उन्हीं के शब्दों में:—

"स्वतन्त्रता से मेरा अभिप्राय उन सामाजिक दशाओं पर बन्धनों का अभाव है जो आधुनिक सभ्यता में व्यक्तिगत सुख की आवश्यक गारन्टी है।"[23]

लास्की ग्रीन (T. H. Green) की स्वतन्त्रता सम्बन्धी परिभाषा का पूर्ण समर्थन करते हैं जिसके अनुसार स्वतन्त्रता "कुछ करने या आनन्द लेने योग्य कार्य को करने या आनन्द लेने की सकारात्मक शक्ति है, वह भी जब यदि हम दूसरों के साथ इनका उपभोग करें।"[24]

स्वतन्त्रता के पक्ष—लास्की के अनुसार स्वतन्त्रता के प्रमुख तीन पक्ष होते हैं—व्यक्तिगत, राजनीतिक और आर्थिक। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का आशय अपनी इच्छानुसार कोई भी कार्य करना यदि उसका दूसरों पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। धार्मिक स्वतन्त्रता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अन्तर्गत आती है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के क्षेत्र में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। राजनीतिक स्वतन्त्रता का

22 Laski, H.J., Liberty in the Modern State, p 37.
23. Ibid., p 53.
24 Quoted by Laski Ibid., p 55.

तात्पर्य सार्वजनिक जीवन मे अपने विवेक का स्वतन्त्रापूर्वक प्रयोग। इस सम्बन्ध म राज्य को नागरिको के मध्य भेदभाव नही करना चाहिए। राजनीतिक स्वतन्त्रता के सही प्रयोग के लिए लास्की के अनुसार शिक्षा तथा समाचार पत्रो की स्वतन्त्रता आवश्यक दशाएँ हैं आर्थिक स्वतन्त्रता से लास्की का तात्पर्य आजीविका प्राप्त करने के समान अवसरो की प्राप्ति से है। आर्थिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत लास्की उद्योगो मे जनतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना को अत्याधिक महत्त्व देते हैं।

बाधाएँ—स्वतन्त्रता क समुचित उपभोग के मार्ग मे लास्की प्रमुखत तीन बाधाएँ मानत हैं। किसी भी समाज मे स्वतन्त्रता की प्राप्ति नही हो सकती यदि—प्रथम, थोडे से व्यक्तियो को विशेषाधिकार प्राप्त हैं, द्वितीय, कुछ व्यक्तियो के अधिकार अन्य व्यक्तियो के सुख पर निर्भर करते है, तृतीय राज्य की सत्ता किसी समूह के प्रति पक्षपात करती है। अन्य शब्दो मे लास्की के अनुसार विशेषाधिकारो की समाप्ति, सभी के लिए विकास के समुचित अवसर तथा व्यक्तियो की सामाजिक एव आर्थिक स्थिति मे न्यूनतम अन्तर आदि स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ हैं।[25] स्वतन्त्रता के विषय मे लास्की एक बाधा को एक सीमा तक अपवाद के रूप म स्वीकार करत हैं। लास्की के अनुसार समाजवाद की उपलब्धि के लिए स्वतन्त्रता क हनन को स्वीकार किया जा सकता है क्योकि वर्ग-विहीन समाज मे ही स्वतन्त्रता को सकारात्मक रूप प्रदान किया जा सकता है।

समानता (Equality)—लास्की ने समानता की कई दृष्टिकोणो से परिभाषा की है मूलत समानता का अर्थ सभी को पर्याप्त अवसरो की प्राप्ति से है जो व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है। किन्तु पर्याप्त अवसरो का तात्पर्य समान अवसरो से नही है। जैसा कि लास्की ने लिखा है—समानता सभी व्यक्तियो जो अपनी क्षमता तथा आवश्यकताओ से भिन्न हैं, के साथ समान व्यवहार नही है किन्तु मूल आवश्यकताओ तथा आवश्यक न्यूनतम जीवन स्तर की सभी को गारन्टी होनी चाहिए।[26] अन्य शब्दो मे, समानता व्यक्तियो की प्रारम्भिक आवश्यकताओ की पूर्ति से सम्बन्धित है। इन आवश्यकताओ की पूर्ति व्यक्ति के प्रयत्नो के अनुपात मे होनी चाहिय।

आर्थिक समानता (Economic equality)—समानता का तात्पर्य लास्की मुख्यत *आर्थिक समानता से लेते हैं जिसके अन्तर्गत आय और सम्पत्ति की समानता* भी सम्मिलित है। जब मनुष्य के स्तर, सत्ता और प्रभावम असमानता होती है इसका मूल कारण भौतिक असमानता है। लास्की क लिए आदर्श समानता का अर्थ है कि प्रत्यक व्यक्ति को अपन श्रम का समान पारश्रमिक मिले सामाजिक उत्पादन म उसका समान हिस्सा हो। इस सम्बन्ध मे केवल एक अपवाद मान्य हो सकता है।

25 Laski H J, A Grammar of Politics, p 157
26 Ibid, p 160

व्यक्तियों के पारश्रमिक में कुछ अन्तर स्वीकार किया जा सकता है यदि यह स्पष्ट हो जाय कि इससे कुल उत्पादन में वृद्धि होगी तथा तुलना में जिन्हें कम पारश्रमिक मिला है उन्हें भी इसका लाभ हो।[27]

स्वतन्त्रता एवं समानता (Liberty and Equality)—स्वतन्त्रता और समानता का सम्बन्ध बड़ा ही विवादास्पद रहा है। बहुत से लोग इनको परस्पर-विरोधी सिद्धान्त अथवा इनका समान समन्वय नहीं हो सकता ऐसा मानते हैं। किन्तु लास्की इस धारणा से सहमत नहीं हैं। लास्की के अनुसार स्वतन्त्रता सिद्धान्त में समानता पूर्णतः अपेक्षित है। स्वतन्त्रता और समानता एक ही उद्देश्य के दो पक्ष हैं। इस तथ्य को लास्की ने भली भांति स्पष्ट किया है। पूंजीवाद के अन्तर्गत लास्की के मतानुसार, जनसाधारण के लिए स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं रहता। इस व्यवस्था में स्वतन्त्रता का उपयोग केवल कुछ मुट्ठी भर लोग ही कर सकते है। जिस समाज के नागरिकों में जीवन से सम्बन्धित वस्तुओं की उपलब्धि में व्यापक विषमता है वहां वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। स्वतन्त्रता को समानता के परिप्रेक्ष में ही देखा जा सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि जन कल्याण के साधनों पर उस वर्ग के स्वामित्व को समाप्त किया जाय जो समाज में कोई भी उपयोगी कार्य नहीं करता। इस सन्दर्भ में समानता का अर्थ मनुष्यों की उन समान आवश्यकताओं की पूर्ति है जो उसके व्यक्तित्व का अधिकतम विकास कर सकें।[28] जन साधारण के लिए स्वतन्त्रता तभी सम्भव है जब समानता पर आधारित समाज की स्थापना की जाय, जहां उत्पादन के साधनों पर सभी का नियन्त्रण हो। लास्की के अनुसार ऐसा समाज जहां सम्पत्ति स्वामियों और श्रमिकों में निरन्तर वर्ग संघर्ष की स्थिति बनी रहती है वहां न तो लोकतन्त्र सफल हो सकता है और न स्वतन्त्रता एवं समानता की प्राप्ति हो सकती है।[29]

यद्यपि स्वतन्त्रता और समानता एक दूसरे के पूरक है किन्तु समानता स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। लास्की के अनुसार एक अधिनायकवादी शासन के अन्तर्गत मनुष्य सामान्यतः समान रह कर भी स्वतन्त्रता से वंचित रहते है। इतना आवश्यक है कि कुछ समानताओं के अभाव में स्वतन्त्रता की आशा नहीं करनी चाहिए।[30]

लास्की की धारणा है कि जब नागरिकों में समान उद्देश्यों के विषय में सहमति होती है तथा जब वे उन समान उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये पारस्परिक सहयोग करते हैं ऐसी स्थिति में अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे के पूरक हो जाते हैं[31] इस विचार के समर्थन में लास्की युद्ध के समय ब्रिटेन तथा साम्यवादी क्रान्ति के उपरान्त रूस का उदाहरण देकर यह व्यक्त करना चाहते हैं कि इन

27. Deane, Herbert A., The Political Ideas of Harold H J, Laski, p 187
28. Laski, H J, Reflections on the Revolution of our Time, p. 208.
29. Deane, Herbert A., The Political Ideas of Harold J Laski, p 255
30. Laski, H J, Liberty in the Modern State, p 7
31. Laski, H. J, Reflection on the Revolution of our Time, 1943, p 386

देशों में नागरिक अपने स्वार्थ से हट कर सामान्य उद्देश्यों की उपलब्धि में कार्य करते हुए वास्तविक स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं। यहां लास्की द्वारा रूस तथा ब्रिटेन का एक समान स्थान और स्तर पर रखना बचका प्रतीत होता है।

सम्पत्ति

लास्की ने जब समानता का अनुमोदन किया है इसका तात्पर्य वैयक्तिक सम्पत्ति का उन्मूलन नहीं है किन्तु उनका विचार है कि सम्पत्ति अधिकार का उपभोग सामाजिक सेवा तथा उपयोग पर निर्भर करता है। लास्की के अनुसार सम्पत्ति की वर्तमान व्यवस्था काफी दोषपूर्ण है। सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार का वर्तमान स्वरूप बिना कोई कार्य किये हुए संचय का अधिकार देता है। केवल जन्म के संयोग से कोई व्यक्ति अमीर अथवा निर्धन हो सकता है। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति संचय असामाजिक कार्यों जैसे जुआ, सट्टा आदि जैसी गतिविधियों को प्रोत्साहन देता है। आज की सम्पत्ति का स्वरूप तथा सेवा में कोई तालमेल नहीं है। लास्की का सुझाव है कि कार्य के आधार पर समाज को व्यवस्थित करना चाहिए तथा व्यक्ति के अधिकार उसके कार्य पर निर्भर होने चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति की केवल उतनी ही मात्रा रखने की अनुमति दी जाय जितना कि वह सामाजिक सेवा तथा सामाजिक आवश्यकता का कार्य करता है। तभी जाकर व्यक्तिगत हित का सामान्य हित के साथ समन्वय हो सकता है। इसका तात्पर्य यह होगा कि सट्टेबाजी, एकाधिकार तथा उत्तराधिकार के अधिकारों को काफी सीमित करना होगा। किन्तु यह कार्य जल्दबाजी में न होकर शनैः शनैः व्यक्तियों के विचारों में परिवर्तन द्वारा किया जाय। यह संघर्ष केवल सम्पत्ति और निर्धनता के मध्य ही होना चाहिये।

लास्की के अनुसार सम्पत्ति का स्वामित्व पूंजीवाद की ओर अग्रसर करता है जिसका तात्पर्य उत्पादन श्रमिकों तथा शासन पर नियन्त्रण करना है। इसका कारण सम्पत्ति का समुचित वितरण न होना तथा उत्पादन के क्षेत्र में आवश्यक वस्तुओं को प्राथमिकता न देना है। उदाहरणार्थ जब मकानों की आवश्यकता होती है उस समय सिनेमा घरों का निर्माण किया जाता है। वस्तुओं का उत्पादन समाज सेवा के लिए नहीं लाभ के लिए किया जाता है। यह व्यवस्था समाप्त होनी चाहिए।

विधि सिद्धान्त (Theory of law) सिद्धान्त

आस्टिन के विधि सिद्धान्त में लास्की ने स्वीकार किया है कि कानून में आज्ञा का तत्व निहित है। आधुनिक समाज में कानून बल पर आधारित है किन्तु इसके पीछे समाज की शक्ति मौजूद रहती है। एक मार्क्सवादी की भांति लास्की का कहना था कि विधि व्यवस्था वर्ग संघर्ष की आग में निर्धारित होती है। विद्रोह सम्बन्धी कानून तथा श्रमिक विवादों में न्यायालय की आज्ञाओं का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है जिनके द्वारा पूंजीपतियों का समर्थन और श्रमिकों के हितों पर आघात

होता है। पूंजीवाद के आलोचक होते हुए लास्की का कहना है कि इस प्रणाली दोषो का कानून व्यवस्था पर प्रभाव पडा है। पूंजीवादी व्यवस्था मे कानून प्रणाली का प्रयोग शासक वर्ग के हित मे किया जाता है। कानून सक्रिय मागो का प्रत्युत्तर है, जो वर्ग आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली है वह अपनी मागो को कार्यरूप दिला सकता है।पूंजीवाद के अन्तर्गत कानून का प्रमुख कार्य व्यक्तिगत सम्पत्ति सस्था को सरक्षण देना होता है। साथ ही साथ उन सम्बन्धो को मान्यता देना है जो लाभ कमाने मे सहायक होते हैं।[32]

लास्की बहुलवादी हैं इस प्रकार उनके विधि सिद्धान्त पर इस दृष्टिकोण का प्रभाव है। वे यह नही मानते कि कानून को समाज मे सर्वोच्च स्तर प्राप्त हो। उनके अनुसार कानून राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति है तथा इसका महत्त्व समाज के अन्य समूहो की इच्छा से प्राथमिक और श्रेष्ठ नही है। लास्की के विधि सिद्धान्त में प्राकृतिक कानून का महत्त्व है जो राज्य निर्मित विधि विधान पर अंकुश रखते हैं।

विधि के विषय मे लास्की का अनुभववादी एवं समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण है। अनुभववाद के आधार पर लास्की मानते हैं कि विधि सिद्धान्त स्वय मे पूर्ण अथवा स्वय तार्किक नही है, यह सामाजिक मागो एव आकाक्षाओ की सन्तुष्टि का साधन है। लास्की का यह दृष्टिकोण उपयोगितावादी दृष्टिकोण के निकट है। लास्की ने लिखा है—

> "हम एक बार फिर सामूहिक प्रयासो के युग मे आये हैं। हम कानून की पुनर्व्याख्या सामूहिक आवश्यकताओं के सदर्भ मे करते हैं। हमारा कार्य है कि कानून को आधुनिक जीवन की गति के अनुरूप ढालें। इसका तात्पर्य विभिन्न हितो का समन्वय करना होगा। इस सामाजिक उपलब्धि के विकास के लिए हमारा प्रयास होना चाहिए, हमारे समक्ष यही समस्या है।"[33]

अनुभववादी आधार पर लास्की विधि को एक सुविधा का नियम मानते हैं जिसकी अच्छाई एव महत्ता उसके परिणाम मे निहित है।

एक औपचारिक श्रद्धा को छोड़कर, लास्की का कहना है कि केवल अच्छे कानूनो को ही स्वीकार करना चाहिए। एक विद्रोही चिन्तक के रूप मे लास्की व्यक्तिगत आत्मा की आवाज को महत्त्व देते हैं। वे व्यक्ति द्वारा विधि प्रणाली के मूल्याकन की बात को स्वीकार करते हैं। यहाँ लास्की कानून के नैतिक आधार को मान्यता देते हैं। राज्य की आज्ञा पालन के विषय मे लास्की यथार्थवादी आदर्शवादी तथा व्यक्तिवादी सिद्धान्तो का समर्थन करते हैं। मनुष्य को वह कार्य करना

32 Laski, H J, The State in Theory and Practice, pp. 100–117.
33 Quoted, Deane, Herbert; The Political Ideas of Harold J Laski, pp 22-23

लिए जो नैतिक दृष्टि से उचित हों। वह जिस कानून की आज्ञा का पालन करे वह उसके नैतिक स्तर के अनुकूल हो। व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन तभी करेगा यदि राज्य का उद्देश्य नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ होगा।

जन सहमति द्वारा क्रान्ति (Revolution by Consent)

समाजवादी लोकतन्त्र की स्थापना के लिए साधनों के विषय में लास्की के विचार सम्भवतः सर्वाधिक उलझे हुए लगते हैं। ऐसा आभास लगता है कि व साधनों की स्पष्ट व्याख्या नहीं करते। लास्की के आलोचकों का कहना है कि उनके विषय में यह कहना असम्भव है कि वे शान्तिवादी थे अथवा हिंसात्मक क्रान्ति का अनुमोदन करने वाले। लास्की क्रान्ति के समर्थक थे। उनके विचारों म दो प्रकार की क्रान्ति का उल्लेख है—प्रथम हिंसात्मक क्रान्ति (Revolution by Violence), तथा द्वितीय, सहमति पर आधारित क्रान्ति (Revolution by Consent) आदि। यद्यपि लास्की न स्वयं को हिंसात्मक क्रान्तिकारी होने का खण्डन किया, साधनों को लेकर उनके विचार इतने विवादास्पद बन गये कि इस विषय में उन्हें न्यायालय की शरण लेनी पड़ी। किन्तु इस प्रक्रिया मे 'जन सहमति द्वारा क्रान्ति' के विषय म उनके विचार कुछ और स्पष्ट होते हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध काल म लास्की ने जो भाषण दिय उनसे उन पर हिंसात्मक क्रान्ति का समर्थक होने का आरोप लगाया गया। दिसम्बर 13 1941 को बोर्नमाउथ (Bournmouth) तथा 1945 म चुनाव आन्दोलन के समय, विशेषत. नेवार्क-मार्केट-प्लेस (Newark Market Square or Place) पर दिये गये उनके भाषणों से उनके विचारों पर काफी धूल उछाली गई। जून 20, 1945 को टोरी दल (अनुदार दल) के समर्थक लगभग सभी समाचार-पत्रों ने लास्की पर आरोप लगाया कि उन्होंने 'समाजवाद चाहे हिंसा द्वारा ही क्यों न हो' (Socialism even if it means violence) कह कर हिंसात्मक क्रान्ति का आह्वान किया। लास्की ने इन आरोपों का खण्डन किया तथा इन सभी समाचार पत्रों पर मानि हानि तथा उनके विचारों को तोड मरोड कर प्रस्तुत करने का मामला न्यायालय म प्रस्तुत किया। अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए लास्की ने कहा कि द्वितीय विश्वयुद्ध ने एसा अवसर प्रदान किया है कि जनता आर्थिक राजनीतिक व्यवस्था म व्यापक परिवर्तन सहमति पर आधारित क्रान्ति के द्वारा स्वीकार कर सकती है। किन्तु यदि हमने यह अवसर हाथ से निकल जाने दिया तो हम हिंसात्मक क्रान्ति का सामना करना पड़ेगा। न्यायालय म लास्की ने अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा—

> "मैंने हिंसात्मक क्रान्ति की कभी भी वकालत नहीं की है जिसका मुझ पर आरोप लगाया गया है। नेवार्क-मार्केट प्लेस पर मैंने केवल इतना कहा था कि युद्धकालीन स्थिति म परिवर्तन लाना सहज रहता है क्योंकि उस समय व्यक्ति परिस्थितियोंवश व्यापक परिवर्तनों के लिए अपनी सहमति देने के लिए तत्पर रहता है बजाय इसके कि युद्धोपरान्त

विजय प्रतीक्षा मे परिवर्तन की वह इच्छा समाप्त हो जाय तथा सहमति प्राप्त न की जा सके जिसे श्रमिक असहनीय भार अनुभव करें। ऐसे ही समाज हिंसा की ओर झुक जाते हैं। जिन परिवर्तनों को दूसरे राज्यों मे हिंसा के माध्यम से लाया गया है युद्ध के समय ऐसे परिवर्तनों को सहमति द्वारा लाना हमारी सामर्थ्य के भीतर था।"34

न्यायालय मे लास्की को पराजित होना पड़ा तथा उन्हें भारी हर्जाना देना पड़ा। इस निर्णय ने लास्की के दिल और दिमाग पर भारी आघात पहुचाया जिसने उन्हें मृत्यु के अधिक निकट ला दिया। किन्तु यहां प्रमुख बात यह है कि इस निर्णय मे लास्की के साधन सम्बन्धी विचारों पर शंका का पर्दा पड़ा रहा। उनके विचारो की अब उनके विरोधियों द्वारा और भी आलोचना हुई। विस्टन चर्चिल का आरोप था कि लास्की इग्लैण्ड को एक श्रमिक गुट द्वारा शासित करना चाहते थे। लेबर पार्टी मे अर्नेस्ट बेवेन (Ernest Beven) जैसे उनके सहयोगी भी उनके विचारो पर अविश्वास करने लगे।35 किन्तु लास्की ने सदैव ही कहा कि वे हिंसा के कभी भी समर्थक नही रहे हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय रूस द्वारा पूर्वी यूरोप पर शक्ति द्वारा आधिपत्य करने की निन्दा करते हुए लास्की ने कहा—

"क्रान्ति गुलाबी जल से नही लाई जाती, किन्तु यह भी स्पष्ट है कि हिंसा स्वतन्त्र नागरिकता की सरक्षक नही बन सकती।"36

लास्की का विचार था कि द्वितीय विश्वयुद्ध मे कुछ अच्छे परिणाम भी निकल सकते थे। पिछले कई वर्षों से लास्की यह कहते आ रहे थे कि पूंजीवादी व्यवस्था अब पतन की ओर अग्रसर हो रही है। यदि उच्च वर्ग अपनी कुछ सत्ता, शक्ति तथा विशेषाधिकारो को त्यागने के लिए इच्छुक नही होगा तो शक्ति के आधार पर क्रांति होगी। लास्की के अनुसार युद्ध ने ऐसा अवसर प्रदान किया है जब एक नई सामाजिक व्यवस्था की ओर शान्तिपूर्ण संक्रमण हो सकता है। युद्धकाल मे केवल सैनिक दृष्टिकोण से ही किसी अंश अथवा रूप मे समाजवाद रहता ही है। लास्की चाहते थे कि लेबर पार्टी के नेतृत्व को युद्धकाल मे युद्ध के बाद आने वाले समाजवाद का आधार तैयार करना चाहिए। इस प्रकार क्रान्ति जन सहमति के द्वारा आ सकती है। युद्धकालीन मन्त्रिमण्डल में लेबर दल का सम्मिलित होने का अभिप्राय युद्ध विजय तथा समाजवाद दोनों की ही प्राप्ति करना था।37

मार्क्सवाद की ओर

राज्य सम्प्रभुता के विरुद्ध बहुलवाद से प्रारम्भ होकर लास्की का चिन्तन प्रवाह

34. Quoted, Martin, Kingsley; Harold Laski, p. 175.
35 Ibid, p 175.
36 Ibid, p 187.
37. Ibid., pp 138, 142.

जवाद की ओर ले जाता है। किन्तु अपने चिन्तन के अन्तिम वर्षों में वे समाजवाद की सामान्य रेखा तक सीमित न रह कर मार्क्सवाद तथा कहीं-कहीं साम्यवाद के निकट आ जाते हैं। एक तो लास्की के विचारो में एक प्रकार से वामपंथी उग्रता आ जाती है, इसके अतिरिक्त उनके विरोधियों ने उन्हें मार्क्सवादी तथा अर्ध-साम्यवादी कह कर निन्दित करने का प्रयत्न भी किया। लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स मे लास्की को लाल अथवा साम्यवादी प्रोफेसर (Red Professor) कहा जाता था। लास्की स्वय कहा करते थे—"मैं मार्क्सवादी हूँ तथा प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी पक्ष को लेकर मार्क्सवादी है।"

तीसरे दशक मे प्रकाशित लास्की के ग्रन्थो एव लेखो से प्रतीत होता है कि वे पूर्ण मार्क्सवादी न होते हुए उनके विचार मार्क्सवाद के निकट थे। 1938 म—A Grammar of Politics—के नवीन सस्करण म लास्की न नवीन प्रस्तावना को जोडा। यहा से वे बहुलवाद के प्रारम्भिक स्वरूप को छोड कर मार्क्सवाद की ओर आधे से अधिक मार्ग पार कर लेते हैं। 1925 तक लास्की फेबियन समाजवादी रहे किन्तु बाद मे कुछ घटनाओ से उनके विचारो मे परिवर्तन हुआ। 1929 का आर्थिक सकट, 1931 मे रेमजे मेकडॉनिल्ड द्वारा अनुदार दल से साठ गाठ कर राष्ट्रीय सरकार बनाना, जर्मनी तथा स्पेन म फासीवाद के अभ्युदय से लास्की न यह निष्कर्ष निकाला कि लोकतन्त्र धोखा है यदि लोकतन्त्र समानता पर आधारित नहीं है, समानता फेबियन समाजवाद के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती, इसके लिए कुछ अधिक उग्रवादी उपचार की आवश्यकता है। इसके बाद लास्की के विचारो मे मार्क्सवादी विवेचन को अधिक स्थान मिलता गया।[38]

लास्की अब राज्य को पूँजीवादी वर्ग के उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन मानते हैं। आधुनिक विधि-विधान मे न्याय का सिद्धान्त सम्पत्ति के स्वामियो तथा उनकी रक्षा के लिये है। वह व्यक्ति जो सम्पत्तिहीन है, लास्की के अनुसार अपने अधिकारो का प्रयोग नहीं कर सकता यद्यपि सिद्धान्ततः सभी अधिकार सम्पूर्ण सामान्य जनता को दिये जाते हैं।[39]

लास्की की अन्तिम पुस्तको म पूँजीवाद के प्रति अविश्वास की स्पष्ट झलक मिलती है। श्रम तथा पूँजी के मध्य सघर्ष की सम्भावना जैसी स्थिति का वे अनुभव करने लगे। दिन प्रति दिन उनका यह विश्वास बढ़ता गया कि श्रम तथा पूँजी के मध्य समझौता असम्भव है। पूँजीवाद के विरुद्ध तथा श्रमिको के समर्थन मे उनके विचार कहीं-कहीं मार्क्स की पुनरावृत्ति जैसे लगते हैं।

1945 मे इग्लैण्ड के आम चुनावो म लेबर दल को बहुमत मिला और सर्वप्रथम एक पूर्ण लेबर दल की सरकार बनी। इस राजनीतिक घटना या विकास न

38 Martin, Kingsley, Harold Laski, pp 74—75
39 Laski, H J, Introdution to Politics, pp 74—75

लास्की की प्रमुख राजनीतिक धारणाओं को विघटित कर दिया। अभी तक लास्की ने इस धारणा का प्रतिपादन किया था कि राज्य सम्पत्ति-सम्पन्न व्यक्तियों के एक छोटे से वर्ग के हितों की अभिवृद्धि का माध्यम है। पूंजीवादी वर्ग कभी भी ऐसी सरकार नहीं बनने देगा जो लोकतन्त्र द्वारा सम्पत्ति व्यवस्था में परिवर्तन करना चाहे। किन्तु 1945 में लेबर दल की सरकार बनने से लास्की के विचारों की सम्पूर्ण संरचना विघटित हो जाती है। अब वर्ग संगठन, राज्य का स्वभाव, राजनीतिक दल, लोकतन्त्र, सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन के सिद्धान्त आदि के निष्कर्षों के विषय में शंका उत्पन्न होने लगी। इसके बाद लास्की ने पूंजीवादी लोकतन्त्र को समाजवादी लोकतन्त्र में शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा परिवर्तन करने के विचार का प्रतिपादन किया। इस सम्बन्ध में उनके विचार स्पष्ट नहीं हो सके।

मार्क्सवादी प्रभाव में आकर लास्की ने बहुलवाद की दुर्बलता की एक और व्याख्या की है। लास्की ने स्वीकार किया था कि बहुलवाद में इस तथ्य की अवहेलना की गई है कि राज्य वर्ग-सम्बन्धों की अभिव्यक्ति है। राज्य समाज में उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण करने वाले वर्ग का एक माध्यम है जिसके द्वारा वे अपने हितों को सुरक्षित रख सकते हैं। इसलिये यदि राज्य की शक्ति को कम करना है तब सबसे पहले समाज में वर्ग व्यवस्था को समाप्त करना चाहिये जब तक वर्गविहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती तब तक समाज से राज्य की शक्ति और सत्ता में कमी नहीं आ सकती। जब सम्पत्ति पर आधारित संघर्ष की समाप्ति होगी तभी समाज में सही अर्थों में संघात्मक व्यवस्था की स्थापना हो सकेगी। इसके उपरान्त ही एक सैद्धान्तिक और व्यावहारिक बहुलवाद सम्भव है।[40] यद्यपि लास्की बहुलवाद से अभी भी उलझे हुए हैं उनका यह नवीन विवेचन मार्क्सवाद की ओर ले जाता है। लास्की के लिये बहुलवाद अब दूरगामी तथा वर्ग-विहीन समाज की स्थापना निकटस्थ उद्देश्य है।

लगभग 1932 तक लास्की की मान्यता थी कि व्यक्ति को राज्य की आज्ञा का पालन उस स्थिति में करना चाहिये यदि राज्य का आदेश न्यायिक और उचित हो। किन्तु लास्की पर जैसे जैसे मार्क्सवादी प्रभाव बढ़ता जाता है वे राज्य के प्रति अवज्ञा का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण छोड़ते जाते हैं। अब लास्की का ध्यान व्यक्ति से हटकर 'वर्ग' पर जाता है। उनका कहना है कि बहुमत शोषित वर्ग को शोषक वर्ग, जो राज्य पर नियन्त्रण रखता है, को राज्य की अवज्ञा करने का अधिकार है।

लास्की रूस में साम्यवादी क्रान्ति तथा साम्यवादी शासन व्यवस्था के कुछ पक्षों का समर्थन अथवा अनुमोदन करते हैं। अपने लेखों तथा पुस्तकों में उन्होंने इस प्रकार के कई उदाहरण दिये हैं। जैसे, रूस में जारशाही के विरुद्ध जन क्रान्ति का समर्थन, रूस में आर्थिक समानता लाने के प्रयासों की प्रशंसा आदि से कई बार यह आभास मिलता था जैसे कि वे साम्यवादी बन गये हों।

40. Laski, H J., A Grammar of Politics, 1938, pp xi-xiii

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कुछ तो लास्की के उग्रवादी वामपंथी विचार तथा कुछ ईर्ष्यालु विरोधियों द्वारा प्रचार ने उन्हें यदि वास्तविक साम्यवादी नहीं किन्तु साम्यवादी-सहयोगी की श्रेणी में अवश्य ला दिया।

लास्की के 'सहमति द्वारा क्रान्ति' के अस्पष्ट विचार के आधार पर उन पर यह आरोप लगाया गया कि उन्होंने हिंसात्मक क्रान्ति का सुझाव एवं प्रोत्साहन दिया। न्यायालय में भी यह आरोप गलत सिद्ध नहीं हुआ। इसके साथ साथ लास्की की श्रमिकों तथा श्रमिक संगठनों के प्रति पूर्ण सहानुभूति ने भी उन्हें इस स्तर पर लाने में योगदान दिया। स्वयं विंस्टन चर्चिल ने लास्की की आलोचना करते हुए कहा था कि वे ब्रिटेन में एक श्रमिक गुट की सरकार थोपना चाहते थे। यद्यपि इन आरोपों का सत्य नहीं कहा जा सकता, लास्की के विरुद्ध इस प्रकार का वातावरण अवश्य ही विद्यमान था। लास्की ने मार्क्सवाद के कई सिद्धान्तों एवं उप-सिद्धान्तों का खण्डन किया। वे राजनीति में आर्थिक कारकों के महत्व को स्वीकार करते हैं, उनके विचारों में वर्ग-विरोध की अभिव्यक्ति मिलती है, किन्तु उन्होंने मार्क्स द्वारा 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' तथा वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का कभी अनुमोदन नहीं किया। अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त सम्भवतः उनके विवेक के परे था। इसी प्रकार लास्की ने साम्यवादी जैसी हिंसात्मक क्रान्ति तथा इसके उपरान्त सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की अवधारणाओं का समर्थन करना तो दूर रहा समय समय पर तीव्र आलोचना भी की है। लास्की के वास्तविक मार्क्सवादी स्वरूप के विषय में किंग्सले मार्टिन ने लिखा है—

> "लास्की के तर्क भले ही मार्क्स से ग्रहण किये गये हों किन्तु अन्तिम रूप में वे लेनिन के नहीं विलियम मौरिस के अनुयायी थे। वे मार्क्सवादी इसलिए थे, जैसा कि उनके मित्र लुइस लेवी का कहना है, क्योंकि कार्ल मार्क्स का समाजवाद तत्वतः मानवतावादी था। विलियम मौरिस की भांति वे समाजवाद तथा बन्धुत्व भावना को एक ही वस्तु समझते थे।"[41]

मार्क्स का प्रमुख कार्य, लास्की के अनुसार, स्वयं से पूर्व समाजवादियों के प्रमुख विचारों को अन्तिम रूप से विस्तारपूर्वक विवेचन कर प्रस्तुत करना है। मार्क्स ने पूंजीवादी सभ्यता की नैतिक अपूर्णता को प्रदर्शित किया। साथ ही साथ वह न्याय का प्रबल समर्थक था। मार्क्स ने जैसा कि लास्की ने लिखा है, जनता के कन्धों से उस भार को दूर करने का प्रयत्न किया जिससे वे दबे जा रहे थे। उसने श्रमिकों के भय को एक आशा में परिणत किया जिससे वे एक आशावादी भविष्य की ओर देख सकें। फोनिक्स वर्ग की मुक्ति के लिए मार्क्स से बढ़कर कोई अन्य नहीं कर सकता।[42]

---

41 Martin, Kingsley, Harold Laski, p 270

42 Laski, H J, Karl Marx An Essay, p 46, Dean, Herbert A, The Political Ideas of Harold J Laski, p. 69

लास्की के विचारों का मूल्यांकन

लास्की के विभिन्न ग्रन्थों एव राजनीतिक विचारों के विषय में कई आक्षेप लगाये जाते हैं। संशयिक दृष्टिकोण से आलोचकों का कहना है कि उनके विचारों में पुनरावृत्ति और निरन्तर परिवर्तन हुआ है। परिणामत: उनके विचार अस्पष्ट और उलझे हुये प्रतीत होते हैं। 1914 से 1950 तक लास्की ने अपने प्रमुख विचार सम्प्रभुता, बहुलवाद; राज्य का स्वभाव, स्वतन्त्रता, समानता, मार्क्सवाद एव समाजवाद की ही पुनरावृत्ति की है। यदि उनके विचारों का सही सम्पादन किया जाय तो उनके ग्रन्थों एव लेखों से लगभग आधे पृष्ठ आसानी से निकाले जा सकते हैं। पुनरावृत्ति के अतिरिक्त लास्की ने अपने प्रमुख विचारों में निरन्तर परिवर्तन किया है। प्रारम्भ में लास्की बहुलवादी हैं किन्तु आगे चल कर वे लगभग इस विचार का त्याग कर बहुलवाद विरोधी विचारधारा समाजवाद-मार्क्सवाद का अनुमोदन करते हैं। यहाँ तक कि इंग्लैंड में ही उनके समर्थक उन्हें कट्टर मार्क्सवादी और साम्यवाद का समर्थक समझने लगे। ऐसे विचार परिवर्तन के सन्दर्भ में यह समझना कि लास्की वास्तव में क्या कहना चाहते हैं, किस विचार का प्रतिपादन कर रहे हैं असम्भव है।

सम्भवत: लास्की के विषय में यह कहना उचित होगा कि अपनी पीढ़ी को समाज के प्रचलित दोषों से अवगत कराना चाहते थे इसलिए उन्होंने खूब लिखा जिसे वे सत्य समझते थे, उसकी सदैव पुनरावृत्ति की। भाषा की दृष्टि से उनके खूब लम्बे कई पंक्तियों वाले वाक्य उनके विचारों की स्पष्टता को व्यक्त करने में बाधक रहें। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय तथा इसके उपरान्त लास्की अनेकों गतिविधियों में व्यस्त रहे। कहीं कहीं लास्की के विचार प्रचार का पुट लिए समय से काफी पिछड़े लगते हैं। लास्की के पास न तो समय था न सामर्थ्य कि वे राजनीतिक समस्याओं का एकान्त में गम्भीरतापूर्वक चिन्तन पर आधारित निष्पक्ष विवेचन कर सकते।

लास्की के लेखों में पुनरावृत्ति अवश्य है किन्तु उनके विचारों में समय समय पर जो परिवर्तन हुआ इसे उनके विचारों की प्रगतिशीलता भी कहा जा सकता है। लास्की ने अपने ऐतिहासिक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला कि राज्य का कोई भी एक सिद्धान्त पूर्ण या स्थाई नहीं माना जा सकता।[43] इसलिए जैसे जैसे नवीन परिस्थितियों का प्रादुर्भाव हुआ तथा व्यावहारिक दृष्टि और अनुभव के आधार पर जब लास्की ने स्वय के विचारों का समय समय पर मूल्यांकन किया उनके विचारों में परिवर्तन स्वाभाविक ही नहीं उचित था। यहा यह प्रश्न नहीं है कि उनके परिवर्तित विचारों से हम सहमत है या नहीं।

कई स्थलों पर लास्की के विचारों में परस्पर-विरोध दृष्टिगोचर होता है। हैलोवेल के अनुसार उनके विचारों में एक बढ़ती हुई प्रवृत्ति थी कि वे सुनियोजित उत्पादन तथा लोकतन्त्र को एक ही समझते है। आगे चलकर वे रूस में निरंकुश

43. Laski, H J, On the study of Politics, 1926, p. 36

व्यवस्था की ओर से आँखें बन्द कर रूस के अनन्य प्रशंसक बन जाते हैं।[44] मैक्स केम्पलमेन (Max Compelman) ने लिखा है कि लास्की ने सदैव ही स्वयं को परस्पर विरोधी विचारों में उलझाये रखा। वे एक ही साथ ब्रिटेन में लोकतान्त्रिक समाजवाद तथा रूस में अधिनायकवादी समाज के गीत गाते रहे।[45] अपने परस्पर-विरोधी विचारों के कारण लास्की को स्वयं ही मुसीबत का सामना करना पड़ा। 1946 में लास्की द्वारा चलाया गया मान हानि का मामला जब चल रहा था वे अपने पक्ष को ठीक ढंग से प्रस्तुत नहीं कर सके। उनके विरोधी लास्की के विचारों में परस्पर-विरोध सिद्ध करने में सफल रहे तथा इसी कारण वे लास्की के विरुद्ध अपना बचाव कर सके।

लास्की के विचारों की यद्यपि व्यापक आलोचना हुई है, उनके विचारों को अस्पष्ट, उलझे हुए, परस्पर विरोधी, अस्थिर एवं निरन्तर परिवर्तित होते रहने वाला बतलाया गया है किन्तु यदि उनके विचारों का निष्पक्ष विवेचन कर उनके सार अथवा प्रमुख धारणाओं को खोजने का प्रयत्न किया जाय तो यह असम्भव नहीं है। लास्की ने जब राज्य सम्प्रभुता का खण्डन तथा बहुलवाद का अनुमोदन किया, उनके विचार अव्यावहारिक प्रतीत होते हैं। किन्तु इसके पीछे उनके मूल विचार को आसानी से समझा जा सकता है। लास्की किसी एक स्तर या स्थान पर सत्ता सचय, शक्ति एकाधिकार तथा सत्ता के दुरुपयोग के विरुद्ध थे। उनकी यह धारणा उनके विचारों में सर्वत्र विद्यमान है। उनके बहुलवाद का यही निष्कर्ष था।

लास्की समाजवादी थे इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। जैसा कि लास्की ने अनेकों बार स्वीकार किया है कि समाजवाद उनके लिए केवल एक विचार तक ही सीमित नहीं था किन्तु उनके जीवन में एक दृढ़ विश्वास के रूप में घर कर चुका था। उनके समाजवाद को किस श्रेणी या सम्प्रदाय के अन्तर्गत लिया जाय इसका कोई आसान उत्तर नहीं हो सकता। इतना निश्चय अवश्य है कि वे लोकतान्त्रिक समाजवादी थे तथा उन्होंने विकेन्द्रित समाजवाद का समर्थन किया।

लास्की ने यद्यपि कुछ मार्क्सवादी मान्यताओं को स्वीकार किया तथा रूस में साम्यवादी व्यवस्था के प्रति एक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया किन्तु वे साम्यवादी नहीं थे। राज्य के पूँजीवादी स्वरूप की आलोचना करने, सरकार को किसी एक वर्ग की व्यवस्था बतलाने, आर्थिक-समता का पूर्ण अनुमोदन करने, श्रमिकों की आकांक्षाओं के प्रति अधिक सहानुभूति रखने से कोई व्यक्ति साम्यवादी नहीं हो जाता और वास्तव में मार्क्सवादी होने का तात्पर्य साम्यवादी नहीं है। मूलतः साम्यवादी वह है जो वर्ग-संघर्ष, सशस्त्र क्रान्ति तथा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का समर्थन करते हैं। लास्की ने इंग्लैण्ड या विश्व व्यवस्था में परिवर्तन करने का ऐसा कोई सुझाव नहीं दिया।

44 Hallowell, H J , Main Currents in Modern Political Thought, pp 423—74
45 Ibid , Notes, p 727

कं-सम्बद्धता और कारण एवं परिणाम का सम्बन्ध सदैव नहीं रहता। तृतीय, ऐसे मनुष्यों द्वारा समाज तथा विभिन्न समूहों का निर्माण होता है। इस प्रकार समूह व समाज के कार्य भी विवेक और अविवेक की अभिव्यक्ति होते हैं। चतुर्थ, विवेक प्रति विद्रोह मानव स्वभाव तथा समाज का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करता है। इसे मानव स्वभाव की यथार्थता के आधार पर मनुष्य के कार्यकलापों को समझने का प्रयास किया जाता है। पंचम, विवेक के प्रति विद्रोह परम्परागत दार्शनिक पद्धति को अस्वीकार करता है। यह समाजशास्त्र, मनोविज्ञान तथा प्राकृतिक विज्ञान अन्तर्गत विभिन्न पद्धतियों का प्रयोग है।

यहां विवेक के प्रति विद्रोह तथा अविवेकवाद (Irrationalism) के मध्य अन्तर समझना आवश्यक है। अविवेकवाद में विवेक को कोई स्थान नहीं है। किन्तु विवेक के प्रति विद्रोह' विवेक का पूर्णत. विरोध नहीं करता। इसके समर्थक विवेक को केवल उतना ही महत्व देते हैं जितना कि मानव स्वभाव में उसका योगदान है, इससे अधिक नहीं। वे विवेक को केवल प्रकार्यात्मक (Functional) साधन मानते हैं। कहीं कहीं अविवेकवाद तथा विवेक के प्रति विद्रोह में अन्तर स्थापित करना असम्भव है।

विवेक के विरुद्ध विद्रोह के कारण

मौरिस कोहेन (Morris Cohen), जो विवेकपूर्ण ज्ञान के प्रबलतम समर्थक हैं, ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक-Reason and Nature-में विवेक के प्रति विद्रोह के कारणों का विवेचन किया है। कोहेन ने विवेक के पतन के लिए मनोवैज्ञानिक तर्क (Arguments of Psychologism), ऐतिहासिक तर्क (Arguments of Historicism), तथा अनुभववादी तर्क (Arguments of Empiricism) आदि का कारण दिया है। मनोवैज्ञानिक तर्क के अनुसार विवेक के समर्थकों ने विवेक को अधिक महत्व दिया है। मनुष्य की महत्वपूर्ण उपलब्धियां विवेकपूर्ण कार्य द्वारा नहीं किन्तु अचेतन भावना (unconscious spirit) के कारण प्राप्त हुई हैं। इतिहासवादी तर्क विवेक की अवहेलना कर प्रत्येक विकास को इतिहास के तथ्य द्वारा प्रमाणित करता है। अनुभववादी तर्क प्राकृतिक विज्ञान, प्रयोग तथा पर्यवेक्षण पर आधारित है। इसके अनुसार विज्ञान विवेक में विश्वास नहीं करता। इस तर्क के समर्थकों का दावा है कि ग्रीक के लोग विज्ञान का पूर्ण आधार रखने में असफल रहे क्योंकि वे विवेक के नशे में ही डूबे रहते थे।

आज का युग वैज्ञानिक युग है फिर भी बुद्धि और विवेक की प्रतिष्ठा का शनैः शनैः पतन होता जा रहा है। आधुनिक विज्ञान तथा उसकी विभिन्न शाखाओं का निर्माण बुद्धि और विवेक के आधार पर हुआ है किन्तु विवेक के प्रति इन्होंने श्रद्धा में कमी की है। विलियम जेम्स (William James) ने अपने ग्रन्थ-Pluralistic Universe-में विवेक और बौद्धिक तर्क पर भरपूर आघात किया है।

विवेक के प्रति अविश्वास के कारण आज के युग के वातावरण में निहित है। आज का युग अस्थिर है, मनुष्य तीव्र गति से प्रगति करना चाहता है। वह विकसित व्यवस्था की गति से सन्तुष्ट नहीं है। वह समझने लगा है कि अविवेकपूर्ण साधनों से शीघ्र प्रगति सम्भव है।[1]

विवेक के पतन का एक प्रमुख कारण जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि भी है। आजकल लोकतान्त्रिक व्यवस्था भीड़तन्त्र की ओर अग्रसर हो रही है। कोई भी नेता जब वृहद् जनसमुदाय के समक्ष अपना भाषण देता है उसमें बुद्धिवादिता तथा विवेक की मात्रा का कम होना स्वाभाविक है।

इस भीड़तन्त्र से शिक्षा के क्षेत्र में भी विवेक का पतन हुआ है। प्राचीन शिक्षा दीर्घकालीन थी तथा थोड़े से ही व्यक्तियों का विशेषाधिकार था। आजकल कक्षाओं में विद्यार्थियों की असीमित संख्या, विद्यार्जन करने वालों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होना, जहां समय के अभाव आदि में विवेक और बुद्धि पर आधारित चिन्तन-मनन एवं व्यवहार असम्भव होता जा रहा है।

विवेक की अवहेलना का एक प्रमुख कारण तथ्य सम्बन्धी ज्ञान (Factual Knowledge) में अप्रत्याशित विकास एवं वृद्धि होना है। यह आवागमन के साधनों में वृद्धि, नये-नये समाज एवं मानव समुदायों की खोज, नये अन्वेषण, नवीन विवेचन पद्धतियों से सम्भव हो सका है। इस प्रकार नये तथ्यों की खोज ने विवेकपूर्ण दृष्टि-कोण को पृष्ठभूमि में धकेल दिया है।

सत्ता (Authority) को विवेक का सबसे प्रबल विरोधी समझा जाता है। सत्ता के तीन प्रमुख स्रोत-चर्च, परम्परा तथा अपने से श्रेष्ठ व्यक्तियों का मत-यह मान कर चलते हैं कि विवेक को इनके अधीन रहना चाहिए। उनके विचार से मनुष्य का विवेक नमनीय तथा परिवर्तनशील रहता है इसलिए उसे सत्ता के विभिन्न स्रोतों एवं तत्वों के नीचे लाना चाहिए। वे चर्च को सत्य का प्रतीक मानते हैं। वे विवेक के स्थान पर परम्परागत धारणाओं में विश्वास करते हैं। जैसा कि बर्क (Edmund Burke) ने कहा है मनुष्य को स्थिर परम्पराओं पर विश्वास करना चाहिए। सत्य की खोज में विवेकपूर्ण विवेचन करना समय नष्ट करने के बराबर है। इसी प्रकार न्यायाधीश मक्लेन (Judge Meclain) सवैधानिक परिवर्तनों के विरुद्ध थे क्योंकि उनके विचार से इंग्लैंड का संविधान दो हजार वर्ष से अधिक एंग्लो-सेक्सन अनुभव का परिणाम है। व्यक्तिगत विवेक के आधार पर उन्होंने सवैधानिक परिवर्तनों का समर्थन नहीं किया। विवेक के कुछ विरोधी श्रेष्ठ व्यक्तियों के मत एवं विचारों के समर्थक हैं। उनके अनुसार यह सत्य है कि प्रत्येक मनुष्य शिक्षा, क्षमता, बुद्धि, अनुभव में समान नहीं होते। इसलिए सामान्य व्यक्तियों को अपने व्यक्तिगत विवेक को श्रेष्ठ व्यक्तियों के मत के अधीनस्थ कर देना चाहिए।

1 Cohen, M., Reason and Nature, p. 3

विवेक-विरोध का विकास

विवेक के प्रति विद्रोह के विकास को किसी न किसी रूप मे प्राचीन युग से ही देखा जा सकता है, किन्तु इस विद्रोह का सूत्रपात मध्य युग से हुआ। धार्मिक मान्यताओ तथा अन्ध-विश्वास का सदैव ही पारस्परिक विरोध रहा है। यूरोप मे ईसाई धर्म तथा चर्च संस्था के प्रादुर्भाव एव विकास से विवेक को काफी आघात पहुचा। धीरे-धीरे चर्च द्वारा सत्ता का सचय, श्रद्धा की माग तथा कालान्तर मे अन्ध विश्वास के व्यापक प्रवेश ने विवेक पर आधारित ज्ञान को पृष्ठभूमि मे कर दिया। चिन्तन की यह स्थिति सम्पूर्ण मध्य युग मे बनी रही।

रिनेशाँ (Renaissance-पुनर्जागृति) युग (लगभग पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य से सत्रहवी शताब्दी के अन्त तक) से मानव समाज का आधुनिक युग मे सक्रमण होता है। टॉमस एक्वनास से लेकर लॉक तक राजनीतिक चिन्तन मे कई महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियो का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होने मानव चिन्तन के क्षेत्र मे आमूल परिवर्तन किये। रिनेशाँ के पूर्व ज्ञान के समस्त भण्डार और शाखाओं पर धर्मशास्त्र (Theology) का सर्वत्र प्रभाव था। पन्द्रहवी शताब्दी मे ईसाई धर्मशास्त्र तथा इसके सरक्षक चर्च को राष्ट्रवाद तथा बुद्धिवाद (Rationalism) की चुनौतियो का सामना करना पडा। यह चर्च की सत्ता तथा परम्परागत मान्यताओ के विरुद्ध विद्रोह था। स्वयं चर्च मे नैतिक साहस का अभाव था जिस कारण वह इन शक्तियो को आत्मसात करने मे असफल रहा।

रिनेशाँ से मानव विवेक का युग (Age of Reason) प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम इसने धार्मिक नैतिकता तथा परलोक सम्बन्धी बातो का खडन कर धर्म-निरपेक्षता को प्रतिष्ठित किया। ईश्वर और चर्च की महिमा गाथा के स्थान पर स्वय मनुष्य को गौरवान्वित किया गया। इस युग का विचार था कि मनुष्य किसी बाह्य शक्ति के अधीन नही है, वह स्वय का स्वामी है। चिन्तन का साध्य चर्च या ईश्वर नही, मनुष्य है। इस मानववाद (Humanism) ने समाज के समस्त पहलुओ को प्रभावित कर एक नई दिशा दी। एक अन्य सम्बन्धित उपलब्धि के रूप मे रिनेशाँ वातावरण ने सत्य की खोज तथा ज्ञान अर्जन करने की प्रक्रिया एवं पद्धति मे परिवर्तन कर एक प्रकार से वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रोत्साहन दिया। यह मानव विवेक युग के साथ-साथ आधुनिक युग का प्रारम्भ था। रेने डेसकार्टेस (Rene D.scartes, 1596–1650) को विवेकवाद का जनक माना जाता है। रेने डेसकार्टेस तथा कुछ अन्य ने इस बात पर जोर दिया कि ज्ञान विवेक है तथा वास्तविकता पर आधारित होना चाहिए। ज्ञान का उद्देश्य परलोक का अध्ययन नही, इसका आधार मानव मस्तिष्क और अनुभव है। वास्तव मे रेने डेसकार्टेस ने विवेकवाद को अनुभव और यथार्थता के आधार पर इस प्रकार आगे बढाया कि

विवेकवाद का जनक होने के साथ-साथ उनके विचारों में विवेक के प्रति विद्रोह के बीज भी दृष्टिगोचर होते हैं।

रिनेशाँ युग के उपरान्त विवेक के समर्थन और विरोध का क्रम चलता रहा। एक ओर रिनेशाँ ने राजनीतिक चिन्तन को धर्म तथा अन्धविश्वास से मुक्ति दिला कर विवेकपूर्ण आधार पर लाने का प्रयास किया, दूसरी ओर मेकियावेली तथा हॉब्स ने विवेक के स्थान पर शक्ति तथा स्वार्थ को प्रतिष्ठित किया। रूसो विवेक का समर्थन तथा विरोध दोनों ही करते हुए प्रतीत होते हैं। रूसो का विश्वास था कि मनुष्य के लिये सबसे अधिक महत्व भावनाओं और सहज वृत्तियों का है। विचारशील मनुष्य पतित पशु है।' रूसो की दृष्टि में मनुष्य के सबसे महत्वपूर्ण भाव थे। रूसो के अनुसार सेबाइन के शब्दों में, "बुद्धि भयानक है क्योंकि वह श्रद्धा को कम करती है। विज्ञान विनाशक है क्योंकि वह विश्वास को नष्ट कर देता है, विवेक बुरा है क्योंकि वह नैतिक सहज ज्ञान के विरोध में तर्क-वितर्क को प्रतिष्ठित करता है।" 2

इतना सब कुछ होते हुए भी अनुबन्धवादी युग के विचार जैसे प्राकृतिक अवस्था, प्राकृतिक कानून आदि ने विवेकपूर्ण मान्यताओं में वृद्धि की।

अनुभववाद और विवेक (Empiricism and Reason)

'मनुष्य केवल अपने विवेक से ही प्रेरित नहीं होता, इस पक्ष पर तथा दर्शन-शास्त्र के विवेकपूर्ण तत्व पर अनुभववादियों ने प्रबल प्रहार किया है। आधुनिक अनुभववाद के प्रमुख प्रतिपादक जॉन लॉक (John Locke 1632-1704) ने 1690 में प्रकाशित अपने ग्रन्थ-Essay Concerning Human Understanding-में मानव स्वभाव एवं आचरण का जो विवेचन प्रस्तुत किया है उसमें विवेक की पूर्ण सकल्पना स्वीकार नहीं की गयी है। लॉक के अनुसार जन्म के समय मनुष्य का मस्तिष्क एक सफेद कोरे कागज की भांति होता है। जीवन में मनुष्य को जो असीमित ज्ञान और विवेक प्राप्त होता है इसका मुख्य कारण एवं स्रोत उसका अनुभव है। यह अनुभव उसके प्रत्यक्ष ज्ञान (perception) पर आधारित होता है। लॉक के इस विचार को एक नवीन और क्रान्तिकारी सिद्धान्त कहा गया। इसका महत्व इस बात में है कि इसने दार्शनिक परम्परा का खण्डन किया है तथा केवल मानव, अनुभव को ज्ञान के स्रोत में स्वीकार किया है। साथ ही साथ यह वैज्ञानिक अध्ययन की ओर दिशा ज्ञान कराता है।'3 लॉक के अतिरिक्त डेविड ह्यूम (David Hume 1711-1776), जॉन स्टुअर्ट मिल (J S Mill, 1806-1873) तथा काँन्त (Immanuel Kant, 1724-1804) आदि ने इस अनुभववादी सिद्धान्त का और विस्तार किया। डेविड ह्यूम ने 1739-40 में प्रकाशित अपने ग्रन्थ-Treatise of Human Nature-में विवेक का विवेचन किया है। ह्यूम के अनुसार, जैसा कि

2 सबाइन, राजनीति दर्शन का इतिहास, पृ. 540

3 Hallowell, J H , Main Currents in Modern Political Thought, pp 100-101

सेबाइन ने लिखा है, विवेक स्वयं कार्य की किसी पद्धति का आदेश नहीं देता। विवेक आवेगों का दास होता है और उसे ऐसा होना भी चाहिये। विवेक का कार्य आवेगों की सेवा और आज्ञा पालन करना है वह और अन्य कार्य नहीं कर सकता।[4]

वैज्ञानिक प्रगति से भी यह स्पष्ट हुआ है कि मनुष्य की गतिविधियों और चिन्तन में विवेक का प्रमुख स्थान नहीं रहता। आधुनिक विज्ञान का दावा है कि मस्तिष्क (जो विवेक का मूल स्थल है) शरीर से पृथक नहीं है तथा मस्तिष्क और शारीरिक गतिविधियों में सामन्जस्य होना चाहिये। हॉबहाउस (L T. Hobhouse) के अनुसार यह सामन्जस्य एक दूसरे के अधीन नहीं किन्तु पारस्परिक-निर्भर विकास की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में विवेक ही सब कुछ नहीं है किन्तु उस पारस्परिकता का एक भाग है। हॉबहाउस ने प्लेटो की उस धारणा का खण्डन किया है जिसके अनुसार समाज में विवेक या विवेकशील उच्च वर्ग ही संरक्षक वर्ग होना चाहिये।[5]

विवेक का सबसे प्रबल विरोधी जर्मन दार्शनिक फ्रेड्रिक नीत्से (Friedrich Wilhelm Nietzsche, 1844-1900) था। नीत्से ने इस धारणा को पूर्णतः रद्द किया है कि मानव जीवन का निर्देशन विवेक से होता है। नीत्से के अनुसार आज का मनुष्य आधुनिक मनुष्य है क्योंकि वह ईश्वर और विवेक से मुक्त एवं पृथक होता चला जा रहा है। नीत्से शक्ति का समर्थक था। शक्ति स्वयं में सत्य है, उसके औचित्य को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं।

प्रयोगवाद और विवेक (Pragmatism and Reason)

प्रयोगवाद भी मानव विवेक की महत्ता स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार सत्य वही है जिस पर मनुष्य विश्वास करले। सत्य का अर्थ विचार तर्क संगत हो नहीं है और न इसका अर्थ यथार्थता है, किन्तु वह है जो प्रयोग किया जाता है, जिससे कार्य चलता है। प्रयोगवाद कोई विचार प्रणाली नहीं है, यह केवल पद्धति है। प्रयोगवाद स्वयं में कोई दर्शन नहीं है किन्तु एक दार्शनिक दृष्टिकोण है। यह मनोविज्ञान की उस अवधारणा से प्रारम्भ होता है कि मनुष्य उस पर ही विश्वास करता है या उसे ही सत्य मानता है जो उसे भावात्मक सन्तुष्टि प्रदान करे।[6] किन्तु प्रयोगवाद का निष्कर्ष कुछ भिन्न है। प्रयोगवाद के अनुसार सत्य, विश्वास वह है जो भावात्मक संतुष्टि दे या जिससे कार्य चलता है। सत्य की खोज नहीं की जाती, सत्य का निर्माण किया जाता है। सत्य पूर्ण या स्थिर तत्व नहीं है, इसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है।

प्रयोगवाद के प्रमुख प्रवर्तक अमरीकी दार्शनिक पियर्स (C S. Pierce, 1840-

4 सेबाइन, राजनीति-दर्शन का इतिहास पृ. 563.

5. Greaves, H. R. G, The Foundations of Political Theory, p 77.

6 Hallowell, H J, Main Currents in Modern Political Thought, pp 544—45

1914) तथा विलियम जेम्स (William James, 1842-1919) थे। इस पद्धति का विस्तार प्रोफेसर जॉन डीवी (John Dewey) ने किया।

समाजशास्त्र एवं अविवेकवाद

विवेक का इतने निम्न स्तर का मूल्यांकन करने में समाजशास्त्रियों का भी योगदान रहा है। समाजशास्त्रियों ने प्राकृतिक विज्ञान की विभिन्न पद्धतियों को आधार मान कर सामाजिक विकास के नियमों को समझने का प्रयत्न किया है। समाजशास्त्र के संस्थापक कॉम्ते (Auguste Comte, 1798-1857) तथा उनके अनुयायियों का दावा था कि उन्होंने सामाजिक विकास एवं व्यवस्था के नियमों की खोज करली है। काम्ते ने इस विचार का प्रतिपादन अपने त्रि-सोपान विधान (The Law of the Three Stages) में किया है। काम्ते के अनुसार मानव विचारों के इतिहास को तीन युगों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम अवस्था (आदिम युग से मध्य युग तक) मनुष्य सुपर-प्राकृतिक, परलोक तथा ईश्वरीय ज्ञान से शासित रहा। द्वितीय अवस्था (अट्ठारहवीं शताब्दी) में मनुष्य के विचारों पर (metaphysical forces) का प्रभाव रहा, जैसे—सामाजिक समझौता, प्राकृतिक अधिकार, जन-सम्प्रभुता आदि विचारों ने मानव-चिन्तन का निर्धारण किया। अट्ठारहवीं शताब्दी के बाद की अवस्था को काम्ते ने सकारात्मक या स्वीकारात्मक (positive) कहा है। यह वैज्ञानिक अवस्था है जिसके अन्तर्गत अमूर्त और अवधारणाओं के स्थान पर घटना-क्रम के अनुभववादी अवलोकन को मान्यता दी गई है। अनुभव के आधार पर सामाजिक विधि-विधान को समझा जा सकता है। काम्ते के अनुसार इस अवस्था की ओर ही मनुष्य जाति बढ़ रही है तथा वैज्ञानिक पद्धतियों की सहायता से एक पूर्ण एवं सहयोगी समाज की स्थापना होगी। काम्ते के ये विचार प्रस्थान बिन्दु थे जहां से सामाजिक शास्त्रों को आधुनिक विज्ञान के दायरे में समेटने का प्रयत्न किया जाता है।[7] उसके विचार विवेक की महत्ता से मेल नहीं खाते।

एमील दर्खीम
(Emile Durkheim, 1858–1917)

काम्ते के अतिरिक्त फ्रान्स तथा इटली में कुछ अन्य सिद्धान्तकार हुए जिन्होंने सामाजिक कार्यकलापों में अविवेक की भूमिका को स्वीकार किया है। इनमें प्रमुख गेब्रील टार्डे (Gabriel Tarde, 1843-1904), ल बॉन (Le Bon, 1841-1931), दर्खीम तथा पेरेटो प्रमुख थे। किन्तु दर्खीम तथा पेरेटो की विशिष्ट विचार भूमिका के कारण उनका विवेचन आवश्यक है।

---

7 सेबाइन, राजनीति-दर्शन का इतिहास, पृ० 672

डर्कहीम के पिता एक यहूदी धर्म उपदेशक थे। इन्होंने फ्रांस, जर्मनी आदि मे दर्शन शास्त्र, समाजशास्त्र तथा शिक्षा के विभिन्न पक्षों का विशिष्टतापूर्वक अध्ययन किया। फ्रांस मे डर्कहीम कई विश्व-विद्यालय एव शैक्षणिक सस्थाओ से सम्बन्धित रहे तथा कई सस्थाओ की स्थापना की। यूरोप के तत्कालीन समाजशास्त्रियो मे डर्कहीम का प्रमुख स्थान था। इनके कई अनुयायी थे तथा इनके विचारो के आधार पर समाज शास्त्र मे डर्कहीम सम्प्रदाय का प्रचलन चला। डर्कहीम के प्रमुख ग्रन्थ थे—The Division of Labour in Society, 1893, तथा Rules of Sociological Method, जिसका प्रकाशन 1895 मे हुआ। इन ग्रन्थो के अतिरिक्त डर्कहीम ने समाजवाद, शिक्षा आदि पर भी महत्त्वपूर्ण ग्रथ लिखे।

डर्कहीम के विचारो पर काम्ते, स्पेन्सर आदि का प्रभाव पडा किन्तु इनका इन्होने अन्धा अनुसरण नही किया। डर्कहीम का मुख्य विचार था कि समाजशास्त्रियो को समाज का अध्ययन करना चाहिये, किन्तु यह अध्ययन सम्पूर्ण समाज का नही सामाजिक सस्थाओं का होना चाहिये। संस्थागत अध्ययन ही डर्कहीम के लिये समाजशास्त्र का वास्तविक अध्ययन था। यह अध्ययन व्यक्तिगत और भौतिक दृष्टिकोण से न होते हुए तथ्यो की पूर्ण व्यवस्था होना चाहिए।

डर्कहीम ने व्यक्ति के मस्तिष्क को समूह मस्तिष्क का प्रतिबिम्ब माना है। उसका व्यवहार, चिन्तन, धार्मिक विचार, नैतिक उद्देश्य आदि उसके सामूहिक जीवन की प्रतिक्रिया है। व्यक्तियों के समुदाय को एक सामूहिक तना (Collective Consciousness) होती है जो व्यक्तिगत चेतना से भिन्न है। सामूहिक चेतना के स्वयं के विचार तथा 'सामूहिक प्रतिनिधित्व' होता है जिन्हे व्यक्तिगत चेतना को नैतिक, धार्मिक, न्यायिक और विधि नियमों के रूप में प्रदान किये जाते हैं। इनके पीछे एक अन्त: निहित शक्ति होती है, व्यक्ति इसका विरोध करने मे असमर्थ है।

समाज का विवरण देते हुए डर्कहीम ने लिखा है कि समाज तर्कसगत तथा पूर्ण सम्बद्ध है। समाज की सामूहिक चेतना मानसिक जीवन का सर्वश्रेष्ठ रूप है। चूंकि सामूहिक चेतना व्यक्ति से उच्च एवं परे है इसलिये यह सामाजिक तत्त्वों को स्थाई और आवश्यक रूप मे देख सकती है। यह व्यक्ति की अपेक्षा उत्तम और दूरगामी दृष्टि रखने वाली है।

समाज मे समय का विवरण जैसे घण्टे, दिन, सप्ताह, माह, वर्ष आदि को व्यवस्था तथा समय-समय पर उत्सव, भोजन, सार्वजनिक समारोह आदि सभी सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति है। एक सामाजिक केलेण्डर सामूहिक गतिविधियो की गति एवं व्यवस्था निर्धारित करता है।

डर्कहीम का विशिष्ट अध्ययन आत्महत्या (Suicide) तथा धर्म के विषय मे था। धर्म के अध्ययन से डर्कहीम के ज्ञान सिद्धान्त (Theory of Knowledge) का

प्रादुर्भाव हुआ तथा इसी आधार पर उनके समाजशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान का विस्तार हुआ। अपने इन अध्ययनों मे दुर्खीम ने यह सिद्ध किया है कि मनुष्य पूर्णरूपेण विवेक से निर्देशित नही होता। मनुष्य कई सामाजिक तत्त्वो, जिनका विवेक से कोई सम्बन्ध नही है, से प्रेरित होता है। आत्महत्या को प्रेरणा विवेक से नही मिलती किन्तु इसके सामाजिक कारण होते हैं।[8] दुर्खीम के अनुसार धर्म विश्वास और व्यवहार का एकीकृत रूप है। धर्म के कर्म काण्ड आचार-व्यवहार शक्तियो से प्रेरणा लेते हैं।

विलफ्रेडो पेरेटो

(Vilfredo Pareto, 1848—1923)

आधुनिक समाज सिद्धान्तकारो मे पेरेटो का नाम सम्भवत सबसे महत्त्वपूर्ण है। पेरेटो इटली के एक प्रसिद्ध इन्जीनियर थे किन्तु उनकी ख्याति एक समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री तथा राजनीतिक सिद्धान्तकार के रूप मे हुई। पेरेटो के माता-पिता इटालियन थे तथा इटली के एकीकरण के जनक मेजिनी के समर्थक होने के कारण उन्हे इटली से निर्वासित कर दिया गया था। फ्रास मे पेरेटो का जन्म हुआ। 1858 मे पेरेटो के माता-पिता पुन इटली वापस आ गये। किन्तु बडा होने पर पेरेटो ने मेजिनी के ही उदारवादी और समाजवादी विचारो का विरोध किया। 1892 मे पद से अवकाश ग्रहण के बाद स्विट्जरलैंड चले गये। इसी वर्ष पेरेटो को लोसेन (Lausanne) विश्वविद्यालय मे अर्थशास्त्र का अध्यक्ष नियुक्त किया गया जहा मुसोलिनी उनका प्रिय शिष्य था। मुसोलिनी पेरेटो के विचारो से बहुत प्रभावित हुआ। जब मुसोलिनी सत्ता मे आया तब उसने अपने गुरु को सीनेट का सदस्य बनाया किन्तु यह पद ग्रहण करने के पहले ही पेरेटो की मृत्यु हो गयी।

पेरेटो के प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित थे —

1 Manual of Political Economy, 1906
2 Treatise on General Sociology, 1916
3. The Mind and Society, 1915-16

परेटो ने उपरोक्त ग्रन्थो मे अपनी चतुर्मुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। इन ग्रन्थो मे—The Mind and society—प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ सामाजिक वास्तविकता का वैज्ञानिक विश्लेषण है।

गौण अथवा अवशिष्ट प्रवृत्तियो का सिद्धान्त
(Theory of Residues and Derivations)

परेटो ने ग्रीक-रोमन इतिहास और सभ्यता के आधार पर मानव कार्यकलापो का व्यापक अध्ययन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला कि व्यवहार या तो तार्किक (विवेकपूर्ण) होता है जिसके अन्तर्गत साध्यो के अनुरूप साधनो का प्रयोग होता है,

8 See Western Social Thought by Kilzer and Ross, p 362

या गैर-तार्किक अथवा अबुद्धिपूर्ण (non-logical) जिसमें व्यवहार की एकरूपता नही होती। पेरेटो के अनुसार मानव समाज की व्यवस्था तथा विकास में गैर-तार्किक व्यवहार का प्रचलन एवं महत्व अधिक रहता है। पेरेटो ने इन असम्बद्ध कारकों (non-logical factors) के विवरण तथा वर्गीकरण के विषय में व्यापक उल्लेख किया है। पेरेटो का दावा था कि उसने कुछ ऐसे प्रेरक तत्वो तथा व्यवहार बोध कराने वाले कुछ गौण तत्वो (पेरेटो ने इन्हे residues कहा है) की खोज करली जो मानव इतिहास के सभी युगो तथा विश्व के सभी समाजो मे स्थिर है। पेरेटो ने इन तत्वों का छः भागों मे वर्गीकरण किया है जैसे वे प्रवृत्तिया जो मनुष्यो को एक दूसरे के सम्पर्क मे लाती है तथा पारस्परिक विचार और कार्य की ओर प्रवृत्त करती हैं; वह प्रवृत्ति जो अपने समुदाय को पूजा, रक्षा आदि के लिए प्रोत्साहित करती है, वे बाह्य कार्य जो व्यक्ति की आन्तरिक भावनाओ को व्यक्त करते हैं, वह प्रवृत्ति जो व्यक्ति को अपने समुदाय की एकरूपता अंगीकार करने के लिये अग्रसर करती है; तथा वह प्रवृत्ति जो मनुष्य की व्यक्तिगत निष्ठा, लिंग प्रवृत्ति और समानता के लिये प्रोत्साहित करती है। ये तत्व एव प्रवृत्तिया सभी व्यक्तियो मे विद्यमान रहती है किन्तु इनकी मात्रा का वितरण व्यक्तियो तथा उनके समूहो मे भिन्न भिन्न होता है। जिस व्यक्ति या समूह मे जिस प्रवृत्ति की अधिकता होती है उसी के अनुरूप वहां का समाज होता है। ये प्रवृत्तिया विवेकपूर्ण सत्य है या नही पेरेटो के अनुसार यह कोई महत्व की बात नही है। महत्व की बात यह है कि मनुष्य इनसे प्रभावित एव प्रेरित होता है तथा जिनके माध्यम से मनुष्य और उसके समूह की अभिव्यक्ति होती है।

पेरेटो के अनुसार गौण तत्वो एव प्रवृत्तियो को मौखिक रूप से तर्क-सगत किया जा सकता है। इस प्रक्रिया को पेरेटो ने डेरायवेशन (derivations) कहा है। इसका तात्पर्य साध्य के अनुरूप साधना का प्रयोग न करना, गैर-तार्किक विचार तथा स्पष्टीकरण आदि प्रस्तुत करना है। डेरायवेशन्स अबुद्धवादी होते हैं।

सामाजिक सन्तुलन सिद्धान्त (Theory of Social Equilibrium)

गौण तत्त्व एव प्रवृत्तियो, तथा डेरायवेशन्स के सिद्धान्तो के उपरान्त पेरेटो सामाजिक गतिशीलता के प्रमुख कारको को निर्धारण करने का प्रयत्न करते हैं। उनका उद्देश्य सामाजिक परिवर्तनो के नियमों की खोज करना है। इस सन्दर्भ में पेरेटो 'सामाजिक सन्तुलन सिद्धान्त' प्रस्तुत करते है। पेरेटो के अनुसार समाज न तो अवयव है और न कोई मशीन वरन् एक सामाजिक व्यवस्था (Social System) है। इस व्यवस्था मे एकतापरक तत्त्व विघटनकारी तत्त्वो को नियन्त्रित रखते है। समाज के सन्तुलन एवं स्वरूप का निर्धारण, पेरेटो के अनुसार, निम्नलिखित तत्त्वो पर निर्भर करता है[9]—

9. Kilzer and Ross; Western Social Thought, pp. 311-13

1 भौतिक वातावरण (physical environment) जो स्थायी तत्त्व है,
2 गौण तत्त्व एवं प्रवृत्तियां (residues),
3 हित (interests) जो सामान्यतः आर्थिक हित होते हैं,
4 डेरायवेशन्स (derivations), और
5 समाज में शिखर समूह अथवा विशिष्ट वर्ग (elite) का वर्ग परिवर्तन ।

इनके अतिरिक्त दो और तत्त्वों की प्रमुख भूमिका रहती है। प्रथम, समाज के बाह्य तत्त्व जैसे विश्व की अन्य सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव, तथा द्वितीय, सामाजिक व्यवस्था के आन्तरिक तत्त्व जैसे नस्ल उनकी अनुभूति, इच्छाएँ विचारधाराएँ तथा अन्य मानव गुण जो समाज का निर्माण करते हैं।

असम्बद्ध कारक (non-logical factors)

समाज के विभिन्न प्रेरक तत्वों के परिणाम एवं मात्रा का निर्धारण, उनके प्रभाव व किस प्रकार एक दूसरे से सम्बद्ध हैं तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का यदि ज्ञान कर सकें तो समाज तथा उसके विभिन्न पक्षों का पूर्ण विवेचन किया जा सकता है। इन तत्वों के आधार पर समाज के व्यवहार को समझा जा सकता है।

परेटो के अनुसार सामाजिक कार्यकलापों में विवेक का प्रभाव कोई विशेष नहीं होता। मनुष्य विवेक से अधिक प्रेरणा नहीं लेता। विवेक केवल यह बता सकता है कि हम जो करना चाहते हैं उसे कैसे करें। वास्तविक कार्य तथा मनुष्य की आन्तरिक इच्छाओं के विषय में विवेक कुछ नहीं कह सकता। परिणामस्वरूप मनुष्य का अधिकतम व्यवहार असम्बद्ध अथवा गैरतार्किक कारकों (non-logical factors) से प्रेरणा लेते हैं और प्रभावित होते हैं।

कारण और परिणाम (causes and effects)

परेटो अनुगम वैज्ञानिकों की श्रेणी में आते हैं जिन्होंने अपने सिद्धान्तों को सामाजिक तथ्यों के विवेचन, उनकी एकरूपता, नैतिक मूल्यांकन तथा 'कारण और परिणाम' से मुक्त विचारों से ग्रहण किये हैं। परेटो ने कारण-परिणाम सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है क्योंकि यह सामाजिक परिवर्तनों की एकपक्षीय, सामान्य और बाह्य तस्वीर प्रस्तुत करता है। परेटो के अनुसार समाज कई निरन्तर परिवर्तनशील तत्वों का पुंज है। ये तत्व एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। इनमें किसी को कारण और किसी को परिणाम कहना असम्भव है। राजनीति, अर्थशास्त्र, धर्म, नैतिकशास्त्र पारस्परिक कार्यों से सम्बन्धित है न कि कारणों से।

शिखर समूह अथवा विशिष्ट वर्ग सिद्धान्त (Theory of Elite.)

परेटो के मतानुसार शिखर समूह सिद्धान्त का तात्पर्य कुलीन नेतृत्व से है। यह नेतृत्व किसी भी व्यवस्थित समाज के लिये आवश्यक है। नेतृत्व की कुलीनता में परिवर्तन से सामाजिक सन्तुलन पर प्रभाव पड़ता है। जब निम्न वर्ग के लोग

उच्च वर्ग तथा उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग में प्रवेश करते है इससे सामाजिक सन्तुलन भंग हो जाता है। पेरेटो मनुष्य की सामाजिक विशेषताग्रों के साथ साथ समाज मे वर्ग-विभाजन का उल्लेख करते है। पेरेटो के अनुसार समाज दो वर्गों में विभाजित रहता है–प्रथम, उच्च वर्ग (elite), द्वितीय उच्च वर्ग के बाद बचे हुए व्यक्ति (non-elite) जिसे निम्न वर्ग कहा जा सकता है। उच्च वर्ग पुन: दो भागो–शासक तथा अन्य मे विभाजित किया जा सकता है। शासक उच्च वर्ग मे भी एक छोटा समुदाय होता है जो समाज पर नियन्त्रण स्थापित रखता है। यह बात सभी शासन व्यवस्थाओ मे सही है चाहे वह लोकतन्त्र, कुलीनतन्त्र, राजतन्त्र अथवा तानाशाही हो।

प्रत्येक समाज मे, पेरेटो के अनुसार, उच्चवर्ग मे परिवर्तन होता रहता है। निम्न वर्ग के व्यक्तियों का उच्च वर्ग मे सम्मिलित होने का क्रम निरन्तर बना रहता है तथा प्रत्येक उच्च वर्ग कभी न कभी समाप्त होता है। मनुष्यों के व्यक्तिगत गुणो एव विशेषताग्रो के कारण भी उच्च वर्ग मे परिवर्तन होता रहता है। यदि शासक उच्च वर्ग मे दूसरो को आत्मसात या अपने मे समा लेने की अथवा वे व्यक्ति जो उस समूह में प्रवेश करना चाहते हैं उन्हे नष्ट करने की क्षमता है तब यह शासक वर्ग स्थायी रहता है अन्यथा क्रान्ति की सम्भावना रहती है।

राजनीति और शक्ति

पेरेटो का विचार है कि शासन कला शक्ति तथा दूसरों को धोखा देने पर निर्भर करती है। दूसरों की भावनाओ को समझ उनसे लाभ लेने से शासन सफलता की ओर अग्रसर होता है। यह तभी सम्भव है जब व्यक्ति स्वय को अपनी भावनाओ से मुक्त कर दूसरो के मनोभाव को समझ सके। पेरेटो के अनुसार समाज मे शक्ति आवश्यक है। जब शासक वर्ग शक्ति का प्रयोग न कर अपनी बुद्धि और कुशलता पर ही निर्भर करता है उस समय यदि समाज प्रगति और समृद्धि चाहता है शक्ति का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। जो वर्ग शक्ति का प्रयोग कर सकता है वह उस शासक वर्ग को अपदस्थ कर देता है जो शक्ति पर निर्भर नही करता। सीजर महान शक्ति के बल से ही रोमन समाज को पतन से बचा सका था।

पेरेटो के विचारों का मूल्यांकन

पेरेटो का स्वयं यह विचार था कि उसका कार्य सामाजिक यथार्थता का वैज्ञानिक विवेचन है। उसका समाजशास्त्र किसी पूर्व निश्चित सिद्धान्तों पर नहीं वरन् सामाजिक तथ्यो तथा उनका अवलोकन करने के बाद सामाजिक एकरूपता पर आधारित है। यह पहले के समाजशास्त्र के सिद्धान्तों से भिन्न है क्योंकि यह नैतिक मूल्यांकन तथा आध्यात्मिक चिन्तन और अटकलबाजियो से मुक्त है। किन्तु समाजशास्त्री पेरेटो के विचारो को विशेष मान्यता नही देते क्योंकि वह अपने निष्कर्षों को निकालने में तार्किक-प्रायोगिक पद्धति (Logico-experimental

method) का उपयोग करने में असफल रहे। यद्यपि परेटो के सिद्धान्त सामाजिक अवलोकन, ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित थे किन्तु वे तथ्य ऐसे नहीं थे जिन्हें विश्वव्यापी मानकर उनका सामान्यीकरण या सैद्धान्तीकरण किया जा सकता। परेटो अन्य समाजशास्त्रियों के अनुसन्धान से भी लाभ नहीं उठा सके। मानव कार्य-कलाप के विषय में उनके विचार पक्षपातपूर्ण हैं क्योंकि वे मूल्यात्मक तथा आदर्शवाद के स्थान पर असम्बद्ध कारकों को प्राथमिकता देते हैं।[10]

परेटो के सामाजिक मनोविज्ञान की व्यापक आलोचना हुई है। हेलोवेल ने परेटो को भ्रान्तिवादी उदारवादी कहा है जिसके विचार सनक और मानव व्यक्तित्व की निन्दा पर आधारित हैं। बीसवीं सदी की यह विचित्र बात है कि इतने अधिक बुद्धिवादियों ने विवेक के विरुद्ध या अविवेकवाद के समर्थन तथा उसके औचित्य में विवेकपूर्ण तर्कों की ही सहायता ली है।[11] परेटो ने अपने सामाजिक विश्लेषण को वैज्ञानिक होने का दावा किया है। किन्तु वैज्ञानिक आवरण के नीचे उसने मेकियावेली के 'प्रिन्स' (The Prince) को पुनः लिख दिया जिसमें उसने बतलाया है कि सम्राट को सत्ता ग्रहण करने, सत्ता में कैसे बना रहने, शक्ति आदि के विषय में विवेचन किया है। परेटो ने 'प्रिन्स' में प्रस्तुत विचारों का विस्तार कर समकाल तक पहुँचा दिया है। प्रोफेसर मेलविन रेडर ने परेटो के विषय में लिखा है कि उसने राजनीति में चालबाजों का नुभाव दिया है तथा शक्ति समर्थन में विज्ञान की प्रतिष्ठा का प्रयोग किया है। परेटो 'तार्किक-प्रायोगिक पद्धति' (logico-experimental method) का प्रवर्तक होते हुए भी उसके विचारों के विषय में गलतफहमी अथवा भ्रान्ति रह सकती है।[12]

ग्राहम वालास
(Graham Wallas 1858-1932)

ग्राहम वालास इंग्लैंड में बुद्धिजीवी समाज के एक अग्रणी व्यक्ति थे। इनका जन्म तथा लालन-पालन एक पादरी परिवार में हुआ। ये ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के स्नातक थे तथा जीवन के अधिकतम समय लन्दन में रहे। ग्राहम वालास फेबियन सोसायटी के प्रारम्भिक संस्थापकों में से थे तथा इस संस्था के तत्वावधान में प्रकाशित निबन्धों में महत्वपूर्ण योगदान किया। वे एक सीमित स्तर में सक्रिय राजनीति में भी सम्बद्ध रहे कुछ समय तक लन्दन काउन्टी कौन्सिल के सदस्य चुने गये तथा कई आयोगों में कार्य किया। किन्तु अध्यापन के क्षेत्र में इन्हें सर्वाधिक ख्याति मिली। वे लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स के संस्थापकों में थे। 1895 से 1923 तक वालास लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स में राजनीति शास्त्र के प्रोफेसर रहे

10 Kilzer and Ross, Western Social Thought, pp 312-13

11 Hallowell, J H , Main Currents of Modern Political Thought p 542

12. Melvin Rader, No Compromise, The Conflict Between Two Worlds, quoted by Hallowell, p 542

जिन्होंने लास्की, लासेवेल जैसे विद्वानों को प्रभावित किया। इस सस्था से जब इन्होने अवकाश ग्रहण किया, उनका स्थान हेरॉल्ड लास्की ने लिया।

ग्राहम वालास का महत्वपूर्ण योगदान राजनीति में मनोवैज्ञानिक और समाज-शास्त्र सम्बन्धीपद्धतियों का प्रयोग करने में है। यह उनके निम्नलिखित महत्वपूर्ण ग्रन्थो से विदित होता है—

1. Life of Francis Place, 1898. (फ्रेन्सिस प्लेस का जीवन)
2. Essays in Fabian Socialism, 1889. (फेबियन समाजवाद)
3. Human Nature in Politics, 1908. (राजनीति मे मानव स्वभाव)
4. The Great Society, 1912. (महान समाज)
5. Our Social Heritage, 1921. (हमारी सामाजिक धरोहर)
6. The Art of Thought, 1926. (चिन्तन कला)

ग्राहम वालास द्वारा विवेक के विरुद्ध विद्रोह अभियान का जो समर्थन किया गया उनके इन विचारो को कई पक्षों ने प्रभावित किया। अपने परिवार के धार्मिक वातावरण मे इनका जो लालन-पालन हुआ उससे इन्होने यह सीखा कि मनुष्य किस प्रकार विवेकरहित धार्मिक भावनावो से प्रेरित होता है। वालास को लगभग आधी शताब्दी तक अपने सार्वजनिक जीवन के अनुभव से भी सहायता मिली। समाज में वालास का सम्पर्क कवि, विद्वानो तथा निर्धन वर्ग से अधिक रहा। ये वर्ग अपने लिए वैज्ञानिक नही मानते थे। वालास द्वारा इनके पर्यवेक्षण से अविवेकपूर्ण तत्वो के महत्व को जानने मे सहायता मिली। इसके अतिरिक्त उस समय उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे अर्थशास्त्र, भौतिकशास्त्र, समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में नये-नये विचारो का प्रादुर्भाव तथा प्रयोग किये जा रहे थे। औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव भी सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहे थे। ग्राहम वालास जैसे विवेकशील व्यक्ति मनुष्य समाज मे अविवेकशील तत्वो का विवेचन किये बिना न रह सके। ग्राहम वालास के सामने समस्या यह थी कि इस ज्ञान तथा रहस्य को विचारो की प्रक्रिया के परि-मार्जन में किस प्रकार प्रयोग किया जाय।

मानव स्वभाव

वालास के सम्पूर्ण विचारों का आधार तथा महत्त्व मानव स्वभाव के विवेचन में हैं। वालास के अनुसार मनुष्य के कार्य परिणाम द्वारा निर्देशित नही होते। मनुष्य के व्यवहार को समझने के लिए उन शक्तियो को समझना आवश्यक है जो उसे कार्य के लिए प्रेरित करती हैं। वालास के अनुसार ये शक्तिया मानव स्वभाव में निहित प्रवृत्तिया (instinct), आवेग (impulses) अचेतन अवस्था में कार्य आदि है। वालास के अनुसार मनुष्य मे विवेक होता है किन्तु उसका विवेकपूर्ण स्वभाव अस्थिर होता है। वालास का विचार है कि मनुष्य के विभिन्न कार्य-कलापो मे मानव स्वभाव के विषय में अन्तर्दृष्टि आवश्यक है।

राजनीति मे मानव स्वभाव

ग्राह्म वालास का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'राजनीति में मानव स्वभाव' (Human Nature in Politics) है। 'राजनीति म मानव स्वभाव' ग्राह्म वालास का राजनीतिशास्त्र के लिए एक मौलिक और महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस पुस्तक मे वालास ने राजनीतिक विश्लेषण तथा सामान्यीकरण मे मनोवैज्ञानिक ज्ञान का प्रयोग किया है। वालास का विचार है कि संस्थागत उपागम (Institutional Approach) राजनीति शास्त्र क अध्ययन क लिये पूर्णत अनुपयुक्त है। कई राज्यो मे लोकतान्त्रिक प्रतिनिधि संस्थाओ की असफलता के कारण वालास ने राजनीतिक प्रेरणा के लिए किसी अन्य उपयुक्त अध्ययन को आवश्यक माना है। परिणामस्वरूप उन्होने राजनीति मे मनोविज्ञान क अध्ययन का समथन किया। वालास का यह ग्रन्थ अबुद्धिवादी विचारो की अभिव्यक्ति है। वालास ने कहा है कि राजनीति मे मानव स्वभाव का परीक्षण बुद्धिवाद जो राजनीति शास्त्र की परम्परा तथा सामान्य व्यक्ति की मानसिक आदता का परिणाम है, के ऊपर विजय मे प्रारम्भ होना चाहिये।[13] 'राजनीति मे मानव स्वभाव का प्रमुख विचार राजनीतिक चिन्तन मे 'बुद्धिवादी भ्रम (Rationalist Fallacy) है।[14]

जिस समय राजनीति मे संस्थागत विधिवादी तथा मार्क्सवादी उपागम प्रचलित थे वालास ने मनोवैज्ञानिक उपागम का प्रतिपादन किया। वालास ने यह विचार रखा कि मनोवेग मानव जाति के मस्तिष्क के विकास का परिणाम है। मानव प्रकृति मे आदिम युग से अब तक कोई परिवतन नही हुआ है। वालास ने कुछ मनोवेग जैसे स्नेह, भय शक सम्पत्ति, इच्छा, उत्सुकता आदि का राजनीतिक व्यवहार तथा राजनीतिक समस्याओं म महत्त्व बतलाया है। वालास ने सम्पत्ति, अधिकार, स्वतन्त्रता, सत्ता, न्याय, राष्ट्र, राजनीतिक दल आदि का मनोवेग के आधार पर विवेचन किया है।

'मानव स्वभाव और राजनीति' मे वालास प्लेटो के विचार सिद्धान्त, रूसो के प्राकृतिक अधिकार का सिद्धान्त तथा बेन्थम के उपयोगितावाद की विवेकपूर्ण धारणा क आलोचक से प्रतीत होते हैं। वालास के अनुसार ये विद्वान अपनी बुद्धिवादिता से स्वय गुमराह हुए हैं। इन्होने राजनीति मे केवल विवेक के महत्त्व को ही स्वीकार किया तथा राजनीति मे अविवेकपूर्ण तत्त्वो की अवहेलना की है। किन्तु दूसरी ओर वालास ने हॉब्स क मनोविज्ञान को भी ठीक नही बतलाया जो पूर्णत भय पर आधारित है।

ग्राह्म वालास का कहना था कि मनुष्यो द्वारा विवेक को अत्यधिक महत्त्व नही देना चाहिए। राजनीति काल्पनिक व्यक्ति का अध्ययन नही है, राजनीति व्यावहारिक पक्ष भी है इसलिए राजनीति के यथार्थ अध्ययन क लिए सामान्य

13 Wallas, Graham, Human Nature in Politics, p 45
14 Rowse, A L, Introduction to Human Nature in Politics, p 2.

मनुष्य का अध्ययन करना चाहिए जो भावनाओं, उत्तेजनाओं तथा अन्य प्राकृतिक इच्छाओं का पुंज है। वालास का विचार है कि यदि मनुष्य द्वारा जीवन भर किये गये कार्यों का विवेचन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उसके अधिकांश कार्य सामान्य इच्छा, विवेक या गम्भीर चिन्तन का परिणाम नहीं है। अपितु वह अपने अधिकांश कार्यकलापों में आदतों, पक्षपातों, नैसर्गिक भावनाओं तथा आवेग से प्रेरित होता है। इन नैसर्गिक कृतियों तथा आवेगों के अन्तर्गत वालास ने स्नेह प्रेम, सन्देह, उत्सुकता, सम्पत्ति की इच्छा, प्रगति की इच्छा तथा संघर्ष आदि को सम्मिलित किया है।[15] उसके बहुत से कार्य अचेतन या अर्ध-चेतन अवस्था में होते हैं। इसी प्रकार राजनीतिक कार्य एवं व्यवहार भी इन्हीं भावनाओं, आवेग, दूसरों को देखकर आदि से अधिक तथा विचार एवं विवेक से कम निर्देशित होते हैं। वालास का सुझाव था कि यदि राजनीति का विद्यार्थी राजनीति को विज्ञान के स्तर पर लाना चाहता है, या सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाना चाहता है तो उसे मानव स्वभाव की इन नैसर्गिक वृत्तियों को समझना आवश्यक है। इनके बिना उसका ज्ञान एवं अध्ययन काल्पनिक तथा यथार्थता से दूर होगा।

शासन व्यवस्था और मानव स्वभाव[16]

मानव समाज जिन आधुनिक लोकतान्त्रिक संवैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत रह रहा है उसका निर्माण करने वाले वे व्यक्ति थे जो मानव स्वभाव के बुद्धिवादी विचार से प्रेरित थे। वे वास्तविक मानव स्वभाव का मूल्यांकन नहीं कर सके यही कारण है कि आज की राजनीतिक प्रणाली, यथार्थता से दूर होती जा रही है।[17] इस सन्दर्भ में वालास ने लोकतन्त्र, प्रतिनिधि प्रणाली, निर्वाचन प्रणाली की यथार्थता पर सन्देह प्रकट किया है। वालास के अनुसार दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित प्रजातन्त्र तथा लोकतन्त्र का आज जो व्यावहारिक रूप है उसमें व्यापक अन्तर है। प्रतिनिधि प्रणाली वास्तव में सहमति या जन इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करती। आज के राजनीतिज्ञ मनुष्यों की अर्ध-चेतना मनःस्थिति से लाभ उठाकर मत एवं बहुमत प्राप्त करते हैं। इस प्रक्रिया में चिन्हों, चित्रों, विज्ञापनों तथा सम्मोहन शक्ति का भरपूर प्रयोग किया जाता है। मतदाता को उसकी सही मनःस्थिति से काफी दूर कर दिया जाता है। मतदाता को गम्भीरतापूर्वक सोचने का अवसर ही नहीं मिलता।[18] वालास ने राजनीतिक व्यवस्था के दोषों को दूर करने के कई सुझाव दिये हैं यद्यपि उनके सुझावों को कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया है।

---

15. Gettell, R.G., History of Political Thought, p 447.
16. इस सम्बन्ध में वालास के पूर्ण अध्ययन के लिये Human Nature in Politics के द्वितीय भाग का द्वितीय अध्याय देखिए।
17. Wallas, Graham; Human Nature in Politics, p. 215.
18 Ibid., p. 229.

महान समाज

'मानव स्वभाव और राजनीति' के छः वर्ष उपरान्त वालास के दूसरे प्रमुख ग्रन्थ—The Great Society (महान समाज) का प्रकाशन हुआ। 'महान समाज' वास्तव में 'मानव स्वभाव और राजनीति' का ही पूरक ग्रन्थ था। 'महान समाज' में वालास राजनीतिक अबुद्धिवाद की त्रुटि को सही करते हैं। साथ ही साथ सामाजिक उद्देश्यों के लिए विचारों को व्यवस्थित करने की सम्भावना की खोज करते हैं।

इस ग्रन्थ में वालास ने औद्योगिक एवं तकनीकी क्रान्ति द्वारा समाज में उत्पन्न समस्याओं को समझने का प्रयास किया है। इस पुस्तक में भी वालास मानव स्वभाव में प्रवृत्ति और मनोवेग के महत्त्व को स्वीकार करते हैं किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य पद्धतियां जैसे ऐतिहासिक पद्धति, मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित सामग्री, अनुभव आदि को भी महत्त्व देते हैं। इस पुस्तक में वालास का एक और महत्त्वपूर्ण योगदान राजनीतिक अध्ययन के लिए परिमाणात्मक (quantitative) तथा सांख्यिकी (statistical) पद्धति का समर्थन करना है।

'हमारी सामाजिक धरोहर' (अथवा विरासत) में वालास सामाजिक प्रक्रिया में सांस्कृतिक पक्ष का विवेचन करते हैं। उनकी एक अन्य पुस्तक 'चिन्तन कला' (The Art of Thought) में वालास चिन्तन प्रक्रिया का विवेचन करते हैं किन्तु घूम फिर कर मानव स्वभाव के विवेचन पर ही आ जाते हैं। 'चिन्तन कला' राजनीति में मानव स्वभाव की पुनरावृत्ति जैसी पुस्तक लगती है।

ग्राहम वालास के विचारों का मूल्यांकन

ग्राहम वालास ने मानव व्यवहार में सहज प्रवृत्तियों, आवेग, मनोभाव आदि को अत्यधिक महत्त्व दिया है। इन प्रवृत्तियों को सामान्य से अधिक महत्त्व देना उतना ही त्रुटिपूर्ण है जितना मानव कार्यकलापों में विवेक को अत्यधिक महत्त्व देना है। वालास का यह विचार कि चिरकाल से विरासत में प्राप्त इच्छाओं का भी मानव व्यवहार में महत्त्व रहता है। ये वर्तमान कार्यकलापों को प्रभावित करते हैं। वालास के इस विचार में भी अतिशयोक्ति है। यह आवश्यक नहीं है कि आदिकालीन इच्छाओं की पूर्ति वर्तमान में ही हो। कभी कभी इच्छाओं का दमन भी करना पड़ता है तभी आधुनिक समाज की जटिलताओं के मध्य रहा जा सकता है।

वालास ने विवेक की महत्ता को स्वीकार नहीं किया है। इतना अवश्य माना जाता है कि मनुष्य का राजनीतिक व्यवहार गहन चिन्तन अथवा पूर्ण विवेक से प्रेरित नहीं होता किन्तु विवेक के महत्त्व का इतना निम्न मूल्यांकन उचित नहीं लगता।

मनुष्य की मानसिक संरचना में बुद्धिवादी अनुमानों में भेद स्थापित करना आसान नहीं है किन्तु इससे मना नहीं किया जा सकता कि अविवेकशील तत्वों की मानव व्यवहार व्यापक भूमिका रहती है। यह सम्भव है (फासीवाद-नात्सीवाद के

परिप्रेक्ष्य मे यह हुआ भी है) कि चालाक राजनीतिज्ञ इन अचेतन अनुमानों का स्वय के स्वार्थ मे प्रयोग करे। यह भी सम्भव है कि इस दिशा में जो प्रक्रिया प्रारम्भ हो वह उस स्थिति तक पहुंच जाय कि उस पर नियन्त्रण रखना असम्भव हो जाय।[19]

'राजनीति मे मानव स्वभाव' मे वालास ने केवल सामान्य राजनीतिक व्यवहार मे विवेकहीन तत्त्वों को मान्यता नहीं दी। एक विवेकशील की भांति उन्होने राजनीतिक व्यवहार मे विवेकशील तत्त्वो का समर्थन देने की बात कही है तथा इसीलिए राजनीतिक एव सामाजिक शिक्षा को अधिक क्रियाशील बनाने का सुझाव दिया है। वालास का दृष्टिकोण बेन्थमवादी था जिसके अनुसार राजनीति का प्रमुख उद्देश्य मनष्य को सुखी बनाना है किन्तु इसको उपलब्धि किस कार्यक्रम से की जाय तथा ऐसे कार्यक्रम और बीसवी सदी के अनुरूप किस प्रकार का राजनीतिक व्यवहार हो ऐसे विचार प्रस्तुत करने मे वालास असमर्थ रहे हैं।[20]

राजनीति मे मानव स्वभाव' तथा महान समाज दोनो मिलकर फेबियनवादी आवरण मे उपयोगितावाद की पुनरावृत्ति जिसके अन्तर्गत वे यदभाव्यम् (Laissez-Faire) से हटकर राज्य हस्तक्षेप का समर्थन करते हैं ताकि सामूहिक साधनों द्वारा सुख की सकारात्मक वृद्धि की जा सके। वालास के विचारो मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि वे एक साथ ही राज्यवादी और उदारवादी दोनों ही थे किन्तु उनमे यह कमी थी कि उनमें विलक्षण प्रतिभा एव बुद्धि होते हुए भी इन विचारों को स्पष्ट और व्यापक नही कर सके।[21]

ग्राहम वालास के विचारों को मौलिकता की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। मानव व्यवहार मे अविवेकशील तत्त्वों के महत्त्व का ग्राहम वालास के पहले भी अध्ययन हुआ है। वालास का महत्त्व इस बात मे है कि उन्होंने अविवेकपूर्ण तत्त्वों का राजनीति शास्त्र के अनुभववादी ज्ञान मे प्रयोग किया है।

कोल (G D H. Cole) का विचार है कि ग्राहम वालास के विचारो में स्थायित्व नहीं था। उन्होने जिन विचारो का प्रतिपादन किया उन पर सदैव स्थिर नही रह सके। वालास का— Human Nature in Politics, 1908-उनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ था। जिसमे उच्च श्रेणी के ग्रन्थ के सभी तत्त्व विद्यमान थे किन्तु जीवन भर वे अपने इन विचारो को न तो पूर्णतः स्पष्ट कर सके और न कोई स्पष्ट दिशा दे सके। एक और अन्य ग्रन्थ-The Great Society, 1914-से ऐसा आभास होता था कि उनके विचार स्थिर हो रहे हैं किन्तु यहा भी वे इधर-उधर की ही बातो मे उलझे प्रतीत होते है तथा रचनात्मक विचारो का विकास करने मे असफल रहे।[22]

ग्राहम वालास ने सर्वप्रथम एक व्यापक रूप मे मनोविज्ञान का राजनीति में प्रयोग किया है। किन्तु यह मनोविज्ञान मनोवृत्ति (instinct) पर आधारित है जो

19. Varma, V.P., Political Philosophy, p. 341.
20. Cole, G D H., A History of Socialist Thought, Vol. III, Part I, p. 221.
21. Ibid., p 222.
22. Cole, G D. H., Ibid., pp 221—22.

अब सामयिक नहीं रहा। मनोविज्ञान में मनोवृत्ति शाखा का स्थान अब प्रेरणा (drive) शाखा ने ले लिया है। इसके अतिरिक्त प्रकार्यात्मक मनोविज्ञान (functional Psychology), पशु व्यवहार, असाधारण व्यवहार तथा फ्रायडवाद के विषय में अब और अधिक अन्वेषण हुआ है। इन सभी शाखाओं ने मानव व्यवहार को समझने में सहायता की है। मनोविज्ञान के इन नए सम्प्रदायों के समक्ष वालास का मनोवृत्ति मनोविज्ञान पुराना सा लगता है। इस नवीन ज्ञान के आधार पर वालास के राजनीतिक मनोविज्ञान पर पुनर्विचार होना चाहिए।[23]

वालास के विचारों में बौद्धिक श्रेष्ठता जैसी कोई बात नहीं थी। वालास की गणना न तो प्रथम श्रेणी के मनोवैज्ञानिकों या समाजशास्त्रियों में की जाती है। उन्हें दार्शनिक श्रेणी में भी नहीं लिया जा सकता। वालास जी के विचारों के पीछे किसी विचार सम्प्रदाय का निर्माण भी नहीं हुआ है। किन्तु उन्होंने राजनीति में एक नए विचार का प्रवर्तन कर नई दिशा प्रदान की। विशेषतः उनके दो प्रमुख विचार योगदान को स्वीकार करना पड़ेगा। प्रथम, राजनीतिक व्यवहार में वास्तविक मानव स्वभाव की भूमिका, तथा द्वितीय, राजनीति में संख्यात्मक विधि अपनाने का समर्थन। 'राजनीति में मानव स्वभाव' राउजे के मतानुसार, इस शताब्दी में किसी अंग्रेज द्वारा राजनीतिक विचारों को निःसन्देह सर्वाधिक मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण योगदान है। यह हो सकता है कि हम यहां वालास के विचारों से सहमति व्यक्त न करें किन्तु कुल मिला कर इस ग्रन्थ में सत्यता है। इसने एक नये विचार के लिये मार्ग खोला। यह ग्रन्थ उन सभी को पढ़ना चाहिए जो राजनीति में थोड़ा बहुत दखल रखते हैं।[24]

विलियम मैकडूगल

William McDougall, 1871-1938

प्रोफेसर विलियम मैकडूगल प्रसिद्ध अंग्रेज मनोवैज्ञानिक थे। प्रारम्भ में प्रोफेसर मैकडूगल ने केम्ब्रिज, लन्दन और ऑक्सफोर्ड में अध्यापन किया। 1920 से 1927 तक हारवर्ड तथा 1927 से मृत्यु पर्यन्त ड्यूक विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया। वे परम्परावादी मनोविज्ञान के समर्थक नहीं थे। मनोविज्ञान में मैकडूगल वृत्ति शाखा (instinct branch) तथा सामाजिक मनोविज्ञान के प्रतिपादकों में से थे। विवेक के विरुद्ध विद्रोह के समर्थकों में मैकडूगल का भी सम्मिलित किया जाता है।

प्रोफेसर मैकडूगल के कई ग्रन्थों में निम्नलिखित प्रमुख हैं —

1 An Introduction to Social Psychology, 1908
2 The Group Mind, 1920
3 Body and Mind, 1912
4 Outline of Psychology, 1923

23 Varma, V P, Political Philosophy, p 348
24 Rowse, A. L., Introduction to Human Nature in Politics, pp 1 4

प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से प्रथम दोनों ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं। इन ग्रन्थों के आधार पर मैकडुगल के विचारों को निम्नलिखित पक्षों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है।

वृत्ति सिद्धान्त (The Instinct Theory)

प्रोफेसर मैकडुगल मनोविज्ञान मे वृत्ति सिद्धान्त के एक प्रमुख प्रवर्तक हैं। मैकडुगल की धारणा थी कि मनुष्य मे कई स्वाभाविक और वंश-परम्परागत प्रयोजन अथवा प्रेरक तत्व (motives) होते हैं जो मानव अनुभव को प्रेरणा देते हैं। 1908 मे अपनी पुस्तक—An Introdutcion to Social Psychology—मे मैकडुगल ने इस प्रकार के कुछ प्रेरक तत्वों की एक सूची प्रकाशित की जिन्हें उन्होंने वृत्ति (instinct) कहा तथा बाद मे इनको प्रवृत्ति (propensities) नाम दिया। प्रत्येक प्रवृत्ति किसी भावना (emotion) से सम्बद्ध रहती है। 1921 में इस पुस्तक के चौदहवें संस्करण मे मैकडुगल ने सात प्रमुख प्रवृत्तियों तथा उनके साथ सम्बद्ध भावनाओं की सूची प्रस्तुत की जैसे—

1. भय की भावना तथा संघर्ष प्रवृत्ति
2. विरक्ति भावना तथा घृणा प्रवृत्ति
3. आश्चर्य भावना तथा उत्सुकता प्रवृत्ति
4. क्रोध भावना तथा युद्ध प्रवृत्ति
5. पराधीन भावना तथा स्वयं-अवमान प्रवृत्ति
6. वात्सल्य भावना तथा मातृक-पैतृक प्रवृत्ति
7. उल्लास भावना तथा दृढता की प्रवृत्ति

इनके अतिरिक्त मैकगडुल ने और कई छोटी प्रवृत्तियों की सूची दी है। मैकडुगल की यह सूची समय समय पर परिवर्तित होती रही है।

मैकडुगल नैसर्गिक प्रवृत्तियों को मानव व्यवहार मे काफी महत्व देते हैं। उनके अनुसार मनुष्य तर्क-सगत या विवेकपूर्ण सिद्धान्तों या इच्छाओं से निर्देशित नही होता, वह मूलत प्रवृत्ति प्राणी है। मैकडुगल के शब्दो मे—

> 'प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य की गतिविधियों का सचालन प्रवृत्तियों द्वारा होता है। इनके द्वारा प्रत्येक गतिविधियो के उद्देश्य का निर्धारण तथा सचालन शक्ति प्रदान की जाती है।[25]

जैसा कि गेटेल ने कहा है कि मैकडुगल का विश्वास था कि समस्त मानव गतिविधियों का आधार मनुष्य की प्रवृत्तिया है तथा प्रत्येक प्रवृत्ति एक विशेष भावना से जुड़ी हुई है। मानव कार्यकलाप आवेग का परिणाम है; आवेग प्रवृत्तियों तथा आदतों का परिणाम है। इस प्रकार मानव व्यवहार को प्रवृत्तियो द्वारा समझा जा सकता है। इनका अनुभव द्वारा कुछ सशोधन हो सकता है।[26]

25. McDougall W., An Introduction to Social Psychology, p. 44
26. Gettell, History of Political Thought, p 448.

मैक्डुगल मनुष्य की बहुवादी प्रवृत्ति (Pluralistic nature of man) में विश्वास करते हैं। मनुष्य की प्रकृति एकाकी नहीं बहुमुखी होती है। मनुष्य का स्वभाव कई वृत्तियों का समूह है। मनुष्य कई परस्पर-सम्बन्धित वृत्तियों से प्रेरणा लेता है। वृत्तियों के अभाव में मानव किंचित् असम्भव है। फिर भी ये वृत्तियां मनुष्य को स्वयं प्राप्त नहीं होती ये उसे विरासत से प्राप्त होती हैं। मैक्डुगल वृत्तियों के वंशपरम्परागत होने का समर्थन करते हैं।

सामाजिक मनोविज्ञान (Social psychology)

प्रारम्भ में मैक्डुगल समाधारण मनोविज्ञान में रुचि रखते थे किन्तु बाद में वे सामाजिक मनोविज्ञान के एक प्रमुख प्रवक्ता बन गए। इस पक्ष की अभिव्यक्ति उनकी पुस्तक--The Group Mind--में मिलती है। मैक्डुगल के अनुसार समाज में अन्तर्विवेक (Conscience) का स्थान अब समूह मस्तिष्क अथवा समूह विचार सिद्धान्त (*Theory of Group Mind*) ने ग्रहण किया है। समूह मस्तिष्क', मैक्डुगल के अनुसार, 'व्यक्तिगत मस्तिष्क' से बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ होता है। समाज का जीवन एवं उद्देश्य व्यक्ति से सदैव पृथक होता है।

मैक्डुगल के अनुसार मनुष्य केवल मूल प्रवृत्तियों द्वारा ही नहीं किन्तु सामाजिक वातावरण भी उस पर प्रभाव डालता है प्रत्येक मनुष्य अपूर्ण है, वह उस वृहद् व्यवस्था की एक इकाई है जिसकी अभिव्यक्ति मनुष्य के भिन्न भिन्न रूपों में होती है। मनुष्य का चिन्तन और कार्य उस समूह द्वारा निर्धारित होता है जिसका कि वह सदस्य है।

राष्ट्र

मैक्डुगल ने अपनी 'समूह मस्तिष्क सम्बन्धी पुस्तक' में सामूहिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत एक पृथक अध्याय में राष्ट्र का विवेचन भी प्रस्तुत किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राष्ट्र, मैक्डुगल के अनुसार, एक जाति या जनसंख्या हो सकती है जिसका स्वयं की आत्मा, मस्तिष्क चरित्र तथा इच्छा शक्ति होती है। राष्ट्र राजनीतिक दृष्टि से स्वाधीन होता है। मैक्डुगल के विचार से, राष्ट्र का मूल आधार मनोवैज्ञानिक है। राष्ट्रीयता की भावना ही मनुष्यों को एकतासूत्र में बांधती है। यह भावना और मनोवृत्ति दोनों ही हैं। राष्ट्रीय मस्तिष्क (Nation mind) में सामान्यतः वे सभी तत्व होते हैं जो व्यक्तिगत मस्तिष्क की विशेषता है किन्तु एक समूह-दृष्टि से राष्ट्र-मस्तिष्क व्यक्ति-मस्तिष्क से श्रेष्ठ होता है।

मैक्डुगल मनोविज्ञान को सामाजिक रहस्य को समझने की कुंजी मानते हैं। वे व्यक्तिवादी और स्थिर मनोविज्ञान का विरोध करते हैं, वे मनोविज्ञान को गतिशील होने के साथ साथ मानव व्यवहार का शास्त्र मानते हैं। मैक्डुगल का विश्वास है कि एक सम्पूर्ण मानव दर्शन में पूर्ण एवं सभी प्रकार के मनुष्यों का अध्ययन सम्मिलित होना चाहिए। इसमें समस्त प्रवृत्तियां, आवेश और विचार और समस्त

मस्तिष्क का निर्माण करते हैं तथा जिसकी क्रिया एवं प्रतिक्रिया आदि सभी का समावेश होना चाहिये। मनोविज्ञान द्वारा समूह जीवन (group life) के सामान्य सिद्धान्तों की खोज कर उन्हें विशिष्ट समूहों के ज्ञान के लिए प्रयोग करना चाहिये 27

व्यवहारवाद

मैकडुगल ने अपने ग्रन्थों में मानव व्यवहार का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। व्यवहार के विषय में मैकडुगल वातावरण तथा प्रवृत्तियों की भूमिका को स्वीकार करते हैं। उनके विचार से मनुष्य क्षणिक रूप से आवेग द्वारा प्रभावित होता है। आवेग की समाप्ति पर व्यक्ति फिर सामान्य व्यवहार करता है। मनुष्य किन्ही उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये प्रयास करता है किन्तु जैसे ही उद्देश्यों की प्राप्ति होती है मनुष्य के प्रयास समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य का व्यवहार मानसिक क्रियाओं का परिणाम होता है। मानव व्यवहार में पुनरावृत्ति होती है तभी उसके व्यवहार का विवेचन कर समझा जा सकता है।

मैकडुगल ने मनोविज्ञान को मानव व्यवहार के विज्ञान के रूप में स्वीकार किया है। उनके ग्रन्थ पशु या मानव व्यवहार का अवलोकन करने के बाद ही लिखे गए हैं। मैकडुगल के व्यवहार की प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने व्यक्तिगत तथा सामूहिक व्यवहार दोनों का ही विश्लेषण किया है। मूल प्रवृत्तियों एवं भावनाओं के आधार पर उन्होंने यह बताने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य एक इकाई तथा मनुष्य एक समूह में किस प्रकार का व्यवहार कर सकता है। मैकडुगल का योगदान विशेषतः सामूहिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में है। यद्यपि उस समय ग्राहम वालास तथा मैकडुगल के अध्ययन में व्यवहारवाद की प्रवृत्तियां पूर्णतः दृष्टिगोचर होती थी आगे चल कर राजनीति वैज्ञानिकों ने इस अध्ययन का और विकास किया।

मूल्यांकन

प्रोफेसर विलियम मैकडुगल के विचारों में कोई भी मनोवैज्ञानिक आलोचना की सामग्री की खोज कर सकता है। किन्तु यह पक्ष मनोवैज्ञानिकों से जितना सम्बन्धित है राज-शास्त्रियों से नहीं। मैकडुगल ने मानव वृत्तियों को अत्यधिक महत्त्व दिया है। इससे मानव व्यवहार में अन्य तत्त्वों की महत्ता की अवहेलना की गई है। मैकडुगल के समकालीन मनोवैज्ञानिकों ने भी कहा है कि वृत्तियां ही नहीं किन्तु हमारी बुद्धिमत्ता का भी पैतृक आधार है।

मैकडुगल द्वारा प्रतिपादित 'समूह मस्तिष्क' का सिद्धान्त भी आलोचना से मुक्त नहीं है। जहां तक इस पुस्तक के शीर्षक का प्रश्न है, स्वयं मैकडुगल संदिग्ध है। इस पुस्तक में मैकडुगल ने समूह नस्ल, राष्ट्र को अधिक महत्ता प्रदान की है। 'समूह मस्तिष्क' में व्यक्ति की इकाई का विलय करना एक उचित विचार नहीं लगता। यह व्यक्ति और उसकी स्वतन्त्रता का हनन है।

27. Gettell, Ibid., p. 448.

मैकडुगल का राष्ट्र सम्बन्धी विचार भी सही नही है। वे देश तथा राष्ट्र में भेद स्थापित नही कर सके। देश सभ्यता की प्राचीनता से सम्बद्ध है जब कि राष्ट्र एक आधुनिक अवधारणा है। इसी प्रकार उनका 'राष्ट्रीय-आत्मा' के विचार मे प्रति पादित एकता, एक उद्देश्य तथा सगठन की प्राप्ति असम्भव है। मैकडुगल द्वारा राष्ट्रीय एकता की कल्पना एक सैनिक सगठन मे ही उपलब्ध हो सकती है।

मैकडुगल मूलत मनोविज्ञान थे तथा उनके सभी ग्रन्थ मनोविज्ञान तथा सामाजिक मनोविज्ञान से सम्बन्धित हैं। उन्होंने कोई ऐसा ग्रन्थ नही लिखा जिसे राजनीति शास्त्र की परिधि मे सम्मिलित किया जा सके। ग्राहम वालास का ग्रन्थ राजनीति और मनोविज्ञान दोनो से सम्बन्धित है किन्तु मैकडुगल के विषय मे यह नही कहा जा सकता। मैकडुगल का योगदान मानव वृत्ति के सम्बन्ध मे नही है, उनके कुछ वर्ष पहले ग्राहम वालास इस विचार को प्रस्तुत कर चुके हैं। किन्तु उनका 'समूह मस्तिष्क' का विवेचन अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है जिसकी अवहेलना कोई भी राजनीतिक प्रचारक तथा राजशास्त्री नही कर सकता।

हेरॉल्ड लासवैल

(Harold Lasswell, 1902—)

सिगमण्ड फायड (Sigmund Freud, 1856-1939) ने मनोविज्ञान को एक नई दिशा प्रदान की। फायड-मनोविज्ञान के आधार पर समाज के पूर्ण अध्ययन के लिये कई सामाजिक-मनोविज्ञानिकों ने कार्य किया है। अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान हेरॉल्ड लासवैल ने फ्रायड के मनोविज्ञान का राजनीति मे प्रयोग किया है। लासवैल का अध्ययन एव अध्यापन दोनों ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का तथा विविधताओं से पूर्ण रहा है। इन्होंने विश्व के प्रमुख स्थानो जैसे लन्दन, पेरिस, बर्लिन, जेनेवा तथा मास्को (केवल अध्ययन भ्रमण के लिए) आदि मे अध्ययन किया। 1927 म लासवैल ने शिकागो स प्रसिद्ध अमरीकी राजशास्त्री चार्ल्स मेरियम के निर्देशन मे डॉक्टरेट प्राप्त की। लासवेल को फ्रायड के अतिरिक्त व्हाइटहेड, ग्राहम वालास आदि ने भी प्रभावित किया। इस प्रकार लासवैल पर राजशास्त्रियो, मनोविज्ञानिको तथा समाजशास्त्रियो का व्यापक प्रभाव पड़ा है। लासवैल के विचारो मे इन सभी के शास्त्रों के समन्वय की झलक मिलती है। लासवैल का अध्यापन कार्य भी विश्व व्यापी रहा है। इन्होंने शिकागो, वाशिंगटन, यल, टोक्यो, चार्लविग आदि विश्वविद्यालयो मे अध्यापन किया तथा चिली, भारत, नेपाल आदि राज्यो म भी अध्यापन क्षेत्र से सम्बद्ध रहे हैं।

राजनीतिशास्त्र म लासवैल वैज्ञानिक अनुभववादी तथा यथार्थवादी शाखा के प्रमुख प्रवक्ता हैं। उनके इन विचारो का निम्नलिखित पुस्तकों मे विवेचन मिलता है-

1. Propaganda Technique in World War, 1927 (विश्व युद्ध म प्रचार तकनीक)

2. Psychopathology and Politics, 1930 (मनोविकार और राजनीति)

3. World Politics and Personal Insecurity, 1935 (विश्व-राजनीति और व्यक्तिगत असुरक्षा)

4. Politics: Who gets What, When, How, 1939 (राजनीति: कौन क्या, कब, कैसे प्राप्त करता है)

5. Power and Society, (शक्ति और समाज)

6. The Analysis of Political Behavior, 1948 (राजनीतिक व्यवहार का विश्लेषण)

7. The Future of Political Scier ce, (राजनीति शास्त्र का भविष्य)

इन पुस्तकों के अतिरिक्त लासवैल के विचार कई अन्य सम्पादित पुस्तकों तथा लेखों मे प्राप्त होते है।

लासवैल राजनीति मे मनोवैज्ञानिक शाखा के प्रमुख समर्थक हैं। इस क्षेत्र में लासवैल ने ग्राहम वालास जैसे विद्वानो द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य का विस्तार किया है। लासवैल मानव स्वभाव मे अन्तःप्रेरणा तथा आवेग (impulse) के महत्व को स्वीकार करते हैं। लासवैल का कहना है कि मनुष्य के राजनीतिक विचार उसके अप्रकट एवं अचेतन भावनाओं के समझे बिना नही समझ सकते। व्यक्तिगत प्रभावों का सार्वजनिक कार्यों एवं उद्देश्यों पर अवश्य ही प्रभाव पड़ता है। मनुष्य का आदिकालीन मनोविज्ञान जाने अनजाने व्यक्ति के कार्य एवं प्रयासों को नियन्त्रित करता है। इस प्रकार ऐसे पक्षों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने से व्यक्ति तथा उसके समूह के राजनीतिक विचार एवं व्यवहार का महत्त्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। राजनीति शास्त्र मे समाज और मनुष्य के मनोवैज्ञानिक पक्ष जैसे जैसे मान्य एवं स्वीकार होते जायेंगे सामाजिक मनोवैज्ञानिक सामाजिक दार्शनिकों का स्थान ग्रहण कर लेंगे। लासवैल के अनुसार अब यह समझने का समय आ गया है कि राजनीतिक समस्याओं का समाधान विवाद या परिचर्या द्वारा नही किन्तु मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से होगा। वाद-विवाद से सामाजिक समस्याएँ और भी जटिल हो जाती हैं। राजनीति की समस्या संघर्ष को उतना कम करने की नही है जितनी कि उस पर रोकथाम करने की है। लासवैल के विचार से राजनीतिक समस्याओं की पुनः परिभाषा होनी चाहिए। इसे समस्याओं के रोकथाम करने वाली या 'निषेधात्मक राजनीति' (Preventive Politics) कहना अधिक उपयुक्त होगा। वास्तव में अभी तक हमारे चिन्तन को गुमराह तथा गलत मार्ग की ओर ले जाया गया है। अब समस्याएँ लोकतन्त्र बनाम तानाशाही या लोकतन्त्र बनाम कुलीनतन्त्र की नही है। हमारी समस्या मानव के सहयोगपूर्ण सम्बन्धों तथा उन दशाओं की सत्यता ग्रहण करने की है। यह केवल मानसिक विश्लेषण या मनोवैज्ञानिक खोजों से ही सम्भव है।

'मनोविकार एवं राजनीति' में लासवैल का विश्वास है कि राजनीतिज्ञों के मानसिक विश्लेषण से राजनीति के विभिन्न पक्षों का महत्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है। कुछ राजनीतिज्ञ क्यों अच्छे प्रशासक होते हैं ? कुछ राजनीतिज्ञ अनुदार क्यों हैं ? कुछ राजनीतिज्ञों में आन्दोलनकारी प्रवृत्ति क्यों होती है ? इन सब बातों का अनुमान राजनीतिज्ञों के मानसिक विश्लेषण से लगाया जा सकता है। लासवैल ने राजनीतिज्ञों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है जैसे–प्रशासक (admistrators), राजमर्मज्ञ (statesmen) और आन्दोलनकारी (agitators) आदि। लासवैल के अनुसार अति प्रेम करने वाले लोग आन्दोलनकारी होते हैं। प्रारम्भिक प्रेम सम्बन्धों में बाधाएं आने से ऐसे व्यक्तियों की आन्दोलनकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है।[28]

लासवैल की बहुचर्चित पुस्तक—Polincs Who gets, What, When, How, 1936—ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में एक हलचल सी उत्पन्न करदी। इस पुस्तक में लासवैल पर इटैलियन समाजशास्त्र के यथार्थवादी दृष्टिकोण की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। राजनीति में लासवैल तीन प्रकार के मूल्यों (Values) का प्रतिपादन करते हैं जैसे आदर (deference), आय (income) और सुरक्षा (Safety) आदि। जो इन मूल्यों का अधिक से अधिक भाग प्राप्त करता है वह विशिष्ट सम्भ्रान्ति वर्ग (elite) कहलाता है, बाकी समूह जनता वर्ग में आता है। लासवैल राजनीति में प्रभाव (influence) को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हैं। राजनीति में विभिन्न घटनाओं का कौशल या हुनर (skill), वर्ग (class) और व्यक्तित्व (personality) की संरचना के अन्तर्गत विवेचन कर सकते है। मध्ययुगीय यूरोप में विशिष्ट वर्ग सत्ता को हस्तगत करने में इसलिए सफल हुआ क्योंकि वह शक्ति का प्रयोग करने की कला या हुनर में माहिर था उस समय सम्राट अपने सामन्तों की शक्ति दबाने में भी सफल रहे क्योंकि वे राष्ट्रीय राज्य को सही ढंग से व्यवस्थित कर सके थे। औद्योगिक क्रांति आर्थिक कौशल के कारण सम्भव हो सकी। बीसवीं सदी में राजनीतिक व्यवस्था की सफलता के लिए संचार साधनों का प्रयोग किया गया। लासवैल के अनुसार राजनीति विज्ञान का विद्यार्थी मूलतः दृष्टिकोणों (attitudes) से सम्बद्ध है। पश्चिमी यूरोप की सभ्यता के विषय में राजशास्त्री को बाह्य दृष्टिकोणों (externalised attitudes), सामुदायिक दृष्टिकोणों (community attitudes) तथा उग्र दृष्टिकोणों (militant attitudes) आदि का ध्यान रखना पड़ता है।

लासवैल ने राजनीतिक व्यवहार में मनोवैज्ञानिक-विश्लेषणात्मक अध्ययन का प्रयोग किया है। मार्क्सवाद का विवेचन लासवैल ने इसी आधार पर किया है। हिटलर के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर लासवैल का कहना है आधुनिक युग में कुलीनवर्ग के स्थान पर मध्यम वर्ग के कौशल का उत्थान हुआ है। नात्सीवादी आन्दोलन इसी वर्ग के उत्थान का परिणाम था। लासवैल के अनुसार

28 Lasswell, H D, Psychopathology and Politics, p 125.

हिटलर निम्न मध्यम वर्ग की निराश भाव शान्ति के कारण ही सत्ता में आ सका था। हिटलर के यहूदी विरोधी अभियान का विश्लेषण करते हुए लासवेल ने लिखा है कि यह एक ओर यहूदी सर्वहारा वर्ग का विरोध करने तथा दूसरी ओर समृद्ध यहूदियों के विरुद्ध छोटे मोटे जर्मन पूंजीपतियों की घृणा को सन्तुष्ट करने का प्रयास था। हिटलर के आकर्षित-व्यक्तित्व, जनता के समक्ष उसके व्यक्तित्व की अपील तथा जनता में उन्माद पैदा करने की क्षमता को लासवेल उसके उत्कर्ष का कारण मानते हैं।

'विश्व-राजनीति तथा वैयक्तिक असुरक्षा' में लासवेल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में लासवेल राष्ट्र और वर्गों को स्वयं की अभिव्यक्ति का प्रतीक मानते हैं। राष्ट्रों के स्वाधीनता आन्दोलन साम्राज्यवादी आर्थिक एवं राजनीतिक आधिपत्य के विरुद्ध असमानता की अभिव्यक्ति है। आधुनिक विश्व में संचार एवं आवागमन की सुविधाओं में वृद्धि के कारण व्यक्तियों के पारस्परिक सम्पर्क में अत्यधिक वृद्धि हुई है। इससे विश्व एकता के विचार को काफी बल मिलेगा किन्तु आवश्यक यह है कि हिंसा के महत्व को कम से कम कर मात्र ही मात्र सुरक्षा की माँग को प्रबंध करार किया जाय। लासवेल के अनुसार विश्व में विभिन्न प्रतीकों (symbols) जैसे राष्ट्रीयता, लोकतन्त्र, समाजवाद, विश्व साम्यवाद आदि के मध्य संघर्ष चल रहा है। लासवेल स्वयं लोकतान्त्रिक गरिमा तथा समानता का पूर्ण समर्थन करते हैं।

कापलन (M Kaplan) के सहयोग से लिखी गई पुस्तक 'शक्ति और समाज' में लासवेल ने राजनीति शास्त्र की महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं (Concepts) तथा उनकी क्रियात्मक परिभाषाओं का विवेचन किया है। इस पुस्तक में राजनीति शास्त्र को व्यवहारवादी सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है। लासवेल-केपलन के अनुसार व्यक्तियों के पारस्परिक सम्पर्क, उनके कार्य, उनका समूहों में विभक्त होना आदि राजनीति शास्त्र की विषय सामग्री है। अभी तक राजनीति शास्त्र का अध्ययन ऐतिहासिक या विधिवादी तथा संस्थागत अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। लासवेल ने राजनीति शास्त्र में घटना-सम्प्रापन (event orientation) का समर्थन किया है। इस पद्धति के अन्तर्गत राजनीति विज्ञान में 'अल्प-कालीनता' के महत्त्व को मान्यता दी गई है। राजनीति शास्त्र का दीर्घकालीन विश्लेषण नहीं किया जा सकता यह विभिन्न घटनाओं के माध्यम से अल्पकालीन ही हो सकता है। लासवेल के अनुसार व्यक्तियों और उनके समूहों का राजनीतिक व्यवस्थाओं में विभाजन 'प्रभाव' (influence) और 'शक्ति' (power) की ओर अग्रसर करता है। राजनीति शक्ति अर्जन तथा शक्ति को बनाये रखने की तकनीक है। राजनीतिक गतिविधियां मुख्यतः 'शक्ति-प्रक्रिया' से सम्बन्धित हैं। शक्ति राजनीति शास्त्र की मूल भूत अवधारणा है।

राजनीति शास्त्र में लासवैल के विचारों ने एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है। विवेक के प्रति विद्रोह करने तथा राजनीति शास्त्र को एक नया स्वरूप प्रदान करने में लासवैल की सामयिक भूमिका रही है। लासवैल ने राजनीति शास्त्र में अनुभववादी, मनोवैज्ञानिक-विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग किया है। इस पद्धति के आधार पर लासवैल ने कई व्यक्तियों का साक्षात्कार कर 'मनोविकार और राजनीति' की विषय सामग्री एकत्रित की।

लासवैल राजनीति शास्त्र में वैज्ञानिक एवं व्यवहारवादी मार्ग के प्रवर्तकों में से एक हैं। वे राजनीतिक प्रक्रिया में यथार्थवादी अध्ययन तथा मानव व्यवहार की गतिशीलता में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का समर्थन करते हैं। 'मनोविकार और राजनीति' के अतिरिक्त 'प्रचार तकनीक और विश्व-युद्ध' राजनीतिक प्रक्रिया, प्रमुख व्यक्तियों तथा घटनाओं का मौलिक एवं गहन अध्ययन है। वास्तव में लासवैल के विचारों का महत्त्व उनकी राजनीतिक प्रक्रिया की अन्तर्दृष्टि के विषय में है। लासवैल का उद्देश्य पूर्व परिचित धार्मिक एवं दार्शनिक ज्ञान की पुनरावृत्ति करना नहीं है। वे *प्रकार्यात्मक (functional) तथा समस्याओं पर आधारित विवेचन से राजनीति* शास्त्र को अनुभववाद के अन्तर्गत लाते हैं। लासवैल आधुनिक राजनीतिक समस्याओं का समाधान करने के लिए नई-नई तकनीक के प्रयोग का समर्थन करते हैं। लासवैल के अनुसार राजनीति विज्ञान इतना वृहद एवं व्यापक विषय है कि इसके अध्ययन के लिए किसी एक पद्धति का प्रयोग अपूर्ण होगा। वे राजनीति शास्त्र की विभिन्न सामग्री के लिए विभिन्न पद्धतियों का समर्थन करते हैं। वे केस स्टडी (Case study), फील्ड स्टडी (Field Study), प्रतिचयन (Sampling), सहसम्बद्ध (Correlation) आदि का समर्थन करते हैं। उनका विचार है कि राजनीतिशास्त्रियों को 'निर्णय-सेमीनार तकनीक' (Decision Seminar Technique) में प्रशिक्षित करना चाहिए।

विवेक के प्रति विद्रोह का सामान्य मूल्यांकन

विवेक के विरुद्ध विद्रोह ने यद्यपि मनुष्य और समाज की यथार्थता को समझने में सहायता दी है, विवेक-विद्रोह की आलोचना भी काफी हुई है। सबसे मूल बात यह है कि विवेक विरोधियों ने विवेक के विरुद्ध अपने तर्कों को व्यवस्थित करने में विवेक का ही सहारा लिया है। विवेक का विरोध करने वाले विज्ञान के क्षेत्र में विवेक की भूमिका का न्यूनतम मूल्यांकन करते हैं। वास्तव में विज्ञान विवेक पर आधारित है। विवेक की पूर्णता सबसे अधिक विज्ञान में ही दृष्टिगोचर होती है। विवेक के प्रति विद्रोह व्यवस्थित ज्ञान के विरुद्ध है। ज्ञान उत्तम और परिश्रम से अर्जित होता है। विवेक के प्रति विद्रोह उत्तम तथा व्यवस्थित ज्ञान की उपेक्षा है। जब तक कोई विचार विवेक पर आधारित न हो उस पर श्रद्धा नहीं हो सकती। जो विचारधाराएं विवेक विरोध पर आधारित रही हैं उनका अल्पकालीन महत्त्व रहा है, उनमें स्थायित्व का सदैव अभाव रहा है।

मानव जीवन को एक गणित जैसी सूक्ष्मता में ढालना, या उसे केवल प्राणिशास्त्र सम्बन्धी तथ्य समझना, या भौतिकी संरचना मानना मनुष्य की गरिमा और व्यक्तित्व का हनन करना है। मनुष्य के व्यक्तित्व और विवेक का इतना अनादर अधिनायकवादी व्यवस्था के ही अनुकूल हो सकता है।[29] एतीने गिलसन (Itiene Gilson) ने दार्शनिक दृष्टिकोण से विवेक के विरुद्ध विद्रोहियों की कटु आलोचना की है। गिलसन का विचार है कि दर्शन-पद्धति का वैज्ञानिक विकल्प मनुष्य को प्राकृतिक आवश्यकताओं के समक्ष आत्म-समर्पण करने को विवश कर देता है। दर्शनशास्त्र ही एक ऐसा शास्त्र है जिसके द्वारा विज्ञान प्रकृति तथा स्वभाव का निर्धारण किया जा सकता है। दार्शनिक ज्ञान का त्याग करने से मनुष्य ने प्रकृति को समझने तथा उसे अपने अधीन रखने का अधिकार छोड़ दिया है। केवल तथ्यों पर आधारित विकास उत्तरदायित्वहीन सामाजिक घटनाओं की ओर अग्रसर कर सकता है। यह अधिनायकत्व के औचित्य को भी सिद्ध करने में सहायक हो सकता है।[30]

विवेक के प्रति विद्रोह ने मानव स्वभाव तथा सामाजिक शक्तियों के अध्ययन को पूर्ण एवं वास्तविकता के स्तर पर लाने का प्रयास किया किन्तु इस विचार से मानव समाज को जो हानि हुई अथवा होने की सम्भावना है उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। विवेक विरोधियों ने मानव समाज का सही दिशा की ओर निर्देशन नहीं किया है। 'विवेक के प्रति विद्रोह' के कई प्रवर्तकों एवं समर्थकों ने कुछ खतरनाक विचारों को जन्म दिया। पेरेटो को फँसीवाद का जनक माना जाता है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने 'सबल के अस्तित्व' (Survival of the fittest) का समर्थन किया। राजनीतिक क्षेत्र में इनमें से कई ने (जैसे लासवैल आदि) शक्ति की प्रमुखता तथा उसे गौरवान्वित किया है। इन विचारों ने मानव जाति की कोई सेवा नहीं की है। इसके द्वारा अप्रतिष्ठित तथ्यों को प्रतिष्ठित किया गया है। विवेक के पतन से मानवीय आदर्शों का अपमान हुआ है। राष्ट्रीय अहं के नये दर्शन में स्थानीय तथा नस्ल सम्बन्धी हितों को इतना गौरवान्वित किया है जिससे सामान्य मानवीय जीवन का भी अनादर हुआ है।[31]

विवेक के विद्रोही आदर्शों में विश्वास नहीं करते। किन्तु आदर्शों के आधार के बिना जिन सिद्धान्तों का वे प्रतिपादन करते हैं उनको अच्छा, बुरा तथा सही या त्रुटिपूर्ण कैसे कहा जा सकता है। मानव समाज किन्हीं आदर्शों को लेकर आगे बढ़ता है। मनुष्य का उद्देश्य सदैव यही रहा है (तथा रहना भी चाहिए) कि वह पारस्परिक सहयोग, प्रेम, सेवा आदि आदर्शों के आधार पर समाज की रचना

29 Hallowell, J H., Main Currents in Modern Political Thought, pp. 522-23.

30 Gilson, E., The Unity of Philosophical Experience, p. 277.

31 Cohen, M., Nature and Reason, p. 4

करें। अविवेकवादियों ने इस दिशा की ओर अग्रसर होने में बाधाएँ उत्पन्न की हैं। वे मनुष्य को यथार्थता तक ही सीमित रखना चाहते हैं। यह तो सभी जानते हैं कि मनुष्य तथा उसका समाज पूर्ण नहीं है, उनके पारस्परिक सम्बन्धों में अविवेक की भी भूमिका रहती है। सामाजिक सम्बन्धों में घृणा, द्वेष, ईर्ष्या भावनाएँ आदि भी सामाजिक सम्बन्धों का निर्धारण करती हैं, किन्तु इस वास्तविकता को ध्यान में रखकर भी एक आदर्श समाज की स्थापना के लिए इन सभी तत्त्वों का सामन्जस्य आवश्यक है। यह केवल विवेक से ही सम्भव है।

पाठ्य ग्रन्थ

1. Cohen, Morris R., Reason and Nature, Chapter 1, The Insurgence Against Reason
2. Gettell, R G, History of Political Thought, Chapter 28 Psychological Influence on Political Thought,
3. Greaves H R G, Foundations of Political Theory, Chapter 5 Reason and Political Purpose
4. Hallowell, J H, Main Currents in Modern Political Thought, Chapter-Revolt Against Reason
5. Kilzer and Ross, Western Social Thought, Chapter 18, Later European Sociology
6. Lasswell H D, Psychopathology and Politics
7. McDougall W, An Introduction to Social Psychology, The Group Mind
8. Varma V P, Political Philosophy, Chapter 28, Harold D Lasswell
9. Wallas Graham, Human Nature in Politics

राजनीति-विज्ञान के नवीन आयाम

लगभग गत बीस वर्षों से राजनीतिशास्त्र के स्वभाव, क्षेत्र तथा अध्ययन पद्धतियों में जो व्यापक परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं उनसे इस विषय की काया-पलट हो गई है। राजनीतिशास्त्र नया रूप ग्रहण करता जा रहा है तथा नये आयाम की ओर अग्रसर हो रहा है। राजनीति शास्त्र में नवीन परिवर्धन आज के विश्व में नवीन परिवर्तनों की ही अभिव्यक्ति है। इनसे राजनीतिशास्त्र के परम्परागत तथा वर्तमान स्वरूप में सुलभता से भेद स्थापित किया जा सकता है।

राजनीतिशास्त्र का परम्परागत स्वरूप

द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व तथा कुछ वर्ष उपरान्त राजनीतिशास्त्र पर लिखे गये बहुत से ग्रन्थ, आज की शब्दावली में, परम्परावादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं। राजनीति शास्त्र के कुछ प्रमुख विद्वान जैसे गार्नर, गैटिल, गिलक्राइस्ट, लीकॉक, ब्लंशली आदि ने इस विषय को जिस प्रकार परिभाषित किया है उनसे परम्परागत दृष्टिकोण पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। परम्परावादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत राजनीति शास्त्र को, प्रथम, संस्थागत अध्ययन माना गया है। राजनीति शास्त्र का अध्ययन राज्य तथा सरकार जैसी संस्थाओं पर केन्द्रित था। जैसा कि गार्नर ने लिखा है राजनीति विज्ञान का प्रारम्भ और अन्त राज्य से होता है। द्वितीय, राजनीतिक संस्थाओं के विभिन्न अंग, उनकी संरचना, उनके सम्बन्ध, राज्य के विभिन्न तत्व, सरकार के विभिन्न स्वरूप आदि का अध्ययन सम्मिलित किया जाता था। तृतीय, परम्परागत राजनीतिशास्त्र में कुछ परम्परागत सिद्धान्तों जैसे राज्य की उत्पत्ति तथा विकास के सिद्धान्त, राज्य के स्वभाव के सिद्धान्त, शक्ति पृथक्की-करण का सिद्धान्त आदि को ही सब कुछ समझा जाता था। चतुर्थ, परम्परावादी दृष्टिकोण औपचारिक, ऐतिहासिक तथा विधिवादी रहा है। विधिवादी दृष्टिकोण का प्रचलन यूरोप तथा मुख्यतः जर्मनी में था। कुछ प्रमुख विचारक जैसे बर्गेस, बेन्थम, ऑस्टिन, विलोबी आदि इस विधिवादी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। परम्परावादी राजनीतिशास्त्र में दार्शनिक तथा आदर्शवादी दृष्टिकोण सदैव विद्यमान रहा है। पूर्व निश्चित लक्ष्यों एवं मूल्यों जैसे न्याय, स्वतन्त्रता, समानता आदि को स्वीकार किया जाता था। ये ही आदर्श राजनीतिशास्त्र के विवेचन का आधार रहे हैं।

अन्य शब्दों में राजनीति शास्त्र के परम्परावादी अध्ययन में निम्नलिखित पक्षों का प्रभाव रहा है या अवहेलना की गई, जैसे—

(i) मनुष्य, जो समस्त गतिविधियों का स्रोत एवं आधार है, को समझने का प्रयत्न नहीं किया गया।

(ii) राजनीतिक संस्थाओं के सम्पूर्ण कार्यों के मूल्यांकन का अभाव रहा है।

(iii) राजनीतिक संगठनों के अन्तर्गत आन्तरिक कार्यप्रणाली एवं प्रक्रिया के अध्ययन का अभाव रहा है।

(iv) राजनीति शास्त्र में विभिन्न समाजशास्त्रों तथा मनोविज्ञान की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

(v) राजनीति शास्त्र में वैज्ञानिक, अनुभववादी, व्यवहारवादी पद्धतियों और उपागमों की अवहेलना की गई।

(vi) राजनीतिक वातावरण, विभिन्न राजनीतिक शक्तियों, प्रभावों आदि को राजनीतिक अध्ययन में कोई स्थान नहीं था।

राजनीति विज्ञान का नवीन स्वरूप

आज का युग राजनीति शास्त्र, अन्य समाजशास्त्रों, सामाजिक व्यवस्था तथा मानव मस्तिष्क में क्रान्ति एवं परिवर्तन का है। परम्परागत मूल्य, तत्त्व तथ्य एवं सिद्धान्त समयानुकूल नहीं रहे हैं। राजनीति शास्त्र का परम्परागत अध्ययन नवीन प्रवृत्तियों, नवीन विकासों को स्थान छोड़ता जा रहा है। अब राजनीति विज्ञान केवल संस्थागत अध्ययन नहीं रहा है। राजनीति शास्त्र के विषय में गार्नर, ब्लण्ट्ली गैटिल आदि के विचार पिछड़े हुए लगते हैं। वर्तमान में राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत राजनीतिक सिद्धान्त, राजनीतिक दर्शन, शासन प्रशासन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एवं कानून आदि को सम्मिलित किया जाता है। राजनीति विज्ञान में अब मनुष्य विभिन्न संगठन, अन्य प्रभावकारी तत्त्व जैसे शक्ति (power), सत्ता (authority), प्रभाव (influen e), नियन्त्रण (control) तथा अन्य अनुभववादी, व्यवहारवादी ज्ञान के अध्ययन को महत्त्व दिया जाता है। इसके अन्तर्गत हम उन प्रक्रियाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं जिनके द्वारा, जैसा कि हरमन हेलर (Herm an Feller) ने लिखा है, भौगोलिक, जलवायु सम्बन्धी, जातीय, प्राकृतिक, आर्थिक, सैनिक, नैतिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय वातावरण और कानून के अनुसार जन-शक्ति राज्य सत्ता का रूप धारण करती है।[1] इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप लासवैल (Harold Lasswell) ने राजविज्ञान को नीति एवं निर्णय विज्ञान, कैटलिन (G E G. Catlin) ने नियन्त्रण का अध्ययन, डेविड ईस्टन (David Easton) ने 'मूल्यों का सत्तात्मक वितरण' कहा है।[2] विक्सी राइट (Quincy Write) के अनुसार राजविज्ञान निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समूहों को प्रभावित एवं

1 Heller Herman; Encyclopaedia of Social Sciences, Vol XIII, p 209

2 Catlin, G E G , Systematic Politics, p 64

नियन्त्रण करने का अध्ययन है। राजवैज्ञानिकों के ये विचार राजनीतिशास्त्र के परिवर्तित स्वरूप की अभिव्यक्ति है।

मानव अध्ययन

परम्परावादी अध्ययन का विरोध राजनीति विज्ञान में एक महत्त्वपूर्ण विकास माना जाता है।[3] इस विकास का सबसे व्यापक प्रभाव अध्ययन सामग्री के आधार पर पड़ा है। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है। राजनीतिशास्त्र का परम्परावादी अध्ययन मूलतः संस्थागत रहा है, किन्तु अब इस दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। अब राजनीति विज्ञान में मनुष्य तथा उसके व्यवहार पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। यह पूर्णतः स्वीकार कर लिया गया है कि राज्य मनुष्यों का ही संगठन है तथा सरकार मानव क्रियाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है। इसलिए राजनीति विज्ञान को मानव-अध्ययन के बिना नहीं समझा जा सकता। मनुष्य की मौलिक मान्यताओं द्वारा ही राजविज्ञान का सर्वांगीण स्वरूप निर्धारित किया जाता है।

अन्तर्शास्त्रीय अध्ययन (Interdiscipline Study)

राजनीति विज्ञान अब मनुष्य के राजनीतिक कार्यकलापों तक ही सीमित नहीं रहा है। राजनीतिक गतिविधियों से मनुष्य का समग्र जीवन सम्बद्ध है, इस प्रकार उसके राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि पक्षों को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। व्यवहारवादी अपने अन्वेषण में मनुष्य के बहुपक्षीय व्यवहार को सम्मिलित करता है। चूंकि प्रत्येक सामाजिक विज्ञान मनुष्य के कार्यकलापों के किसी विशेष पक्ष को लेकर विकसित हुआ है, मानव स्वभाव तथा उसके विविध कार्यकलापों का अध्ययन विभिन्न विज्ञानों में बिखरा हुआ है, इसलिए राजनीतिक अध्ययन के लिए विभिन्न शास्त्रों जैसे, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि के अध्ययन एवं पद्धतियों का समावेश करना अति आवश्यक हो गया है। वास्तव में राजनीति का अध्ययन कई ज्ञान-शाखाओं के अध्ययन का संगम है। राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन में समाजशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों की भी वही भूमिका है जो परम्परागत राजनीतिशास्त्रियों की रही है।[4] इस दृष्टि से राजविज्ञान एक अन्तर्शास्त्रीय अध्ययन हो गया है।

शक्ति एवं राजनीति

राजनीति विज्ञान में एक नवीन 'शक्ति सम्प्रदाय' जिसे 'यथार्थवादी सम्प्रदाय' (Realist School) भी कहा जाता है, शक्ति को अधिक महत्त्व देता है। इस शक्ति शाखा के प्रमुख समर्थक हेन्स मोरगेन्थो, हेरॉल्ड लासवेल आदि हैं। मोरगेन्थो ने राजनीति को शक्ति के लिए संघर्ष कहा है।[5] लासवेल के अनुसार राजनीति

3. Kirkpatrick, Evron; The Impact of Behavioural Approach on Traditional Political science, p. 57.
4. Hyman, Herbert H. Political Socialisation, p. 7.
5. Morgenthau, Hans J., Politics Among Nations, p. 5.

प्रभाव और प्रभावशील का अध्ययन है।"[6] लासवैल का मुख्य विचार शक्ति के वितरण का है। शक्ति का वितरण असमान है अतः मूल्य तथा मूल्यवान वस्तुओं की प्राप्ति सबको एक सी, एक समय तथा एक प्रकार से नहीं होती। इस प्रकार राजनीति विज्ञान का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह यह स्पष्ट कर सके कि "कौन क्या, कब और कैसे प्राप्त करता है।" लासवैल की पुस्तक—Who Gets What, When, How 1936—शक्ति वितरण की ही व्याख्या है। 1962 में केटलिन द्वारा प्रकाशित संशोधित ग्रन्थ Systematic Politics- में शक्ति एवं नियन्त्रण (Control) को राजनीतिक कार्यकलापों का एक प्रमुख पक्ष मानते हैं। मोरगेन्थो की भांति केटलिन ने राजनीति को प्रमुख एवं नियन्त्रण के लिए संघर्ष की संज्ञा दी है।[7]

कुछ राजनीति वैज्ञानिकों का कहना है कि शक्ति इतनी व्यापक अवधारणा है कि यह राजनीति विज्ञान की समुचित पद्धतियों के विकास में बाधा बनेगी। केटलिन तथा लासवैल ने शक्ति अवधारणा की इतनी व्यापक व्याख्या की है कि समस्त मानव कार्यकलाप राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत आ जाते हैं। पारिवारिक सम्बन्ध, सामाजिक सम्बन्ध, चर्च के कार्य यहां तक कि डाकुओं की गतिविधियां किसी न किसी रूप में शक्ति एवं प्रभाव की अभिव्यक्ति हैं। इस स्थिति में राजनीतिक तथा गैर-राजनीतिक कार्यों में भेद करना असम्भव हो जायेगा।

डेविड ईस्टन ने केटलिन तथा लासवैल की शक्ति अवधारणा में कुछ सुधार कर उसे नीति, सत्ता और समाज (Policy, Authority and Society) के अन्तर्गत विवेचन किया है।[8] डेविड ईस्टन अपने इस प्रयास में पूर्ण सफल नहीं हो सके, किन्तु यहां उल्लेखनीय बात यह है कि शक्ति के इन समर्थकों द्वारा शक्ति की धारणा राजनीतिशास्त्र में अब उतनी घृणित या निन्दनीय नहीं है जितनी कि मैकियावेली तथा हॉब्स के विचारों की प्रतिक्रिया से प्रतीत होता है।

गैर-राजनीतिक तत्व (Non-Political elements)

वर्तमान राजनीति विज्ञान केवल राजनीतिक तत्वों से ही सम्बन्धित नहीं है, इसके अन्तर्गत गैर राजनीतिक तत्वों का भी अध्ययन किया जाता है। जब किसी संस्था द्वारा कोई राजनीतिक निर्णय लिया जाता है उस पर कई गैर-राजनीतिक कारकों, संस्थाओं का प्रभाव पड़ता है। व्यक्तिगत संस्थाएँ, व्यापारिक संगठन, श्रमिक संगठन, धार्मिक संस्थाएं, दबाव गुट आदि गैर-राजनीतिक संस्थाएँ राजनीतिक प्रक्रिया पर प्रभाव डालती हैं। इस प्रकार राजनीति विज्ञान में इन गैर-राजनीतिक प्रभावों के अध्ययन की अवहेलना नहीं की जा सकती। रॉबर्ट डाहल (Robert

6 Lasswell, H., Politics, Who Gets What, When, How, p 13
7 Catlin, G E G, Systematic Politics, p XIII
8 Easton, David, The Political System, pp 128-129

A. Dahl) ने लिखा है कि राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत मानवीय सम्बन्धों के समस्त स्वरूप आ जाते हैं जिनमें किसी भी मात्रा में 'शक्ति, नियम और सत्ता' रहते हैं।[9]

नवीन अध्ययन पद्धतियों का समावेश

अभी तक राजनीति विज्ञान का क्षेत्र बड़ा सीमित रहा है, परिणामस्वरूप इस ज्ञान-शाखा की अध्ययन पद्धतियों का समुचित विकास नहीं हो सका था। इसी प्रकार अध्ययन पद्धतियों का क्षेत्र भी सीमित रहा है। वर्तमान में राजविज्ञान की पद्धतियाँ राज्य तथा राजनीतिक संस्थाओं तक ही सीमित नहीं है, इसके अन्तर्गत मनुष्य के व्यवहार, राजनीतिक संगठन, समस्याओं और संघर्षों का अध्ययन, तथा राजनीति के विभिन्न तत्वों में सम्बन्ध स्थापित करने वाली शक्तियों के अध्ययन के लिए नवीन पद्धतियों को विकसित किया जा रहा है। मानव व्यवहार पर आधारित व्यवहारवादी मार्ग, निर्णय निर्माण सिद्धान्त, संरचना (Structure) तथा व्यवस्था (System) के सिद्धान्तों का सामान्यीकरण (generalisation), मॉडल निर्माण (Model building), समस्या समाधान (Problem-Solving) प्रक्रिया आदि का राजनीति विज्ञान में समावेश हुआ है। राजनीति वैज्ञानिकों ने अब नियन्त्रित प्रयोग (Controlled experimentation) की दिशा में भी प्रगति की है जिसके अन्तर्गत नेतृत्व, व्यवहार, प्रचार, अफवाहें आदि का अध्ययन सम्मिलित किया जाता है। कुछ प्रसिद्ध विद्वानों जैसे ग्राहम वालास, चार्ल्स मेरियम (Charles Merriam), लासवेल, स्नाइडर (R. Snyder) केटलिन, डेविड ईस्टन (David Easton), मॉर्टन कापलन (Morton A. Kaplan), कार्ल डॉयस (Karl W. Deutsch), जेम्स रॉसनो (James N. Rosenau), रॉबर्ट डाहल (Robert Dahl) आदि के प्रयासों से राजनीति विज्ञान में नवीन पद्धतियों, सिद्धान्तों तथा अध्ययन मार्गों का समावेश हुआ है। फलस्वरूप राजनीति विज्ञान की विषय सामग्री के संकलन, विश्लेषण, उसे व्यवस्थित करने तथा विश्वसनीय बनाने के प्रयत्नों ने इस ज्ञान शाखा को और अधिक वैज्ञानिक अध्ययन बनाने में योगदान दिया है।

राजनीतिशास्त्रियों के लिए राजनीति में निश्चितता तथा सामान्यीकरण का कार्य आसान नहीं। प्रत्येक राजनीतिक स्थिति में मानव व्यक्तित्व सम्बन्धित है; मानव व्यवहार की जटिलता तथा निरन्तर परिवर्तित सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्धों के कारण वे राजनीति विज्ञान में कोई भी निष्कर्ष निश्चितता तथा अन्तिम रूप से प्रस्तुत नहीं कर सकते। फिर भी इन कारणों से वे अपने प्रयासों को रोक नहीं देते। वे राजनीति शास्त्र में अंकशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान के कुछ उपकरण (tools) और तकनीक का प्रयोग कर इस विषय को और अधिक वैज्ञानिक रूप देना चाहते हैं। आजकल राजनीति विज्ञान में नई दिशा की ओर प्रस्थान का यही आधार एवं विचार है।

9 Dahl, Robert A., Modern Political Analysis, p. 6.

व्यवहारवादी अध्ययन-मार्ग

Behavioural Approach

मार्ग अथवा उपागम (approach) राजनीतिक विश्लेषण के लिए एक नवीन दृष्टिकोण है। इसके माध्यम से विषय सामग्री को व्यवस्थित तथा विवेचन कर कुछ निष्कर्षों तक पहुँचा जाता है। जब किसी अध्ययन-मार्ग द्वारा निश्चित निष्कर्षों की प्राप्ति होती रहती है तब ये निष्कर्ष सिद्धान्त बन जाते हैं। वर्तमान राजनीति विज्ञान में विभिन्न अध्ययन मार्गों का विकास हुआ है तथा होता जा रहा है। इनमें व्यवहारवादी अध्ययन-मार्ग, निर्णय निर्माण अध्ययन-मार्ग, संचार अध्ययन-मार्ग आदि प्रमुख हैं। व्यवहारवादी अध्ययन-मार्ग (Behavioural Approach) राजनीति विज्ञान में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विकास माना जाता है। यहाँ तक कि इसे एक आन्दोलन तथा क्रान्ति की संज्ञा दी गई है।

व्यवहारवादी शब्दावली—एक समस्या

सर्वप्रथम व्यवहारवादी अध्ययन-मार्ग से सम्बन्धित शब्दावली को स्पष्ट करना आवश्यक है। व्यवहारवादी अध्ययन के नामकरण के विषय में मतभेद रहे हैं। डेविड ईस्टन (David Easton) ने इस समस्या की व्याख्या की है।[10] इस अध्ययन के लिए व्यवहारवाद (Behaviourism) तथा व्यवहारात्मक (Behaviouristic) शब्दों के प्रयोग का सुझाव रहा है किन्तु ये सुझाव अधिकांश व्यवहारवादियों को मान्य नहीं हैं। व्यवहारवाद का प्रादुर्भाव मनोविज्ञान की एक पद्धति एवं शाखा के रूप में हुआ। इसका विकास जॉन वाटसन (John B Watson) ने सर्वप्रथम 1913 में किया। वाटसन का कहना था कि मनोविज्ञान को आत्मनिरीक्षण की अपेक्षा पर्यवेक्षण योग्य बाह्य कार्यों और व्यवहार से सम्बद्ध रहना चाहिए। मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन प्राकृतिक विज्ञान की भाँति वैज्ञानिक पद्धतियों से किया जाय। इस आधार पर वाटसन ने प्रेरक-प्रतिक्रिया सिद्धान्त (Stimulus-Response अथवा S-R) को विकसित किया। मनोविज्ञान की इस पद्धति का प्रभाव इस शताब्दी के द्वितीय तथा तृतीय दशकों में रहा। राजनीतिक व्यवहारवादियों ने अपने अध्ययन के लिए 'व्यवहारवाद' शीर्षक को उपयुक्त नहीं समझा है। इसके अतिरिक्त 'व्यवहारात्मक' शीर्षक को भी मान्यता नहीं दी गई। उनके अनुसार Behaviouralism अथवा Behavioural Approach शब्द ही इस अध्ययन के लिये उपयुक्त होंगे।

व्यवहारवादी अध्ययन-मार्ग का विकास

व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग, का प्रारम्भ अमेरिका से हुआ। यद्यपि इसका व्यापक प्रचलन द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त हुआ किन्तु व्यवहारवादी अध्ययन की प्रवृत्तियाँ इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही देखी जा सकती हैं। इंग्लैण्ड में ग्राहम वालास

[10] See Easton, David, The Current Meaning of Behaviouralism, CPA, pp 12 14.

की प्रसिद्ध पुस्तक—Human Nature in Politics (1908) को व्यवहारवादी अध्ययन का प्रारम्भ माना जा सकता है। वालास ने राजनीतिक गति-विधियों में मनुष्य के (न कि संस्थाओं के) मनोवैज्ञानिक तथा मानव समूह के सामाजिक मनोविज्ञान सम्बन्धी अध्ययन का समर्थन किया। किन्तु 1908 में ही अमेरिका में आर्थर बेन्टले ने व्यवहारवादी अध्ययन के प्रवर्तन में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

आर्थर बेन्टले (Arthur F. Bentley)

आर्थर बेन्टले अमेरिका में कोलम्बिया विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर थे। यद्यपि इन्हें राजनीतिक चिन्तक की श्रेणी में नहीं लिया जाता किन्तु इनके विचारों के कारण इन्हें व्यवहारवादी अध्ययन के एक प्रमुख प्रेरक के रूप में स्वीकार किया जाता है। 1908 में प्रकाशित पुस्तक-The Process of Government-में बेन्टले ने अपने विचारों को प्रस्तुत किया है। उनकी यह पुस्तक सक्रिय व्यक्ति तथा सक्रिय समूहों के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन है।

बेन्टले के विचारों का आधार समूह (group) उनके हित तथा उनकी क्रियाओं का विवेचन है। बेन्टले ने समूह शब्द का प्रयोग विशेष भावार्थ में किया है। उनके अनुसार समूह समाज का वह भाग है जो अन्य समूहों से भौतिक रूप से नहीं किन्तु क्रिया के आधार पर भिन्न होता है। समूहों का स्वयं का हित तथा कार्य करने की प्रक्रिया होती है। बेन्टले ने सरकार, सरकार के विभिन्न अंग, राजनीतिक दल आदि को समूह के अन्तर्गत लिया है। इसी आधार पर बेन्टले ने समूह-हित (group interests) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार बेन्टले का कहना है कि एक समूह में कई व्यक्ति कार्य करते हैं जिनका उद्देश्य कुछ हितों की प्राप्ति करना होता है। बेन्टले के विचारों में समूह क्रियाओं (group activities) का महत्वपूर्ण स्थान है। बेन्टले का मत है कि किसी समाज का अध्ययन करने के लिए सर्वप्रथम समाज के अन्तर्गत विभिन्न समूहों का अध्ययन आवश्यक है। यही बात राजनीति के विषय में सत्य है। राजनीति का अध्ययन करने के लिए उन वर्गों तथा समूहों, जिनका राजनीति से सम्बन्ध है, का वर्गीकरण तथा विवेचन आवश्यक है।

आर्थर बेन्टले ने सरकार की क्रियात्मक व्याख्या की है। उनके अनुसार सरकार विभिन्न पद या पदाधिकारियों की रचना तथा उनका केवल योगमात्र नहीं है। सरकार क्रियाओं का योग है। सरकार तथा उसके अन्तर्गत किसी पदाधिकारी की शक्ति उसकी क्रिया से निर्धारित होती है न कि संविधान में दिये गये अधिकारों से। बेन्टले ने सरकार की कार्य-प्रणाली अथवा प्रक्रिया को दबाव, संघर्ष, वैमनस्य आदि से सम्बन्धित किया है। शासन प्रक्रिया में समूह हितों का निर्माण होता रहता है जहां सौदेबाजी, संघर्ष, दबाव किसी न किसी रूप में चलता रहता है।

सरकार की भांति ही बेन्टले ने कानून की व्याख्या की है। बेन्टले के अनुसार विधि निर्माण एक सामूहिक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में विभिन्न समूह अपने हितों

की उपलब्धि के लिए दबाव डालते हैं। अन्तिम रूप में कानून विभिन्न समूहों के हितों के समन्वय या व्यवस्था का रूप ग्रहण करता है। इसी प्रकार लोकमत (Public Opinion) को बेन्टले ने समूह प्रक्रिया माना है। लोकमत एक या कई समूहों की क्रिया एवं हितों की अभिव्यक्ति होता है।

चार्ल्स मेरिएम (Charles E Merriam)

अमरीकी राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में चार्ल्स मेरिएम की एक प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। उन्हें व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग का बौद्धिक जनक माना जाता है। मेरिएम शिकागो विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थे। उनके नेतृत्व में यह विश्वविद्यालय व्यवहारवादी अध्ययन का प्रमुख केन्द्र बन गया। आगे चलकर व्यवहारवादी अध्ययन के प्रमुख प्रवक्ता हेरॉल्ड लासवैल, डेविड ट्रूमेन, हरबर्ट साइमन, ग्रेबील एलमॉन्ड आदि मेरियम के अनुयायी तथा विद्यार्थी थे। इन सभी के व्यवहारवादी, यथार्थवादी तथा शक्ति-समर्थित विचारों को सामूहिक रूप से शिकागो सम्प्रदाय (Chicago School) का नाम दिया गया है।

1921 में चार्ल्स मेरियम ने एक लेख—The Present State of the Study of Political Science—में समाजशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान, भूगोल, प्राणिशास्त्र तथा प्रकशास्त्र में उपलब्धियों और पद्धतियों की ओर ध्यान आकर्षित किया। 1923 में अमेरिकन पॉलिटीकल साइन्स एसोसियेशन ने मेरिएम की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की जिसका उद्देश्य राजनीति शास्त्र के विभिन्न पक्षों का विवेचन कर उसके अध्ययन के विषय में प्रतिवेदन तैयार करना था। इस समिति की रिपोर्ट में मेरियम ने राजनीति में मनोविज्ञान के प्रयोग का समर्थन किया। इसके अतिरिक्त मेरिएम ने राजनीति के अध्ययन में तथ्य एवं सामग्री संकलन तथा उनके परिमाणन की प्रवृत्ति का अनुमोदन किया। 1925 में अमरिकन पॉलिटीकल साइन्स एसोसियेशन के अध्यक्ष पद से सम्बोधित करते हुए मेरिएम ने कहा—

> "किसी दिन हम औपचारिक पद्धति के स्थान पर, अन्य विज्ञान की भांति, एक दूसरे ही अध्ययन मार्ग को ग्रहण कर सकते हैं तथा राजनीतिक व्यवहार को अनुसन्धान के एक प्रमुख उद्देश्य के रूप में स्वीकार करने लगेंगे।"11

1925 में ही मेरिएम की बहुचर्चित पुस्तक—New Aspects of Politics—का प्रकाशन हुआ जिसमें मेरिएम ने राजनीति में मनोवैज्ञानिक पद्धतियों के विस्तार का समर्थन किया है। इस पुस्तक में मेरिएम ने राजनीतिक व्यवहार की विशेषताओं, उद्देश्यों, पद्धतियों तथा प्रक्रियाओं की प्रारम्भिक व्याख्या प्रस्तुत की है। इस प्रकार मेरियम ने राजनीतिक अध्ययन में व्यवहारवादी मार्ग का प्रवर्तन किया। सूक्ष्म में, मेरिएम ने राजनीति विज्ञान में, प्रथम, राजनीतिक प्रक्रिया पर मनोवैज्ञानिक

Quoted, Dahl, Robert A, Ibid, p 109

प्रभाव; द्वितीय, राजनीति विज्ञान में अन्तर्शास्त्रीय अध्ययन, तृतीय राजनीतिक अध्ययन मे तथ्यात्मक परिमाणन का प्रबल समर्थन किया। चार्ल्स मेरिएम के कार्य को हेरॉल्ड लासवैल ने पुन: विवेचन कर और आगे बढ़ाया।

चार्ल्स मेरिएम के समकालीन प्रोफेसर केटलिन (G. E. G. Catlin) के अध्ययन मे भी व्यवहारवादी दृष्टिकोण मिलता है। उनकी पुस्तकों—The Science and Methods of Politics, 1927, तथा A Study of the Principles of Politics, 1930, ने राजनीति मे व्यवहारवादी प्रगति के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। केटलिन ने शक्ति को राजनीति का मूल तथा आधार कहा है। इस विचार को हेरॉल्ड लासवैल ने एक व्यवस्थित रूप मे प्रस्तुत किया है जो शिकागो सम्प्रदाय का एक मुख्य विचार बन गया। लासवैल ने अपने कई ग्रन्थो मे व्यवहारवादी मार्ग के अनेक पक्षो जैसे राजनीति विज्ञान पर मनोविज्ञान का प्रभाव, समस्त व्यवहारवादी विज्ञानो की एकता आदि का विवेचन किया है।

सकारात्मक दृष्टि से व्यवहारवादी अध्ययन को अमरीकी विचार प्रवाह से सम्बद्ध किया जाता है। अमेरिका मे इस अध्ययन मार्ग का विकास वहां की परम्परा तथा वातावरण मे निहित है। अमरीकी संस्कृति अनुभववादी तथा प्रयोगवादी विचारों से सम्बद्ध है। अमरीकी विद्वानों मे तथ्यों के सकलन तथा उनके परिमाणीकरण के प्रति रुचि रही है। अमेरिका मे व्यवहारवादी अध्ययन का विकास इसी प्रवृत्ति से प्रारम्भ हुआ, किन्तु इसके विकास के और भी अन्य कारण हैं। लगभग 1930 के उपरान्त अनेको यूरोपीय विद्वानों ने अमेरिका में शरण ली। इनमें से बहुत से विद्वान अमरीकी विश्वविद्यालयों मे समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र विभागों में उच्च पदो पर आसीन हुए। इन विद्वानो ने अमरीकी विश्वविद्यालयों मे यूरोपीय प्रभाव का प्रसार किया। इन्होंने राजनीति मे समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान के सिद्धान्तो के प्रयोग पर जोर दिया। इन्होंने मार्क्स, डर्कहीम, फ्राइड, वेबर आदि की ओर ध्यान आकर्षित किया। इस प्रभाव ने व्यवहारवादी अध्ययन को काफी योगदान दिया।

द्वितीय विश्व युद्ध से व्यवहारवादी अध्ययन को और प्रोत्साहन मिला। राजनीतिशास्त्र के बहुत से विद्वानों ने अपने अध्ययन कक्ष से बाहर आकर दिन प्रति दिन की यथार्थता को समझने का प्रयत्न किया। युद्ध स्थिति से उत्पन्न राजनीतिक समस्याओ के समाधान के लिये परम्परावादी साधन अपूर्ण, एवं असामयिक प्रतीत होने लगे। उनके अनुसार परम्परावादी अध्ययन मे वास्तविकता को समझने तथा भविष्य के विषय मे कुछ निर्देश देने की क्षमता नही है। उन्होंने यथार्थता तथा अनुभव के आधार पर राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का सुझाव दिया।

व्यवहारवादी अध्ययन को प्रगति मे महत्त्वपूर्ण योगदान अमरीकी सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद् ने दिया। यह परिषद् अनुसन्धान का क्षेत्र केवल

पुस्तकालयों तक सीमित नहीं रखना चाहती थी। इसने यथार्थवादी, वैज्ञानिक, और व्यवहारवादी अध्ययन का समर्थन किया। 1945 में इस परिषद् के तत्वावधान में राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन के लिए एक समिति की स्थापना की गई। इस समिति ने गोष्ठियां आदि आयोजित कीं तथा अपने प्रतिवेदनों में व्यवहारवादी अध्ययन पर व्यापक जोर दिया। चूंकि समय-समय पर इस समिति से हेरिंग (E. Pendleton Herring), की (V O Key), डेविड ट्रूमेन (David Truman) आदि जैसे प्रसिद्ध विद्वान सम्बद्ध रहे, इससे व्यवहारवादी अध्ययन को और अधिक प्रोत्साहन मिला।

व्यवहारवादी अध्ययन को प्रोत्साहन देने में कुछ अमरीकी संस्थाओं जैसे रॉकफेलर प्रतिष्ठान, फोर्ड प्रतिष्ठान आदि की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इन संस्थाओं के तत्वावधान में व्यवहारवादी अध्ययन के लिए समितियाँ गठित की गई तथा इन्हें धन की सहायता दी गयी। इनके अन्तर्गत कई व्यवहारवादी प्रोजेक्ट्स प्रारम्भ किये गये। इन कार्यक्रमों से लगभग सभी प्रसिद्ध अमरीकी विद्वान सम्बद्ध रहे हैं।

राजनीति विज्ञान में व्यवहारवादी अध्ययन की एक पद्धति—सर्वेक्षण पद्धति (Survey Method) पहले से ही प्रचलन में थी। इस पद्धति के माध्यम से मतदाताओं के व्यवहार का पता लगाया जाता है। इस पद्धति ने मानव स्वभाव तथा व्यवहार को समझने में बड़ी सहायता दी। मतदाताओं के सर्वेक्षण से राजनीति वैज्ञानिकों को व्यवहारवादी मार्ग की ओर प्रस्थान करने का आधार मिल गया। इस समय सर्वेक्षण पद्धति व्यवहारवादी अध्ययन का महत्वपूर्ण अंग है।

राजनीति में व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग का अर्थ—

व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग की पूर्ण व्याख्या करना असम्भव है। जैसा कि रॉबर्ट डाहल ने लिखा है इससे सम्बन्धित स्वयं शब्दावली ही स्पष्ट नहीं है। जबसे व्यवहारवादी मार्ग के विषय में विचार व्यक्त होना प्रारम्भ हुआ है तभी से इस सम्बन्ध में भ्रमात्मक तथा परस्पर विरोधी विचार सामने आये हैं।[12] इसके अतिरिक्त विभिन्न समर्थकों ने इसे प्रवृत्ति या दृष्टिकोण या प्रक्रिया के रूप में देखा है। राबर्ट डाहल ने व्यवहारवादी अध्ययन को एक मनोभाव (mood) की संज्ञा दी है। कर्कपेट्रिक ने राजनीतिक व्यवहार को राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन में अभिविन्यास (Orientation) के रूप में स्वीकार किया है। राजनीति में व्यवहारवादी अध्ययन के विकास के प्रारम्भिक चरण में इसे परम्परावाद के विरुद्ध एक प्रोटेस्ट (protest) माना जाता था। उस समय यही इसका स्वरूप और यही इसकी परिभाषा थी। जैसा कि कर्कपट्रिक (Evron Kirkpatrick) ने लिखा है कि राजनीति में व्यवहार-

12. Dahl, Robert A., The Behavioural Approch in Political Science, Changing Perspective in Contemporary Political Analysis,, ed by Ball and Lauth, p 108

वाद एक उस छत्रछाया की भांति था जिसने उन सभी गुटों को शरण दी जो राजनीति मे परम्परावादी अध्ययन से असन्तुष्ट हो एकत्र हो गये थे।[13] किन्तु जैसे यह अध्ययन गति पकड़ता गया इसको परिभाषित करने के भी प्रयत्न किये गये। 1944-45—में अमरीकी सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद् के वार्षिक प्रतिवेदन मे राजनीति में व्यवहारवादी मार्ग की निम्नलिखित व्याख्या की गई थी—

"राजनीतिक परिस्थितियो के व्यवहार पर केन्द्रित यह मार्ग मनुष्यों के नागरिक, प्रशासक और विधायक के रूप मे राजनीतिक सम्बन्धो का उन अध्ययन शास्त्रों द्वारा परीक्षण का सुझाव देता है जो इससे सम्बन्धित समस्याओं पर प्रकाश डाल सकें ताकि विभिन्न संस्थाओं के परिप्रेक्ष्य मे व्यवहार से सम्बन्धित एकरूपता का निरूपण (निर्माण) और परिकल्पनाओं (hypothesis) का परीक्षण किया जा सके।"[14]

एलमॉण्ड एवं पॉवेल ने व्यवहारवादी अध्ययन की परिभाषा करते हुए लिखा है

"साधारणत: इसका अर्थ राजनीतिक भूमिकाओं का निर्वाह करने वालों के वास्तविक व्यवहार के अध्ययन से है न कि वैधानिक नियम अथवा विचारधाराओं की व्यवस्थाओं से। इसका तात्पर्य यह नही समझना चाहिए कि यह विधि-विधान, विचारधाराओं तथा औपचारिक संस्थाओं का अनादर करता है किन्तु इसका सम्बन्ध उनसे है जो राजनीतिक कार्य को प्रभावित या उनकी अभिव्यक्ति करते है।"[15]

व्यवहारवादी अध्ययन के समर्थक अपनी सीमाओं, क्षेत्र की नवीन परिधियों तथा अनुभव के आधार पर इसकी संशोधित एव व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करते है। अब वे राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में मानव व्यवहार के बाह्य कार्यों, अचेतन कार्यों, बोधात्मक, प्रेरणात्मक, आदर्शात्मक पक्षो, मनुष्य का सांस्कृतिक एवं सामाजिक अध्ययन सब कुछ सम्मिलित करने लगे हैं। अन्य शब्दों मे, व्यवहारवादी विश्लेषण के अन्तर्गत मनुष्य के वे सभी पक्ष आ जाते है जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पर्यवेक्षण किया जा सके या अन्य सामग्री अथवा विश्लेषण द्वारा निष्कर्ष प्राप्त करने में योग दे सकें।

व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग की प्रमुख विशेषताएँ

राजनीति मे व्यवहारवादी अध्ययन पर काफी साहित्य लिखा गया है। इससे स्पष्ट है कि इस मार्ग के सभी समर्थक कई पक्षों पर एक मत नही हैं। किन्तु कई विद्वान जैसे रॉबर्ट डाहल, डेविड ईस्टन, कर्कपेट्रिक आदि ने व्यवहारवादी अध्ययन

13. Kirkpatrick, Evron; The Impact of Behavioural Approach on the Traditional Political Science, Ball and Lauth, p. 77.
14. Quoted, Dahl, Robert A., opp., cit., p. 111.
15. Almond, G.A., and Powell, B G, Comparative Politics, A Developmental Approach, p 7.

मार्ग की कुछ विशेषताओं को प्रस्तुत किया है। सामान्यत व्यवहारवादी अध्ययन के निम्नलिखित पक्षों को प्रस्तुत किया जा सकता है।[15]

(i) व्यवहारवादी अध्ययन राजनीतिशास्त्र मे परम्परावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध विद्रोह है। यह यथा-स्थिति का विरोध करता है। व्यवहारवादी परम्परागत औपचारिकता के स्थान पर अनुभववादी यथार्थवादी अध्ययन के समर्थक हैं। इसके माध्यम से ही राजनीति तथा राजनीति से सम्बद्ध पक्षों जैसे सामाजिक वर्ग, संस्कृति, आर्थिक परिवर्तन आदि के विषय मे गहन एव गतिशील अध्ययन किया जा सकता है। जैसा कि एलमॉण्ड एव पॉवेल ने लिखा है कि अनुभववाद, यथार्थवाद के अन्तर्गत राजनीतिविज्ञान में जो अध्ययन किया जाता है वही व्यवहारवादी अध्ययन है।[16]

(ii) व्यवहारवादी मार्ग राजनीतिक स्थिति मे व्यक्ति और उनके समूहों के व्यवहार को सैद्धान्तिक और अनुभववादी विवेचन को एक इकाई अथवा उद्देश्य के रूप मे स्पष्ट करता है किन्तु यह मानव व्यवहार को केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्तित्व स्तर तक ही सीमित नहीं रखता बल्कि सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक स्तर तक सम्बन्धित है।

(iii) व्यवहारवाद राजनीति विज्ञान मे अन्तर्शास्त्रीय मार्ग है। इसके अन्तर्गत विभिन्न समाजशास्त्रों को व्यवहारवादी विज्ञान के रूप मे स्वीकार किया जाता है। राजनीति विज्ञान तथा अन्य समाज विज्ञानों की एकता पर जोर दिया जाता है। यह राजनीति सिद्धान्त तथा अन्वेषण को मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा मानव-शास्त्र की सामान्य सरचना के अन्तर्गत लाना चाहता है। यह अन्तर्शास्त्रीय पक्ष एक आवश्यक परिणाम है जो व्यवहार को विवेचन की एक मुख्य इकाई के रूप मे स्वीकार करता है।

(iv) व्यवहारवादी मार्ग राजनीति मे अन्वेषण का प्रयोग एव विकास, सामग्री आदि का पर्यवेक्षण, वर्गीकरण, मापन, तकनीक का प्रयोग तथा जहा सम्भव हो वहा प्रकशास्त्र तथा गणित के नियमों के प्रयोग का समर्थन करता है।[17]

(v) व्यवहारवादी अध्ययन राजनीतिशास्त्र को अधिक वैज्ञानिक रूप प्रदान करने का प्रयास है। सभी व्यवहारवादी समर्थक इस पक्ष पर सहमत हैं कि उनका अध्ययन मार्ग प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धतियों की सत्यता पर आधारित बहुत कुछ विज्ञान बन सकता है। व्यवहारवादी प्रयासों से राजनीतिक अध्ययन वैज्ञानिक परिपक्वता (scientific maturity) की ओर अग्रसर हो रहा है किन्तु यह प्रक्रिया पूर्ण नहीं हुई है। व्यवहारवादी इस दिशा में अभी मध्य प्रक्रिया में है।[18]

15 Almond, G A , and Powell, B G , Comparative Politics, A Developmental Approach, p 7

16 Ghosh, P k , Studies in Contemporary Political Theory, pp 7-8

17 Easton, David , The Current Meaning of Behaviouralism, CPA, pp 17 18.

(vi) व्यवहारवादी अध्ययन का उद्देश्य राजनीति विज्ञान में व्यवस्थित और अनुभववादी सिद्धान्तों का निर्माण करना है। जैसा कि यूलाउ (Heinz, Eulau) ने लिखा है यह राजनीति अध्ययन में सिद्धान्तीकरण करने की क्रिया है। कर्कपेट्रिक (Evron Kirkpatrick) ने इस पक्ष का विस्तार करते हुए लिखा है कि व्यवहारवादी अध्ययन सैद्धान्तिक निरूपण तथा परीक्षण योग्य परिकल्पनाओं के विकास पर आधारित होना चाहिए। व्यवहारवादी अन्वेषण, पद्धतियां तथा तकनीक का ऐसी सतर्कता से विकास करना चाहिए ताकि सामान्य अवधारणाओं की संरचना के माध्यम से विभिन्न राजनीतिक घटनाओं को समझा जा सके।[19]

डेविड ईस्टन (David Easton)

डेविड ईस्टन व्यवहारवादी मार्ग के एक प्रमुख प्रवक्ता माने जाते हैं। उन्होंने अपनी पुस्तकों एवं लेखो मे व्यवहारवाद की शब्दावली को स्पष्ट करना, उसके वास्तविक अर्थ की व्याख्या, इस मार्ग की सीमाएँ तथा उपयोगिता का विवेचन प्रस्तुत किया है। डेविड ईस्टन की पुस्तकें—The Political System, 1953; A Framework for Political Analysis, 1965 उनके द्वारा सम्पादित पुस्तक—Varieties of Political Theory तथा उनका बहु प्रचलित निबन्ध--The Current Meaning of Behaviouralism in Political science--में ईस्टन ने अपने विचारो को प्रस्तुत किया है। ईस्टन व्यवस्था (system) को राजनीतिक व्यवहार के विवेचन की प्रमुख इकाई मानते हैं। उनके अनुसार व्यवहारवाद सामाजिक अन्वेषण में नवीन प्रवृति एवं अति आधुनिक विकास है। यह बौद्धिक प्रवृत्ति (intellectual tendency) और शैक्षणिक आन्दोलन (academic movement) दोनों ही है। ईस्टन व्यवहारवादी अध्ययन को सामान्य, व्याख्या प्रधान, विश्लेषणात्मक मार्ग मानते है जिसके वैज्ञानिक आधार से समाजशास्त्रो के सिद्धान्त परिपक्व हो चले हैं।

डेविड ईस्टन तथा राजनीतिक व्यवहारवाद की बौद्धिक आधारशिलाएँ

डेविड ईस्टन[20] ने व्यवहारवादी अध्ययन की अवधारणाओं के विषय में निम्नलिखित आठ बौद्धिक आधार शिलाओ (intellectual foundation stones) को प्रस्तुत किया है:—

(1) नियमन (Regularities)–राजनीति से सम्बन्धित मानव व्यवहार में कुछ सामान्य अथवा एकरूप तत्व होते हैं जिनकी खोज की जा सकती है। इस प्रकार के एकरूप व्यवहार को, जिनका क्रम बना रहता है, सामान्यीकरण या सिद्धान्तबद्ध किया जा सकता है। इन सिद्धान्तो का महत्व भविष्य मे व्यवहार बतलाने तथा विश्लेषण करने मे है। ईस्टन ने इसे नियमन कहा है।

19. Ball and Lauth; Changing Perspective in Contemporary Political Analysis, p 60.

20. See Easton, David; The Current Meaning of Behaulovralism inContemporary Political Analysis, Edited ky James Charlesworth.

(2) सत्यापन अथवा प्रमाणीकरण (Verification)-इसका तात्पर्य सामान्य सिद्धान्तों की मान्यताओं का मनुष्य के व्यवहार में परीक्षण करने से है। अन्य शब्दों में मानव व्यवहार से सम्बन्धित सामग्री की पुन परीक्षण एवं पुष्टि की जा सके।

(3) तकनीक (Techniques)-तकनीक का तात्पर्य माध्यम से है जिनके आधार पर तथ्य प्राप्त किए जा सकें तथा उनका विश्लेषण किया जा सके। विश्वसनीय ज्ञान एवं सामग्री एकत्रित करने के लिए यह आवश्यक है कि विश्वसनीय एवं सर्वमान्य तकनीक एवं प्रविधियों का प्रयोग किया जाय। अभी व्यवहारवादी अध्ययन में तकनीक के कई पक्षों का विकास हो रहा है।

(4) परिमाणन (Quantification)-अन्वेषण म तथ्य, सामग्री आदि जो उपलब्ध होते हैं उनको बारीकी या सूक्ष्मता के साथ रिकार्ड करना, उद्देश्यों के सन्दर्भ में परिमाण या मापदण्ड करना ताकि अभिप्राय और उपयुक्तता को समझा जा सके।

(5) आदर्श निर्माण अथवा मूल्य निर्धारण (Values)-नैतिक मूल्यांकन और व्यवहारसिद्ध व्याख्या यद्यपि भिन्न हैं किन्तु व्यवहारवाद के अन्तर्गत इन दोनों के पृथक या सम्मिलित रूप में प्रस्ताव प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

(6) क्रम-व्यवस्थीकरण (Systematization)-उपलब्ध सामग्री को इस प्रकार व्यवस्थित करना ताकि सामान्य सिद्धान्तों की सृष्टि तथा मानव व्यवहार में कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। अन्वेषण व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध होना चाहिए। अन्य शब्दों में सिद्धान्त (theory) और अन्वेषण में निकटतम सम्बन्ध होना चाहिए क्योंकि ये दोनों व्यवस्थित ज्ञान के प्रमुख अंग हैं। सिद्धान्तहीन अन्वेषण तथा तथ्यों और अन्वेषण के बिना सिद्धान्त व्यर्थ हैं।

(7) विशुद्ध विज्ञान (Pure science)-ज्ञान को प्रयोगात्मक रूप देना वैज्ञानिक कार्य का उतना ही भाग है जितना सिद्धान्त का। राजनीतिक व्यवहार को समझना और उसका विश्लेषण वह आधार प्रस्तुत करते हैं जिससे राजनीतिक ज्ञान को समाज की आवश्यक एवं व्यावहारिक समस्याओं का हल निकालने में प्रयोग किया जा सके। मानव व्यवहार को निर्देशित करने वाले तत्त्व पूर्णत वैज्ञानिक रहें। व्यवहारवादी अध्ययन यथार्थता का अध्ययन है [illegible]

(8) समग्रता (Integration)-सभी सामाजिक शास्त्र मानव परिस्थितियों के विभिन्न महत्त्वपूर्ण पक्षों का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। राजनीतिक व्यवहारवादी अन्य समाज शास्त्रों की खोजों की अवहेलना नहीं कर सकता। उसे अन्य सामाजिक शास्त्रों की उपलब्धियों का प्रयोग करना चाहिये। इसमें राजनीति शास्त्र और अन्य शास्त्रों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होगा तथा अध्ययन समग्रता की स्थापना होगी। अन्य शब्दों में मानव व्यवहार का अध्ययन खण्डों में नहीं होना चाहिये। मानव व्यवहार के समग्र अध्ययन के लिए राजनीतिक अध्ययन को समाज शास्त्र का अंग बनकर रहना पड़ेगा।

उपरोक्त आठ सूत्री सूची मे डेविड ईस्टन ने व्यवहारवादी अध्ययन के ... सिद्धान्तों को सम्मिलित किया है। इनके आधार पर ही अन्वेषण के परम्परावादी और व्यवहारवादी पद्धतियों मे भेद स्थापित किया जा सकता है।

क्षेत्र एवं पद्धतियां-प्रवधियां

व्यवहारवादी मार्ग राजनीतिक तथ्यो की व्याख्या एव विश्लेषण पद्धति है, सिद्धान्त नहीं। यह मनुष्य तथा उसके समूहो के व्यवहार से सम्बद्ध है। इसका उद्देश्य राजनीतिक अध्ययन को अधिक वैज्ञानिक बनाना तथा निष्कर्षों के परिमाणन मे सहायता देना है। यह अनुभव पर आधारित तथा क्रियात्मक अध्ययन है जिसके तत्वावधान में कुछ पद्धतियो, प्रवधियो का विकास हुआ है। ये पद्धतिया तथा तकनीकियां विषय सामग्री के ऊपर निर्भर करती हैं। यद्यपि व्यवहारवादियो का दावा है कि राजनीति विज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र व्यवहारवादी अध्ययन के अन्तर्गत आ सकता है किन्तु मतदान व्यवहार, छोटे छोटे समूह एव सगठन, राजनीतिक प्रणालिया, नीति निर्धारण, प्रक्रियाएँ आदि का अध्ययन इस मार्ग के लिए अधिक उपयुक्त समझा जाता है। मतदान व्यवहार के विषय मे अन्वेषण व्यवहारवादी अध्ययन का प्रमुख क्षेत्र रहा है। इस सम्बन्ध मे उन सभी कारकों–जैसे सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि का विश्लेषण किया जाता है जो व्यक्ति के मतदान व्यवहार को प्रभावित करते हैं। सबसे अधिक व्यवहारवादी अध्ययन मतदान व्यवहार के विषय में ही हुआ है।

राजनीतिक सामाजीकरण (Political Socializtion) राजनीति मे व्यक्तित्व की अन्तर्क्रिया से सम्बन्धित है। इस पद्धति का विकास सामान्यत: समाजशास्त्री तथा सामाजिक–मनोवैज्ञानिक राजनीति के क्षेत्र मे कर रहे है। इसके अन्तर्गत 'भूमिका' (role) महत्वपूर्ण है जिसके द्वारा व्यक्तित्व और सामाजिक सस्थाओं का विवेचन सम्भव हुआ है। राजनीतिक भूमिका (Political role) वर्तमान मे कई व्यवहारवादी अध्ययन तथा राजनीतिक सामाजीकरण के अध्ययन मे राजनीतिक व्यवस्था का प्रमुख कार्य माना जाता है।

व्यवहारवादी अध्ययन के लिए एक अन्य प्रमुख क्षेत्र राजनीतिक व्यक्तित्व का अध्ययन है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति राजनीतिक विश्लेषण की इकाई होता है। इस अध्ययन का उद्देश्य व्यक्तित्व तथा राजनीतिक व्यवहार के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। साथ ही साथ उन सभी कारको का अध्ययन सम्मिलित किया जाता है जिनके द्वारा मनुष्य राजनीतिक भूमिका के लिए तैयार होता है।

सवैधानिक कानून के क्षेत्र मे व्यवहारवादी अध्ययन का उद्देश्य उन प्रभावो का पता करना होता है जो कानून निर्माण को प्रभावित करते हैं। इसके अन्तर्गत व्यक्तिगत अध्ययन, न्यायाधीशों की आत्मकथाओ, शासन प्रक्रिया, न्यायालयों के सामूहिक हितो तथा राजनीतिक सम्बन्धों का अध्ययन सम्मिलित किया जाता है।

व्यवहारवादियों का विचार है उनकी पद्धतियां राजनीतिक रुचि के समस्त पक्षों तथा शक्ति के प्रत्येक क्षेत्र में कार्यान्वित की जा सकती हैं। इसलिए व्यवहारवादी सवैधानिक विधि, तुलनात्मक शासन, स्थानीय संस्थाएं, लोक प्रशासन तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों आदि में अपनी पद्धतियों का प्रयोग कर रहे हैं।

व्यवहारवादी अध्ययन के अन्तर्गत नवीन पद्धतियों एवं प्रविधियों का विकास हो रहा है किन्तु सामान्यतः साक्षात्कार (interview) सर्वेक्षण (Survey), प्रश्नावली (questionare) विषय विश्लेषण (Content analysis), सांख्यिकी तकनीक (Statistical technique), प्रतिरूप (model) आदि का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि ये पद्धतियां राजनीति विज्ञान में पूर्णतः विकसित नहीं हो पाई हैं किन्तु सन्तोषजनक प्रगति हो रही है।

व्यवहारवादी अध्ययन की सीमाएँ

व्यवहारवादी मानव व्यवहार का विश्लेषण करते समय उसके सामान्य स्वभाव, परम्परा, संस्कृति, वातावरण आदि को ध्यान में रखते हैं। लेकिन इतना सब होते हुए भी मानव व्यवहार के निश्चित विवेचन में कई सीमाएँ हैं। मीहान (Eugene Meehan) ने अपने एक निबन्ध[1] में मनुष्य की भौतिक संरचना, चेतन-अचेतन अवस्था तथा बाह्य वातावरण के परिप्रेक्ष्य में मानव व्यवहार की अनिश्चितता एवं परिवर्तनशीलता का विश्लेषण किया है। मीहान के अनुसार मनुष्य ऐसा प्राणी है जिसमें किसी चीज को सीखने तथा भूलने की क्रिया चलती रहती है। इस क्रिया के सन्दर्भ में उसके व्यवहार में परिवर्तन एवं संशोधन होता रहता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य का व्यवहार कुछ शारीरिक तत्त्वों, कुछ बाह्य वातावरण से निर्देशित रहता है। मनुष्य का बाह्य कार्य सदैव उसकी आन्तरिक इच्छा से सम्बन्धित नहीं रहता। मनुष्य के राजनीतिक जीवन का अधिकतम भाग मानव व्यवहार की सतह के नीचे रहता है जिसकी व्यवहारवादी या तो अवहेलना करते हैं या निश्चित रूप से उसके विषय में कुछ विश्लेषण नहीं कर सकते। वास्तव में मानव व्यवहार के विषय में सामान्यीकरण अथवा सिद्धान्तीकरण करने में कई बाधाएं तथा सीमाएं हैं। कभी-कभी मनुष्य अपने विरोधी को भ्रम, भुलावे तथा धोखे में डालने के लिए कुछ अलग से ही व्यवहार करता है। उसके व्यवहार के पीछे वास्तविक उद्देश्य का विश्लेषण स्वयं में एक समस्या बन जाता है। मानव व्यवहार की इन समस्याओं का राजनीति वैज्ञानिक के लिए बहुत ही सीमित अर्थ है यद्यपि यह मनोविज्ञान के माध्यम से सम्बन्धित सम्भव हो सकता है।

राजनीति विज्ञान में व्यवहारवादी अध्ययन के लिए सीमित क्षेत्र है। यह अध्ययन व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध, उनका सामूहिक व्यवहार जैसे मतदान, या अधिक से अधिक छोटे-छोटे समूह और संगठनों, उनके आन्तरिक संगठन एवं प्रक्रिया

[1] Meehan, E., The Limits of Behaviouralism, Ball and Lauth, pp 123 33

तक ही महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है। किन्तु संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्ध जैसे राजनीतिक दल एवं व्यवस्थापिकाएं, राजनीतिक दल एवं चुनाव पद्धतियां तथा इसी प्रकार के अन्य पक्षों के व्यवहार का अन्वेषण करने के लिए व्यवहारवादी तकनीक अधिक विश्वसनीय नहीं है। शेरिफ एवं कॉसलिन (M. Sherif and B. L. Koslin) संस्थागत मार्ग (Institutional Approach) को महत्त्व देते हैं तथा संस्थाओं के अध्ययन के विषय में व्यवहारवादी मार्ग की उपयोगिता को सीमित समझते हैं।[22]

व्यवहारवादी अध्ययन से निश्चित सिद्धान्तों की रचना असम्भव है। सर्वप्रथम मनुष्य के व्यवहार के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना ही असम्भव है। इसके अतिरिक्त विश्व इतनी विविधताओं से भरा हुआ है कि विभिन्न स्थानों पर एक ही कारण की विभिन्न प्रतिक्रियाएं हो सकती हैं। एक ही राजनीतिक स्थिति में एक भारतीय, एक अफ्रीकी, एक साम्यवादी, एक यूरोपीय व्यक्ति की प्रतिक्रिया सम्भवतः एक सी नहीं रहेगी। फिर मानव व्यवहार के आधार पर राजनीतिक व्यवहार के विषय में सामान्यीकरण कैसे सम्भव हो सकता है। हां, व्यवहारवादी अध्ययन से एक छोटे और एकरूप मानव समूह के विषय में कुछ सामान्यीकरण किया जा सकता है किन्तु ऐसे सिद्धान्तों का निर्माण नहीं जिनको विश्व व्यापक सिद्धान्त कहा जा सके।

मलफोर्ड सिबली (Mulford Q. Sibley) ने व्यवहारवादी अध्ययन की सीमाओं का नीति निर्माण के क्षेत्र में विवेचन किया है।[23] सिबली के अनुसार नीति-निर्माण के सम्बन्ध में व्यवहारवादी मार्ग की स्पष्ट सीमाएं हैं। नीति निर्माण से अनुभववादी तथा नैतिक पक्ष सम्बद्ध हैं। साथ ही साथ व्यवस्थापिका की प्रमुख भूमिका रहती है। व्यवहारवादी अध्ययन नैतिक पक्ष की अवहेलना करता है। नैतिक पक्ष सिद्धान्तों का सोपान है जिसके अन्तर्गत अधिकार, न्याय, कर्त्तव्य आदि आते हैं। व्यवहारवादी 'क्या उद्देश्य होने चाहिये' के विषय में कुछ नहीं बतलाता। वैसे व्यवहारवादी अध्ययन का आदर्शात्मक पक्ष पहले से ही कमजोर है, नीति निर्माण के क्षेत्र में यह दुर्बलता और भी स्पष्ट हो जाती है।

व्यवहारवादी अध्ययन में पहल अथवा प्रारम्भिक अध्ययन की कमी रहती है। व्यवहारवादी अध्ययन वहीं सम्भव है जहां व्यक्ति समूह या संस्था पहले से सक्रिय हो या कोई विकास या घटना घटित हो चुकी हो। इसके अतिरिक्त व्यवहार-वादी अध्ययन एक सामान्य अन्वेषणकर्ता को दिन प्रतिदिन की राजनीति से पृथक कर देता है। यह व्यवहारवादी अध्ययन की गम्भीर दुर्बलता एवं सीमा है कि दिन प्रतिदिन की राजनीति का अन्वेषण इसके अन्तर्गत नहीं आता।

व्यवहारवादी अध्ययन के समक्ष धन, समय तथा प्रशिक्षित व्यक्तियों के अभाव की सीमाएं सदैव रही हैं। व्यवहारवादी अन्वेषण प्रत्येक व्यक्ति या संस्था अपने

22. Charlesworth, James; Contemporary Political Analysis, p 17.
23. Sibley, M Q., The Limitations of Behaviouralism, CPA, pp-68-69.

हाथों में नहीं ले सकते। व्यवहारवादी तकनीक एवं प्रक्रिया धन राशि के बिना प्रयोग में नहीं लाई जा सकती। साथ ही साथ इसमें समय एवं धैर्य की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त व्यवहारवादी अन्वेषण प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर सकता। इसका योग अभ्यस्त एवं कुशल व्यक्तियों की उपलब्धि पर निर्भर करता है। व्यवहारवादी अन्वेषण इच्छुक व्यक्तियों को व्यवहारवादी तकनीक के प्रशिक्षण देने पर ही सम्भव है। इस प्रकार के प्रशिक्षण की इस अध्ययन में कमी है। व्यवहारवादी अध्ययन की सीमाओं के विषय में यूलाउ (Heinz Eulau) ने लिखा है—

"वास्तव में सीमाएँ अवश्य हैं। किन्तु ये सीमाएँ स्थितिवश हैं। समय, अवसर और साधनों की सीमाएँ, व्यवहारवादी अध्ययन में पक्षपात, भय और अदूरदर्शिता से उत्पन्न सीमाएँ, वैज्ञानिक पद्धति में निहित कुछ सीमाएँ जैसे प्रारम्भ में त्रुटिपूर्ण चालें, करने या न करने की भूलें तथा अन्वेषण उपकरण अथवा पद्धतियों का सीमित होना।"[24] किन्तु ये सीमाएँ ऐसी नहीं हैं जिन पर काबू न पाया जा सके।

व्यवहारवादी अध्ययन मार्ग की आलोचना परम्परावादी आक्षेप

व्यवहारवादी अध्ययन को जैसे ही मान्यता मिलना प्रारम्भ हुआ इसके साहित्य की भरमार प्रारम्भ हो गई। साथ ही साथ इसके, डेविड ईस्टन के शब्दों में, भक्तगणों (devotees) और आलोचकों ने पक्ष विपक्ष में खूब तर्क प्रस्तुत किये। यह वह समय था जबकि राजनीति में व्यवहारवादी अध्ययन पूर्णतः आन्दोलन बन कर छा जाना चाहता था। इस स्थिति में एक निष्पक्ष तथा शान्त अध्ययन सम्भव नहीं हो सका। इसके अतिरिक्त प्रारम्भ में व्यवहारवादी शब्दावली से भी कुछ कठिनाई एवं भ्रम उत्पन्न हुआ। व्यवहारवादी अध्ययन के विषय में कई शब्दों का प्रयोग किया गया। जैसा कि डेविड ईस्टन ने लिखा है कि मनोवैज्ञानिक व्यवहारवाद (Behaviourism) तथा राजनीति में व्यवहारवादी अध्ययन को समान्यतः एक ही समझा जाता था। प्रारम्भिक चरण में व्यवहारवादी अध्ययन के विरुद्ध ये सामान्य आलोचनाएँ थी। व्यवहारवादी मार्ग की परम्परावादियों ने लगभग समस्त पक्षों को लेकर आलोचना की है। परम्परावादियों के आक्षेपों को सूक्ष्म में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) व्यवहारवाद मूल्यात्मक अध्ययन की अवहेलना करता है। यह मार्ग मूल्य मुक्त (Value free) है तथा तथ्यों और मूल्यों में सदैव भेद बनाए रखा जाता है। यह मार्ग राजनीति शास्त्र को आदर्शों की ओर नहीं ले जाता। यह उद्देश्यात्मक निर्देश न देकर केवल यथार्थता के अध्ययन में सन्तुष्ट रहता है। इस प्रकार आदर्शों की अवहेलना अथवा मूल्य-निरपेक्षता के आधार पर, जैसा कि लिओ स्ट्रॉस (Leo Strauss) ने लिखा है अच्छे-बुरे में अन्तर स्थापित नहीं किया जा सकता। इसका

24 Eulau, Heinz, Segments of Political Science Most Susceptible to Behavioural Treatment, CPA, p 33

तात्पर्य होगा कि मानव तथा दानव में तत्वतः कोई भेद नही है। ऐसा करके व्यवहारवादी निम्न एवं निन्दनीय पक्ष की विजय का समर्थन करते हैं।[25] साथ ही साथ परम्परावादियों का कहना है कि वैसे भी कोई भी अध्ययन (व्यवहारवादी अध्ययन सहित) मूल्य-मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि, प्रथम, अध्ययन एवं अन्वेषण के लिए जब विषय का चयन किया जाता है वह किसी न किसी प्रकार आदर्शों द्वारा ही निर्धारित होता है। द्वितीय, अन्वेषण के निष्कर्षों पर भी आदर्शात्मक मूल्यों का प्रमुख प्रभाव रहता है।

(2) व्यवहारवादी अपने अन्वेषण के लिए सामान्यतः ऐसे महत्वहीन विषय चुन लेते हैं जिनका मानव उद्देश्यो से कोई सम्बन्ध नही रहता। इनके बहुत से अन्वेषण व्यर्थ तथा निष्कर्ष पूर्व अनुमानित रहते हैं। मानव जाति का अनुभव हजारो वर्ष का है। मनुष्यों तथा उनके समूहों के व्यवहार का अवलोकन सदियों से चला आ रहा है। एक अनुभवी व्यक्ति बिना व्यवहारवादी साधनों तथा तकनीक के वे ही निष्कर्ष कह सकता है जो एक व्यवहारवादी तमाम समय, राशि व्यय कर तथा कई पद्धतियों की सहायता लेकर कर सकता है। थोडा बहुत अन्तर परिमाणीकरण मे अवश्य हो सकता है।

(3) प्रमुख व्यवहारवादियो के विरुद्ध यह आक्षेप लगाया जाता है कि इनका अध्ययन निष्पक्ष नहीं है। लगभग सभी व्यवहारवादी उदार लोकतन्त्र (Liberal democracy) के समर्थक है तथा वे अपने अन्वेषण और निष्कर्षों मे इसी विचार से प्रभावित रहे हैं। इस सम्बन्ध मे व्यवहारवादियों के अध्ययन एवं व्यवहार में परस्पर-विरोध दृष्टिगोचर होता है। एक ओर उनका अध्ययन मूल्य निरपेक्ष है तथा दूसरी ओर वे उदार लोकतन्त्र के सिद्धान्तो से भी प्रभावित है।

(4) व्यवहारवादी मार्ग के समर्थक अपने विचारों को नवीनता देने की उत्सुकता मे नये-नये जटिल, यहा तक कि भद्दे लगने वाले शब्दो की रचना कर रहे हैं। व्यवहारवादी अध्ययन में शब्द-जाल अधिक है।

(5) परम्परावादियो का कहना है कि व्यवहारवादी समर्थक समाज विज्ञानो की एकता मे विश्वास करते हैं। व्यवहारवाद अधिकतर मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र पर आधारित है। परम्परावादियो को भय है कि इस अन्तर्शास्त्रीय दृष्टिकोण मे राजनीति विज्ञान कही राजनीतिक समाजशास्त्र (Political Sociology) बन कर न रह जाय तथा राजनीति विज्ञान का एक पृथक ज्ञान शाखा के रूप में ही अस्तित्व समाप्त न हो जाय। इसी पक्ष को प्रोफेसर बर्न्स (Walter Berns) ने अन्य शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा है कि व्यवहारवादी अध्ययन के अन्तर्गत समस्याओ का अध्ययन राजनीति वैज्ञानिकों के हाथों से निकल कर व्यवसायी मनोवैज्ञानिको, समाजशास्त्रिय

25. Strauss, Leo; What is Political Philosophy, p. 89.,
Dahl, R.A., Modern Political Analysis, p 105.

का अध्ययन होता जा रहा है । वह व्यक्ति जो अपने लिए व्यवहारवादी कहता है वास्तव में वह राजनीतिक न होकर मनोवैज्ञानिक और सामाजिक व्यवहारवादी बन जाता है ।[26]

(6) व्यवहारवादी अध्ययन में पद्धतियों एवं प्रविधियों पर मुख्य जोर दिया जाता है। परम्परावादियों का विचार है कि इस कारण राजनीति में परम्परागत चिन्तन तथा दर्शन में रुचि कम होने के साथ-साथ दार्शनिक पद्धति का ह्रास होता जा रहा है। रसेल कर्क (Russel Kirk) की शंका है कि कहीं 'व्यवहारवादी दुम दार्शनिक कुत्ते को ही घसीट कर न ले जाय ।'[27]

(7) व्यवहारवादी अध्ययन एक पक्ष की ओर ही अधिक झुका हुआ है। व्यवहारवादियों ने अपने अन्वेषण क्षेत्रों के चयन में सर्वाधिक महत्त्व मतदान व्यवहार को दिया है । इस अध्ययन को वे सामाजिक मनोविज्ञान तथा राजनीति विज्ञान का संगम मानते हैं । किन्तु यह अध्ययन निष्पक्ष नहीं हो सकता । यह पूर्व निश्चित धारणाओं जैसे मतदान में धर्म, आयु, आर्थिक वर्ग, परिवार, जातीय पृष्ठभूमि आदि पर आधारित रहता है ।

(8) व्यवहारवादी समर्थकों का कहना है कि उनके अध्ययन से राजनीतिक अन्वेषण में परिमाणन में प्रगति हुई है। किन्तु व्यवहारवादी पद्धतियों के आधार पर सही परिमाणन भी सम्भव नहीं । उदाहरणार्थ सर्वेक्षण पद्धति में कुछ चुने हुए व्यक्तियों के आधार पर निष्कर्ष प्रस्तुत किये जाते हैं । उन्हें सदैव पूरे समुदाय का निष्कर्ष मानना भूल होगी । इसके अतिरिक्त यह सम्भावना भी सदैव बनी रहती है कि जिनसे साक्षात्कार लिया गया है वे सभी बातें सही न बतलाएँ, इस प्रकार व्यवहारवादी पद्धतियाँ वैज्ञानिक विश्लेषण और अटकलबाजी दोनों पर ही आधारित रहती हैं।

(9) व्यवहारवादियों का कहना है कि उनके मार्ग के माध्यम से राजनीतिशास्त्र विज्ञान बन जायेगा । आलोचकों के विचार से उनकी यह मान्यता सत्य सिद्ध नहीं हुई है। वे अभी तक मानव व्यवहार का विज्ञान प्रस्तुत करने में सफल नहीं हुए हैं। राजनीतिक अध्ययन को विज्ञान की श्रेणी में लाने के लिए उनके प्रयासों को कोई विशेष सफलता नहीं मिली है ।

उत्तर-व्यवहारवादी अध्ययन (Post-Behaviouralism)

व्यवहारवादी मार्ग को जिस समय प्रादुर्भाव हो रहा था उसे परम्परावादी विरोध का सामना करना पड़ा था । इस स्थिति से एक ओर परम्परावादी बूढ़े विचार तथा दूसरी ओर व्यवहारवादी युवा-विचारों के मध्य तर्क-युद्ध प्रारम्भ हो गया । परिणामस्वरूप राजनीतिक वैज्ञानिक दो शिविरों में विभाजित हो गये । दोनों ही मार्गों के तर्क-वितर्क का क्रम चलता रहा । किन्तु दोनों के तर्कों में निष्पक्ष

26 See Mulford Q Sibley, The Limitations of Behaviouralism, CPA, p 55
27 Dunner, Joseph , Dictionary of Political Science, p XVI

विवेचन का अभाव था। अब दोनों मार्गों के समर्थक मानने लगे हैं कि उनके विरोधियों के कुछ तर्कों तथा अध्ययन मार्ग की अवहेलना नहीं की जा सकती। इस सामन्जस्य प्रवृत्ति ने उत्तर-व्यवहारवादी अध्ययन की प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

तथाकथित व्यवहारवादी क्रांति का समय लगभग 1965 तक माना जाता है। इस समय तक व्यवहारवादियों ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर राजनीति विज्ञान में अपना अस्तित्व स्थापित कर लिया था। व्यवहारवादी अध्ययन के कुछ समर्थक इस स्थिति से लगभग संतुष्ट से लगते थे किन्तु अधिकांश व्यवहारवादी अपने अध्ययन मार्ग की दुर्बलताओं को समझते थे। इसलिए उन्होंने व्यवहारवादी अध्ययन को अधिक ग्राह्य तथा समन्वयपरक बनाने के पुनर्मूल्यांकन का कार्य प्रारम्भ किया। इसका उद्देश्य विरोधी आलोचनाओं के सन्दर्भ में अपनी दुर्बलताओं को दूर करना तथा साथ ही साथ उनके अच्छे तत्वों को ग्रहण करना था।

लगभग इसी समय राजनीतिक जगत में अनेक राजनीतिक, सामाजिक विकास हुए जिन्होंने वास्तव में व्यवहारवादी अध्ययन के समक्ष एक संकट उत्पन्न कर दिया। यह आवश्यक था कि इस नवीन स्थिति में व्यवहारवादी मार्ग अपनी उपयुक्तता और उपयोगिता बनाये रखे नहीं तो इस प्रगतिशील युग में उनका अध्ययन पिछड़ा हुआ लगने लगेगा। नवीन परिस्थितियों के साथ आत्मसात करने तथा नवीन समस्याओं के समाधान करने के लिए व्यवहारवादी अध्ययन को सक्षम बनाया जाय इस बात पर लगभग सभी ज़ोर देने लगे। वास्तव में इस प्रवृत्ति एवं प्रयास को उत्तर-व्यवहारवादी पुनरावलोकन कहा गया है। यहां से व्यवहारवादी अध्ययन का एक दूसरा चरण प्रारम्भ होता है।

डेविड ईस्टन उन प्रमुख व्यवहारवादियों में से हैं जिन्होंने उत्तर-व्यवहारवादी पुनरावलोकन की ओर ध्यान आकर्षित किया। 1969 में 'अमरीकी पॉलिटीकल साइन्स एसोसियेशन' के अध्यक्षीय भाषण में उनके विचारों का यही आधार था। उन्होंने नवीन परिस्थितियों के अनुरूप व्यवहारवादी अध्ययन की प्रगति पर निराशा व्यक्त की। उनका कहना था कि राजनीति विज्ञान का शोध एवं अध्ययन की प्रवृत्ति ऐसी होनी चाहिए जिससे वह वर्तमान समस्याओं के साथ अपनी संगति स्थापित कर सके। इसके उपरान्त लगभग सभी व्यवहारवादियों के प्रयास इस ओर लगे हुए हैं। उत्तर-व्यवहारवादी अध्ययन की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताओं को प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(1)
तकनीकी अतिवादिता से मुक्ति

पूर्व-व्यवहारवादियों को तकनीक-परस्त कहा गया है। उन्होंने व्यवहारवादी प्रविधियों को इतना महत्व दिया है कि कभी कभी वे अन्वेषण में अपने मूल उद्देश्य को भी भूल जाते हैं। उत्तर-व्यवहारवादियों ने अपनी इस त्रुटि में सुधार किया है।

वे तकनीक से पूर्व उन वास्तविकताओं को महत्व देना चाहते हैं जिनका सम्बन्ध गम्भीर सामाजिक समस्याओं से है। जैसा कि हास एवं बेकर (M Hass and T. L. Becker) ने लिखा है उत्तर-व्यवहारवादी अध्ययन का उद्देश्य स्वयं को *तकनीक की अतिवादिता से मुक्त कराना है।* ये व्यवहारवादी अध्ययन में संश्लेषणात्मक एवं बहु-पद्धति-विज्ञानात्मक पक्ष का समर्थन करते हैं।

आदर्शात्मक अथवा मूल्यात्मक अध्ययन

व्यवहारवादी मार्ग के विरुद्ध जो व्यापक आलोचना हुई है व्यवहारवादियों ने उन्हें पूर्णतः स्वीकार नहीं किया है। सभी प्रमुख व्यवहारवादियों ने उनकी आलोचना के प्रत्येक पक्ष का प्रत्युत्तर दिया है। रॉबर्ट डाहल (Robert Dahl) ने *यह आक्षेप स्वीकार नहीं किया है कि व्यवहारवाद मूल्य मुक्त अथवा मूल्य निरपेक्ष है।* "निश्चय ही कोई सिद्धान्तकार जो राजनीति में तटस्थ और निष्पक्ष अनुभववादी विवेचन का विकास करता है इसका अर्थ यह नहीं कि वह मूल्य निरपेक्ष ही हो। अच्छे और बुरे के आधार होते हैं किन्तु राजनीति में उनका प्रयोग करने से पहले यह जानना भी आवश्यक होता है कि विभिन्न विकल्पों के चयन के क्या परिणाम हो सकते हैं। नैतिकता का प्रयोग शून्यता में नहीं किया जाता, हम नैतिक आधारों का प्रयोग घटनाओं के विश्व में करते हैं। जहां तक सम्भव होता है हम विश्व घटनाओं को सही ढंग से समझते हैं।[28] उत्तर-व्यवहारवादी अध्ययन आदर्शों के प्रति सचेत है तथा आदर्श निष्ठाओं की ओर दिशा दर्शन कराने का प्रयास करता है।

समन्वयपरक अध्ययन

राजनीति विज्ञान के अध्ययन में परम्परावादी अति रूढ़िवादी तथा व्यवहारवादी अति-प्रगतिवादी प्रतीत होते हैं। राजनीति विज्ञान का सन्तुलित अध्ययन इन दोनों सम्प्रदायों के मध्य की स्थिति में सम्भव है। राजनीतिशास्त्र के परम्परागत दार्शनिक दृष्टिकोण की अवहेलना नहीं की जा सकती। एल्फ्रेड ग्रेजिया ने लिखा है—

> "चिन्तन मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। सभी मनुष्य जिनके विषय में हम थोड़ा बहुत जानते हैं चाहे वे आदिकालीन अथवा तकनीकी दृष्टि से प्रगतिशील हों अपने जीवन के अर्थ को व्यक्त करते हैं" बिना चिन्तन के मनुष्य केवल एक बोलने वाला पशु ही रहेगा।"[29]

सामान्यतः व्यवहारवादी सभी व्यवहारवादी विज्ञानों की एकता में विश्वास व्यक्त करते हैं किन्तु डेविड ट्रूमैन के विचार कुछ भिन्न हैं। ट्रूमैन के विचार से राजनीतिशास्त्र में परम्परावादी तथा व्यवहारवादी अध्ययन मार्गों में जितने समान आधार हैं उतने अन्य व्यवहारवादी विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्धों में नहीं। दोनों

28 Dahl, Robert, Modern Political Analysis, p 106
29 Grazia, Alfred, de; Political Behaviour, p 15

परम्परावादी और व्यवहारवादी अध्ययनों का उद्देश्य शासन संस्थाओं और प्रक्रियाओं के विश्लेषण से सम्बन्धित हैं। ट्रूमेन इन दोनों अध्ययन मार्गों को एक दूसरे का पूरक समझते हैं तथा राजनीतिक अध्ययन में दोनों के समन्वय का सुझाव देते हैं। व्यवहारवादी अन्वेषण व्यक्ति पर केन्द्रित है तथा राजनीति विज्ञान का आधार संस्थाएं हैं। राजनीतिक व्यवहारवादी अध्ययन में संस्थागत अध्ययन का अभाव है किन्तु दूसरी ओर संस्थाओ का वर्णनात्मक अध्ययन अपूर्ण एवं असामयिक हो गया है। यहा व्यवहारवादी अध्ययन अवश्य ही परम्परागत अध्ययन का पूरक हो सकता है। सभी व्यवहारवादी अब इस तथ्य से अवगत हैं।[30] स्वयं अमेरिका में जो व्यवहारवादी आन्दोलन की जन्मभूमि है, व्यवहारवादी और संस्थावादी मार्गों का कई अध्ययनो मे प्रयोग किया जा रहा है। अमरीकी व्यवस्थापिका (कांग्रेस), तुलनात्मक शासन, सवैधानिक कानून आदि के विषय मे इस प्रकार का अध्ययन सफल हुआ है। संस्थाओ का मेक्रो-विश्लेषण (macro-analysis) तथा उनसे सम्बन्धित परिवर्तनशील कारको (variables) का माइक्रो-विश्लेषण (micro-analysis) राजनीति विज्ञान के अध्ययन को अवश्य ही समृद्धिशाली बनायेगा।[31]

(5) व्यवहारवादियो के समक्ष अपने अध्ययन के क्षेत्र और उद्देश्य को स्पष्ट करने की समस्या है। व्यवहारवादियों को राजनीतिक व्यवहार का, न कि समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान का अध्ययन करना है। किन्तु कौनसा व्यवहार राजनीतिक है यह कहना असम्भव है। आज के सन्दर्भ में कोई भी समस्या विशुद्ध राजनीतिक नही हो सकती। उससे आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य पक्ष भी सम्बद्ध रहते हैं। अमेरिका में नीग्रो समस्या केवल राजनीतिक ही नही, वह नस्ल-भेद, आर्थिक, न्याय आदि से भी सम्बद्ध है। इसलिये राजनीति को समझने के लिए केवल व्यवहारवादी ही बने रहना सब कुछ नही है। राजनीति वैज्ञानिक को व्यवहारवादी होने के अतिरिक्त इतिहासकार विधिवेत्ता और नैतिकवादी भी होना चाहिये।

उत्तर-व्यवहारवादी अध्ययन अति निकट का विकास है इसलिए इसका स्वरूप एवं प्रमुख विशेषताएं अभी पूर्णतः स्पष्ट नही हो पायी है। किन्तु इसका उद्देश्य राजनीति विज्ञान मे स्वयं के भविष्य को आरक्षित रखना है। वैसे व्यवहारवादी अध्ययन राजनीति विज्ञान का एक प्रमुख अंग बन चुका है। इस सम्बन्ध मे रॉबर्ट डाहल के विचारो द्वारा निष्कर्ष प्रस्तुत करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। डाहल ने लिखा है—

"व्यवहारवादी मनोदशा (mood), जिसे एक असहमति आन्दोलन समझा गया है, अब इस स्थान से कहा ले जायेगा ? मेरे विचार से यह लुप्त हो जाएगा।

30. Ball and Lauth, Changing Perspectives in Contemporary Political Analysis, p 67

31. Ghosh, P.K., Studies in Contemporary Political Theory, p. 14

इससे मेरा तात्पर्य है कि इसका एक पृथक एवं विशिष्ट मनोदशा और दृष्टिकोण के रूप में शनै शनै पतन हो जायगा क्योंकि राजनीति विज्ञान में इसका समावेश हो जायेगा और वास्तव में हो भी चुका है। व्यवहारवादी मनोदशा का लोप इसलिए नहीं होगा कि यह असफल हुआ है, किन्तु इसलिए कि यह सफल हुआ है। इससे इसके एक पृथक, एक साम्प्रदायिक जैसे तथा एक गुटबन्दी जैसे दृष्टिकोण का अन्त हो जायेगा।' 32

व्यवहारवादी अध्ययन राजनीति विज्ञान का एक प्रमुख अंग बन चुका है। व्यवहारवादी अध्ययन-मार्ग की यद्यपि सीमाएँ हैं किन्तु राजनीति विज्ञान में इसकी उपयोगिता से मना नहीं किया जा सकता। राजनीति शास्त्र को जब से एक पृथक ज्ञान शाखा के रूप में स्वीकार किया गया है इसे विज्ञान बनाने के निरन्तर प्रयास चलते रहे हैं। व्यवहारवादी अध्ययन ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

निर्णय निर्माण सिद्धान्त

Decision Making Theory

[7] समाजशास्त्र की विभिन्न ज्ञान शाखाओं में निर्णय (अथवा विनिश्चय) निर्माण सिद्धान्त के प्रति अध्ययन में निरन्तर वृद्धि हो रही है। निर्णय निर्माण सिद्धान्त के बढ़ते हुए महत्त्व को ज्युडिथ श्कलर (Judith Shklar) ने निर्णयवाद (Decisionism) कहा है। निर्णय प्रक्रिया का अध्ययन एकाग्र मुख्य उद्देश्य बन गया है ताकि मनुष्य की निर्णय रुचि वरीयता, विकल्प आदि के रहस्य को समझा जा सके। राजनीति के अध्ययन में यह विकास नया है किन्तु मनोविज्ञान, सामाजिक मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र व्यावसायिक प्रशासन में इसका व्यापक प्रयोग हो चुका है। राजनीति विज्ञान में यह अध्ययन राजनीतिक समस्याओं एवं परिस्थितियों से ही सम्बद्ध है। सूक्ष्म में इसका अर्थ विभिन्न विकल्पों का चयन तथा निष्कर्षों पर पहुंचने का अध्ययन है। पॉल डीज़िंग (Paul Diesing) ने राजनीतिक निर्णयों की परिभाषा करते हुए लिखा है कि इनका सम्बन्ध निर्णय सरचना (ढांचे) को बनाये रखना तथा उसमें सुधार करना है। प्रत्येक निर्णय किसी न किसी प्रकार की निर्णय निर्माण सरचना के अन्तर्गत ही लिए जाते हैं किन्तु राजनीतिक निर्णयों की निर्णय निर्माण सरचना इसकी विषय सामग्री है। ब्रूनो लिओनी (Bruno Leoni) के अनुसार राजनीतिक निर्णयों का उद्देश्य शक्ति के अभ्युदय से है या उससे पूर्व शक्ति-परिस्थिति में सुधार करना है।33 डेविड ईस्टन ने अपनी पुस्तक-The Political System (1953)-में राजनीति को मूल्यों अथवा आदर्शों का सत्तात्मक निर्धारण (the authoritative allocation of values) कह कर परिभाषित किया है। ईस्टन के इस विचार को निर्णय निर्माण से जोड़ा

32. Dahl, Robert A., The Behavioural Approach in Political Science, Ibid, p. 119
33. Robinson and Majak, The Theory of Decision Making, CPA, p. 175

जाता है। ईस्टन ने लिखा है "जैसा कि अधिकतर राजनीति- वैज्ञानिक इस शब्द का प्रयोग करते हैं राजनीतिक निर्णय निर्माण सार्वजनिक रूप से सत्तात्मक निर्धारण या वितरण करना है।"34 निर्णय निर्माण सिद्धान्त का क्षेत्र इतना व्यापक है कि राजनीतिक निर्णयों से सम्बन्धित संरचनाएँ, निर्णय प्रक्रिया, निर्णयों को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारक, निर्णय सम्बन्धी विभिन्न विकल्पों का चयन, सरकार के सभी अ ग, प्रशासन के सभी स्तर आदि का अध्ययन इसके अन्तर्गत आता है। अध्ययन की व्यापकता को देखते हुए विभिन्न ज्ञान शाखाओं से इसका सम्बन्ध होना स्वाभाविक है।

हरबर्ट साइमन (Herbert Simon)

राजनीति विज्ञान मे निर्णय निर्माण सिद्धान्त के विकास मे हरबर्ट साइमन तथा रिचर्ड स्नायडर का मूल योगदान है। हरबर्ट साइमन चार्ल्स मेरियम के शिष्य तथा शिकागो सम्प्रदाय के एक प्रमुख सदस्य रहे हैं। लोक प्रशासन मे उनकी प्रसिद्ध पुस्तक-Administrative Behaviour-ने एक नवीन अध्ययन का प्रवर्तन किया है। उनकी यह पुस्तक प्रशासनिक संगठनो मे निर्णय निर्माण प्रक्रिया के अध्ययन पर आधारित है। साइमन निर्णय निर्माण को सगठनो की सर्वाधिक महत्त्व की क्रिया मानते है। वे इस अध्ययन को सगठनो का मूलभूत संयन्त्र तथा राजनीतिक प्रक्रिया का केन्द्र भाग मानते है। साइमन ने संगठन समस्याओं का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि श्रम विभाजन कार्यों पर नही किन्तु शक्तियो के आधार पर निर्णय निर्माण करने के अधिकारो से है। जितना उच्च पदाधिकारी होगा उसके कार्य करने का क्षेत्र कम होकर निर्णय लेने के अधिकार अधिक होते हैं। सर्वोच्च अधिकारी नीति सम्बन्धी निर्णय लेते हैं किन्तु उनके बाद के प्रशासक विस्तारपूर्वक निर्णय लेते है। इस प्रकार समस्त संगठन निर्णय निर्माण में भाग लेता है। निर्णय निर्माण प्रक्रिया को साइमन ने एक प्रतिरूप (model) द्वारा अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यह प्रतिरूप मनोविज्ञान पर आधारित है। वास्तव मे इस प्रतिरूप के माध्यम से साइमन ने निर्णय प्रक्रिया मे विभिन्न विकल्पो एवं परिणामो का विश्लेषण किया है। इस आधार पर उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न उपयुक्त विकल्पों के चयन का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है,

रिचर्ड स्नायडर (Richard C. Snyder)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे निर्णय निर्माण सिद्धान्त के प्रयोग का श्रेय स्नायडर को दिया जाता है। स्नायडर अमेरिका के प्रिन्सटन तथा केलीफोर्निया विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहे हैं। प्रिन्सटन विश्वविद्यालय मे ब्रूक (H. W. Bruck) तथा बर्टन सेपिन (Burton Sapin) के सहयोग से स्नायडर की प्रसिद्ध पुस्तक-Foreign Policy Decisio-Making—An Apprach to the Study of Interuational Politics (New York, Free Press, 1962) प्रकाशित हुई। रोसनो (James Rosenau)

34 Robinson and Majak; Theory of Decision-Making, CPA, p 175.

का विचार है कि इस पुस्तक ने निर्णय निर्माण मार्ग के क्षेत्र में मूल एवं महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यह प्रथम प्रयास था जिसके माध्यम से विदेश नीति के क्षेत्र में निर्णय निर्माण की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया। स्नायडर के बाद इस सम्बन्ध में और भी कार्य हुआ है किन्तु उनका अध्ययन एक प्रवर्तन कार्य माना जाता है।

रिचर्ड स्नायडर ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन को क्रिया, प्रतिक्रिया तथा अन्तर्क्रिया (actions, reactions and interactions) माना है। जहां क्रिया है वहां उससे प्रक्रिया भी सम्बन्धित रहती है। चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कई क्रियाएँ, प्रतिक्रियाएँ तथा अन्तर्क्रियाएँ होती हैं तदनुसार प्रक्रियाएँ भी कई प्रकार की होती हैं। इस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्य प्रमुख इकाई होता है तथा उसी की प्रमुख भूमिका रहती है। किन्तु राज्य का कार्य उनके द्वारा चलाया जाता है जो राज्य के नाम पर कार्य करते हैं। वे ही निर्णय लेने वाले होते हैं। स्नायडर के विचार में निर्णय निर्माण करने वाले पदाधिकारियों के व्यवहार का विश्लेषण आवश्यक है इसके अतिरिक्त गैर सरकारी कारक भी निर्णय निर्माण प्रक्रिया पर प्रभाव डालते हैं इसके लिये गृह राजनीति, भौगोलिक तत्त्व, राष्ट्रीय वातावरण, सांस्कृतिक एवं सामाजिक सम्बन्धों का विवेचन आवश्यक है। ये बाह्य तथा आन्तरिक दशाएँ परिवर्तित होती रहती हैं तथा निर्णय निर्माण प्रक्रिया के विवेचन में इन परिवर्तनों के विश्लेषण का ध्यान रखना आवश्यक है।

निर्णय निर्माण सिद्धान्त की संरचना (frame-work)

निर्णय निर्माण के अन्तर्गत विषय सामग्री का चयन और व्यवस्थित करने के लिए एक सामान्य संरचना होती है। इस संरचना के कुछ आवश्यक तत्त्व एवं स्तर होते हैं जैसे—(i) निर्णय परिस्थितियाँ (decision situations) जिनके अन्तर्गत निर्णय लिए जाते हैं। (ii) निर्णय निर्माण में भाग लेने वाले व्यक्ति (decision participants) तथा उनका विवेचन अर्थात् उनका व्यक्तित्व, उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि, अनुभव तथा उनके द्वारा विभिन्न नैतिक मूल्यों को दी जाने वाली प्राथमिकता आदि। (iii) निर्णय संगठन (decision organisation) अर्थात् प्रशासनिक संगठन जिसके अन्तर्गत निर्णय लिये जाते हैं; तथा निर्णय संगठन की विभिन्न इकाइयां तथा निर्णय निर्माण में उनकी भूमिका। (iv) निर्णय प्रक्रिया (decision process) अर्थात् जिस क्रम से निर्णय लेने की प्रगति होती है, तथा (v) निर्णय निष्कर्ष (decision outcome) आदि। सभी प्रकार के निर्णयों के लिए एक जैसा संरचना प्रस्तुत करना असम्भव है किन्तु राजनीतिक निर्माण की दृष्टि से निर्णय प्रक्रिया सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में यह सिद्धान्त निर्णय लेने की प्रक्रिया से अधिक सम्बद्ध है।

निर्णय प्रक्रिया अथवा प्रगति क्रम (Decision process)

"प्रक्रिया का तात्पर्य तकनीक, पद्धतियां, क्रिया विधि व्यूह रचना—चेतन या अचेतन का योग है जिनके द्वारा कोई निर्णय लिया जाता है।"[35] निर्णय प्रक्रिया में 'कौन निर्णय लेता है' को सम्मिलित नहीं किया जाता किन्तु 'निर्णय किस प्रकार लिया जाता है' यह प्रमुख है, जैसे किस अवसर या परिस्थिति में निर्णय लिया गया, किस प्रकार के संगठन के अन्तर्गत निर्णय लिया गया तथा उसका क्या परिणाम हो सकता है आदि। हेरॉल्ड लासवैल ने अपनी पुस्तक–The Decision Process (1956) में निर्णय प्रगति-क्रम के सात क्रियात्मक सोपानों (functional stages) का उल्लेख किया है जैसे— (i) सूचना (information) इस स्तर पर समस्या का पता करना तथा सूचना एकत्रित की जाती है। (ii) विचार स्तर (recommendation) अर्थात् विभिन्न विकल्पों के विषय में विचार करने का स्तर। (iii) विकल्प चयन (prescription) इस स्तर पर विभिन्न विकल्पों को स्वीकार किया जाता है। (iv) अस्थाई क्रिया (invocation) अस्थाई रूप से कार्यान्वित करने का स्तर। (v) अनुप्रयोग (application) निर्णय को विशिष्ट रूप से कार्यरूप देना। (vi) मूल्यांकन (appraisal) निर्णय तथा उसके प्रभाव का मूल्यांकन करना। (vii) अन्तिम स्तर (termination) अर्थात् निर्णय को बनाये रखना या उसमें सुधार करना या उसे समाप्त करने का अन्तिम स्तर। हरबर्ट साइमन तथा अन्य ने निर्णय निर्माण की चार प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। प्रथम, समस्या समाधान (problem solving); द्वितीय, अनुनय (persuation); तृतीय, सौदेबाजी (bargaining); तथा चतुर्थ, राजनीति (politics) इनके अनुसार दो या दो से अधिक प्रक्रियाओं का निर्णय निर्माण में योगदान होता है।

निर्णय उप-प्रक्रियाएँ (Decision sub-processes)

निर्णय निर्माण प्रक्रिया के अन्तर्गत अन्य निर्णय उप-प्रक्रियाएँ होती हैं जिन पर अनेकों कारकों का प्रभाव पड़ता है। इन कारकों को बौद्धिक (intellectual), सामाजिक (social) और अर्द्ध-यान्त्रिक (quasi-mechanical) आदि पक्षों में विभाजित किया जा सकता है। निर्णय निर्माण उप-प्रक्रिया में बौद्धिक पक्ष का अर्थ निर्णय निर्माण के विश्लेषण से है। यह विश्लेषण व्यक्तिगत या समूह रूप से किया जा सकता है। निर्णय अन्तर्दृष्टि, अन्तर्ज्ञान, अनुभव ज्ञान, समस्या समाधान, समस्या से सम्बन्धित सूचना आदि का संग्रह, विकल्पों का चयन तथा इस प्रकार के अन्य कार्य बौद्धिक प्रक्रिया के अन्तर्गत आते हैं। सामाजिक प्रक्रियाएँ भी निर्णय लेने पर प्रभाव डालती हैं। विभिन्न समूहों में सहयोग, अन्तर्समूह हितों का आदान प्रदान आदि इस पक्ष के अन्तर्गत आते हैं। निर्णय निर्माण प्रक्रिया के प्रत्येक स्तर पर सामाजिक पक्ष महत्वपूर्ण है। सामाजिक प्रक्रिया के अन्तर्गत व्यक्ति, समूह, संगठन

35. Robinson and Majak; Ibid.,p. 179.

आदि अपने हितों को संरक्षण देते हुए किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। अर्थ-आर्थिक पक्ष का प्रभाव बजट तथा मूल्य व्यवस्था के अध्ययन में देखने को मिलता है। इन सभी पक्षों में सामाजिक प्रक्रिया का निर्णय-निर्माण उप-प्रक्रिया पर सर्वाधिक प्रभाव है तथा सामाजिक पक्ष सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

निर्णय-परिणाम (Decision outcome)

निर्णय निष्कर्ष सम्पूर्ण निर्णय प्रक्रिया का सार है। इस स्तर के तीन पक्ष महत्वपूर्ण हैं जिन्हें आउटपुट या निपज (output), आउटकम या परिणाम (outcome) तथा प्रभाव (effect) में विभाजित किया जा सकता है। आउटपुट का तात्पर्य निर्णय निर्माण में विभिन्न उप-क्रियाओं के निष्कर्ष से है। आउटकम का तात्पर्य निर्णय निर्माण की सम्पूर्ण प्रक्रिया (उप-प्रक्रियाओं सहित) के अन्तिम निर्णय से है। अन्य शब्दों में विभिन्न उप-प्रक्रियाओं के निष्कर्ष (output) के योग तथा समन्वयपूर्ण स्थिति को आउटकम कहा जा सकता है। आउटपुट एक प्रकार से निर्णय निर्माण इकाई की मध्यवर्ती प्रक्रिया है जबकि आउटकम अन्तिम निर्णय (end product) है। आउटपुट का उपयोग निर्णय इकाई के अन्दर होता है जबकि आउटकम निर्णय इकाई के बाहर निर्णय स्थिति है। इसके उपरान्त केवल प्रभाव सम्बन्धी स्तर शेष रहता है। आउटकम को व्यावहारिक रूप देने तथा उसके परिणाम सम्बन्धी पक्षों को निर्णय प्रभाव (effect) कहते हैं। यह व्यावहारिक तथा प्रभाव पक्ष होने के साथ साथ सम्पूर्ण प्रक्रिया का अन्तिम स्तर है।[1]

प्रशासनिक संगठन में निर्णय लेने की प्रक्रिया पहले से ही चली आ रही है किन्तु इसका स्वरूप मुख्यतः निर्देश सिद्धान्त (Prescriptive Theory) द्वारा निर्धारित था अर्थात् निर्णय निर्माण सिद्धान्त अर्थशास्त्र के विश्लेषण तार्किक विवेक तथा सामान्य अनुभव पर आधारित था। अब इसका स्वरूप बदल चुका है। अब निर्णय निर्माण के विषय में वर्णनात्मक सिद्धान्त (Descriptive Theory) में रुचि बढ़ती जा रही है इसके अन्तर्गत यह विश्लेषण किया जाता है कि व्यक्ति किस प्रकार विनिश्चय अथवा निर्णय लेते हैं, विवेकपूर्ण निर्णय लेने में कौन सी बाधाएँ हैं तथा किन परिस्थितियों के अन्तर्गत वे विवेकपूर्ण निर्णय ले सकते हैं। वास्तव में इस अध्ययन का विस्तार व्यक्ति से लेकर संगठन तक है। इस सम्बन्ध में हरबर्ट साइमन ने मार्च (J G March) के सहयोग में लिखी पुस्तक—Organisations, (New York, Wiley, 1958) में निर्णय निर्माण प्रक्रिया में व्यवहार विश्लेषण (Search behaviour) पर अधिक जोर दिया है।

मूल्यांकन

(1) निर्णय-निर्माण अध्ययन के विरुद्ध आलोचकों की एक प्रारम्भिक शंका है। क्या निर्णय-निर्माण अध्ययन को 'सिद्धान्त' की श्रेणी में लिया जा सकता है?

36 Etzioni, Amitai, Modern Organisations, p 30

आलोचक इसे सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार नही करते। रॉबिनसन तथा माजक का मत है कि निर्णय-निर्माण केवल एक प्रक्रिया का विवेचन है इस आधार पर कोई अध्ययन सिद्धान्त नही बन जाता। सिद्धान्त निर्माण इस बात पर निर्भर करता है कि इसको विषय सामग्री का ऐसा विस्तार हो जिससे यह समझा जा सके कि निर्णय कैसे लिए जाते हैं तथा उनका निर्णय इकाई के अन्दर तथा बाहर क्या प्रभाव पड़ता है। प्रयत्न इस दिशा मे होने चाहिए कि निर्णय-निर्माण अध्ययन को राजनीतिक सिद्धान्त का रूप दिया जाय जिससे हमारे उस ज्ञान मे वृद्धि हो कि 'कौन क्या, कब और कैसे पाता है' (who gets what, when, how)।[37] जेम्स रॉसनो (James Rosenau) के भी लगभग ऐसे ही विचार हैं यद्यपि उनके तर्क कुछ भिन्न हैं। रॉसनो के अनुसार यह अध्ययन सैद्धान्तीकरण की ओर अग्रसर होने मे असफल रहा है। निर्णय-निर्माण के प्रारम्भिक एव मूल प्रतिपादन मे सिद्धान्त का अभाव था। रिचर्ड स्नायडर ने स्वयं ही निर्णय-निर्माण मे विभिन्न सम्बन्धो एव कारको के अस्तित्व का उल्लेख करते हुए भी सैद्धान्तीकरण नही किया।[38]

निर्णय-निर्माण मे सिद्धान्त के अभाव का कारण स्पष्ट है। यद्यपि संगठन सम्बन्धी चराचर तत्वो का विस्तारपूर्वक विवेचन है किन्तु आन्तरिक तथा बाह्य व्यवस्था से सम्बन्धित चराचर तत्वो को केवल थोड़ा ही परखा गया है। रिचर्ड स्नायडर निर्णय-निर्माण को विदेश नीति मे सम्बद्ध करने की ओर अधिक झुके हुए थे इसलिए प्रभाव डालने वाले आन्तरिक तत्वों की सामान्यतः अवहेलना की है। प्रशासनिक अधिकारी क्या सम्भावित निर्णय लेगे इनका सिद्धान्तबद्ध करना भी आसान नही। देश के अन्दर विभिन्न मागें तथा राष्ट्रीय आकांक्षाएं विदेश नीति के प्रमुख स्रोत हो सकते हैं, किन्तु वे दशाएं जिनके अन्तर्गत प्रशासन अधिकारी निर्णय लेते हैं अनिश्चित हैं। बाह्य दशाओ तथा आकांक्षाओ का मापदण्ड करना और भी अनिश्चित है।

राजनीतिक निर्णय-निर्माण सिद्धान्त निर्णय लेने वाले अधिकारियो तक ही सीमित नही रह सकते। जिस वातावरण मे निर्णय-निर्माण प्रक्रिया चलती है तथा निर्णय लिये जाते हैं उसका महत्व भी कम नही। विश्व का अवलोकन निर्णय-निर्माण करने वालों के दृष्टिकोण मे ही नहीं करना चाहिये किन्तु राजनीतिक अन्वेषक को स्वयं विश्व का भी परीक्षण करना चाहिए ताकि निर्णय-निर्माण की व्यापकता को समझा जा सके। जैसा कि जेम्स रॉसनो ने लिखा है "राजनीतिक निर्णय-निर्माण का कोई सिद्धान्त नही हो सकता यदि वह उस राजनीतिक वातावरण जिसमे निर्णय लिए जाते हैं से पृथक है।[39] रॉसनो ने निर्णय-निर्माण के एक

37. Robinson and Majak; Ibid., pp. 187-88.
38. Rosenau, James N., The Premises of Decision Making Analysis, CPA, p.
39 Rosenau, James. N., The Premises of Decision Making Analysis, CPA, p. 209.

समग्र (unified) सिद्धान्त का समर्थन किया है। जिसमें सम्पूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया को सम्मिलित किया जा सके।

निर्णय-निर्माण अध्ययन के समक्ष सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या एवं कार्य प्रक्रिया निर्णय (process outcome) के क्षेत्र में अन्वेषण को आगे बढाने की है। अभी तक निर्णय अध्ययन का अधिकतम ध्यान इकाई या प्रक्रिया के अन्दर ही केन्द्रित रहा है न कि प्रक्रिया और निष्कर्ष के विषय में। आज के जटिल और विस्तृत समाज में निर्णय लेने वाली सत्ताएँ स्थानीय, प्रान्तीय, राष्ट्रीय स्तर, तथा प्रत्येक स्तर पर विभिन्न संस्थाओं में विकेन्द्रित हैं। इन सभी का समग्र अध्ययन निर्णय-निर्माण के लिए एक चुनौती है। इसके अतिरिक्त विभागीयकरण (departmentalization) तथा प्रक्रिया के समूहीकरण (Collectivism) ने निर्णय-निर्माण अध्ययन के लिए और भी समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। निर्णय प्रक्रिया के अन्तर्गत मुख्य उत्पत्ति स्थानों को खोजना असम्भव हो गया है। इससे प्रक्रिया और निष्कर्ष सम्बन्ध और जटिल हो गया है। निर्णय निर्माण सिद्धान्त का इन सभी जटिलताओं, प्रवृत्तियों को अपने अन्वेषण एवं अध्ययन में समावेश करना आवश्यक है।

राजनीति विज्ञान में निर्णय निर्माण के अन्तर्गत राजनीतिक निर्णयों का ही अध्ययन सम्मिलित किया जाता है। किन्तु आजकल समस्याएं विशुद्ध राजनीतिक नहीं रही हैं। अधिकांश समस्याओं के साथ आर्थिक तथा अन्य पक्ष भी सम्बद्ध रहते हैं इसलिये इस अध्ययन को बहुपक्षीय एवं अन्तर्शास्त्रीय होना आवश्यक है।

निर्णय प्रक्रिया के विश्लेषण से उन विभिन्न तत्वों के विषय में ज्ञान होता है जो इन पर प्रभाव डालते हैं। इससे हमें उन शक्तिशाली किन्तु गुप्त कारकों की भी जानकारी होती है जिनके प्रभाव की सामान्यतः जानकारी नहीं रहती। अमरीकी राष्ट्रपति कैनेडी ने एक बार कहा था कि निर्णय प्रक्रिया में कुछ ऐसे अवांछनीय एवं जटिल कारक छुपे रहते हैं जो सर्वोच्च पदाधिकारियों के लिये भी एक रहस्य बन रहते हैं। निर्णय निर्माण प्रक्रिया के ज्ञान से हमें ऐसे तत्वों को समझने, अधिक प्रभावी निर्णय लेने तथा नीति निर्धारण में सहायता मिलती है।[40]

यद्यपि निर्णय निर्माण सम्बन्धी अध्ययन प्रारम्भिक परिधि से निकल कर अवधारणात्मक अवस्था तक पहुँच कर एक उपागम अथवा अध्ययन मार्ग बन गया है किन्तु अभी भी अपूर्णता के कारण सिद्धान्त की श्रेणी में नहीं आ सका है। फिर भी इसकी प्रगति को देखते हुए कम से कम 'निर्णय निर्माण' शब्द का व्यापक प्रयोग होने लगा है। राजनीति शास्त्री, उच्च प्रशासनिक अधिकारी भी इसके प्रति बिना आकर्षित हुए बिना नहीं रह सके। अब यह अध्ययन प्रशासन, सेना, विदेश नीति में पूर्णतः मान्य

40 Hilsman, Roger, Policy Making is Politics, in International Politics and Foreign Policy Ed by James N Rosenau, pp 237—38

गया है। इस अध्ययन ने राजनीति शास्त्र को और अधिक वैज्ञानिक बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

संचार सिद्धांत

Communication Theory

सिद्धान्त के प्रवर्तक : नॉरबर्ट वीनर तथा कार्ल डॉयश

नॉरबर्ट वीनर (Norbert Wiener, 1894–1964) को संचार सिद्धान्त का प्रारम्भिक प्रवर्तक माना जाता है। नॉरबर्ट वीनर अमेरिका में मेसेचुसेट विश्वविद्यालय में टेक्नॉलॉजी संस्थान के सुप्रसिद्ध गणितशास्त्री थे। वीनर ने सन्देश सिद्धान्त (Theory of Messages), सायबरनेटिक्स (Cybernetics) तथा फीडबैक सिस्टम (Feedback System) के आधार पर संचार सिद्धान्त का विकास किया। राजनीति विज्ञान में संचार सिद्धान्त का प्रवर्तक कार्ल डॉयश (Karl W. Deutsch) ने किया है। कार्ल डॉयश अमेरिका में हारवर्ड विश्वविद्यालय में शासन के प्रोफेसर हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में इनकी गणना प्रमुख विद्वानों में की जाती है। उनकी पुस्तकें हैं—Nationlism and Social Communication (राष्ट्रीयता और सामाजिक संचार) 1954; The Nerves of Government (सरकार का स्नायुतन्त्र) 1963; The Analysis of International Relations (अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विश्लेषण-1968, आदि। कार्ल डॉयस ने अपनी पुस्तक-The Nerves of Government) में संचार सिद्धान्त की व्याख्या की है। कार्ल डॉयश के संचार सिद्धान्त का आधार नॉरबर्ट वीनर का ही संचार सिद्धान्त है तथा उसका ही विकास एवं विस्तार किया है। डॉयश ने इस पुस्तक में संचार के विभिन्न तन्त्रों का विवेचन कर उनकी शासन से तुलना की है। इसके अन्तर्गत डॉयस ने 'सूचना अवधारणा' (Concept of Information), फीडबैक धारणा (Concept of Feedback) का व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

संचार सिद्धांत की व्याख्या

संचार सिद्धांत (Communication Theory) का विकास द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त राजनीतिक व्यवस्था के कुछ पक्षों के विश्लेषण करने के लिए एक उपकरण अथवा साधन के रूप में किया गया। मूलतः इस सिद्धान्त का विकास गणित शास्त्र के अन्तर्गत हुआ किन्तु कुछ राज-वैज्ञानिकों ने इसका प्रयोग राजनीति के क्षेत्र में किया है।

संचार (Communication) का तात्पर्य उन प्रमुख अवधारणाओं से है जिनका सम्बन्ध मानव व्यवहार के वर्तमान अध्ययन मार्गों से है। वारेन वीवर (Warren Weaver) के अनुसार 'संचार' शब्द के अन्तर्गत वे सब प्रक्रियाएं आ जाती हैं जिनके द्वारा दूसरे के विचारों को प्रभावित किया जाता है। इसमें

लिखित व मुद्राग्र भाषण ही नही मानव व्यवहार भी सम्मिलित हैं ।[41] डेनिएल लर्नर (Daniel Lerner) ने सचार का अर्थ सूचना के आदान प्रदान (information) से लिया है। सूचना कोई भी सन्देश (Message) हो सकता है जिसका अर्थ सन्देश भेजने वाला तथा प्राप्त करने वाला समझ सके। सन्देश का आदान प्रदान शब्दो, सकेतो तथा अन्य माध्यम से हो सकता है। सचार प्रणाली (Paradigm) म तीन प्रमुख पक्ष होते हैं—(i) सन्देश भेजने वाला, (ii) सन्देश तथा (iii) सन्देश प्राप्त करने वाला। सचार की यह प्रणाली राजनीति मे सचार सिद्धात का आधार है ।[42]

जैसा कि राबर्ट नार्थ (Robert North) ने लिखा है—सचार सिद्धात एक दृष्टिकोण है जो सुझाव देता है कि समस्त सगठन कुछ विशेषताओ के आधार पर एक जैसे ही होते हैं। प्रत्येक सगठन सचार द्वारा एक सूत्र म बाधे रहते हैं, दो या अधिक व्यक्तियो अथवा सगठनों मे सम्पर्क केवल सचार माध्यम से ही स्थापित होता है। इस प्रकार समाज को केवल सन्देशो के अध्ययन तथा उनके लिये सचार सुविधाओं के आधार पर ही समझा जा सकता है ।[43]

संचार सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि राजनीतिक गतिविधिया एक सीमा तक मानवीय विचारो की अभिव्यक्ति तथा उनके आदान प्रदान पर निर्भर हैं। यह केवल एक साधारण व्याख्या है। इसके प्रवर्तको ने सचार अध्ययन का सायबरनेटिक्स तथा फीडबैक सिस्टम के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

सायबरनेटिक्स (Cybernetics)-नारबर्ट वीनर का सचार सिद्धान्त सन्देश सिद्धान्त पर आधारित है तथा सन्देश सिद्धान्त सायबरनटिक्स पर आधारित है। सायबरनटिक्स का अर्थ मूलत सिद्धान्त और तकनीक के समूह स है जिसका प्रयोग कुछ मशीन, पशु, मानव, समाज, राष्ट्रीय-राज्यो की उन सम्भावनाओ तथा सन्देश प्रक्रिया द्वारा नियन्त्रण के अध्ययन के लिए किया जाता है। एक सीमा तक सामाजिक-राजनीतिक सगठन की प्रमुख विशेषताएँ वातावरण, जनसख्या, तकनीक के स्तर पर निर्भर करती हैं। अन्य शब्दो मे यह ज्ञान तथा कुशलता की व्यवस्था पर निर्भर करते हैं। मनुष्य अनुकूल वातावरण मे अपने ज्ञान तथा कुशलता म वृद्धि करता है किन्तु इन पर 'साइबरनटिक्स' प्रक्रिया का प्रभाव पड़ता है।

फीडबैक सिस्टम (Feedback System)—यह एक तुलनात्मक व्यवस्था का नाम है जिसके अन्तर्गत वास्तविक स्थिति अथवा व्यवस्था की अन्य काल्पनिक उत्तम व्यवस्था मे तुलना कर उन दोनों का अन्तर मालूम किया जाता है। इस प्रकार प्राप्त की गई सूचनाए तथा उनके प्रयोग करने की प्रक्रिया वास्तव म वाह्य

41 North, R C, The Analytical Prospects of Communications Theory, CPA, p 300

42. Dunner, Joseph, Dictionary of Political Science, p 109

43 Charlesworth, James, Contemporary Political Analysis, p 302